॥ श्रीः ॥

हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला

२४६

महाकवि-श्रीविशाखदत्तकृतं

मुद्राराक्षस-नाटकम्

'शशिकला'-संस्कृत-हिन्दी-टीकोपेतम्

समालोचनात्मकभूमिकया विशेषविवरणेन च विभूषितम्

टीकाकारः—

श्री सत्यव्रत सिंह एम. ए., पी. एच. डी.

लखनऊ-विश्वविद्यालय-संस्कृतविभागाध्यापकः



चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज, बनारस-१

सं० २०१०] [ई० १९५४

प्रकाशकः—
जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः,
चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज आफिस,
पो॰ बाक्स नं॰ ८, बनारस

The Chowkhamba Sanskrit Series Office.
P. O. Box 8, Banaras.
1954

मूल्य—
सुलभ संस्करण २॥)
उत्तम संस्करण ३।)

मुद्रकः—
विद्याविलास प्रेस,
बनारस-१

THE

HARIDAS SANSKRIT SERIES

246

THE

MUDRĀRĀKS'ASA

OF

S'RĪ VIS'ĀKHA DAṬṬA

Edited with–

THE S'AS'IKALA

Sanskrit & Hindi Commentaries,

NOTES, INTRODUCTION Etc.,

BY

DR. SATYAVRATA SINGH. M. A., PH. D.
Professor of Sanskrit, Lucknow University.

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES, BANARAS.
1954

नम्र-निवेदन

पाठक-महानुभाव !

यदि आप लेखक की कतिपय धारणाओं से सहमत हैं तो लेखक आपका आभार मानता है और यदि किसी प्रकार असहमत हैं तो इन धारणाओं की परीक्षा की ओर लेखक आपका ध्यान आकृष्ट करने का साग्रह अनुनय करता है। लेखक की धारणाऐं निम्न हैं :—

(१) मुद्राराक्षस का नायक चन्द्रगुप्त मौर्य नहीं अपितु कूटनीतिज्ञ 'चाणक्य' है ।

(२) मुद्राराक्षस की वस्तु-रचना में 'पताका' और 'प्रकरी' नामक प्रासङ्गिक वृत्तों का कोई स्थान नहीं है ।

(३) मुद्राराक्षस में नाटकीय चरितविश्लेषण चाणक्य नायक के चरित-विकास की दृष्टि से ही किया गया है।

(४) मुद्राराक्षस का रस-भाव नायक चाणक्य की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा के महाभाव से अनुरंजित है।

(५) मुद्राराक्षस के वाक्यों का 'वाचिकाभिनय' की दृष्टि से ही किसी भी भाषा में अनुवाद अपेक्षित है।



शीतातपयोरद्वय !

जय जय जय सुमानुष ! प्रथित !

स्वीकुरु किमपि तवेदं,

किञ्चिद्वा भवतु भवतु वाऽभ्यधिकम् ।

सत्यव्रतस्य

समालोचना

१–मुद्राराक्षस–नाटक

संस्कृत के नाटक–साहित्य में 'मुद्राराक्षस' का नाम नहीं भूला जा सकता। इस नाटक की अपनी प्राण–शक्ति इतनी प्रबल है कि संस्कृत नाटकों में सबसे अलग रहते हुये भी यह अब तक बचता चला आरहा है और अब तो इसकी उपेक्षा कभी हो ही नहीं सकती। हमने कहा कि संस्कृत के नाटकों में 'मुद्राराक्षस' की अपनी ही स्वतन्त्रसत्ता है। किन्तु यह बात ऐसी है जिसे आज सभी मान रहे हैं। संस्कृत के बड़े–बड़े नाटककार हो चुके हैं—भास, शूद्रक और कालिदास। किन्तु इनके नाटकों में कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो 'मुद्राराक्षस' को प्रभावित नहीं कर पायीं। इसके अतिरिक्त मुद्राराक्षस में जो विशेषतायें हैं वे उसकी अपनी हैं और ऐसी हैं जिनका अनुकरण अथवा अनुसरण करना संस्कृत के नाटककारों के, चाहे किसी भी कारण से हो, सामर्थ्य के परे ही रहा है।

मुद्राराक्षस की सबसे पहली विशेषता यह है कि इसका नाटककार नाट्यशास्त्र का प्रगाढ ज्ञाता होते हुये भी नाट्य–रचना की प्राचीनपरम्परा का अक्षरशः अनुकरण नहीं करता अपितु उस पर अपनी वैयक्तिक नाट्य–प्रतिभा की छाप छोड़ जाता है। भास, शूद्रक और कालिदास के नाटक नाटक–रचना के नियमों के दृष्टान्तरूप में नहीं लिखे गये। मुद्राराक्षस की रचना भी सन्धि–सन्ध्यङ्ग घटना के कौतुक की शान्ति के लिये नहीं अपितु नाटक के लिये हुई है। पुरानी रूढि के अनुसार नाटक का नायक ख्यातवंशोद्भव राजा हुआ करता था, इस नाटक का नायक एक ऐसा व्यक्ति है जो राजा न होकर भी, राज-वंश का न होकर भी, भारतीय इतिहास के सर्वप्रथम सर्वप्रसिद्ध सम्राट् का निर्माता और उसके वंश के साम्राज्य का संस्थापक है। प्राचीन प्रथा के अनुसार वीर–रस का उद्रेक युद्धवीर अथवा दानवीर अथवा धर्मवीर महापुरुषों के चरित–चित्रण के द्वारा ही संभव माना गया है किन्तु इस नाटक का वीर–रस संग्राम की भूमि में नहीं अपितु बड़े २ संग्रामों को जन्म देनेवाली राजनीतिज्ञों की राजनीति–प्रतिभा में जन्म लेता है। पुरानी प्रणाली रामायण, महाभारत अथवा पुराणों के महनीय चरितों के जीवन–वृत्तों को नाटकों के इतिवृत्त–निर्माण के लिये उपयुक्त मानती रही है किन्तु इस नाटक का इतिवृत्त, जैसा कि इतिहास-विदों ने आज सिद्ध कर दिखाया है, भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग की घटना–मौर्य–साम्राज्य की स्थापना और प्राणप्रतिष्ठा पर अवलम्बित है।

इस नाटककी दूसरी विशेषता है इसके इतिवृत्त अथवा Plot (प्लॉट) की वास्तु–रचना। जिस प्रकार कोई परमकुशल वास्तु–कलाकार एक ऐसा भव्य भवन बना दे जिसमें उसके

प्रत्येक साधन एक सुन्दर किंवा सुरूचिपूर्ण अनुपात में उपयुक्त हुये देखे जा सकें उसी प्रकार इस नाटक का रचयिता एक ऐसा कुशल नाट्यकलाकार है जिसने नाना प्रकार की घटनाओं से सम्बद्ध एक ऐसी इतिवृत्त-रचना कर दिखाई है जिसमें प्रत्येक घटनायें मुख्य-वृत्त से निकलतीं और उसी में अन्त होती हुई दिखाई देती हैं। मुद्राराक्षस नाटक के इतिवृत्त-संस्थान की बराबरी संभवतः संस्कृत के किसी भी नाटक का इतिवृत्त नहीं कर सकता। और नाटकों में 'इतिवृत्त' तो चरित से स्वतन्त्र भी अपना अस्तित्व रखता है उदाहरण के लिये 'उत्तररामचरित' का इतिवृत्त भवभूति के द्वारा उसमें चित्रित राम के चरित से पृथक् भी अवस्थित है किन्तु मुद्राराक्षस का 'इतिवृत्त' ऐसा है जो उसके प्रमुख चरित की प्रेरणा से जन्म लेता तथा जीवित-जागृत खड़ा दिखाई देता है। कुछ विद्वानों ने 'मृच्छकटिक' को इतिवृत्त-रचना की दृष्टि से आदर्श माना है और 'मुद्राराक्षस' को इस आदर्श का सर्वप्रथम निभानेवाला। वस्तुतः बात ऐसी है कि मृच्छकटिक के नाटककार का बहुत कुछ ऋणी होते हुये भी, मुद्राराक्षस का नाटककार प्राचीन ऋण पर अपना निर्वाह नहीं करता अपितु अपनी व्यवसाय-शक्ति से उस मूलधनको बढ़ा-चढ़ा कर दिखा देता है और ऋण-शुद्धि के साथ २ अपनी ऐश्वर्य-मर्यादा का प्रदर्शन भी कर देता है।

चरित-चित्रण की विशदता, असंकीर्णता, प्रभावोत्पादकता, महाप्राणता इत्यादि इस नाटक की तीसरी विशेषता है। अन्य नाटकों में नायक की मुखापेक्षिता अन्य चरितों का भले ही स्वभाव हो किन्तु इस नाटक में प्रत्येक चरित स्वतन्त्र व्यक्तित्व हैं और यदि ये नायक से प्रभावित होते हैं तो साथ ही साथ नायक भी इनके द्वारा प्रभावित होता प्रतीत होता है। मुद्राराक्षस का चरित-चित्रण आदर्श और यथार्थ की सीमाओं का परस्पर संमेलन है। मानव-जीवन का लोक में जो स्वरूप है वही मुद्राराक्षस के नाट्य-जगत में अंकित और उन्मीलित है। नाट्यशास्त्र की मर्यादा की रक्षा करते हुये भी नाटककार विशाखदत्त ने ऐसे चरितकी उद्भावना की है जो साधारण होते हुये भी विशिष्ट है, देश-काल से परिच्छिन्न होते हुये भी व्यापक है, नाटकीय होते हुये भी वास्तविक है और यथार्थ होते हुये भी आदर्श है।

रस-भाव की अभिव्यक्ति की नयी धारा इस नाटक की चौथी विशेषता है। नाटककार का व्यक्तित्व यद्यपि कहीं भी सामने अटकता नहीं दीख पड़ता किन्तु चित्रित व्यक्तित्वों की झलक में इसकी झांकी दिखाई दे जाती है। कुछ लोगों का यह कहना है कि-स्त्री-जाति के प्रति इस नाटककार की दुर्भावना प्रतीत होती है क्योंकि इस नाटक में न तो कोई 'नायिका' है और न स्त्री जाति के प्रति किसी प्रकार की सद्भावना, ठीक इसलिये नहीं जंचता क्योंकि यह नाटक जीवन की उन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का नाटक है जिनमें प्रेम की भावनायें कर्त्तव्य की भावना के आगे आत्म-समर्पण किया करती हैं और वैयक्तिक माया-ममता समष्टि-हित के लिये आत्म-बलिदान कर चुकी होती है। चाणक्य के समान नायक

और राक्षस के समान प्रतिनायक कामिनी और काञ्चन के लिये आपस में नहीं झगड़ा करते उनका झगड़ा तो महान आदर्शों के लिये होता है जिनकी रक्षा में जीत-हार का उतना महत्त्व नहीं जितना कि कर्त्तव्य-निर्वाह का है। चाणक्य और राक्षस के चरित का परस्पर तुलनात्मक चित्रण करते हुये नाटककार ने जिस राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा अथवा राजनीतिक विजय-सम्बन्धी आत्मोत्साह का सुन्दर अभिव्यञ्जन किया है वह एक ऐसी वास्तविकता है जिसके अनुभव का होते रहना किसी देश और जाति के जीवन की निशानी है जिसके विना सभी प्रेम, सभी मीठी भावनायें, झूठी वासनायें और आत्म-वञ्चनायें हैं।

'मुद्राराक्षस' की पांचवीं विशेषता यह है कि यही एक ऐसा नाटक है जिसे सर्वतोभावेन 'नाटक' होने का महान् श्रेय प्राप्त है। इसके अभिनय के देखते या इसे पढ़ते ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन का एक महान् क्षेत्र, एक के बाद एक, जीवित और जागृत चल-चित्रों के रूप में हमारे मानस-पटल पर अंकित होता चल रहा है। इसमें ऐसा नहीं प्रतीत होता कि इसका कवि कुछ अपनी ओर से कह रहा हो जिसे हम सुनने को रुक जांय और यदि उसकी काव्य-कल्पना बड़ी सुन्दर और सरस हो तो उसी की भूलभुलैया में हम यह भी भूल जांय कि हम नाटक देख रहे थे। नाटककार ने अपने मुद्राराक्षस के कथनोपकथन के नाटकीय औचित्य की वृद्धि के लिये अपनी काव्य-कल्पना का बलिदान तक कर दिया है। बड़े २ नाटककार विशाखदत्त के पूर्ववर्ती हो चुके हैं— भास, शूद्रक, कालिदास सबके सब पहले के नाट्यकलाकार हैं किन्तु ये भी अपने नाटकों में कहीं-कहीं काव्यमयता की छटा से अपना लोभ नहीं संवरण कर सके। विशाखदत्त का मुद्राराक्षस ही एक ऐसा नाटक है जो चारों ओर से देखने पर भी नाटक ही दिखाई देता है कविता नहीं।

इस नाटक की छठी विशेषता है इसके मुख्य विषय की, जो अन्य किसी भी नाटक में नहीं। राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा का विषय राजनीति-शास्त्र के प्रगाढ पाण्डित्य से ही किसी नाटककार को नाटक के विषय के रूप में नहीं सूझ सकता। वस्तुतः यह तो नाटककार के वैयक्तिक जीवन का विषय है जिसके कारण इतनी सफलता से इसका नाटकीय अभिव्यञ्जन हो सका है। नाटककार के पूर्ववर्त्ती महाकवि भास के नाटक 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में भी कुछ राजनीति के छोटे-मोटे दावपेंच हैं किन्तु इनका केन्द्र अन्तःपुर का विलासमय जीवन है न कि किसी साम्राज्य की राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण। मुद्राराक्षस का विषय सामयिक होते हुये भी व्यापक है और इसका रस कभी भी विरस नहीं हो सकता। कौटिल्य अर्थशास्त्र जिससे इस नाटक का गहरा सम्बन्ध है, अपनी राजनीति का लक्ष्य 'राजा राज्यमिति प्रकृतिसंक्षेपः' रख चुका है किन्तु नाटककार की प्रतिभा राजनीतिक दूरदर्शिता को ही राजा और राज्य के तत्त्व-हित और पुरुषार्थ का मूल मन्त्र सिद्ध करती है।

इस नाटक की उक्तिओं का इसके कथनोपकथन (Dialogue) के प्रवाह में बहते रहना भी इस नाटक की एक अपनी विशेषता है जो अन्यत्र सम्भवतः नहीं दिखाई देती। भास, शूद्रक और कालिदास के नाटकों की कतिपय सूक्तियां आप का ध्यान भले ही अपनी ओर आकृष्ट कर लें और आप उन्हें अपने स्मृतिपटल पर अङ्कित कर लें किन्तु इस नाटक की सूक्तियां नाटक के साथ इस प्रकार संबद्ध, इस प्रकार अपृथक् सिद्ध रूप से संश्लिष्ट हैं कि आप इन्हें इससे पृथक् करके नहीं देख सकते और यदि देखना भी चाहें तो इसकी सुन्दरता अपने आपको स्वयं छिपा लेगी।

इस नाटक में 'नाट्यधर्मी' की रञ्जकता की अपेक्षा 'लोकधर्मी' की वास्तविकता का विशेष महत्त्व है जो इसकी एक और ही विशेषता है। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अभिनय बहुत पहुंचे हुये सहृदय सामाजिकों का मनोरञ्जन कर सकता है किन्तु 'मुद्राराक्षस' साधारण जन-समाज को भी अपने अभिनय से आनन्दित कर देगा। कालिदास के नाटकों का रंगमंच एक विशेष रंगमंच होगा किन्तु 'मुद्राराक्षस' अपना रंगमञ्च सर्वत्र पा सकता है।

मुद्राराक्षस की वाक्य-रचना-शैली, चाहे गद्य की हो अथवा पद्य की, न तो हमारे कानों में संगीत सी लगती है और न हमारी आंखों में चित्र सी झलकती है, प्रत्युत ऐसी प्रतीत होती है मानो हमारी ही शैली हो और भिन्न २ भावावेशों में हमारे ही व्यक्तित्व की अभिव्यञ्जना हो।

इस नाटक का नाटककार अपने नाट्य-जगत् के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े व्यक्ति को समान स्नेहभाव से देखता है और निष्पक्ष हृदय से मानता है। इस नाटक का नायक जितना महान् है प्रतिनायक उससे कम नहीं, नायक की अन्तिम विजय में यदि नाटककार फूला नहीं समाता तो प्रतिनायक की हार भी उसे कम दुःखित नहीं करती।

इस नाटक ने भारतीय इतिहास के साम्राज्ययुग और उसके आदर्शों का जो सर्वप्रथम प्रामाणिक संकेत किया है उसी के आधार पर ऐतिहासिकों की ऐसी धारणायें बनी हैं जैसी श्री विन्सेंटस्मिथ ने अपने ग्रन्थ 'Asoka' (पृष्ठ १०४) में प्रकट की है—

'The conception of an Indian Empire extending from sea to sea and embracing almost to whole of India and Afghanistan was formed and carried into effect by Chandragupta and his minister in the brief space of twenty-four years. History can show few greater political achievements. Not only was the empire formed, but it was so thoroughly organized that the sovereign's commands emanating from Pataliputra were obeyed without demar on the banks of the Indus and the shores of the Arabian sea. The imment heritage thus created

by the genius of the first emperor of India was transmitted intact to his son and grandson'.

महाकवि कालिदास के **'आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्'** का संकेत आप की आंखों में सुनहला चित्र बनकर भले ही उतर जाय किन्तु ऐतिहासिकता की कसौटी पर तो मुद्राराक्षस की यह एक भारतराष्ट्र-भावना ही खरी निकलती है—

'आशैलेन्द्राच्छिलान्तःस्खलितसुरधुनीशीकरासारशीतात्,
आ तीरान्नैकरागस्फुरितमणिरुचो दक्षिणस्यार्णवस्य।
आगत्यागत्य भीतिप्रणतनृपशतैः शश्वदेव क्रियन्तां
चूडारत्नांशुगर्भास्तव चरणयुगस्याङ्गुलीरन्ध्रभागाः॥' (३।१९)

२-विशाखदत्त-नाटककार

'मुद्राराक्षस' के नाटककार विशाखदत्त हैं—इस सम्बन्ध में तो आज किसी का मतभेद नहीं, किन्तु यह किस युग की कृति है? इस प्रश्न का अभी तक समाधान न तो हो सका और न संभवतः हो ही सकेगा। मुद्राराक्षस के नाटककार ने अपना जो संक्षिप्त परिचय नाटक की प्रस्तावना में दिया है उससे तो केवल इतना ही पता चलता है कि इनके पिता कौन थे और पितामह कौन। पिता का नाम तो 'महाराज पृथु' अथवा नाटक के कुछ संस्करणों के अनुसार 'महाराज भास्करदत्त' है और पितामह का नाम 'सामन्त वटेश्वरदत्त' किन्तु विशाखदत्त केवल नाटककार थे, कवि थे या किसी राजतन्त्र के संचालक या संचालकों में से कोई एक इसका संकेत स्पष्टरूप से नहीं किया गया है। वस्तुतः भास और कालिदास जिस प्रकार अपने व्यक्तित्व के परिचय के सम्बन्ध में उदासीन दिखाई देते हैं उसी प्रकार विशाखदत्त भी। नाटक बड़ा होता है नाटककार नहीं-संभवतः यही प्राचीन धारणा रह चुकी है और इसी धारणा से विशाखदत्त भी पूर्णतया प्रभावित प्रतीत होते हैं। विशाखदत्त का यह नाटक ही इनका व्यक्तित्व है और यही है इनके व्यक्तित्व की अमरता की निशानी।

(क) काल-निर्णय—

संस्कृत के नाटक-साहित्य का ऐतिहासिक काल-क्रम-निर्धारण करने वाले विद्वानों ने विशाखदत्त के कार्य-काल के सम्बन्ध में जो कतिपय कल्पनायें की हैं उनका संक्षिप्त संकेत यहां कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

सबसे पहली तो बात यह है कि प्राचीन भारत की उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री में महाराज पृथु (अथवा भास्करदत्त) अथवा सामन्त बटेश्वरदत्त के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलता। कुछ विद्वानों ने 'विशाखदत्त' के नाम के आगे 'दत्त' शब्द और साथ ही साथ सामन्त बटेश्वरदत्त के नाम के आगे भी 'दत्त' शब्द देखकर यह विचार

प्रकट किया है कि इनका वंश 'दत्त-वंश' था किन्तु इसका भी कोई ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलता।

इस नाटककार के काल-निर्णय से सम्बद्ध सभी कल्पनायें नाटक के इस 'भरत-वाक्य' पर केन्द्रित हैं :—

'वाराहीमात्मयोनेस्तनुमतनुबलामास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग् दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री।
म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः
सश्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः॥

अर्थात्-यहां जिस महाराज चन्द्रगुप्त का निर्देश है उन्हीं का समकालीन यह नाटककार भी होगा। किन्तु मुद्राराक्षस की यत्र तत्र उपलब्ध हस्तलिखित ग्रन्थ-प्रतियों में केवल 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः' ही पाठ नहीं मिलता अपि तु (१) 'अवन्तिवर्मा', (२) दन्तिवर्मा, (३) रन्तिवर्मा और (४) रन्तवर्मा पाठ भी मिला करता है। इन विभिन्न राजाओंके काल-भेद के कारण नाटककार का भी काल-निश्चयात्मक नहीं किन्तु अनिश्चय-गर्भ ही बना हुआ है। इस सम्बन्ध में श्रीतेलंग नें यह निर्णय किया था कि इस नाम का कोई राजा भारतीय इतिहास के प्राचीन अथवा मध्यकालीन युग में नहीं मिलता इसलिये यह 'रन्तिवर्मा' पाठ अशुद्ध समझना चाहिये। श्री अ० रमास्वामी ने 'दन्तिवर्मा' वाले पाठ को शुद्ध मानकर यह निश्चित किया था कि नाटककार का समय ईसा की ७ वीं-८ वीं शताब्दी है क्योंकि पल्लव-वंश के 'दन्तिवर्मा' का राज-काल ईसा की ७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का काल निकलता है। किन्तु प्रोफेसर ध्रुव ने इस पर यह संदेह प्रकट किया था कि भले ही 'दन्तिवर्मा-पल्लवराज' का राज-काल ७ वीं शताब्दी हो किन्तु पल्लववंशी राजगण के शैवमतावलम्बी होने के कारण भरतवाक्य के विष्णु-अवतार-भूत राजा के साथ यहां संगति नहीं बैठ पाती और साथ ही साथ इतिहास इस विषय पर भी चुप है कि दन्तिवर्मा ने कोई ऐसा महान् म्लेच्छ-विनाश का कार्य किया हो जिसका नाटककार इस रूप में स्मरण करे। अन्ततोगत्वा प्रोफेसर ध्रुव का यह निर्णय रहा कि श्री तेलंग के अनुसार 'अवन्तिवर्मा' पाठ ही समुचित मानना चाहिये क्योंकि 'भरतवाक्य' में 'चन्द्रगुप्त' पाठ इसलिये ठीक नहीं जँचता क्योंकि 'चन्द्रगुप्त' तो नाटक का एक पात्र है और भरतवाक्य का सम्बन्ध नाटककार के समकालीन किसी राजा के साथ हुआ करता है जैसा कि संस्कृत नाटकों की परिपाटी रही है। श्री तेलंग ने तो इस भरतवाक्य के 'अवन्तिवर्मा' को—क्योंकि इस नाम के दो राजा हो चुके हैं एक तो काश्मीर के और दूसरे कन्नौज के-कन्नौज का राजा माना था और 'म्लेच्छ' उन हूणों को जो कि गुप्तवंश की पिछली पीढ़ी के राजाओं से लड़-भिड़ रहे थे और इस दृष्टि से विशाखदत्त का समय ७ वीं ८ वीं शताब्दी सिद्ध किया था। किन्तु प्रोफेसर ध्रुव का मत इस सम्बन्ध में यह है:—

'मिहिरकुल' तथा 'तोरमाण' द्वारा स्थापित हूण-साम्राज्य दशपुर (आजकल का मंडसर) के संग्राम में महाराज यशोवर्मा के हाथ सन् ५२८ में नष्ट-भ्रष्ट हुआ और छोटे २ राज्यों में विभक्त हो गया जिनमें पंजाब में 'शाकल' (आजकल का स्यालकोट) राज्य और पश्चिमी राजपूताना तथा पूर्वी गुजरात में गुर्जर-राज्य प्रमुख रहे। हूणों के ये छोटे-मोटे राज्य स्थाण्वीश्वर (थानेसर) और कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राज्यों से शत्रुता रखते रहे। कन्नौज के मौरवर अथवा मौरवरि वंश के राजा ईशान वर्मा तथा शर्ववर्मा की इन हूणों से कई लड़ाइयां हुईं जिनमें थानेसर के राजाओं की सैनिक सहायता से मौरवरि-वंशीय राजाओंने हूणों को हराया। शाकल के हूण-वंशीय राजा लोग थानेसर के राज्य के शत्रु बन गये किन्तु महाराज प्रभाकरवर्द्धन और उनके सम्बन्धी कन्नौज के महाराज अवन्तिवर्मा ने मिलकर इन हूणों का नाश किया। हूण-विजेता प्रभाकरवर्द्धन की विजय-प्रशस्ति महाकवि बाण की प्रसिद्ध ही है और जिस 'अवन्तिवर्मा' की विजय-प्रशस्ति विशाखदत्त ने अपने मुद्राराक्षस के 'भरत-वाक्य' में रची है वे महाराज प्रभाकरवर्द्धन के सम्बन्धी और उनके परम सहायक कन्नौज के महाराज अवन्तिवर्मा ही हैं जिनका नाम हूण-विजय का समय सन् ५८२ निश्चित है और इस प्रकार मुद्राराक्षस के नाटककार का कार्य-काल ईसा की छठी शताब्दी (५८५ ई० सन्) होना चाहिये।'

कुछ अन्य ऐतिह्यविदों ने जैसे कि श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने मुद्राराक्षस के भरतवाक्य में 'चन्द्रगुप्त' पाठ ही ठीक माना है और इस 'चन्द्रगुप्त' को मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त से नहीं अपितु गुप्त-वंशीय सम्राट् 'चन्द्रगुप्त' से अभिन्न स्वीकार किया है जिनका राज-काल (३७५-४१३ ई० सन्) निश्चित है। अब यदि मुद्राराक्षस के 'भरतवाक्य' का चन्द्रगुप्त गुप्त-सम्राट् महापराक्रमी 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य' है तो नाटककार का कार्य-काल ईसा की ४ थी शताब्दी मानना आवश्यक है। इस प्रसंग में भी सभी ऐतिह्यविद् एक मत नहीं हैं क्योंकि उनका कहना यह है कि हूणों के आक्रमण का सम्बन्ध चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज-काल से नहीं अपि तु बाद की शताब्दिओं से है।

इन भिन्न २ मतों का सामञ्जस्य तो केवल एक दृष्टि से ही कुछ थोड़ा सा है और वह यह है कि विशाखदत्त एक प्राचीन नाटककार हैं। इस सम्बन्ध में हमारा कहना यह है कि नाटक के 'भरतवाक्य' में भिन्न २ पाठों का पाया जाना इसलिये संभव है क्योंकि कन्नौज के महाराज अवन्तिवर्मा (६ ठी शताब्दी) तथा पल्लव-राज दन्तिवर्मा (७ वीं, ८ वीं शताब्दी) के राज-काल में यह प्राचीन नाटक अभिनीत हो चुका होगा और अभिनय करनेवालों ने नाटककार विशाखदत्त के प्राचीन पाठ—**'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः'** को ही **'पार्थिवोऽवन्तिवर्मा'** अथवा **'पार्थिवो दन्तिवर्मा'** अथवा यदि कोई छोटा-मोटा राजा रन्तिवर्मा भी रहा हो तो—**'पार्थिवो रन्तिवर्मा'** के पाठ में परिवर्तित कर सम-सामयिक राज-प्रशस्ति के रूप में प्रस्तुत किया होगा। 'अवन्तिवर्मा' अथवा 'दन्तिवर्मा' पाठ से

विशाखदत्त को ६ ठी शताब्दी अथवा ७ वीं-८ वीं शताब्दी का नाटककार मानने में कुछ आपत्तियां हैं जो ये हैं—

(१) मुद्राराक्षस नाटक की शैली ६ ठी ८ वीं शताब्दी की शैली से मेल नहीं खाती।

(२) विशाखदत्त ने यदि कन्नौज के महाराज अवन्तिवर्मा की प्रशस्ति अपने नाटक के 'भरत-वाक्य' के द्वारा की और स्थाण्वीश्वर के महाराज प्रभाकरवर्द्धन की यशोगाथा का गान महाकवि बाण ने किया तो यह बड़े आश्चर्य की बात है कि समसामयिक होते हुये भी दोनों में से किसी को किसी दूसरे का कुछ भी पता नहीं।

(३) विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस नाटक के ३ य अंक के १९ वें श्लोक—'आशैलेन्द्रात्' इत्यादि में जिस भारत-साम्राज्य की भावना की अभिव्यक्ति की है उसकी वास्तविकता ६ ठी-८ वीं शताब्दी के भारत की राजनीतिक परिस्थिति में नहीं अपि तु ४ थी-५ वीं शताब्दी के भारत की राजनीतिक परिस्थिति में संभव प्रतीत होती है।

(४) विशाखदत्त के द्वारा चन्दनदास के शील-सौजन्य को बोधिसत्त्वों के शील-सौजन्य से बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया जाना जैसा कि मुद्राराक्षस के ७ म अंक के ६ ठे श्लोक 'दुष्कालेऽपि' इत्यादि में स्पष्ट प्रतीत हो रहा है, ६ ठी ७ वीं शताब्दी के भारत की धार्मिक भावनाओं से उतना संगत नहीं जितना कि ४ थी शताब्दी की अर्थात् सम्राट् समुद्रगुप्त और गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य २ य के युग की।

निष्कर्ष यही निकल सकता है कि विशाखदत्त को ४ थी-५ वीं शताब्दी का नाटककार मानना अनुचित नहीं है। संस्कृत नाटक-साहित्य के इतिहास में भास, शूद्रक, कालिदास और विशाखदत्त ये चार अनुपम विभूतियां है जिनकी श्रेणी में कालान्तर में भवभूति आ विराजते हैं। ३ री से ५ वीं शताब्दी के युग का नाटक-साहित्य ही उन नाटककारों की कला-कृति है जिनकी कारयित्री प्रतिभा में कोई सन्देह नहीं। यह अवश्य है कि बाद में महाकवि भवभूति की कल्पना उत्तररामचरित की सृष्टि कर जाती है।

(ख) शास्त्र-वैदुष्य और वैयक्तिक प्रतिभा—

संस्कृत के कवियों और नाटककारों में शास्त्र-वैदुष्य का होना तो नियम है अपवाद नहीं। भारत की ऐसी भी कभी की कोई मान्यता नहीं कि यदि कोई कवि अथवा नाटककार विद्वान् हुआ तो उसकी विद्वत्ता के अनुपात से उसकी कवि-प्रतिभा अथवा नाट्यनिर्माण-शक्ति में कोई कमी हो जाय। मुद्राराक्षस का अध्ययन-मनन करने वाले विद्वानों ने विशाखदत्त के न्याय-शास्त्र-पाण्डित्य तथा नाट्य-शास्त्रवैदुष्य का उल्लेख किया ही है। मुद्राराक्षस के चतुर्थ अङ्क के ३ य श्लोक **'कार्योपक्षेपमादौ'**-इत्यादि आधार पर नाटककार के नाट्यशास्त्र-अभ्यास और पञ्चम अङ्क के १०म श्लोक—**'साध्ये निश्चितम्'** इत्यादि के आधार पर न्यायशास्त्र-परिचय का वर्णन सब ने कर दिया है। विशाखदत्त का कौटिलीय अर्थशास्त्र का पाण्डित्य प्रगाढ़ है इसमें भी किसी को संदेह नहीं। किन्तु यह सब होने पर भी इतना अवश्य है कि

शास्त्र-वैदुष्य से विशाखदत्त की वैयक्तिक प्रतिभा कुण्ठित नहीं अपितु और भी स्फूर्तिशील प्रतीत होती है। जिस प्रकार महाकवि भास और कालिदास की कला उनके शास्त्र-वैदुष्य को छिपाने में चरितार्थ हुई है उसी प्रकार विशाखदत्त की भी कला उनके शास्त्र-ज्ञान को दबाकर ही उद्भूत और विकसित हुई है। विशाखदत्त ने नाट्य-शास्त्र के सम्प्रदाय के अनुसरण और अपनी वैयक्तिक नाट्यकला-प्रतिभा की स्फूर्ति के संघर्ष की जो अभिव्यञ्जना इस पंक्ति में की है—

'कर्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा' (मुद्राराक्षस ४।३)

उसे हम भूल नहीं सकते। विशाखदत्त की इस भावना और महाकवि भवभूति की इस भावना में जो परस्पर अन्तर है उसे हम संस्कृत-नाटक साहित्य के प्रातिभनिर्माण-युग और पाण्डित्यनिर्माण-युग का अन्तर मानें तो कोई अनुचित नहीं।

(ग) व्यक्तित्व—

नाटक के हृदय की अभिव्यक्ति यदि नाटककार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है तो यह निश्चित है कि मुद्राराक्षस में विशाखदत्त का जो व्यक्तित्व अभिव्यक्त हुआ है उसके तीन पहलू हैं—१ ला राष्ट्र-जीवन के दार्शनिक का, २ राजनीतिक आदर्शवादी का और ३ रा मनुष्य की मनुष्यता के महाविश्वासी का। राष्ट्र-जीवन के दार्शनिक के रूप में विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' का जो सुन्दर स्वप्न देखा है उसका आधार यदि भारत के अतीत राजनीतिक जीवन का क्षणिक भी वास्तविकता रह चुकी है तो वह हमारे इतिहास का महान् गौरवमय युग रहा होगा और यदि नहीं तो भविष्य के युगों का—गणतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र का ही सही-आदर्श तो है ही। कोई भी राष्ट्र चाहे वह राजतन्त्रात्मक हो अथवा प्रजातन्त्रात्मक हो, तभी उन्नतिशील हो सकता है जब उसके नागरिक अपने स्वार्थ के आगे अपने समाज और देश का स्वार्थ रखा करें। मुद्राराक्षस का 'चाणक्य' एक राष्ट्र की राजनीति का कर्णधार है जिसकी आत्म-त्याग की भावना राष्ट्र-हित की परीक्षा नहीं अपि तु सफलता है। मुद्राराक्षस का 'चन्द्रगुप्त' एक राष्ट्र के शासन का नियामक है जिसे जनरंजन की परतन्त्रता में ही शासक की स्वतन्त्रता के आत्मगौरव का अनुभव हुआ करता है। मुद्राराक्षस का 'राक्षस' एक ऐसा महान् राष्ट्र-पुरुष है जो राष्ट्र के लिये अपनी आत्मा का बलिदान कर देने को उद्यत रहा करता है। मुद्राराक्षस के दूत, प्रणिधि, गुप्तचर और अन्यान्य व्यक्ति जिस कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित दिखाई देते हैं उसे किसी भी राष्ट्र के योग-क्षेम का नियामक माना जा सकता है।

राजनीतिक आदर्शवादिता तो विशाखदत्त के व्यक्तित्व की केन्द्र-शक्ति है। कौटिल्य अर्थशास्त्र की राजनीति सामयिक हो सकती है किन्तु मुद्राराक्षस की राजनीति एक राजनीतिक स्वप्न है। आज हम विश्व की राजनीति के महान् कर्णधारों को जिसलिये चिन्तित देख रहे हैं वह है राष्ट्र के नायकों और उन्नायकों का 'हृदय-परिवर्तन'। राष्ट्र की

सुख-शान्ति के लिये उसके छोटे और बड़े, शासित और शासक सब का हृदय-परिवर्तन आवश्यक है—यह स्वप्न जिसे आज विश्व-राष्ट्र की भावना से भरे लोग देखना चाहते हैं उसे विशाखदत्त ने शताब्दिओं पूर्व देखा है और हृदय की प्रबल आशा के साथ चित्रित किया है। चाणक्य और राक्षस, चन्द्रगुप्त और मलयकेतु भिन्न २ राजनीतिक आदर्शों के मानने वाले हैं किन्तु अन्त में सब का हृदय-परिवर्त्तन होता है और इसीलिये होता है जिसमें राष्ट्र-जीवन का विनाश न हो और राष्ट्र अमर रहे।

संस्कृत के नाटककारों में और सम्भवतः संसार के नाट्यकारों में भी विशाखदत्त को हम इसलिये भी स्मरण करते रहेंगे क्योंकि इसने मनुष्य की मनुष्यता में महाविश्वास किया है। राक्षस की जीवन धारा का अन्त में सर्वथा परिवर्तित रूप में प्रवाहित होने की सूक्ष्म अभिव्यञ्जना नाटककार की मनुष्य की मनुष्यता में महाविश्वास की भावना है।

(घ) अन्यकृतियां—

विशाखदत्त की अन्तिम अमरकृति 'मुद्राराक्षस' के अतिरिक्त एक और भी प्राथमिक 'कृति' है जिसका अस्तित्व केवल नाट्यदर्पण और शृंगारप्रकाश के उद्धरणों में ही सुरक्षित है। यह कृति है—'देवीचन्द्रगुप्तम्' इसके नाम से ही यह स्पष्ट है कि यह भी एक नाटक है जिसका इतिवृत्त राजनीतिक है और चरितचित्रण भी राजनीति के दावपेंच वालों का है और रस ? उसे तो राजनीतिक उत्साह के महाभाव का निष्यन्द होना ही चाहिये ! नाट्य-दर्पण में 'नैष्क्रामिकी ध्रुवा' के उदाहरण के रूप में 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक के पाचवे अंक का जो प्राकृत श्लोक—

'एसो सिअकरसत्थप्पणासि आसेसवेरितिमिरोहो।
णिअविहवएण चन्दो गअणं गहलङ्घिओ विसइ॥'

उद्धृत है, उसे देखते यह अनुमान किया जा सकता है कि यह कृति विशाखदत्त की नाट्य-रचना के कौमार्य की अभिव्यक्ति है क्योंकि इसमें नाट्याचार्य भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र के अनुसार 'ध्रुवागान' का भी आयोजन है जो मुद्राराक्षस की वृत्त-चरित-रसभावा-भिव्यक्ति की तीव्रगति में सम्भव नहीं। यह नाटक भी ७ अङ्कों का ही रहा होगा। इसमें विदूषक, नायिका इत्यादि पात्र रहे होंगे जिनका मुद्राराक्षस में कोई स्थान नहीं क्योंकि कोई प्रयोजन नहीं।

इसके अतिरिक्त प्रोफेसर ध्रुव ने सदुक्तिकर्णामृत में विशाखदत्त के नाम से उद्धृत—

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैर्यातः प्रसिद्धिं परा-
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद् यदि परं देवो न जानाति तम्।
वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद् यस्यैकबाणाहत-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः॥'

इस श्लोक के आधार पर यह अनुमान किया है कि विशाखदत्त का रामचरित-सम्बन्धी कोई अन्य भी नाटक होगा किन्तु यह केवल अनुमान है और ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी रचना विशाखदत्त की मनोवृत्ति से संगत होने की अपेक्षा असंगत ही अधिक है।

३—नाटक का नाम-सार्थक्य

नाटककार ने इस अपने नाटक का नाम 'मुद्राराक्षसम्-मुद्राराक्षस' रखा है इस नाम की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—**'मुद्रया गृहीतं राक्षसमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः, मुद्राराक्षसम्'** अर्थात् मुद्रा-अङ्गुलीयक मुद्रा से राक्षस के निग्रह के सम्बन्ध में एक रूपक-ग्रन्थ। यहां पाणिनि के सूत्र **'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे'** के द्वारा अण्प्रत्यय और अण्प्रत्ययान्त पद होने के कारण **'यद्यढग्यगजगवुजुछाश्च'** इस नपुंसकलिङ्गानुशासन के अनुसार नपुंसकान्त होने से 'मुद्राराक्षसम्' यह पद निष्पन्न हुआ। यह सब तो ठीक है किन्तु नाटककार ने ऐसा नाम क्यों चुना? सबसे पहले तो ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि शूद्रक के नाटक 'मृच्छकटिक' और महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक के नाम ने विशाखदत्त की कल्पना को अपने नाटक के नामकरण के लिये प्रेरित किया है। 'मृच्छकटिक' नाटक का नायक चारुदत्त है किन्तु इसके चरित-चित्रण में, 'मृच्छकट'—मिट्टी की गाड़ी की जो घटना है उसका एक विशेष महत्त्व है क्योंकि इसी घटना के वर्णन के द्वारा नाटककार ने चारुदत्त का पूर्वापर चरित परस्पर संश्लिष्टरूप से चित्रित किया है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में भी 'अभिज्ञान'-अंगूठी की पहचान से शकुन्तला की पहचान की घटना अपना महत्त्व रखती है और यही वह घटना है जो इसके नायक दुःष्यन्त के पूर्वापर चरित का समन्वय करती है। मुद्राराक्षस में भी मुद्रा के द्वारा राक्षस के निग्रह' की घटना एक ऐसी घटना है जिस पर इस नाटक के नायक चाणक्य की समस्त कूटनीति केन्द्रित होती हुई प्रतीत होती है। संस्कृत नाटकों के नामकरण में नाटककारों की भिन्न २ प्रवृत्तियां कार्य करती दिखायी देती हैं। कभी तो नायक और नायिका के सम्मिलित नाम पर नाटक का नाम रखना, कभी नायक और उसके चरित की किसी विशेषता की दृष्टि से नाटक का नाम-निरूपण, कभी किसी नाटकान्तर्गत छोटी किन्तु महत्त्वपूर्ण घटना के कारण नाटक का नाम-करण-इत्यादि कई ऐसी दृष्टियाँ हैं जिन्हें नाटककारों ने अपने नाटकों के नाम-करण में अपने सामने रखा है। इन सबका एकमात्र प्रयोजन वैचित्र्य और सौन्दर्य की भावनाओं का ही सामाजिकों के हृदय में आधान करना रहा है। हम उस समय की यदि कल्पना करें जब कि सर्वप्रथम 'मुद्राराक्षस' इसके नाटककार के ही युग में रङ्गमञ्च पर लाया गया होगा तब इसमें सन्देह नहीं कि इसके अभिनय-दर्शन के बाद सामाजिकों ने इसके नाम-सार्थक्य की मन ही मन बहुत ही प्रशंसा की होगी।

अन्य समस्त वस्तुओं के नाम के जो पद हैं वे तो 'यदृच्छा-पद' ही हुआ करते हैं क्योंकि इनका उन २ वस्तुओं के व्यक्तित्व अथवा वैशिष्ट्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हुआ

करता। भिन्न-भिन्न नाम तो इसीलिये भिन्न २ वस्तुओं के रखे जाते हैं और रखने पड़ते हैं जिससे उनका परस्पर भेद प्रतीत हुआ करें और भाषा के शब्दों का विषय-विभाग भी ठीक २ रहा करे। किन्तु ग्रन्थकारों को अपने ग्रन्थों के नाम इस दृष्टि से रखने पड़ते हैं। जिससे उनकी प्रमुख अथवा आनुषङ्गिक विशेषता के साथ उनके नाम भी समञ्जस-सङ्गत हो सके।

इस दृष्टि से इस नाटक का 'मुद्राराक्षस' यह नाम सर्वथा सार्थक और सुरुचिपूर्ण है।

४—नाटक का मुख्य-विषय

आद्योपान्त इस नाटक में जिस विषय की सूक्ष्म अभिव्यञ्जना की गयी है वह यह है—

कोई भी साम्राज्य, चाहे वह कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, स्थिर नहीं रह सकता यदि उसके सञ्चालन में प्रभु-शक्ति का हो हाथ हो। शक्ति के एक हाथ में केन्द्रित हो जाने पर उसमें उच्छृङ्खलता-उद्दण्डता का हो जाना स्वाभाविक है। और ऐसा हो जाने पर प्रजा-विक्षोभ अथवा प्रजा-विद्रोह रोका नहीं जा सकता। साम्राज्यवाद तो तभी फूला-फला रह सकता है। जब प्रभुशक्ति पर मन्त्रशक्ति की सतर्क दृष्टि बनी रहे और मन्त्रशक्ति पर प्रभुशक्ति की आस्था। नन्द-साम्राज्य प्रभुशक्ति की उद्दण्डता से नष्ट हुआ और मौर्य-साम्राज्य मन्त्रशक्ति के साथ पैर मिला कर चलने वाली प्रभुशक्ति के हाथों प्रतिष्ठित किया गया।

साम्राज्यवाद का भविष्य अनियन्त्रित प्रभुशक्ति पर नहीं अपितु मन्त्रशक्ति के द्वारा प्रभुशक्ति के नियन्त्रण और दोनों के पारस्परिक सहयोग पर ही सुरक्षित रह सकता है। प्राचीन भारत के साम्राज्य-वाद के महान् दार्शनिक चाणक्य की यह भावना—

'ब्राह्मणेनैधितं क्षत्रं मन्त्रिमन्त्राभिमन्त्रितम्।
जयत्यजितमत्यन्तं शास्त्रानुगतशस्त्रितम्॥'

मुद्राराक्षस के नाटककार की इस भावना—

'अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः।
सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति॥'

में अवतार लेती प्रतीत होती है।

५—नाटक का मूल वृत्त

मुद्राराक्षस की इतिवृत्त-रचना विशाखदत्त ने जिस प्राचीन ऐतिहासिक वृत्त के आधार पर की है उसे नन्द-साम्राज्य के अस्त और मौर्य-साम्राज्य के उदय-युग-सन्धि-वेला का वृत्त कहते हैं। हमारे कथा-साहित्य और पुराण-साहित्य में इस वृत्त का वर्णन मिलता है किन्तु इससे सम्बद्ध कथायें और किंवदन्तियां इतनी इसमें घुल-मिल गयी हैं कि सत्यता

और कल्पना का विश्लेषण असम्भव ही प्रतीत होता है। कौटिल्य (चाणक्य) के द्वारा नन्द-वंश के सर्वनाश और चन्द्रगुप्त की साम्राज्य-प्रतिष्ठा का वर्णन विष्णुपुराण और भागवत इत्यादि में किया हुआ है। 'महावंश'-टीका चाणक्य को तक्षशिला का ब्राह्मण बताती है। चन्द्रगुप्त मौर्य को भारतीय इतिहास का ऐतिहासिक अनुसन्धान भारत का प्रथम सम्राट् स्वीकार करता है।

नन्द-वंश का अन्त-काल भारत के इतिहास-विदों के अनुसार ईस्वी सन् के ३२६ वर्ष पूर्व निर्धारित है। चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्यारोहण-काल ईस्वी सन् के ३२५ वर्ष पूर्व माना जाता है। तब से लेकर नाटककार के समय तक अर्थात् लगभग एक सहस्र वर्ष के भीतर चाणक्य और चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में किंवदन्तिओं का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। मुद्राराक्षस का नाटककार इन किंवदन्तिओं से परिचित अवश्य होगा किन्तु नाटक की इतिवृत्त-योजना में किसी किंवदन्ती का कोई सङ्केत नहीं मिलता। केवल नन्द-विनाश के लिये चाणक्य के अभिचार-कर्म का सङ्केत एक स्थान (४ र्थ अङ्क १२ वाँ श्लोक) पर किया गया है किन्तु इसका मुद्राराक्षस के इतिवृत्त से कोई सम्बन्ध नहीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि नाटककार ने मुद्राराक्षस में मौर्य-साम्राज्य की स्थापना और प्रतिष्ठा का सारा श्रेय विष्णुगुप्त चाणक्य को दिया है और कौटिलीय अर्थशास्त्र की साम्राज्य-वादी राजनीति के अध्ययन-मनन के आधार पर चाणक्य के व्यक्तित्व की भावना की है और इसी से सर्वथा समञ्जस घटना-चक्र की भी कल्पना कर ली है। कौटिलीय अर्थशास्त्र की राजनीति का महाप्रयोक्ता तो सर्वप्रथम राक्षसको नाटककार ने दिखाया है किन्तु इसके भी प्रतिवाद-कर्ता के रूप में चाणक्य के चरित का जो चित्रण है और तत्सम्बन्धी घटनाओं का जो वर्णन है वह नाटककार की अपनी कल्पना की सृष्टि है।

संस्कृत नाटकों में मूलवृत्त का प्रख्यात होना आवश्यक माना गया है। इस नाटक का भी मूलवृत्त एक प्रख्यात वृत्त है। गुणाढ्य की बृहत्कथा के जितने भी रूपान्तर होते आये हैं उन सब में चाणक्य और चाणक्य की विलक्षण बुद्धि से संबद्ध कथायें शताब्दियों से लोग सुनते आरहे हैं। राम और कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध-कथाओं का एक अपना महत्त्व है किन्तु यह भी सत्य है कि भारत की जनता अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता के युगों में चाणक्य और चन्द्रगुप्त की कथायें और गाथायें सुनती-सुनाती आयी है। मुद्राराक्षस के मूलवृत्त का भारतीय जीवन के एक व्यापक अंग से संबन्ध रह चुका है और संभवतः यही कारण है कि विशाखदत्त ने इस वृत्त पर अपने नाटक की रचना की।

६—नाटककी इतिवृत्त-रचना

इस 'मुद्राराक्षस' का शरीर महाकवि विशाखदत्त की कल्पना से बना है। प्राचीन ऐतिहासिक—पौराणिक वृत्त को कवि की कल्पना ने जिस प्रकार संवारा है उसके अनुसार

यह इतिवृत्त इस प्रकार इस नाटक में झलक रहा है:—'महानीतिज्ञ चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त का अधिकार मगध के सिंहासन पर हो चुका है। अपनी विजय के उपलक्ष्य में पाटलिपुत्र के नागरिकों को 'कौमुदी-महोत्सव' के मनाने की आज्ञा चन्द्रगुप्त के द्वारा निकाली जा चुकी है। चन्द्रगुप्त निःशङ्क-निश्चिन्त होकर 'कौमुदी-महोत्सव' के आमोद-प्रमोद का स्वप्न देख रहा है किन्तु चाणक्य का हृदय चिन्ताकुल है। चाणक्य सोच रहा है कि संभवतः ऐसे अवसर पर जब कि चन्द्रगुप्त और उसके सैनिक विजयोन्माद में अपनी सुध-बुध भूल रहे होंगे, कहीं ऐसा न हो, महामात्य राक्षस और मलयकेतु की सेनायें रंग में भंग डालने पर उतारू हो जांय। यह चिन्ता इतनी विकटरूप से चाणक्य के हृदय पर आक्रमण करती है कि वह अपने शत्रुओं को अपने सामने खड़े हुये देखने लगता है और क्रोधावेश में चिल्ला उठता है कि उसके जीते रहते जो भी चन्द्रगुप्त पर अंगुली उठाना चाहेगा उसे ईश्वर भी नहीं बचा सकता। यह क्रोधावेश शान्त हो जाता है किन्तु चाणक्य की सतर्कता और कर्तव्य-परायणता को जगा जाता है। किस प्रकार चन्द्रगुप्त के महान् शत्रु, महाराज नन्द के महाभक्त राक्षस को वश में किया जाय और किस प्रकार लाठी भी न टूटे और सांप भी मारा जाय-बस, इसी उधेड़-बुन में चाणक्य पड़ जाता है। चाणक्य को राक्षस की सांग्रामिक-शक्ति का पता है और साथ ही साथ यह भी पता है कि राक्षस के विद्रोही बने रहते चन्द्रगुप्त का सिंहासन स्थिर नहीं रह सकता। राक्षस के हृदय पर विजय पाना और उसकी नन्द भक्ति की छत्र-छाया में चन्द्रगुप्त को सुरक्षित कर देना-यही एक मात्र निर्णय चाणक्य कर पाता है। अब उसकी राजनीति अपनी शतरंज की गूढ़ चालें चलने लगती है। उसके गुप्तचर राक्षस के परमस्नेह भाजन बना दिये जाते हैं और मलयकेतु के दाहिने-बांयें हाथ के रूप में काम करते हुये चाणक्य की मन्त्रणाओं को कार्यान्वित करते चल रहे हैं। इधर राक्षस अन्य उपायों को निष्फल होते देख चाणक्य और चन्द्रगुप्त में फूट उत्पन्न कराने की चाल चलता है किन्तु चाणक्य पहले ही से सावधान है और स्वयं चन्द्रगुप्त से झगड़ जाने का स्वांग रच लेता है। सरल-हृदय राक्षस इस चाल को नहीं समझ पाता और चाणक्य और चन्द्रगुप्त के बीच कौमुदी महोत्सव को लेकर खड़े हो जाने वाले इस कृतक-कलह को अपनी दूरदर्शिता मान बैठता है। राक्षस की इस चाल को चाणक्य उसी को फंसाने के एक अमोघ-अस्त्र के रूप में बदल देता है और एक कूटलेख का प्रयोग, जिसकी सफलता में उसे कोई संदेह नहीं क्योंकि उस पर राक्षस की मुद्रा की छाप है और राक्षस के लेखाध्यक्ष का लिखा है, कर डालता है। यह लेख चाणक्य के उन गुप्तचरों द्वारा जो कि मलयकेतु के दाहिने-बांये हाथ हैं पकड़ लिया जाता है और मलयकेतु के हृदय में राक्षस के प्रति घोर अविश्वास और अश्रद्धा उत्पन्न कर देता है। पाटलिपुत्र पर आक्रमण तो दूर रहे, इस लेख की कूट चाल एक ओर तो राक्षस की महत्त्वाकांक्षाओं का सत्यानाश कर डालती है और दूसरी ओर उसकी समस्त सैन्य-शक्ति को छिन्न-भिन्न कर देती है। राक्षस विवश हो जाता है। चाणक्य ने उसके आत्म-

समर्पण की चाल पहले ही सोच ली है और वह है राक्षस के परम मित्र पाटलिपुत्र के धनकुबेर चन्दनदास को राजविद्रोह के अपराध में शूली पर चढ़ाना। राक्षस चन्दनदास को बचाने के लिये आत्म-समर्पण करता है किन्तु इतने ही से चाणक्य उसे छुटकारा नहीं देता। राक्षस की बुद्धि, विक्रम और राजभक्ति पर चाणक्य रीझा हुआ है और राक्षस को तब तक नहीं छोड़ सकता जब तक वह चन्द्रगुप्त को अपना नहीं समझता। विवश होकर राक्षस को मौर्य-भक्ति के लिये अपना वचन देना पड़ता है। चाणक्य जीतता है किन्तु हार कर भी राक्षस महान् बना रहता है।'

इस इतिवृत्त और इसके अस्थिपञ्जरभूत पूर्वनिर्दिष्ट वृत्त में कितना अन्तर है। संभवतः संस्कृतनाटक साहित्य में मुद्राराक्षस को छोड़कर कोई भी दूसरा ऐसा नाटक नहीं जिसका इतिवृत्त कवि की कल्पना द्वारा इस प्रकार सुसंश्लिष्ट रूप से संस्कृत हुआ है। इस इतिवृत्त की रचना पर नाटककार स्वयं मुग्ध है और उसकी यह उक्ति—

'कर्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा'

इस इतिवृत्त—निर्माण की कष्टसाध्यता किन्तु सिद्धि की भी सूक्ष्म-सूचना दिया करती है।

७—नाटक की इतिवृत्त-कल्पना का मूलाधार

इस नाटक की कल्पना और रचना का जो बीज है वह है नाटककार का समसामयिक राजतन्त्र के दाव-पेंच में सक्रिय भाग लेना। राजतन्त्र के व्यावहारिक ज्ञान और अनुशीलन के विना यह नाटककार, चाहे इसे हम कितना भी कल्पना-पटु क्यों न मान लें, इस नाटक जैसे राजनीति-रूपक का निर्माण कभी न कर पाता। संस्कृत काव्य-साहित्य के अनेक ऐसे निर्माता हो चुके हैं जिन्होंने यथास्थान और यथासंभव राजनीति को भी कविता का विषय बनाना चाहा है। उदाहरण के लिये हम 'शिशुपालवध' के महाकवि माघ को ही ले सकते हैं जिन्होंने अपने महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में राजनीति-सम्बन्धी अनेकानेक विषयों की अवतारणा की है और इन्हें काव्य-रस में घुलाने-मिलाने का भी प्रयास किया है। वैसे तो इस कवि की आत्म-धारणा यही है कि उसे राजनीति का व्यावहारिक अनुभव है केवल ग्रन्थ-ज्ञान-मात्र नहीं क्योंकि उसने एक प्रकार से अपने संबन्ध में ही यह कहा है—

'षड्गुणाः शक्तयस्तिस्रः सिद्धयश्चोदयास्त्रयः।
ग्रन्थानधीत्य व्याकर्तुमिति दुर्मेधसोऽप्यलम्॥
अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्जालं वाग्मिनो वृथा।
निमित्तादपराद्धेषोर्धानुष्कस्येव वल्गितम्॥'

(शिशुपालवध २-२७, २८)

किन्तु बात ऐसी है कि इस कवि के राजनीति-सर्ग में उसकी राजनीति-शास्त्रविषयक व्युत्पत्ति अथवा निपुणता ही छिपी है और इसके प्रकाशन का हेतु ? वह तो कवि का नीतिशास्त्राभ्यास है जैसा कि उसने एक भिन्न प्रसंग में कहा है—

'हेतुः परिचयस्थैर्ये वक्तुर्गुणनिकैव सा' (शिशुपालवध २. ७५)

मुद्राराक्षस की बात कुछ और ही है। इसकी कल्पना उस कवि ने की है जिसे अपने समय के राज्य-तन्त्र में एक विशिष्ट अधिकारी के रूप में कार्य करने का सौभाग्य मिल चुका होगा। इस कवि की राजनीति नीतिशास्त्र के अवेक्षण से उत्पन्न राजनीति-सम्बन्धी निपुणता नहीं अपितु उसके व्यक्तित्व का एक विशिष्ट अंश है। और इसीलिये मुद्राराक्षस नाटक में नाटककार का जो दर्शन हमें होता है उसमें किसी राजनीति वेत्ता का नीति-पाण्डित्य नहीं अपितु एक राजनैतिक व्यक्तित्व की कवि-प्रतिभा ही झलकती प्रतीत होती है। राजनीति तो इस नाटककार के जीवन का अंश है और इस दृष्टि से आरम्भ से अन्त तक राजनीति-सम्बन्धी विविध घटनाओं का जो तांता इस नाटक में बंधा है उसमें विशाखदत्त की नीतिविषयक शास्त्रव्युत्पत्ति का नहीं अपितु राजनीतिसम्बन्धी प्रतिभा का हाथ दिखाई देता है।

यहां यदि नीतिशास्त्र के पाण्डित्य की भी रूप-रेखा प्रतीत होती हैं तो वह ऐसी है जिसकी लावण्य-योजना राजनीति के दांव-पेंच में पड़े कवि की नाट्य-प्रतिभा द्वारा हुई है। उदाहरण के लिये नाटककार ने चाणक्य की इस उक्ति—

'कथं प्रकाशतां गतोऽयमर्थः पौरेषु यथा किल नन्दकुलविनाशजनितरोषो राक्षसः पितृवधामर्षितेन सकलनन्दराज्यपरिपणनप्रोत्साहितेन पर्वतकपुत्रेण मलयकेतुना सह सन्धाय तदुपगृहीतेन च महता म्लेच्छराजबलेन परिवृतो वृषलमभियोक्तुमुद्यत इति' (मुद्राराक्षस १म अङ्क)

में यद्यपि कौटिलीय अर्थशास्त्र में विवेचित 'परिपणित संधि' से अपनी अभिज्ञता प्रकट की है किन्तु इसमें शास्त्र-ज्ञान की अपेक्षा व्यवहार-पटुता की मात्रा कहीं अधिक है। क्योंकि राक्षस और मलयकेतु में परस्पर 'परिपणित संधि' के वृत्त की जो उद्भावना यहां है उसमें अर्थशास्त्र की सप्तविध परिपणित सन्धियों, **'एवं देशकालयोः कालकार्ययोर्देशकार्ययोर्देशकालकार्याणां चावस्थापनात्सप्तविधः परिपणितः** (कौटिलीय अर्थशास्त्र, अ० ७ अ० ६ प्र० १११. सू० १५)—की पारिभाषिकता की कोई भी छाया नहीं दिखाई देती। इसके विपरीत जो बात स्पष्ट होती है वह है इस नाटककार का अपने समय के राजतन्त्र में सन्धि-विग्रहादि के प्रयोग और उपभोग का अनुभव। अनेकानेक प्रसङ्ग वस्तुतः इसी बात का समर्थन करते हैं कि नाटककार अर्थशास्त्र के विषयों को मिला-जुला कर मुद्राराक्षस के इतिवृत्त की रचना नहीं करता अपितु सम-सामयिक राजतन्त्र की सञ्चालन-सम्बन्धी बातों के अनुभव के ऊपर अपनी कवि-कल्पना का उड़ान भरना

चाहता है और एक ऐसे रूपक की वृत्त-रचना करता है जो उतनी ही पेचीदा है जितनी कि राजनीति।

दो एक ऐसे प्रसङ्गों का, जिनमें कौटिलीय अर्थशास्त्र की अभिज्ञता पर नाटककार की वैयक्तिक प्रतिभा का प्रकाश छाया हुआ है, निर्देश करना अनुपयुक्त नहीं होगा। इस नाटक के प्रथम अङ्क में जिस कपट-लेख की घटना का उल्लेख है जो कि इसके पञ्चम अङ्क की घटनाओं की प्रसव-भूमि है उसकी कल्पना नाटककार ने अपने समय के राजनीति-सम्बन्धी कूट-लेखों के आधार पर की है। कौटिलीय अर्थशास्त्र का मनन-चिन्तन और यथास्थान प्रयोग तो भारतीय राजतन्त्र के युग में होता ही रहा है। राजशासन अथवा राजकीय लेख का स्वरूप कौटिलीय अर्थशास्त्र में जिस रूप में निर्दिष्ट है जैसा कि इन पंक्तियों से प्रतीत होता है—

'लेखपरिसंहरणार्थ इति शब्दो वाचिकमस्येति च।
निन्दा प्रशंसा पृच्छा च तथाख्यानमथार्थना।
प्रत्याख्यानमुपालम्भः प्रतिषेधोऽथ चोदना॥
सान्त्वमभ्युपपत्तिश्च भर्त्सनानुनयौ तथा।
एतेष्वर्थाः प्रवर्तन्ते त्रयोदशसु लेखजाः॥ (कौ० अ० २.१०.२२.२४-२६)

उसी का अनुसरण 'मुद्राराक्षस' का 'कपटलेख' भी करना प्रतीत होता है। किन्तु ऐसे प्रसंग में इस प्रकार के लेख के प्रयोग का उल्लेख कौटिलीय अर्थशास्त्र में नहीं मिलता। इससे तो निःसन्दिग्ध यही प्रतीत होता है कि नाटककार एक व्यवहारकुशल राजनीतिज्ञ है न कि अर्थशास्त्र का केवल पण्डित। इसी प्रकार इस नाटक के द्वितीय अङ्क में विषकन्या तथा शिल्पियों द्वारा उपांशुवध की जो वृत्तयोजना है वह कौटिलीय अर्थशास्त्र के 'संघवृत्त' नामक एकादश अधिकरण के विषयों का अनुसरण भले ही करती हो किन्तु अनुकरण नहीं करती। कौटिलीय अर्थशास्त्र में 'संघभेद' और 'उपांशुदण्ड' का विवेचन विशदरूप से किया गया है। संघभेद के लिये गणिकाओं का प्रयोग इस प्रकार निर्दिष्ट हुआ है:—

'बन्धकीपोषकाः प्लवकनटनर्तकसौभिका वा प्रणिहिताः स्त्रीभिः परमरूपयौवनाभिः संघमुख्यानुन्मादयेयुः। प्रसह्यापहृता वोपवनान्ते क्रीडागृहे वाऽपहर्तारं रात्रौ तीक्ष्णेन घातयेत्। स्वयं वा रसेन। ततः प्रकाशयेत्। अमुना मे प्रियो हत इति।'
(कौ. अ. ११. १. १६०. ४० तथा ४७-५०)

किन्तु मुद्राराक्षस की 'विषकन्या' विशाखदत्त की एक ऐसी विचित्र कल्पना है जो शास्त्रपाण्डित्य पर नहीं अपितु किसी समसामयिक राजनैतिक घटना पर आधारित प्रतीत होती है। इसी प्रकार कौटिलीय अर्थशास्त्र में 'दुर्गलम्भोपाय' नामक त्रयोदश अधिकरण में जो निर्देश है—

'कारुशिल्पिपाषण्डकुशीलववैदेहकव्यञ्जनानायुधीयान् वा परदुर्गे प्रणिदध्यात्। प्राकारद्वाराट्टालकदानमनीकभेदं घातं वा कुर्युः।'

और 'आबलीयस' नामक द्वादश अधिकरण में जैसा संकेत है—

'देवतागृहप्रविष्टस्योपरि यन्त्रमोक्षणेन गूढभित्तिं शिलां वा पातयेत्। शिलाशस्त्रवर्षमुत्तमागारात्। कवाटमवपातितं वा, भित्तिप्रणिहितमेकदेशबन्धं वा परिघं मोक्षयेत्।'

यह सब जिस रूप में मुद्राराक्षस के वृत्त-निर्माण में उपयुक्त हुआ है उसके देखने से तो जो अनुमान किया जा सकता है वह यह है कि विशाखदत्त ने या तो स्वयं इस प्रकार के कूट-प्रयोग की कभी कोई रूपरेखा बनायी हो या इसकी बनी-बनायी रूपरेखा पर अपने नाटक के इतिवृत्त में इस प्रकार के वृत्त की रचना की हो। वस्तुतः बात तो यह है कि नाटक का यह इतिवृत्त कौटिलीय अर्थशास्त्र से प्रभावित समसामयिक राजतन्त्र के जीवन से सम्बन्ध रखता है न कि इसके द्वारा कौटिलीय अर्थशास्त्र को नाटकीय अभिनय और रूपकरचना का विषय बनाया गया है।

८—नाटक के चरित-चित्रण के मूल-सूत्र

मुद्राराक्षस में नाटक के नायक चाणक्य का जो चरित-चित्रण है वह तो नाटककार की संस्कृत नाटकसाहित्य की ही नहीं अपितु संसार के नाट्य-साहित्य की एक बहुत बड़ी देन है। बृहत्कथा पर आश्रित कथा-साहित्य का चाणक्य एक ऐसा व्यक्ति है जो प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की भावनाओं का अवतार है। 'कामन्दकीय' की निम्न पंक्तियां—

'वंशे विशालवंशानामृषीणामिव भूयसाम्।
अप्रतिग्राहकाणां यो बभूव भुवि विश्रुतः॥
जातवेदा इवार्चिष्मान् वेदान् वेदविदांवरः।
योऽधीतवान् सुचतुरश्चतुरोऽप्येकवेदवत्॥
यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः।
पपात मूलतः श्रीमान् सुपर्वा नन्दपर्वतः॥
एकाकी मन्त्रशक्त्या यः शक्तः शक्तिधरोपमः।
आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम्॥
नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्रमहोदधेः।
य उद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे॥

जिस चाणक्य के व्यक्तित्व का परिचय देती हैं और कौटिलीय अर्थशास्त्र की रचना अपने जिस निर्माता के व्यक्तित्व का संकेत करती है उससे अधिक प्रभावोत्पादक और अधिक स्मरणीय व्यक्तित्व का चित्रण मुद्राराक्षस की कृति ने किया है। चाणक्य के व्यक्तित्व का चित्रण श्री द्विजेन्द्रलाल राय के 'चन्द्रगुप्त' तथा श्री जयशंकरप्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' में

भी हुआ है किन्तु इन दोनों का चाणक्य आधुनिक युग की आंखों से देखा गया एक महानीतिज्ञ मानव है जिसका स्वरूप संभवतः भारतीय जनता की कल्पना में भारत के स्वातन्त्र्य युग में नहीं रहा होगा। किन्तु विशाखदत्त के चाणक्य का व्यक्तित्व एक ऐसा व्यक्तित्व है जो किसी भी देश और काल के राजनीतिक जीवन का महान् व्यक्तित्व है और आदर्श व्यक्तित्व है।

राक्षस का चरित चाणक्य के चरित का पूर्वपक्ष है और यह भी विशाखदत्त की अपनी प्रातिभ सृष्टि है।

चन्द्रगुप्त और मलयकेतु के चरित-चित्रण में तो भास, शूद्रक और कालिदास के नाटकों में चित्रित राजचरितों से बहुत कुछ सामंजस्य दिखाई देता है। चन्दनदास के चरितचित्रण पर शूद्रक के 'मृच्छकटिक' के चारुदत्त के चरित की कुछ धुंधली छाया देखी जा सकती है। चन्दनदास के पुत्र की चरित-अभिव्यक्ति विशाखदत्त की प्रतिभा की कृति है। विराधगुप्त, सिद्धार्थक, भागुरायण इत्यादि के चरित-चित्रण में कौटिलीय अर्थशास्त्र की राजनीति के मनन-चिन्तन का हाथ दिखाई देता है।

विशाखदत्त की चरित-चित्रण-कला की प्रशंसा मुद्राराक्षस के पाश्चात्त्य तथा भारतीय अध्येता विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से की है और यह सर्वथा उचित और युक्तिसंगत है।

९–नाटककार की रसभावयोजना की मौलिकता

विशाखदत्त के पूर्ववर्त्ती नाटककार भास ने 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में नीतिवीर अमात्य यौगन्धरायण के चरित-चित्रण द्वारा राजनीति विषयक उत्साह-भाव की अभिव्यञ्जना की है और वीररस का एक विचित्र आस्वाद सहृदय सामाजिकों को दिया है किन्तु मुद्राराक्षस में जिस वीर-रस की अभिव्यक्ति है वह संस्कृत के काव्य और नाट्य-साहित्य में अद्भुत है और अनुपम है। मुद्राराक्षस के वीररस को यदि हम विशाखदत्त के व्यक्तित्व का निष्यन्द कहें तो अनुचित न होगा। युद्ध की वीरता में मनुष्यता के अतिरिक्त पशुता का भी हाथ रहा करता है किन्तु राष्ट्र-हित-चिन्तन-सम्बन्धी अदम्य आत्मोत्साह की भावना जिस वीर-रस में अभिव्यक्त हो सकती है उसमें एक मात्र मानव के आत्मिक व्यक्तित्व की महत्ता की ही झलक दिखाई दे सकती है और यही वह वीर-रस है जिसकी संघटना अथवा संयोजना, यदि किसी नाटककार ने की है, तो विशाखदत्त ने ही।

जिस प्रकार कालिदास की रस-भाव-योजना अपने क्षेत्र में अनुपम है उसी प्रकार विशाखदत्त की रस-भाव-योजना का भी कहीं अन्य कोई उदाहरण अप्राप्य ही है।

संस्कृत-नाटकों के आलोचनात्मक अध्ययन करने वाले कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि 'मुद्राराक्षस' की वीर-रस-भावयोजना की अपेक्षा 'महावीरचरित' की वीररसभाव-योजना अधिक प्रभावोत्पादक है यह ठीक नहीं जँचती। महाकवि भवभूति के 'महावीरचरित'

अथवा भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' में वीर-रस की जो अभिव्यक्ति है उसका वातावरण कुछ दूसरा है किन्तु जिस बातावरण में मुद्राराक्षस में वीररस की अभिव्यञ्जना हुई है वह अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देती।

मुद्राराक्षस की वीररसाभिव्यक्ति में समसामयिक राजनीतिक जीवन की उन्नतिशीलता के लिये उत्सुक एक कर्मठ राजनीतिक नेतृत्व की अदम्य आत्मोत्सर्ग की भावना और आत्मोत्साह की प्रबल प्रेरणा का हाथ दिखाई देता है जिसका अन्यत्र दर्शन दुर्लभ है और यही वह रहस्य है जिसके न रहने से अन्य संस्कृत के नाटककार किसी दूसरे मुद्राराक्षस की रचना न कर सकें।

१०—मुद्राराक्षस में चरितचित्रण

संस्कृत के नाटक नाट्य-प्रक्रिया के द्वारा रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से रचे जाते रहे हैं और नाटक के द्वारा रसाभिव्यक्ति में चरित-चित्रण का ही सर्वाधिक महत्त्व हुआ करता है। मुद्राराक्षस की रचना विशाखदत्त ने एक विशेष प्रकार के वीररस की अभिव्यक्ति है और इस प्रकार के वीरभाव से सामाजिकों के जीवन को प्रभावित करने की दृष्टि से की है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये यहां जो नाटकीय चरित-चित्रण है वह अधिकाधिक उपयुक्त और युक्तियुक्त है। यहां नाटक के नायक और उसके सहायकों तथा प्रतिनायक और उसके सहायकों के बीच जो राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा की भयङ्कर प्रतिस्पर्द्धा चलती दिखाई देती है और इसमें जैसा अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व स्वभावतः उठ खड़ा हुआ करता है उसी के नाटकीय निरूपण के द्वारा यहां रस-भाव की अभिव्यञ्जना, जैसी कि होनी चाहिये, की गई है। छोटे से छोटे और बड़े से बड़े चरित यहां चित्रित हैं और इस प्रकार से चित्रित हैं मानों सबका एक अपना व्यक्तित्व है और ऐसा व्यक्तित्व है जिसे हम भूल नहीं सकते। एक चरित का दूसरे चरित के साथ परस्पर वैधर्म्य इस प्रकार स्वाभाविक रूप से प्रदर्शित हुआ है जिससे इस नाटक की गति प्रारम्भ से अन्ततक तीव्र से तीव्रतम होती दिखाई देती है और ऐसा प्रतीत होता है मानों हम नाट्य-जगत में नहीं अपितु वास्तविक जीवन के क्षेत्र में इन व्यक्तिओं की अपनी २ आकांक्षाओं और उनके पारस्परिक घात-प्रतिघात का साक्षात्कार कर रहे हैं। ऐसा लगता है कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य के युग और उसकी समस्त विशेषता में हमारी आंखों के सामने एक साथ ही झलक उठी हों। चाणक्य और चन्द्रगुप्त तो ऐतिहासिक, महापुरुष हैं, राक्षस और मलयकेतु की ऐतिहासिकता सम्भवतः हमारे ऐतिह्यविद् यदि अभी नहीं सिद्ध कर पाये तो भविष्य में कर ही दिखायेंगे। इन विशिष्ट व्यक्तित्वों के साथ इनके युग के इनके सहायकों के व्यक्तित्व की कल्पना भी, जिसे नाटककार की प्रतिभा यहां कर चुकी है, इतनी सजीव और सप्राण है कि इसके अस्तित्व में हमारा विश्वास दृढ़मूल हो जाता है।

इस नाटक में छोटे-बड़े कम से कम २९ चरितों का अभी अपनी २ विशेषताओं के साथ चित्रण किया गया है। चरित-चित्रण के अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन चरितों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है:—

(१) **चाणक्य**—नन्द-साम्राज्य के संहारक और मौर्य-साम्राज्य के प्रतिष्ठापक के रूप में और उसके सहायक।

(२) **राक्षस**—मौर्य-साम्राज्य के शत्रु और नन्द-साम्राज्य के पुनरुद्धारक के रूप में और उसके सहायक।

(३) **चन्द्रगुप्त**—मौर्य-सम्राट्, जो अपनी प्रभुशक्ति को अपने प्रधानमन्त्री की मन्त्र-शक्ति की संरक्षकता में छोड़ कर 'धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत। न निःसुखः स्यात्। समं वा त्रिवर्गमन्योन्यानुबन्धम्'-(अर्थशास्त्र १.७.६-८) के नियम का पालक एक राजर्षि है।

(४) **मलयकेतु**—एक पर्वतीय राकुमार, जो एक पराक्रमी-विजिगीषु तो अवश्य है किन्तु जिसे राजनय और राजतन्त्र का ज्ञान नहीं।

इस वर्ग-चतुष्टय के अनुसार इन चरितों का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है-

चाणक्य—

संस्कृत के नाटक-साहित्य में जितने भी नायक-चरित चित्रित हैं उनमें एक भी ऐसा नहीं जो मुद्राराक्षस के 'चाणक्य' के समान प्रभावोत्पादक और शक्तिशाली हो। संस्कृत के नाटककारों के द्वारा उद्भावित नायक-चरित का जो प्राचीन नाट्य-परम्परागत वर्ग-विभाग है उसमें यह चरित अपनी वैयक्तिक विशेषता और अलौकिकता के कारण, ऐसा प्रतीत होता है, समा नहीं सकता। यह चरित एक महान् नाटककार की महती कल्पना है। इस चरित के नाम से नाटक के नाम का सम्बन्धन होना भी इसकी एक विशेषता का ही परिचायक है। चाणक्य ही इस नाटक के घटना-चक्र का एक मात्र नियन्ता है किन्तु वह जो कुछ करता है अपने लिये नहीं, अपने स्वार्थभाव से नहीं अपितु चन्द्रगुप्त के लिये और मौर्य-साम्राज्य की दृढमूलता और सम्पन्नता के लिये। अर्थशास्त्र और सम्भवतः प्राचीन ऐतिह्य और प्राचीन कथा—परम्परा का चाणक्य भले ही एक महत्त्वाकांक्षी, महाक्रोधी, महानीतिज्ञ ब्राह्मण रहा हो किन्तु मुद्राराक्षण के चाणक्य में एक और विशेषता है और वह है उसकी 'निरीहता, निःस्वार्थमयता और लोकसंग्रह' की महाभावना। इसका यह गुण इसकी आत्मश्लाघाओं में नहीं अपितु इसके सम्पर्क में आने वाले जन-साधारण की भावनाओं में प्रकट होता है। चन्द्रगुप्त का कञ्चुकी कहता है—**'निरीहाणामीशस्तृणमिव तिरस्कारविषयः'** (३।१६) चाणक्य एक निरीह, वीतराग, लोकोत्तर राजनीतिज्ञ है। मौर्यसाम्राज्य का महामन्त्री राजाधिराज मन्त्री होते हुये भी अपने वैषयिक सुखभोग से

यह सर्वथा विरत है। चाणक्य के इस अनासक्ति-योग से इसके मित्र, शत्रु और उदासीन सभी लोग परिचित हैं जो इसकी 'गृहभूति' (!) से परिचित हैं—

उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभिर्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्॥

(३।१५)

इस अनासक्ति—योगी चाणक्य को अपने नाम की क्या चिन्ता! और इस विचित्र चरित्र की उद्भावना करने वाले नाटककार ने भी इसके नाम से नाटक के नाम का सम्बन्ध इसीलिये नहीं किया क्योंकि चरितनायक चाणक्य, चाहे वह और जो कुछ भी हो, सबसे पहले एक अनासक्ति-योगी है, आदर्श कर्मयोगी है। चाणक्य का ऐसा चरित्र किसी भी काल में, किसी भी राष्ट्र के राजतन्त्र-सूत्रधार अथवा प्रजातन्त्र-सूत्रधार के लिये एक महान् आदर्श है।

नाटक के प्रारम्भ होते ही चाणक्य रङ्गमञ्च पर आ उपस्थित होता है। इस समय की इसकी भाव-मुद्रा देखते ही बनती है। किसी अन्य पात्र के द्वारा चाणक्य का परिचय देना चाणक्य के चरित की एक महान् विशेषता का अपहरण करना होगा-इस दृष्टि से चाणक्य स्वयं अपनी मानसिक और शारीरिक अवस्था का, अपने शत्रुओं की भर्त्सना करते हुये, परिचय देते दिखलाया गया है। चाणक्य की सफलता का रहस्य उसका अपने पौरुष में, अपने पुरुषार्थ में अटूट और अदम्य विश्वास है। अर्थशास्त्र का चाणक्य तो दैव और पौरुष के तारतम्य का चिन्तन करने वाला राजनीति-दार्शनिक है क्योंकि वह इस सम्बन्ध में विचार विमर्श करते हुये दिखाई देता है—

'मानुषं नयापनयौ दैवमयानयौ। दैवमानुषं हि कर्म लोकं यापयति। अदृष्टकारितं दैवं तस्मिन्निष्टेन फलेन योगोऽयः। अनिष्टेनानयः। दृष्टकारितं मानुषं तस्मिन् योगक्षेमनिष्पत्तिर्नयः, विपत्तिरपनयः। तच्चिन्त्यम्। अचिन्त्यं दैवम्। राजात्मद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नो नयस्याधिष्ठानं विजिगीषुः।' (अर्थशास्त्र ६. २. ६-१६)

किन्तु मुद्राराक्षस का चाणक्य अपने पौरुष पर इतना आत्म विश्वास रखने वाला कर्मठ व्यक्ति है कि 'दैव' का नाम सुनते ही आग-बबूला हो जाता है। उसने जो कुछ किया अपने पौरुष से किया न कि भाग्य की सहायता से। चन्द्रगुप्त भी यदि चाणक्य से कहे कि नन्दवंश का विनाश दैव ने किया—**'नन्दकुलविद्वेषिणा दैवेन'**(३ य अङ्क) तो चाणक्य इस आक्षेप से बौखला उठता है और चन्द्रगुप्त को खरी-खोटी सुनाकर ही शान्त होता है-**'दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति'** (३ य अङ्क)। चाणक्य के व्यक्तित्व की इस विशेषता से नाटक का साधारण पात्र भी परिचित है और इसीलिये तो चन्द्रगुप्त का कञ्चुकी चाणक्य को 'सूर्य' के रूप में देखता है जो अपना प्रकाश अपनी अलौकिक शक्तिओं से करता है न कि किसी दूसरे ज्योतिर्मय पदार्थ की सहायता से—

यो नन्दमौर्यनृपयोः परिभूय लोकमस्तोदयौ प्रतिदिशन्नविभिन्नकालम् ।
पर्यायपातितहिमोष्णिमसर्वगामि धाम्नाऽतिशाययति धाम सहस्रधाम्नः ॥

(३।१७)

रङ्ग-मञ्च पर जब सूर्य स्वयं आ विराजे तो भला वहाँ और कौन टिक सकता है !

चाणक्य के व्यक्तित्व में, जिसकी अभिव्यक्ति नाटककार ने उसके कायिक, वाचिक तथा मानसिक व्यापारों के वर्णन द्वारा की है, आत्म-विश्वास की मात्रा सर्वाधिक है। यह चाणक्य का आत्म-विश्वास ही है जो उसकी इस उक्ति—

'एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम।'—

में स्वभावतः प्रकाशित हो रहा है। संस्कृत के ही नहीं अपितु अन्य भाषाओं के भी नाटकीय चरितों में चाणक्य ही ऐसा चरित है जिसे मूर्तिमान् आत्म-विश्वास कहा जा सकता है। यह आत्म-विश्वास कभी २ ऐसा उग्र हो उठता है कि चाणक्य अपने आप अपना बखान करने को बाध्य कर दिया जाता है। चन्द्रगुप्त जब चाणक्य पर व्यङ्ग्य करता है—**'विद्वांसोऽप्यविकत्थनाः भवन्ति'** (३ य अङ्क) तब चाणक्य का क्रोध इसीलिये आपे से बाहर हो उठता है क्योंकि उसे यह व्यङ्ग्य उसके आत्म-विश्वास पर चोट पहुँचाता प्रतीत होता है।

चाणक्य की आत्मा की महती शक्ति, जो वस्तुतः उसकी उत्साहशीलता की अदम्य शक्ति है, अपने आगे किसी शक्ति की प्रतिस्पर्द्धा स्वीकार नहीं करती। अमात्य राक्षस की प्रज्ञा, पराक्रम-शक्ति और राजभक्ति की महत्ता को मानते हुये भी चाणक्य उसे अपना प्रतिस्पर्द्धी इसलिये नहीं मानता क्योंकि उसका आत्मोत्साह अपने स्वार्थों का साधन नहीं अपितु मौर्य-साम्राज्य के तत्त्व-हित और पुरुषार्थ का साधक बनने का निश्चय कर चुका है। चाणक्य की यह उक्ति—

चाणक्यस्त्वमपि च नैव, केवलं ते साधर्म्यं मदनुकृतेः प्रधानवैरम् ।

(मुद्राराक्षस ३ य अङ्क १२ वां श्लोक)

इसी आत्मोत्साह की अभिव्यञ्जना है।

मुद्राराक्षस का चाणक्य कथाओं और पुराणों का चाणक्य नहीं है। इस नाटक का चाणक्य नन्दसम्राट् के प्रतिहिंसक होने के कारण चाणक्य नहीं और न कौटिलीय अर्थशास्त्र की कूटराजनीति के कारण ही चाणक्य है अपितु इसलिये चाणक्य है कि यह अपने आदर्शों के महाशत्रु के व्यक्तित्व की महत्ता को समझता है और अपनी दूरदर्शी प्रखर बुद्धि के बल पर अपने शत्रु को अपना मित्र और अपने आदर्शों का पालक बना कर शान्त होता है।

चाणक्य का मानव मनोविज्ञान का अनुभव महान् है। सम्भवतः राक्षस अपने आपको जितना नहीं जानता उससे अधिक चाणक्य उसे जानता है और अपने अनुभव के विश्वास पर ही चाणक्य अपनी कूटराजनीति का प्रयोग राक्षस के विनाश के लिये नहीं किन्तु उसकी मान्यताओं की त्रुटियों के संहार के लिये करता है मुद्राराक्षस के अतिरिक्त कोई और नाटक नहीं जिसमें चाणक्य ऐसा, लौकिक होने पर भी लोकोत्तर, नायक हो और राक्षस जैसा पराजित होने पर भी महान् प्रतिनायक हो।

चाणक्य का चरित विशाखदत्त ने ऐसा चित्रित किया है कि इसे हम प्राचीन नाट्य-परम्परा की नायक चतुष्टय-मर्यादा में स्थान देते हुये भी ऐसा अनुभव करते हैं कि इसका एक अलग श्रेणी-विभाग होना चाहिये अथवा इसे एक स्वतन्त्र नायक-चरित ही मानना चाहिये।

कर्त्तव्य की वेदी पर समस्त मधुर मनोभावों की आहुति चढ़ाने वाला चाणक्य मनुष्य नहीं अपितु धैर्य का मूर्तिमान् रूप है। यदि ऐसा भी कहा जाय कि मुद्राराक्षस का नायक धैर्य है और प्रतिनायक धैर्य का वैक्लव्य तो कुछ अनुचित नहीं होगा।

चाणक्य के चित्रण में नाटककार ने एक ऐसे महान् व्यक्ति का चित्रण किया है जो निरन्तर आत्म-निरीक्षण करता है और लोक-हित के लिये आत्म-शुद्धि की भावना से भरा रहता है। चाणक्य की अपने शिष्य के प्रति यह उक्ति—

'वत्स ! कार्याभिनियोग एवाऽस्मानाकुलयति न पुनरुपाध्यायसहभूः शिष्यजने दुःशीलता।' (मुद्राराक्षस १ म अङ्क)

उसके आत्म-परीक्षण की सूचना देती प्रतीत होती है।

प्राचीन कथा-साहित्य और कौटिलीय अर्थशास्त्र में चाणक्य के व्यक्तित्व की यह भी एक विशेषता है कि उसे राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं की सिद्धि में साधनों की नैतिकता की कोई चिन्ता नहीं सताती, किन्तु 'मुद्राराक्षस' में चाणक्य एक ऐसे व्यक्ति के रूप में चित्रित है जो संग्राम से शत्रु पर विजय पाने की अपेक्षा अपने निःस्वार्थ व्यक्तित्व की शक्ति से शत्रु के हृदय-परिवर्तन के लिये सतत उद्युक्त है और अपने उद्योग में सफल है।

चाणक्य आज भी भारतीय जनता के हृदय पर अपनी जो स्मृति छोड़ रहा है उसका श्रेय जितना मुद्राराक्षस में उसके चरित्र-चित्रण को दिया जा सकता है उतना न तो कथा-साहित्य और पुराण-साहित्य को और न आधुनिक ऐतिहासिक अनुसन्धान वार्ताओं को ही।

चाणक्य के सम्बन्ध में चन्दनदास की यह 'स्वागत-उक्ति—

'फलेन संवादितमस्य विकत्थितम्।' (मुद्राराक्षस १ म अङ्क)

वस्तुतः चाणक्य की आत्म-श्लाघा की भावना का समाधान करती हुई उसके व्यक्तित्व की महात्ता को और भी अभिव्यक्त करती प्रतीत होती है।

मुद्राराक्षस में चाणक्य के जितने सहायक हैं जो कि उसकी नीति को कार्यकर करते हुये चित्रित किये गये हैं ऐसे प्रतीत होते हैं मानों चाणक्य की महत्त्वाकांक्षा ही उनकी महत्त्वाकांक्षा हो और चाणक्य की कार्यसिद्धि ही उनके जीवन का उद्देश्य हो। कौटिल्य अर्थशास्त्र में कई प्रकार के जो गुप्तचर और गूढ प्रणिधि बताये गये हैं उनमें शिष्य-व्यञ्जन के रूप में शार्ङ्गरव का, तापस-व्यञ्जन के रूप में जीवसिद्धि का और कर्मकर-व्यञ्जन के रूप में सिद्धार्थक का नाटककार ने चाणक्य की कूटनीति का प्रयोग करने वालों के रूप में चित्रण किया है। चाणक्य और राक्षस में जो अन्तर है वही अन्तर चाणक्य के सहायकों और राक्षस के सहायकों में है। कौटिलीय अर्थशास्त्र यदि गुप्तचरों के प्रयोग और उपयोग का सैद्धान्तिक विवेचन करता है तो 'मुद्राराक्षस' साम्राज्यवाद के इन देवदूतों की व्यावहारिक रूप-रेखा रच देता है। शासन-सञ्चालन के व्यावहारिक अनुभव के कारण विशाखदत्त ने जिन नाना-व्यञ्जन गुप्तचरों को 'मुद्राराक्षस' की राजनीति को सफल बनाने के लिये नियुक्त किया है उनमें सबका अपना २ व्यक्तित्व है, जीवसिद्धि का कार्य न तो सिद्धार्थक कर सकता है और न सिद्धार्थक का जीवसिद्धि, दोनों अपने २ क्षेत्र के महारथी हैं।

भागुरायण भी चाणक्य का एक गुप्तचर है किन्तु राज-वंश का होने के कारण उसे अपने स्वाभिमान का भी ध्यान रहा करता है किन्तु चाणक्य की महत्वाकांक्षा को अपना सर्वस्व मानते हुये वह अपनी भावनाओं का हनन करके भी चाणक्य की कार्य-सिद्धि करना चाहता है और कर भी डालता है।

राक्षस—

राक्षस चाणक्य का प्रतिपक्ष है। मुद्राराक्षस का नाटककार राक्षस के जिस व्यक्तित्व का चित्रण करता है उसकी अपनी विशेषतायें हैं। यदि राक्षस के ऐसा प्रतिनायक मुद्राराक्षस में न चित्रित होता तो इस नाटक में कोई आनन्द न मिलता। राक्षस के व्यक्तित्व में ही मानव-व्यक्तित्व की विविध-भावभङ्गिओं का चित्रण है मानव-हृदय की आशाओं और निराशाओं के घात-प्रतिघात में राक्षस का व्यक्तित्व अपनी स्वाभाविक महत्ता के कारण अजेय दिखायी देता है। मुद्राराक्षस के निर्वहण में राक्षस की जो मुद्रा उसके निग्रह का कारण बनती है वही उपक्रम में उसकी प्रबल शक्ति की सूचना देती है। चाणक्य के लिये राक्षस एक महान् शक्ति है, राक्षस की मुद्रा नन्दसाम्राज्य की संचालिका है इस बात का अनुभव चाणक्य को हो चुका है और इसी लिये राक्षस की मुद्रा के हाथ में आते ही चाणक्य निश्चय कर लेता है कि राक्षस मुट्ठी में आ गया। वैसे तो चाणक्य के षड्यन्त्रों की महान् सफलता के रूप में राक्षस के आत्म-समर्पण तथा मौर्यसाचिव्य के स्वयं ग्रहण की घटना में घटती दिखाई देती है किन्तु नाटककार ने चाणक्य के हाथ में राक्षस की मुद्रा के पड़ जाने की चाणक्य की मुट्ठी में राक्षस के आ जाने से जो तुलना की है उससे यही प्रतीत होता है कि राक्षस की हार उसके जीवन की एक आकस्मिक

घटना है, एक अनहोनी है और राक्षस की महत्ता को घटाने के बदले बढ़ाने वाली ही है।

राक्षस की स्वगत-उक्तियां अधिकाधिक इस बात का निर्देश करती हैं कि बाह्य-परिस्थितिओं की थपेड़ में पड़ा वह अपने अतीत में रहना चाहता है क्योंकि वर्तमान उसके लिये बड़ा कष्ट है। चाणक्य को अपने अतीत गौरव का इस लिये ध्यान आता रहता है क्योंकि इसके द्वारा वह अपने वर्तमान को और भी अधिक गौरवपूर्ण बनाना चाहता है। अतीत का प्रेमी व्यक्तित्व कवि का व्यक्तित्व है और वर्तमान का प्रेमी तो कर्मठ व्यक्तित्व है ही। राक्षस की विषम-परिस्थिति में उसका कवि-हृदय उसकी एकमात्र सान्त्वना है और सहानुभूति है यही कारण है कि यह अनुभव करते हुये भी कि—

'पौरैरङ्गुलिभिर्नवेन्दुवदहं निर्दिश्यमानः शनै
र्यो राजेव पुरा पुरान्निरगमं राज्ञां सहस्रैर्वृतः।
भूयः संप्रति सोहमेव नगरे तत्रैव वन्ध्यश्रमो
जीर्णोद्यानकमेष तस्कर इव त्रासाद्विशामि द्रुतम्॥' (मुद्राराक्षस ६. १०)

राक्षस अपने आपको स्वस्थ कर पाता है और भविष्य की अज्ञात-दशाओं का सामना करने को भी सन्नद्ध बन जाता है।

राक्षस की वास्तविक महत्ता का जितना पता चाणक्य को है उतना संभवतः उसको भी नहीं। राक्षस तो इतना जानता है कि उसे अपने दिवंगत महाराज नन्द के स्नेह का ऋण चुकाना है और इसी भावना से उसे सर्वदा आत्मिक बल मिला करता है। वस्तुतः राक्षस की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा उसी प्रकार निःस्वार्थ है जिस प्रकार चाणक्य की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा। चाणक्य को तो अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा सर्वदा स्मरण रहती है किन्तु राक्षस अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा को अपनी नन्द-भक्ति का ही रूपान्तर मानता चलता है। चाणक्य को पता है कि राक्षस का व्यक्तित्व साम्राज्य की कैसी शक्ति है और इस शक्ति को अपने पक्ष में कर लेने से क्या हो सकता है। चाणक्य की यह चिन्ता—

'अत एवास्माकं त्वत्संग्रहे यत्नः कथमसौ वृषलस्य साचिव्यग्रहणेन सानुग्रहः स्यादिति। कुतः—

अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्याद्भक्तियुक्तेन कः
प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत् किं भक्तिहीनात्फलम्।
प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिता येषां गुणा भूतये
ते भृत्या नृपतेः कलत्रमितरे संपत्सु चापत्सु च॥' (मुद्राराक्षस १. १५)

राक्षस के व्यक्तित्व की महत्ता की छाप है।

चाणक्य यदि राक्षस से बुद्धि में बड़ा दिखाई देता है तो राक्षस चाणक्य से पराक्रम में

बढ़ा-चढ़ा है। यदि चाणक्य की राजनीति-पटुता राक्षस में कुछ कम अंश में है तो राक्षस की दण्डनायन-शक्ति चाणक्य में बिलकुल भी नहीं। राक्षस की सैन्य-संग्रह शक्ति और स्वयं सैन्य-संचालन-शक्ति के ही डर से चाणक्य संग्राम में राक्षस को जीतने की बात न सोचकर दाव-पेंच में उसे फंसाकर वशीभूत करना चाहता है।

राक्षस के हृदय में मनुष्य के हृदय का अटूट विश्वास भरा है किन्तु चाणक्य यह जानना भी नहीं चाहता कि मनुष्य का हृदय क्या होता है और कैसा होता है। राक्षस जीवसिद्धि को परम स्नेहभाजन समझता है, सिद्धार्थक को भी प्रियसुहृद् मानता है और शकटदास पर क्षुभित होने पर भी मनुष्यके हृदय की कोमलता का ध्यान आते ही उसे क्षमा भी कर देता है। चाणक्य को किसी पर विश्वास नहीं, उसे केवल अपने पर विश्वास है, अपनी बुद्धि का और कर्तव्य-परायणता का विश्वास है। जो बात राक्षस की हार का कारण है वह उसके हृदय की भावुकता है और इसी का अभाव है चाणक्य की जीत का कारण।

ऐसा प्रतीत होता है कि राक्षस भाग्यवादी है और चाणक्य कट्टर पौरुष-वादी। किन्तु राक्षस का भाग्य को कोसना केवल उसकी भाग्य-वादिता का परिणाम नहीं अपितु एक पुरुपार्थी व्यक्ति की, विषम परिस्थितिओं की मुठ-भेड़ में, आत्म-रक्षा और आत्मोद्देश्य रक्षा की निराशा का परिणाम है। राक्षस निराशा के चक्रव्यूह में पड़ा हुआ हाथ-पैर पटक रहा है किन्तु आत्म-समर्पण करना नहीं जानता।

राक्षस का आत्म-समर्पण भी उसके व्यक्तित्व की महात्ता को ही सूचना देता है। राक्षस अपने लिये नहीं अपितु चन्दनदास की मित्रता को अमर बनाने के लिये आत्म-समर्पण को भी अपना कर्त्तव्य मान लेता है। राक्षस एक ऐसा व्यक्ति है जो बाह्यद्वन्द्व और साथ ही साथ अन्तर्द्वन्द्व में निरन्तर पड़ा हुआ भी महान् बना रहता है।

राक्षस के सहायक उसकी सहायता अवश्य करने वाले हैं किन्तु उनमें वह कर्त्तव्य-निष्ठा और महत्त्वाकांक्षा नहीं जो कि चाणक्य के सहायकों में है। विराधगुप्त राक्षस का विश्वासपात्र गुप्तचर है किन्तु उसके मन में चाणक्य की जीत या राक्षस की जीत का संदेह सदा घर किये रहता है—

'कौटिल्यधीरज्जुनिबद्धमूर्तिं' मन्ये स्थिरां मौर्यनृपस्य लक्ष्मीम्।
उपायहस्तैरपि राक्षसेन निकृष्यमाणामिव लक्षयामि॥ (मुद्राराक्षस २.२)

शकटदास राक्षस का परमविश्वास-भाजन लेखाध्यक्ष है किन्तु लोगों पर राक्षस का जैसा सहज विश्वास है वैसे ही विश्वास के कारण शकटदास भी एक ऐसी गलती कर बैठता है अर्थात् सिद्धार्थक पर विश्वास कर चाणक्य का कूट-लेख लिख देता है जो राक्षस के महान् प्रयत्न को अकिंचित्कर बना डालती है। राक्षस के अन्य सहायक वैतालिक, करभक इत्यादि अपना २ कार्य तो अवश्य करते हैं किन्तु उनके हृदय में राक्षस के उद्देश्यों की

सिद्धि की वह उत्सुकता और महत्त्वाकांक्षा नहीं जो कि चाणक्य के छोटे-मोटे सहायकों में भी कूट २ कर भरी है।

राक्षस का अभिन्न मित्र चन्दनदास की मित्रता निभाने के लिये अपने ऊपर प्राण-संकट भी सहर्ष झेल लेता है। चन्दनदास का व्यक्तित्व अपने आप में महान् है किन्तु राक्षस की हार का एक कारण चन्दनदास के स्नेह-बन्धन का निर्वाह भी है। राक्षस का व्यक्तित्व विविध भावनाओं के कुरुक्षेत्र में गिरते-सम्हलते अन्त में अपनी स्वाभाविक महात्ता की स्मृति छोड़ जाता है।

चन्द्रगुप्त—

चन्द्रगुप्त इस नाटक का नायक नहीं, इसलिये इसका व्यक्तित्व नाटककार ने इस दृष्टि से चित्रित किया है कि नायक चाणक्य की महात्ता पर कोई आंच न आसके। मुद्राराक्षस का चन्द्रगुप्त चाणक्य की राजनीति का सच्चा होता हुआ स्वप्न है। कौटिलीय अर्थशास्त्र जिस आदर्श विजिगीषु राजराजेश्वर की कल्पना करता है मुद्राराक्षस का नाटककार चन्द्रगुप्त के रूप में उसका साकार जीवित जागृत रूप खड़ा कर देता है। चन्द्रगुप्त की यह स्वगत-उक्ति—

'इह हि रचयन् साध्वीं शिष्यः क्रियां न निवार्यते
त्यजति तु यदा मार्गं मोहात्तदा गुरुरङ्कुशः।
विनयरुचयस्तस्मात्सन्तः सदैव निरङ्कुशाः
परतरमतः स्वातन्त्र्येभ्यो वयं हि पराङ्मुखाः॥' (मुद्राराक्षस ३.६)

उसकी जिस आत्म-विजय की सूचना देती है उसी के सहारे चाणक्य उसके बाह्य-शत्रुओं का दमन और प्रशमन करने में समर्थ होता है। साम्राज्य की प्रतिष्ठा के लिये चन्द्रगुप्त अपनी भावनाओं का दमन करते हुये चित्रित किया गया है। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त में जो देखना चाहा है उसी का प्रदर्शन नाटककार अपने नाटक के चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व में करना चाहता है। मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त के लिये **'वृषल'** पद का प्रयोग है। यहां **'वृषल'** शब्द शूद्र अर्थ का वाचक नहीं अपि तु **'महान्'** अर्थ का वाचक है और स्नेहसूचक है। **'वृषल'** वह है जो कि **'राज्ञां वृष'** हो, राजराजेश्वर हो और राजाओं में महान हो। चाणक्य की यह उक्ति—

'नन्दैर्वियुक्तमनपेक्षितराजराजैरध्यासितं च वृषलेन वृषेण राज्ञाम्।
सिंहासनं सदृशपार्थिवसंगतञ्च प्रीतिं परां प्रगुणयन्ति गुणा ममैते॥'

(मुद्राराक्षस ३. १८)

चन्द्रगुप्त मौर्य को **'वृषल'** अथवा **'महान्'** सिद्ध करती है। चाणक्य स्नेहभाव से भी कभी २ चन्द्रगुप्त को 'वृषल' कहता है। चन्द्रगुप्त यदि वृषल-महान् न होता तो अशोक प्रियदर्शी भी कैसे हो पाता।

कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि चन्द्रगुप्त को विशाखदत्त ने उसके वास्तविक मौर्यसम्राट् के रूप में नहीं चित्रित किया और ऐसा चित्रित किया जो उसके महान् ऐतिहासिक व्यक्तित्व के अनुरूप नहीं प्रतीत होता। किन्तु नाटककार की आंखों से यदि हम देखें तो चन्द्रगुप्त के इस चित्रण में उसके व्यक्तित्व की कुछ ऐसी विशेषतायें झलक उठती हैं जिन्हें इतिहास नहीं देखना जानता अथवा नहीं देखना चाहता। विशाखदत्त का चन्द्रगुप्त विजयी मौर्यसम्राट् के रूप में भले ही न दिखाई दे किन्तु मौर्य-साम्राज्य के कुशल शासक के रूप में तो दिखाई ही देता है। मुद्राराक्षस का नाटककार मन्त्राधिकार की महत्ता के बाद ही बलाधिकार का महत्त्व मानता है।

मलयकेतु—

मयलकेतु के व्यक्तित्व का नाटककार ने ऐसा चित्रण किया है जिससे चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व की विशेषता की अभिव्यक्ति अधिक स्पष्टरूप से हो सके। जहां चन्द्रगुप्त गम्भीर और शान्त प्रकृति का है, वहां मलयकेतु उद्धत और अशान्त प्रकृति का। मलयकेतु एक विजिगीषु राजकुमार है किन्तु अविवेकी है और भावावेश में विना परिणाम सोचे-समझे काम करनेवाला व्यक्ति है राक्षस की यह उक्ति—

द्रव्यं जिगीषुमधिगम्य जडात्मनोऽपि नेतुर्यशस्विनि पदे नियता प्रतिष्ठा।
अद्रव्यमेत्य तु विशुद्धनयोऽपि मन्त्री शीर्णाश्रयः पतति कूलजवृक्षवृत्त्या॥

(मुद्राराक्षस ७. १४)

चन्द्रगुप्त और मलयकेतु के विभिन्न व्यक्तित्व को स्पष्ट कर देती है। मलयकेतु में साहस और पराक्रम की कमी नहीं। मलयकेतु का धीरोद्धत स्वभाव उसकी इस अमर्षपूर्ण उक्ति में झलकता है :—

'विष्णुगुप्तं च मौर्यं च सममप्यागतौ त्वया। उन्मूलयितुमीशोऽहं त्रिवर्गमिव दुर्नयः॥

(मुद्राराक्षस ६. २२)

किन्तु उसकी विवेकशून्यता इतनी भयङ्कर है (**राक्षसः—अहो विवेकशून्यता म्लेच्छस्य**) कि उसका पतन अवश्यंभावी है और होकर रहता है।

११—नाटककार की रचना-शैली

मुद्राराक्षस के वस्तु-चरित-रसभावादि की दृष्टि से विशाखदत्त की रचना-शैली की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। विशाखदत्त की शैली में जो औचित्य है उसी का वास्तविक मूल्याङ्कन न कर सकने के कारण इस प्रकार की धारणायें हैं—

'The author of the Mudrāräks'asa was not a poet of the sphere of Bhavabhūti or Kālidāsa. His imagination rised not to their level and

there is scarely a brilliant or beautiful thought in the play, As some equivalent for the want of imagination, he has a vigorous perception of character and a manly strain of sentiment that are inferior only to elevated conception and delicate feeling'—(Prof. Wilson.)

'अर्थात् मुद्राराक्षस का रचयिता उस क्षेत्र का कवि नहीं जो कि कालिदास अथवा भवभूति की कविता का क्षेत्र है । मुद्राराक्षस के नाटककार की कल्पना भला कालिदास और भवभूति की कल्पना की उड़ान क्या जाने ! मुद्राराक्षस में न तो कोई चमत्कार-पूर्ण उक्ति है और न कोई काव्यमय भावाभिव्यञ्जन । केवल चरित-निरीक्षण और चरित-चित्रण की ही एक मात्र ऐसी शक्ति विशाखदत्त के पास है जो किसी प्रकार मुद्राराक्षस को हमारी उपेक्षाओं से बचा लेती है ।' विशाखदत्त के सम्बन्ध में लोग रखते आ रहे हैं । किन्तु यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो यह निश्चय है कि हम विशाखदत्त की वैयक्तिक विशेषताओं से प्रभावित उनकी रचना-शैली को कालिदास और भवभूति की तुलना में लाना ठीक नहीं समझेंगे । कालिदास और भवभूति के काव्य-संसार की कल्पना भला विशाखदत्त में कहाँ ! किन्तु विशाखदत्त की भी जो नाट्य-कल्पना है उसका भी दर्शन कालिदास और भवभूति में नहीं । तीनों का अपना २ जीवित-जागृत व्यक्तित्व है और उसके अभिव्यञ्जन की उनकी अपनी २ शक्तियां हैं और अपने २ साधन हैं ।

विशाखदत्त ने नाटक की रचना की है और नाटकीय औचित्य की दृष्टि से या तो काव्य-कल्पनाओं को दूर ही रखा है या नाटक के रंग में रंग दिया है । उदाहरण के लिये मलयकेतु के कञ्चुकी की यह उक्ति—

'कामं नन्दमिव प्रमथ्य जरया चाणक्यनीत्या यथा
धर्मो मौर्य इव क्रमेण नगरे नीतः प्रतिष्ठां मयि ।
तं सम्प्रत्युपचीयमानमपि मे लब्धान्तरः सेवया
लोभो राक्षसवञ्चनाय यतते जेतुं न शक्नोति च ॥' (मुद्राराक्षस २. ९)

ऐसी है जिसमें नाटककार की कवि-कल्पना की कोई रूप-रेखा भले ही न दिखाई दे किन्तु नाटकीय वृत्त-और चरित की अभिव्यञ्जना बड़ी सुन्दर प्रतीत होती है । इसी प्रकार शकटदास की यह भावाभिव्यक्ति—

'दृष्ट्वा मौर्यमिव प्रतिष्ठितपदं शूलं धरित्र्यास्तले
तल्लक्ष्मीमिव चेतसः प्रमथिनीमुन्मुच्य वध्यस्रजम् ।
श्रुत्वा स्वाम्युपरोधरौद्रविषमानाध्माततूर्यस्वनान्
न ध्वस्तं प्रथमाभिघातकठिनं मन्ये मदीयं मनः ॥ (मुद्राराक्षस २.२१)

नाटककार की काव्य-कल्पना की उड़ान का उदाहरण भले ही न हो किन्तु उसके नाटकीय औचित्य की सतर्कता का दृष्टान्त अवश्य है ।

जीर्णोद्यान में राक्षस की जो स्वगत-उक्ति है उसमें एक निराश महान् व्यक्तित्व की प्रकृति के साथ एकमयता और एकलयता का जैसा चित्रण है उसको विशेषता कवि-कल्पनाओं और काव्य-भावनाओं की विशेषता भले हो न हो किन्तु समुचित भावाभिव्यक्ति में बेजोड़ ही है।

नाटककार की रुचि **'भङ्गी भणिति'** में उतनी नहीं है जितनी अपने विचारों, भावों और अपने नाटक की विविध परिस्थितिओं के समीचीन प्रकाशन में। नाटककार के कतिपय शब्द-प्रयोग जो विचित्र से लगते हैं इसीलिये ऐसे लगते हैं क्योंकि वह कवि-समय की शब्दावली की अपेक्षा अपनी उचित शब्दावली के उपयोग को ही अपने उद्देश्य का साधक मानता है। अलङ्कारों की विविधता और चमत्कारिता के स्थान पर मुद्राराक्षस में उनकी रस-भावाभिव्यञ्जना की उपादेयता का ध्यान अधिक दिया गया है। चाहे गद्य हो अथवा पद्य हो दोनों में नाटककार की दृष्टि आडम्बर से विमुख और औचित्य की ओर उन्मुख दिखाई देती है। विराधगुप्त के संभाषण में जो समस्त पदावली का प्रयोग है उसकी भी एक अपनी विशेषता और उपादेयता है। विराधगुप्त कुसुमपुर के अतीत वृत्तान्त के वर्णन में राक्षस के हृदय पर प्राचीन अनुभवों का पृथक् २ पूरा चित्र उतारना चाहता है और इसमें असमस्त पद-प्रयोग के द्वारा यदि शैथिल्य प्रतीत होता तो समस्त पद-योजना से जैसी कि यहां है पुष्टता प्रतीत होती है। नाटककार की भाषा नाटक के व्यक्तित्वों के भावावेश में कभी स्वभावोक्ति से भरी है तो कभी व्यक्रोक्ति की ओर भी उन्मुख है। भाषा यहां भावों पर आधिपत्य नहीं जमाती अपितु भाव ही भाषा पर अपना अधिकार रखते प्रतीत होते हैं।

नाटककार ने नाट्य-रचना के अङ्गों और उपाङ्गों का नाटक-प्रबन्ध के चतुरस्र निर्माण की दृष्टि से ही उपयोग किया है न कि नाट्य-शास्त्र-सम्बन्धी पाण्डित्य-प्रदर्शन की दृष्टि से।

कभी कभी तो एक शब्द के प्रयोग-मात्र से ही नाटककार अधिकाधिक अभिप्राय प्रकाशित करनेमें समर्थ दिखाई देता है। उदाहरण के लिये राक्षस की इस उक्ति—

'सत्यं नगरान्निष्क्रामतो मम हस्ताद्ब्राह्मण्या उत्कण्ठाविनोदार्थं गृहीता।' में **'ब्राह्मण्या'** शब्द ग्राम्य प्रतीत होने पर भी राक्षस के हृदय की समस्त करुणा और वेदना का घनीभूत निष्यन्द सा ही लगता है।

नाटककार की भाषा उसकी नहीं अपितु उसकी प्रतिभा से उत्थापित जितने भी चरित हैं उनके अपने २ व्यक्तित्व को प्रकाशित करने वाली उनकी अपनी २ भाषा है। चन्दनदास के बालक पुत्र की यह उक्ति—

'तत ! इदमपि भणितव्यं किं कुलधर्मः खल्वेषोऽस्माकम्'—(मुद्राराक्षस अंक ७) जितनी संक्षिप्त और अनलङ्कृत है उतनी ही भावपूर्ण और मर्म-स्पर्शी भी।

मुद्राराक्षस का नाटककार 'पताकास्थानक' की रचना करने में बड़ा पटु है। पाश्चात्य नाट्य-साहित्य में जिसे Dramatic Irony (नाटकीय व्यङ्ग्य) कहते हैं उसी के लिये भारतीय नाट्य-साहित्य में 'पताकास्थानक' की योजना हुआ करती है। मुद्राराक्षस की संस्कृत व्याख्या में इस का यथास्थान विचार किया जायगा।

नाटककार की छन्दो-योजना के सम्बन्ध में इतना जानना आवश्यक है कि कोई भी छन्द किसी भी विषय के प्रकाशन के माध्यम के रूप में योंही प्रयुक्त नहीं हुआ है—अपितु किसी औचित्य की दृष्टि से और किसी औचित्य की सिद्धि के लिये। 'स्रग्धरा' (म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्) छन्द का प्रयोजन १७ स्थानों पर नाटककार ने किया है उनके विषय की दृष्टि से उसका औचित्य सर्वथा श्लाघनीय है। जैसे कि प्रथम और द्वितीय नान्दी-श्लोक में 'शिव के शाठ्य' और 'ताण्डव नट के नृत्ताभिनय' का गंभीर और असाधारण विषय जिसे गंभीर संगीत की ध्वनि में अभिव्यक्त होना है यदि किसी छन्द की अपेक्षा करता है तो स्रग्धरा-छन्द की ही क्योंकि स्रग्धरा की गंभीर लय-लहरी ही ऐसे वातावरण की सृष्टि कर सकती है। **'शार्दूलविक्रीडित'** **(सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्)** ३८ बार व्यवहृत है। **'श्यामीकृत्याननेन्दून्'** इत्यादि का भाव **'शार्दूलविक्रीडित'** छन्द के बदले यदि अन्य किसी छन्द के द्वारा प्रकट किया गया होता तो संभवतः चाणक्य का गंभीर अमर्ष उतनी प्रबलता और गंभीरता से नहीं निकल पाता जितनी प्रबलता और गंभीरता से इसमें निकलता दिखाई देता है।

मलयकेतु के उद्धत स्वभाव की जो अभिव्यक्ति **'उत्तुङ्गास्तुङ्गकूलम्'**···इत्यादि में हुई है उसका छन्द स्रग्धरा का ही एक प्रस्तार विशेष है जिसे **'सुवदना'** कहा जाता है और इसके प्रयोग पर कोई भी मुग्ध हुये विना नहीं रह सकता। उद्धत व्यक्ति-उचितानुचित विवेक से शून्य व्यक्ति अपनी बातचीत में भी तो अनौचित्य ही प्रकट करता है। नाटककार स्रग्धरा के प्रस्तार में से एक अक्षर को कम कर कितनी सुन्दरता से मलयकेतु के उद्धतव्यक्तित्व के अनुरूप **'सुवदना'**-छन्द का प्रयोग कर डालता है।

छन्दो-योजना का औचित्य अन्य छन्दों में भी जैसे कि—आर्या, शिखरणी, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा, वसन्ततिलका-इत्यादि में यथाप्रसङ्ग स्वयं देखा जा सकता है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि विशाखदत्त की नाटक-प्रवन्ध-रचना की सफलता एकमात्र उनकी औचित्य-दृष्टि और उसकी प्रबलशक्ति पर निर्भर है।

'औचित्यं नाट्यजीवितम्'



नाटक के पात्र

(पुरुष-पात्र)

चाणक्य—नायक, एक महान् राजनीतिज्ञ, मौर्यसाम्राज्य का प्रतिष्ठापनाचार्य।

राक्षस—प्रतिपक्षी अथवा प्रतिनायक, नन्द-साम्राज्य का महामात्य।

चन्द्रगुप्त—मौर्यवंश का प्रथम सम्राट्, चाणक्य का दृढभक्त।

मलयकेतु—महाराज पर्वतक का पुत्र, महत्त्वाकांक्षी योद्धा, राक्षस का सहायक तथा चन्द्र गुप्त का प्रतिस्पर्द्धी।

चन्दनदास—पाटलिपुत्र का धनकुबेर, महामात्य राक्षस का मित्र।

भागुरायण—एक राजकुमार, चाणक्य का पक्ष-पोषक, मलयकेतु का बनावटी मित्र।

जीवसिद्धि—चाणक्य का मित्र, चाणक्य का क्षपणक-वेषधारी गुप्तचर, राक्षस का बनावटी मित्र।

सिद्धार्थक—चाणक्य का गूढ प्रणिधि, राक्षस का बनावटी सेवक, राक्षस का परम अति-संधायक (वंचक)—चण्डाल वेष में वज्रलोमक।

सुसिद्धार्थक—सिद्धार्थक का मित्र—चाण्डाल वेष में वेणुवेत्रक।

निपुणक—चाणक्य का गुप्तचर, यमपट का गायकोपदेशक, राक्षस की अंगुलीयक मुद्रा का उढाईगीर।

शार्ङ्गरव—चाणक्य का शिष्य-व्यञ्जन गुप्तचर।

विराधगुप्त—राक्षस का अहितुण्डिक-व्यञ्जन गुप्तचर।

आर्यजाजलि—कुमार मलयकेतु का कञ्चुकी।

प्रियंवदक—राक्षस का परिजन।

शकटदास—नन्द-सम्राट् का लेखाध्यक्ष, राक्षस का पक्ष-पोषक।

आर्यवैहिनरी—मौर्य सम्राट् का कञ्चुकी।

करभक—राक्षस का पथिक-व्यञ्जन गुप्तचर।

दौवारिक—राक्षस का द्वारपाल।

वेत्रधारी पुरुष—कुमार मलयकेतु का परिजन।

भासुरक—कुमार मलयकेतु का अनुचर।

पुरुष—चाणक्य का गुप्तचर-आत्म-हत्या करने का स्वाङ्ग बनाने वाला।

बालक—चन्दनदास का पुत्र।

प्रथम वैतालिक द्वितीय वैतालिक—अमात्य राक्षस के द्वारा नियुक्त, चन्द्रगुप्त को उत्तेजित करने वाली कविता के पाठक चारण-द्वय।

सूत्रधार—रंग सूत्रधार तथा नाटक का स्थापक।

(स्त्री-पात्र)

शोणोत्तरा—मौर्य-सम्राट् की प्रतीहार-पालिका।

विजया—कुमार मलयकेतु की प्रतीहारी।

कुटुम्बिनी—धनकुबेर चन्दनदास की धर्मपत्नी।

नटी—रंग सूत्रधार की सहायिका।



मुद्राराक्षस-नाटकम्

'शशिकला' नामक संस्कृत-हिन्दी-टीकोपेतम् ।



प्रथमोऽङ्कः

धन्या केयं स्थिता ते शिरसि ? शशिकला, किन्नु नामैतदस्या ?
नामैवास्यास्तदेतत् परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः ? ।

वन्दे वात्सल्यमहितं श्रीसुब्रह्मण्यदेशिकम् ।
नाट्यभावनयज्ञोऽयं यत्कृपातः प्रतन्यते ॥

अथ तत्रभवान् विशाखदत्तनामा महाकविः प्राच्यभारतीयैतिह्यप्रसिद्धं मौर्यसाम्राज्यप्रतिष्ठापनवृत्तं स्वोपज्ञेन मुद्राराक्षसनामधेयेन नाटकेन निनाटयिषुरादौ तावन्नाटकीयस्य वस्तुसार्थस्य प्रसङ्गाय पूर्वरङ्गाङ्गभूतां नान्दीं निबध्नन्नाह— धन्या केयमित्यादि । **तदिदमाद्यं नान्दीपद्यं महाकवेरस्य 'पार्वतीपरमेश्वरयोर्निबिडं कञ्चनभक्तिबन्धं कयाचन नवयैव विधयाऽऽविष्कुर्वत्सहृदयैर्हृदयङ्गमीकर्तुमलम् । तथाहि विभोर्विशेषेण भवितुं शीलस्य शक्तिमतश्शिवस्य शाठ्यं, स्वशक्तिभूतायां प्राणेभ्योऽपि प्रियायामाचरितः प्रणयकलहो वस्सामाजिकानव्याद् भगवतो दौर्लभ्यादिशङ्कातङ्कात् परिरक्षतादिति भावः । यथा मनुजस्य तथैव कूटस्थस्यापि देवाधिदेवस्य हृदयभूमौ प्रेमा प्ररोहति पुष्प्यति फलति च तैस्तैरानुषङ्गिकैर्भावैरिति भवत सहृदयाः ! शिवैकतानाश्शिवरूपाश्चेति रहस्यम् । कीदृशमिदं प्रेमशाठ्यं सहजं कल्पितं वेति चेत्सहजमिति यत्स्वरूपं हि भगवतोऽर्द्धनारीश्वरस्य गङ्गामुत्तमाङ्ग-**

'(देवी पार्वती-) अरे ! यह कौन-सी सौभाग्यवती है जो आपके सिर पर चढ़ी हुई है ? (भगवान् शिव-) यह तो चन्द्रकला है (और कोई नहीं) ! (पार्वती-) तो क्या इस (सिर चढ़ी हुई) का 'चन्द्रकला' नाम रखा गया है ? (शिव-) इसका तो नाम ही यही है और तुम तो इसे पहचान कर भी, पता नहीं, क्यों भूल जाना

नारीं पृच्छामि नेन्दुं, कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु-
र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः ॥ १ ॥

मधितस्थुषीमनुमोदमानस्य स्वप्रियतमायाश्शिवाया वामाङ्गभूताया हृदीर्ष्याविप्रलम्भबीजारोपणं नान्यत् किञ्चन जगत्कुटुम्बविघटनादिरूपमिति। तथाहि—शिरोविभूषयन्तीं गङ्गामुद्दिश्येर्ष्याकवलिताऽन्तरा पार्वती यदि पृच्छति—अयि विभो! ते तव मदर्द्धनारीश्वरस्य शिरसि केयं धन्या सुभगम्मन्या प्रलोभिका वा नारी स्थिता दृश्यत इति, निश्शङ्कं गङ्गां निह्नोतुकाम उत्तरयति तर्हि शिवः—अयि प्रिये! नेयं काचन धन्याऽधन्या वा। इयं तु शशिकला मच्छिरोमौलिभूता चन्द्रमस एव चन्द्रिकेति। यदि वाक्छलेनाऽनेन सामर्षा पुनः प्रश्नयति देवी—किमस्याः कस्याश्चन सुभगायाः नामाभिधानमेवैतत् सर्वैरविदितं विदितं च भवतैव भवन्मनोरञ्जनमिति, तदा दृढं समादधानो वक्ति देवः—अयि! मानिनि! तदेतच्छशिकलेति रूपमस्याः नामैव यादृच्छिकं किमप्यभिधानं नाऽन्यत् किञ्चन मत्प्रेमाह्वानरूपं गूढं वचः। ते तवेदं सर्वं परिचितमपि पूर्वविदितमपि। कस्य हेतोः कस्मात् कारणादिदं विस्मृतमित्येव महदाश्चर्यम्। निरुत्तरा पार्वती नितरामधिक्षिप्ता कयाप्युग्रतया वदति यदि—अयि देव! नारीमिमां भवतः पुंभूतस्य नायिकां पृच्छामि नेन्दुं न शशिकलां परिचितामिमां पृच्छामि त्वामिति तर्हि प्रियां प्रसादयन् निगूहितगङ्गाभावो भृशं मनसि प्रहृष्यन् प्रतिवदति देवः—अयि रोषणे! अकारणकोपने! यदीन्दुरयं यस्य शशिकलेति मद्वचो न प्रमाणं न विश्वासावहं भवत्यास्तर्हि भवत्सखी विजयैव पृच्छ्यताम् सैव कथयतु समादधातु भवत्याः गङ्गा-

---

चाहती हो! (पार्वती–) मुझे आप से आपकी चन्द्र–कला के सम्बन्ध में नहीं किन्तु इस सौभाग्यवती 'चन्द्रकला' (गङ्गा) के सम्बन्ध में पूछना है! (शिव–) मैं क्या बताऊं, जब तुम्हें मेरी इस बात पर कि यह चन्द्र-कला है विश्वास नहीं तो अच्छा है (अपनी सखी) विजया से ही सब कुछ पूछ-ताछ लो!'—इस प्रकार देवी पार्वती (के ईर्ष्या-कोप) से (अपने मस्तक पर विराजने वाली) भगवती गङ्गा को बचाने के इच्छुक भगवान् शिव की यह प्रेम–शठता आप (सामाजिकों) की निरन्तर रक्षा करती रहे॥

अभिप्राय—इस नाटककार की कल्पना निर्द्वन्द्व शिव में प्रेम–द्वन्द्व की जो उद्भावना यहां कर रही है उससे इस नान्दी-पद के द्वारा इस नाटक के वृत्त, चरित और रसभाव की सूक्ष्म अभिव्यञ्जना हो जाती है। वीतराग महादेव एक 'शठनायक' के रूप में इसीलिये यहां चित्रित हैं जिससे इन्हें देखने वाले

विषयिणीं मत्प्रणयशङ्कामिति । इत्थं यश्शिवः शठनायकायमान एकतो गङ्गां कामयतेऽपरतश्च खण्डितां पार्वतीमपि प्रसादयितुं जानाति स एव सर्वविधानां जनानामार्तानां दुःखानाञ्च सर्वसंतापनिर्वाणाय समर्थो जयति स एव वन्द्यस्स एव स्तुत्यस्स एव परमसुलभ इति तमेव सर्वान् कामान् याचन्ते सहृदया इति भावः ॥ १ ॥

टिप्पणी—(१) नान्दीपद्येऽत्र शिवस्य शाठ्यमुद्भावयतोऽस्य नाटककवेरस्ति कश्चन नाटकहृदयाविष्करणसंरम्भस्स तु किंरूप इति विचारणीयः । नाटकस्यास्य प्राचीनसंस्कृतव्याख्यायां श्रीढुण्ढिराजव्यासयज्वकृतायां नान्दीपद्यध्वनिरेवं प्रदर्शितः—

'उमा सत्त्वप्रधानत्वादृजुनीतितयेष्यते । गङ्गाकुटिलगामित्वात् कुटिला नीतिरिष्यते ॥
तां धर्मनीतेर्निह्नूय प्रपञ्चयितुमुत्सुकः । चाणक्योऽद्भुतधीरत्र विभुशब्देन सूचितः ॥'

अस्त्येवंविधोऽत्र ध्वनिः कश्चित् किन्तु नासौ—

'सचिवायत्तसिद्धित्वात् पौरुषं स्वमदर्शयन् ।
गभीरात्मा चन्द्रगुप्तो धीरोदात्तोऽत्र नायकः ॥'

इत्येवंविधेन वचनान्तरेण तिरस्करणीयतामर्हति । वस्तुतस्तु नाटकस्यास्य विभुश्चाणक्यो न चन्द्रगुप्तस्तथा च तद्वृत्तचरितभावादिविषयकेणैव ध्वनिनाऽत्र भवितव्यं तेनैव नान्दीसाफल्यात् सहृदयहृदयानुरञ्जनाच्च । अतो या हि ध्वनिदिगत्रानुधावनमर्हति सा त्वेवंस्वरूपा—चाणक्यः खलु नायको जयति यस्य प्राणेभ्योऽपि प्रिया कूटराजनीतिस्सहधर्मचारिणीव विराजते । सेयं राजनीतिश्चाणक्यं राजलक्ष्मीप्रणयिनमिव निध्यायन्तीर्ष्याकषायिता कुप्यति निरीहाय स्वप्रियाय चाणक्याय । चाणक्यस्तु धीरगभीरस्स्वकूटबुद्धावेव निभृतं रन्तुकामस्तत्प्रसादनाय विजयलक्ष्मीं तत्सहचरीं प्रमाणयन् चन्द्रगुप्तराजलक्ष्मीविषयकं तत्कोपं प्रशमयितुं महच्चातुर्यमाचरतीति । अनवद्यमिमं ध्वनिमनुध्यायतां सहृदयानां नाटकेऽत्र भवति कश्चन मनस्कारो येनैतेन नाटककविना सह समानहृदयतामादधाना रसयन्ति रसिकाः नाटकीयं सर्वमर्थजातमिति ।

(२) नान्दीपद्येऽत्र ध्वनौ पूर्वोक्ते प्रकाशमाने यट्टीकाकृतां श्रीढुण्ढिराजयज्वनां वक्रोक्तिदर्शनश्रद्धा यद्वाऽर्वाचीनानां व्याख्याकृतां केषाञ्चन व्याजोक्तिदृष्टिस्तत्त 'ध्वन्यालोके' काव्यानुशीलनभुवि विजृम्भमाणे 'लोचने' च ध्वनिदर्शनदिव्य-

---

उसे देख सकें जो इस नाटक का चरितनायक है और जिसके वीतराग व्यक्तित्व में धर्मनीति और कूटनीति का प्रेम-द्वन्द्व छिड़ा हुआ है। यही द्वन्द्व इस नाटक के घटना-चक्र को चलाने वाला है और इससे सम्बद्ध मनोभाव ही इस के रस-भाव के प्राण हैं। इस नान्दी-पद का उद्देश्य सामाजिकों का मनोरञ्जन ही नहीं अपि तु इस नाटक के दर्शन के लिये एक दिव्य-दृष्टि का दान भी है ॥ १ ॥

अपि च—

पादस्याविर्भवन्तीमवनतिमवने रक्षतः स्वैरपातैः
सङ्कोचेनैव दोष्णां मुहुरभिनयतः सर्वलोकातिगानाम् ।

चक्षुषि स्फुरमाणे केवलं घूकायितमेव नान्यत् किञ्चन। वाच्योपकारका इमेऽल-ङ्कारा यदि दृश्यन्ते नाम प्रकामं दृष्टिविषयीक्रियन्तां किन्त्वलङ्कार्ये स्फुटं प्रतीति-पथमायाति तन्निरूपणमेव श्रद्धावहं कविहृदयसंमतञ्चेति विभावनीयं सहृदयै-स्सुतरामित्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या।

पूर्वस्मिन् नान्दीपद्येऽर्धनारीश्वरं परमेश्वरं स्तुवंस्तदेकतानो नाटककविस्तमेव ताण्डवनटरूपिणं पुनस्तुष्टूषन्नाह—पादस्याविर्भवन्तीमित्यादि। तदिदमपरं नान्दीपद्यं पूर्वपद्यध्वनिमेवाऽपरया वर्णनाविच्छित्त्या प्रस्तावयत् कामपि शोभां बिभ्रद्विभा-व्यते सहृदयैस्तथाहि त्रिपुरविजयिनस्त्रिपुरान्तकस्य रौद्रं रसमभिनयतः महादे-वस्य महानटस्य दुःखनृत्तं नियन्त्रिताङ्गहारादिस्वाच्छन्द्यं कृच्छ्रसाध्यं नटनं वस्सा-माजिकान् सर्वान् पातु भगवतो दौर्मनस्यादिचिन्तासन्तापाद्रक्षत्विति भावः। ननु रौद्रं रसमभिनयतो भगवतः किं कृतं निरुद्धस्वातन्त्र्यं नृत्तमिदमिति चेत्? इतीत्थं प्रकारेणाऽधारस्य नृत्तक्रियाश्रयस्य रङ्गतद्वर्तितत्तद्वस्तुजातस्याऽनुरोधात् संरक्षणसंरम्भादिति। तथाहि पादस्य स्वैरपातैस्स्वच्छन्दतया समास्फाल-नैराविर्भवन्तीमाविर्भविष्यमाणामवनेर्नृत्ताधारभूतायाः भुवोऽवनतिं न्यग्भावं खण्डनं वा रक्षतः परिहरतः परिजिहीर्षतो वेति भूलोकमनुरुन्धानस्य, तथा च सर्वलोकातिगानां सर्वान् लोकानतिक्रम्य गच्छतां जिगमिषतां वा दोष्णां भुजानां

अपने चरणों के स्वच्छन्द विक्षेप से पृथिवी को, उसके रसातल में धंस जाने की संभावना से सदा बचाते रहने वाले, अपनी सर्वत्र अप्रतिहत गति वाली भुजाओं को—ग्रहमण्डल की रक्षा के लिये-सिकोड़ कर ही जहां तहां नचाने वाले और साथ ही साथ अपनी अग्निस्फुलिङ्ग की वर्षा करने वाली भयङ्कर दृष्टि को, पदार्थ मात्र के विध्वंस के भय से, कहीं भी एक स्थान पर स्थिररूप से नहीं रखने वाले त्रिपुरान्तक शङ्कर का वह ताण्डव जो केवल अभिनय के आधारों-रङ्गपीठ (पृथिवी लोक) रङ्गमण्डप (अन्तरिक्ष), रङ्गस्थ सामाजिक (समस्त स्थावर जंगम जीव)—की रक्षा करते रहने के कारण स्वयं इस प्रकार कष्टमय बना हुआ है, आप सामाजिकों का सदा कल्याण करता रहे।

अभिप्राय—इस दूसरे नान्दी-पद में नाटककार ने त्रिपुरान्तक शिव के दुःखसाध्य ताण्डव में चरितनायक चाणक्य के नीति-ताण्डव की सूक्ष्म अभि

दृष्टिं लक्ष्येषु नोग्रां ज्वलनकणमुचं बध्नतो दाहभीते-
रित्याधाराऽनुरोधात्त्रिपुरविजयिनः पातु वो दुःखनृत्यम् ॥२॥

सङ्कोचेनैव निरुद्धप्रसरेणैव मुहुरभिनयतः करणमङ्गहारं वा यत इति लोकान्तरमनुरुन्धानस्य किम्बहुना दाहभीतेः दृष्टिपथमायातानि तत्तत्स्थिरत्रासविभक्तिमन्ति भावजातानि मा भूवन् भस्मसादिति धियोग्रज्वलनकणमुचमुग्रान् प्रलयङ्करान् ज्वलन कणान् वह्निविस्फुलिङ्गान् मुञ्चतीति तथाभूतां दृष्टिं लक्ष्येषु दृगभिनयक्रियोपकरणभूतेषु तेषु तेषु वस्तुषु न बध्नतः न स्थिरं निक्षिपत इति सर्वं वस्तुजातमनुरुन्धानस्येदं नृत्तं महानटस्य दुःखदायिलोकान् पृणातु प्रीणातु चेति निध्यायत सहृदयाः नटराजमेव लोकम्पृणं स्वहृदयरङ्गवर्तिनमिति भावः ॥ २ ॥

टिप्पणी--(१) पूर्वत्र नान्दीपद्ये नायकस्य चाणक्यस्य वीतरागस्यापि हृदयमन्तः पुरं परिकल्प्य राजनीतिराजलक्ष्म्योः प्रभुशक्तिमन्त्रशक्त्योर्वा तत्र सापत्न्यमुद्भाव्य कविरयं कमपि कल्पनाचमत्कारमाततान। अत्र तु नान्दीपद्ये चाणक्योऽयं नायकस्स्वसुखनिरभिलाषः धृतलोककल्याणव्रतः कश्चन महापुरुष उद्धतोप्युदात्त इत्यादि वस्तुसम्पदं स्फुटं द्योतयति। त्रिपुरान्तकेन ताण्डवं नटता किमपि साधर्म्यमप्यस्य सुष्ठु प्रत्याययति। वस्तुतस्तूत्तरत्र (३० ३०) यद् भङ्ग्यन्तरेण वर्णितं तथा—

'मन्ये रुद्रस्य रौद्रं रसमभिनयतस्ताण्डवे संस्मरन्त्या
सञ्जातोदग्रकम्पं कथमपि धरया धारितः पादघातः ॥'

इत्यत्र, तस्यैवात्र निपुणं ध्वननमिति ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः किमपि प्रातिस्विकं रामणीयकमुन्मीलितं कविनेति सर्वं समञ्जसम्।

व्यक्ति की है। साथ ही साथ दोनों की मूल-भावना-लोककल्याण का भी रहस्य स्पष्ट हमारे सामने प्रकट किया है। इस प्रकार की भावभङ्गी से भरी हुई यह रचना इस नाटक की एक सम्पत्ति है। इस रचना के उपकरणों-इसके शब्दों और इसके अर्थों-पर जितना मनन किया जाय उतना आनन्द मिलता है। ऐसी ही रचना के सम्बन्ध में ध्वनिकार के ये वचन—

'सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥' (ध्वन्या० १. ८)

अर्थात् 'शब्द और अर्थ यद्यपि सर्वत्र एक ही हैं किन्तु महाकवियों ने अपने हृदय की अभिव्यक्ति की आधारशिला जिन शब्दों और जिन अर्थों को सोच रखा है उनकी पहचान ही सहृदयता की सबसे बड़ी पहचान है॥

सर्वथा घटित दिखाई देते हैं॥ २॥

(नाद्यन्ते)

(२) अत्र पृथिव्यादीनामवनस्याद्ययोगेऽपि यत्तद्योगकल्पनं तत्तु 'सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पन'मिति सम्बन्धातिशयोक्तेरेव योजनम्। किन्त्वलङ्कारोऽयं न स्वस्मिन् विरमति ध्वनावेव तद्रूपलयात्। ध्वनिस्वरूपन्तु त्रिपुरान्तक-नन्दान्तकयोरिशव-चाणक्ययोरुपमानोपमेयभावादि यथोक्तं प्राक्। अलङ्कारो यद्यलङ्कार्यमलङ्कुर्वीत तदैव वस्तुतोऽलङ्कारो नान्यथा। ध्वनिकृताऽलङ्कारस्य यो ध्वनेरुपयोगोऽभिकाङ्क्षितः काव्यकृद्भ्यः—

'समीक्ष्य विनिवेशितः। रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम्'

इत्यादि ब्रुवता तत्सर्वमपि निदर्शनीकृतं प्राचा नाटककविनाऽत्रेति संतोष्टव्यं सहृदयैः।

(३) अत्र टीकाकृद्भिर्ढुण्ढिराजव्यासयज्वभिः 'त्रिपुरविजयिन इति साभिप्रायविशेषणात् परिकराऽलङ्कार' इति परिकरदर्शने या चक्षुष्मत्ताऽविष्कृता सा तु गजनिमीलिकायामेव पर्यवस्यति। कुत इति चेत्? नाऽत्र त्रिपुरविजयिन इति पदं साभिप्रायमपि विशेषणमपि तु विशेष्यमेव विशेष्यान्तरस्यात्राऽदृष्टेः। वस्तुतस्तु पदमिदं विशेषतो व्यञ्जकं पूर्वनिर्दिष्टस्य ध्वनेः। नाटककविनाऽनेन सहाऽसमानहृदयाः मा भूम इति प्रत्यभिज्ञेयं सद्धृदयैर्यत्नतस्तदिदं पदं यद्धि तदर्थव्यक्तिसामर्थ्ययुक् यच्च विना ध्वनिराज्यमिदं संतमसावृतमिव, 'स्यान्नास्तीति' शङ्कातङ्कितमिव न किमपीव भवति।

नान्द्यन्त इति। नान्दी तु नाटकप्रयोगात्पूर्वमनुष्ठीयमानं रङ्गप्रसादनात्मकं संगीतकमेव, नन्दयति आनन्दयति रङ्ग'मिति व्युत्पत्तेः। द्विविधा खलु नान्दी भवति नटकल्पिता, नाटककृद्रचिता च। नटकल्पिता पूर्वरङ्गनान्दी, नाटककृद्रचिता च रङ्गनान्दीति। भासादिनाटकेषु—नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधार इति संकेतदर्शनात् पूर्वरङ्गनान्दी तत्र प्रयुक्तेति गम्यते। कालिदासादिनाटकेषु तथाऽत्र च नान्दीरचनानन्तरं 'ततः प्रविशति सूत्रधार' इत्युल्लेखाद्रङ्गनान्दी कविकृता विहितेति तर्क्यते। पूर्वस्यां रङ्गप्रसादनमेव प्रधानकृत्यं काव्यार्थसूचनं भवतु मा वा भूत्, किन्तूत्तरस्यां रङ्गानन्दनं मनाक् काव्यार्थसूचनमित्युभयमपि नितरामपेक्षितम्। अत्र हि पद्यद्वयेनाष्टपदा नान्दी 'नाटककृदभिप्रेति तत एव नाटकीयवस्त्वादिसूचनसौकर्यादभीष्टसिद्धेश्चेति। सेयं नान्दी 'पत्रावली'ति संज्ञिता यथोक्तं नाट्यदर्पणे—

'यस्यां बीजस्य विन्यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुनः।
श्लेषेण वा समासोक्त्या नान्दी पत्रावली तु सा॥'

(नान्दी-गायन के समाप्त होने पर)

सूत्रधारः—अलमतिप्रसङ्गेन। आज्ञापितोऽस्मि परिषदा, यथा-'अद्य सामन्तवटेश्वरदत्तपौत्रस्य महाराजपदभाक्पृथुसूनोः कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिः मुद्राराक्षसं नाम नाटकं नाटयितव्यम्' इति। यत् सत्यं काव्य-

---

श्लेषेण वा समासोक्त्येति नालङ्कारपरं वचनम् श्लेषेणेति वाच्यलगित व्यङ्ग्यार्थपरत्वेनेति समासोक्त्येति च शब्दार्थादिसूक्ष्मसूचितकविहृदयत्वेनेति साङ्गत्यात्।

सूत्रधार इति। सूत्रं नाटकप्रयोगानुष्ठानं धारयतीति व्युत्पत्तेः नाटकप्रयोगस्य प्राणभूतः प्रधानो नटस्सूत्रधार इति। अयमेव नटः नान्दीसूत्रधारो भूत्वा पूर्वं नान्दीमारचयति नान्द्यन्ते च नाटकप्रयोगस्य स्थापनां कुर्वंस्स्थापकापराभिधानो नाटकसूत्रधाररूपेण नाटकञ्चाऽऽमुखमाभरतवाक्यञ्चाभिनेतुं तांस्तान्नटान्नियुनक्ति स्वयं वा यथारुचि यथावसरञ्च प्रवर्तते। सूत्रधार एव नाटकीयसमग्रप्रयोगभरसहिष्णुर्यथोक्तमभियुक्तैः—

नाट्यप्रयोगनिपुणो नानाशिल्पकलान्वितः। छन्दोविधानतत्त्वज्ञस्सर्वशास्त्रविचक्षणः॥
तत्तद्गीतानुगलयकलातालावधारणः। अवधाय प्रयोक्ता च योक्तॄणामुपदेशकः॥
एवं गुणगणोपेतस्सूत्रधारोऽभिधीयते।' इति।

कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिरिति। प्रस्तावनाऽत्र क्रियते कविना यदङ्गभूता पूर्वमारभ्यते प्ररोचना तल्लक्षणं यथोक्तं दशरूपककृता—'उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचने'ति।

नान्दीविनोदेन मुकुलितनयनास्संगीतरसास्वादे लीनमनसस्सभ्याः यदि नाटककृता नोन्मुखीक्रियेरन् कयाचन विधया कुतस्तरां नाटकप्रयोगः प्रारभ्येत? नाटककवेरियं विधा प्ररोचनेति निगद्यते। अस्यां हि कविः कथानायकस्य, स्वस्य सभ्यानां नटानां, देशकालादेर्वा तथा प्रशंसामारचयति यथाऽऽकृष्टास्सामाजिकाः नाटकप्रयोगदर्शनाय दत्तचित्तास्सम्पद्यन्ते। अत्र हि कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिरिति पूर्वं नाटककृत् स्वमात्मानमेव स्वकृतिं द्वारीकृत्य प्रकाशयति। मुद्राराक्षसं नामनाटकमिति तु दशरूपकेषु किं विधं रूपकं किं नामधेयञ्चेत्यादि कवेरभीष्टार्थप्रकाशनं यत्तदपि प्ररोचनाविधानमेव। नाटकमिति तु रूपकेषु प्रधानतमं रूपकं 'नाट-

---

सूत्रधार—नान्दी-संगीत तो बहुत कुछ हुआ। अब तो सभ्य-सामाजिकों की यही आज्ञा है कि आज सामन्त वटेश्वरदत्त के पौत्र और 'महाराज' पद-धारी पृथु के पुत्र कवि श्री विशाखदत्त की कृति 'मुद्राराक्षस' नाटक का अभिनय प्रारम्भ किया जाय। हमारे सामाजिक कितने नाट्य-मर्मज्ञ हैं यह तो इसी से

विशेषवेदिन्यां परिषदि प्रयुञ्जानस्य ममापि चेतसि सुमहान् परितोषः प्रादुर्भवति । कुतः—

चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः ।
न शालेः स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते ॥ ३ ॥

तद्यावद् इदानीं गृहं गत्वा गृहिणीमाहूय गृहजनेन सह सङ्गीतक-

यति विचित्रं रञ्जनाप्रवेशेन सभ्यानां हृदयं नर्तयती'ति व्युत्पत्तेर्यथा हि लक्षितं नाट्यविद्भिः—

'प्रख्यातवस्तुविषयं धीरोदात्तादिनायकम् । शृङ्गारवीरान्यतरप्रधानरससंश्रयम् ॥
सुखदुःखोत्पत्तिकृतं चरितं यच्च भूभुजाम् ।
इतिवृत्तं कथोद्भूतं किंचिदुत्पाद्यवस्तु च ॥
नाटकं नाम तज्ज्ञेयं रूपक'मित्यादि ।

काव्यवेदिन्यां परिषदीत्याद्यपि सभ्यप्रशंसापरा वाचोयुक्तिः प्ररोचना प्रपञ्च एवेति ।

सूत्रधारस्सभ्यान् प्रशंसितुमप्रस्तुतस्य क्षेत्रादेः प्रशंसां करोति—चीयते बालिशस्येति । बालिशस्यापि कस्यचनाविदितबीजावापविधेरपि कृषीबलस्य सत्क्षेत्रपतिता कृषिरुर्वरायां क्षेत्रभुवि कृतो बीजनिक्षेपः चीयतेऽङ्कुरस्तम्बफलधान्यादिरूपेणाऽभिवर्द्धत एव सुतराम् । यतो हि शालेरेकस्यापि व्रीहिबीजस्याङ्कुररूपेणोद्भिद्यतस्स्तम्बकारिता स्तम्बं स्तोमं करोतीति (स्तम्बशकृतोरिन् व्रीहिवत्सयोरिति वक्तव्यम् इत्यनुशासनात्कर्मशब्दस्योपपदस्य करोतेरिनिः) स्तम्बकरिस्तस्य भावस्तत्तेति स्तोमीभवनयोग्यता निविडीभवनशालिता वा वप्तुर्बीज निक्षेपकर्तुर्गुणं कृषिपाण्डित्यादिकं नापेक्षते नाकाङ्क्षते प्रत्युत स्वयमेव क्षेत्रसम्पदा समृद्धिमती भवतीति भावः । एवं खलुनटवर्गस्य कुतश्चित् स्खालित्येऽप्यभिनयकर्मणि सहृदयसामाजिकैः कृतास्वादनं नाटकमिदं महते सौभगाय सम्पत्स्यत इत्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

पता चल रहा है कि इस नाटक-प्रयोग के प्रारम्भ करते ही हमारा हृदय उल्लास से भर उठा है । और ऐसा क्यों न हो ! क्योंकि—

'खेती करने वाला मूर्ख क्यों न हो, यदि बीज उस खेत में पड़े, जो उपजाऊ है, तो खेती लह-लहा ही उठेगी । भला ऐसा भी कभी हुआ है कि घने गुच्छे बन २ कर उपजने वाले धान के बीज किसान के गुण (अथवा अवगुण) पर निर्भर रहें ! ॥ ३ ॥

अच्छा, मैं अभी २ घर जाता हूँ और अपनी गृहिणी को बुलाता हूँ जिससे

मनुतिष्ठामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) इमे नो गृहाः, तद्यावत् प्रविशामि। (नाट्येन प्रविश्यावलोक्य च) अये तत् किमिदमस्मद्गृहेषु महोत्सव इव दृश्यते। स्वस्वकर्म्मण्यधिकतरमभियुक्तः परिजनः। तथा हि—

वहति जलमियं पिनष्टि गन्धानियमियमुद्ग्रथते स्रजो विचित्राः।
मुसलमिदमियञ्च पातकाले मुहुरनुयाति कलेन हुंकृतेन॥ ४॥

भवतु कुटुम्बिनीमाहूय पृच्छामि।

(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)

स्वस्वकर्मण्यधिकतरमभियुक्तः परिजन इति तु कयाचन भङ्ग्याऽभिनेतॄणामत्र नाटकप्रयोगेऽभिनिवेशसंस्सूचितः प्ररोचनामेव पुष्णाति।

सूत्रधारः स्वपरिजनं तत्तत्कार्यव्यापृतं वर्णयन्नाह—वहति जलमियमिति। इयं पुरोदृश्यमाना काचन नटी जलं वहति नटानां प्रसाधनात्पूर्वं करिष्यमाणाय मुखाद्यङ्गप्रक्षालनायेति शेषः। इयमपरा काचन गन्धान् पिनष्टि नटनेपथ्योपयोगि सुगन्धि द्रव्यं केसरादि सम्पादयतीति भावः। इयमन्या विचित्रास्स्रज उद्ग्रथते नटादिभिरुपभोग्याय शेखरापीडादिकायेति शेषः। इयञ्च काचिदिदं मुसलं वर्णिकापेषणादिसाधनं पातकालम् उलूखले तस्य पतनोत्पतनावसरे कलेन हुङ्कृतेन श्रुतिमधुरेण हुमिति ध्वनिना मुहुरनुयात्यसकृदनुसरन्ती दृश्यत इति भावः॥ ४॥

टिप्पणी—अत्राहार्याभिनयसाफल्याय नितरामुद्युक्तानां नटादीनां स्वभाववर्णनात्स्वभावोक्तिरलङ्कारः शोभमानो विभाव्यते।

नेपथ्याभिमुखमिति—नेपथ्यमिति तु जवनिकाऽत्र ययाऽवृते प्रसाधनकोष्ठे सन्न-

---

(नाटक-प्रयोग के लिये) कुछ नृत्य-गीत-वाद्य आरम्भ हो जाय। (कुछ घूम घाम कर, घर की ओर देखते हुए) अरे! यही तो मेरा घर है। अच्छा, चलूं, भीतर चलूं। (भीतर प्रवेश करने का अभिनय करते हुए और देख-दाख कर) ओह! कुछ समझ नहीं आता कि हमारे घर में आज कैसा महोत्सव चल रहा है। जितने भी अनुचर-परिचर हैं अपने २ कामों में कितने व्यस्त हो रहे हैं। क्यों न हो—

'एक (दासी) तो इधर पानी ढो रही है, दूसरी उधर सुगन्ध पीस रही है; यहां यह सुन्दर २ मालायें गूंथ रही है और वहां वह मीठी हुंकार सी भरती हुई ओखल में मूसर के गिरने के साथ २ अपनी ही धुन में लगी दिखाई दे रही'॥४॥

अच्छी बात है! देखूं, अपनी घर वाली को बुला कर पूछूं कि क्या है।

(नेपथ्य की ओर आँखें उठाकर)

गुणवत्युपायनिलये ! स्थितिहेतो ! साधिके ! त्रिवर्गस्य ।
मद्भवननीतिविद्ये ! कार्यादार्ये ! द्रुतमुपेहि ॥ ५ ॥

ह्यन्ति नटास्तत्तद्वेषभूषाभिरिति यथोक्तम्—'नेपथ्यं स्याज्जवनिके'ति ।

नटीं नाटकप्रारम्भायाह्वयन् सूत्रधारः तस्याः गुणस्तुत्या सभ्यौन्मुख्यरूपां प्ररोचनां संक्षिपन्नाह—गुणवत्यादि । अयि गुणवति ! शोभा कान्ति-दीप्त्यादिस्वाभाविकगुणशालिनि ! उपायनिलये ! नाटकप्रयोगसाधनीभूततत्तद्व्यापारदक्षे ! स्थितिहेतो ! कुशीलवकुटुम्बसंरक्षणादिसमर्थे ! त्रिवर्गस्य साधिके ! धर्मार्थकामफलं नाटकमिह त्रिवर्गशब्देन लक्ष्यत इति नाटकाभिनयस्य सम्पादनकारिणि ! मद्भवननीतिविद्ये ! अस्मद्भवनस्य रङ्गमन्दिरस्य या नीतिविद्या कार्यं सम्पादिकाऽभिनयादिकलातत्स्वरूपभूते ! आर्ये ! नटी—सूत्रधारौ मिथ आर्येति सम्बोधनमर्हत इति नाट्यानुशासनम् कार्यादविलम्बसम्पादनीय नाटकप्रयोगहेतोर्द्रुतमुपेहि रङ्गमञ्च सत्वरमागच्छेति भावः ॥ ५ ॥

'अरे ! सुनो तो, तुरत आना, बड़ा काम बिगड़ा जा रहा है। सचमुच यह मेरी घरवाली कितनी गुणवती है। घरेलू काम-काज की कितनी व्यवस्था जानती है। मेरे धर्म, अर्थ, काम कैसी अच्छी तरह चलाती है ! बस यही तो मेरे घर की मर्यादा और टेक है !'

अभिप्राय—नाटककार यहाँ सूत्रधार के द्वारा नटी के आह्वान में वस्तुतः चरितनायक चाणक्य द्वारा उसकी चिर सहचरी कूट राजनीति के आह्वान की कितनी सुन्दर उद्भावना कर रहा है ! और इस आह्वान में कैसा विचित्र और मार्मिक व्यङ्ग्य छिपा हुआ है। इस नाटक में चाणक्य की कोई नायिका नहीं क्यों कि उसका राजनीति से प्रेम इतना उत्कट और उग्र है कि उसके हृदय में किसी भी नायिका का स्थान नहीं। वह तो निरन्तर अपनी चिरसंगिनी, अपनी एक मात्र प्रेयसी राजनीति से ही अपना नाता जोड़ना चाहता है। उसका गार्हस्थ्य स्वार्थ साधन के लिये नहीं, लोक-कल्याण के लिये है। उसकी एक मात्र वल्लभा राजनीति ऐसी है जिसमें सन्धि-विग्रह-अभियान-आसन-संश्रय और द्वैधीभाव के षड्गुण विराजमान हैं, साम–दाम–दण्ड और भेद के सभी उपाय भरे हैं, धर्म-अर्थ और काम की सिद्धियां समायी हैं और जिसे राज–वैभव से मोह नहीं, केवल अपने प्रेमी की कुटिया–जीर्ण कुड्य शरण (मुद्रा० ३. १५) से ही प्रेम है, और उसी की मर्यादा को निरन्तर निभाना है ॥ ५ ॥

नटी—(प्रविश्य) आर्यपुत्र ! इयमस्मि, आज्ञानियोगेन मामनुगृह्णात्वार्यः (अज्जउत्त ! इअह्मि अण्णाणिओएण मं अणुगेह्णदु अज्जो)

सूत्रधारः—आर्ये ! तिष्ठतु तावदाज्ञानियोगः, कथय, किमद्य भवत्या भगवतां ब्राह्मणानामुपनिमन्त्रणेनैतत् कुटुम्बकमनुगृहीतम् , अथवा अभिमता भवनमतिथयः प्राप्ताः, यत एष पाकविशेषारम्भः ?

टिप्पणी—अत्र 'ऋतुं कंचिदुपाश्रित्य भारतीं वृत्तिमाश्रये'दिति नाट्यानुशासनानुसरद्भिष्टीकाकारैर्ढुण्ढिराजप्रभृतिभिः 'भो शरद् द्रुतमुपेहीति विजिगीषुणा चन्द्रगुप्तेन शरदागमः प्रार्थ्यते तन्मन्त्रिणा चाणक्येन राक्षसातिसंधानार्थं स्वकुलविद्यानीतिरभिमुखी क्रियत इति च ध्वनित' मित्यादि यत्किमपि प्रकल्पितं तत्तु नातीव मनोरमम् ।

वस्तुतस्त्वत्र नाटकप्रबन्धव्यापिन्याः कौटिल्यबुद्धेरेव कयाचन भङ्ग्या स्वरूपमुन्मील्यते । सूत्रधारो यथा नटीमत्र नाटकप्रयोगविद्यास्वरूपां निध्यायति तथा खलु कौटिल्योऽप्यग्रे स्वकूटनयबुद्धिमेव समस्तयोगक्षेमसाधनीभूतां ध्यायं ध्यायं वदति—

'एक केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका ।
नन्दोन्मूलन दृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम ॥' इति ।

तदिदमत्र ध्वनेः स्वरूपं यत्खलु सुतरां संगतं कविसंरम्भविषयञ्च । तथा चात्र न श्लेषालङ्कारस्य टीकाकृद्भिः परिदृष्टस्य कोऽप्यवसरः । किन्तु 'मन्त्रवननीतिविधे' इति पदवैशिष्ट्यमेव व्यञ्जकत्वेन नाटककविना प्रत्यभिज्ञातं समुपात्तञ्च व्यङ्ग्यार्थं पूर्वनिर्दिष्टं स्पष्टमेव प्रत्यायतीति । किञ्चिदन्यदपि स्वारस्यमत्र । तथा हि सूत्रधृतो भवनं नाट्यमन्दिरं महारम्भरचनं यत्र खलु रमते तन्नीतिविद्योपमा नटी । किन्तु कौटिल्यस्य भवनं तु कुटी काचन कविनैव निर्दिष्टा—उपलशकलमित्यादि वर्णयता- यत्र रममाणा कौटिल्यसहधर्मचारिणी न काचन शरीरिणी नायिकाऽपि तु कूटनयबुद्धिरेवैकाऽशरीरिणीति ।

नटी—(रङ्गमंच पर आकर) मैं आ गयी ! कहो क्या बात है। आज्ञा दो क्या करूं।

सूत्रधार—अरी ! आज्ञा-अनुज्ञा की बात छोड़ो। पहले यह तो बताओ कि आज बात क्या है जो ब्राह्मण-देवताओं के भोग-राग इस घर पर कृपा कर रहे हैं ! या ऐसा तो नहीं कि हमारे परम-स्नेही अतिथि-गण कहीं से पधारना चाहते हैं जिनके लिये नाना प्रकार के भोजन बनाये जा रहे हैं।

नटी—आर्य ! अद्यामन्त्रिता मया भगवन्तो ब्राह्मणाः (अज्ज ! अज्ज आमन्दिदा मए भअवन्तो ब्बह्मणा)

सूत्रधारः—कथय कस्मिन् निमित्ते ?

नटी—उपरज्यति किल भगवान् चन्द्र इति (उवरज्जदि किल भअवं चन्दोत्ति)

सूत्रधारः—क एवमाह ?

नटी—एवं खलु नगरवासी जनो मन्त्रयति (एवं क्खु णअरवासी जणो मन्तेदि)

सूत्रधारः—आर्ये ! कृतश्रमोऽस्मि चतुःषष्टयङ्गे ज्योतिश्शास्त्रे, तत प्रवर्त्यतां भगवतो ब्राह्मणानुद्दिश्य पाकः, चन्द्रोपरागं प्रति तु केनापि विप्रलब्धाऽसि । पश्य,—

क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम् ।

पूर्वरङ्गाङ्गभूतां सभ्यौन्मुख्यकारिणीं प्ररोचनां परिसमाप्य कथोद्घातप्रवर्तिकां प्रस्तावनामारभते सूत्रधारः—क्रूरग्रह इत्यादि । अयि ! आर्ये ! चन्द्रोपरागं प्रतिप्रतारिताऽसि केनापि । यतो हि ज्योतिःशास्त्रे यदुक्तं तदनुसारेण यदि दृश्यते तदा तु क्रूरग्रहः सोऽसौ केतुरङ्गाङ्गिभावाल्लक्षणया राहुरित्यर्थः, इदानीमद्य पौर्णमास्यां तिथौ पूर्णमण्डलं चन्द्रमसं बलादभिभवितुं ग्रसितुमिच्छतीति तु सामान्यतस्संभाव्यमेव किन्तु बुधयोगस्य बुधग्रहस्य सम्बन्ध एनं चन्द्रमसं सम्भाव्यमानोपरागं रक्षति ग्रासान्मोचयतीति भावः ॥ ६ ॥

टिप्पणी—(१) अत्र क्रूरग्रह इत्यारभ्याभिभवितुमिच्छति बलादित्यन्तं यद्वाक्यं

नटी—सुनो । आज मैंने ब्राह्मणों को निमंत्रण दिया है ।

सूत्रधार—क्यों ! बात क्या है !!

नटी—सुना है चन्द्रग्रहण होने वाला है ।

सूत्रधार—यह तुम से किसने कहा ?

नटी—इस नगर के सभी लोग तो ऐसा ही कह रहे हैं ।

सूत्रधार—अरे ! ज्योतिष की एक नहीं चौसठ विद्यायें तो मैं जानता हूँ । आज चन्द्रग्रहण कैसा ! किसी ने तुम्हें ठग लिया । कोई बात नहीं, ब्राह्मण-भोजन चाहो तो करवा लो । और सुनो—

'ऐसी संभावना अवश्य है कि आज सम्पूर्ण मण्डल चन्द्र का उस क्रूर ग्रह

अभिभवितुमिच्छति बलात्······ (इत्यर्द्धोक्ते)

तत्तु तथा रचितं यथाऽर्थान्तराक्षेपेण पात्रप्रवेशो भवेन्नाटकं च प्रयोगोन्मुखं प्रसरेत्। पात्रप्रवेशस्य विधिर्यथा—

'वाक्यार्थसमयाह्वानैर्भावोक्तः पात्रसंक्रमः' इति।

अत्र नाटके नटी-सूत्रधाराभ्यां छन्दसा ग्रथितस्य वाक्यस्यार्थेन हेतुभूतेन प्रधाननायकस्य चाणक्यस्य भूमिकाधारिणः पात्रस्य 'आः क एष मयि स्थिते चन्द्रमभिभवितुमिच्छति बला' दिति सरोषं ससंरम्भं च प्रगल्भमानस्य प्रवेशो यो नाटककृत्समीहितस्स सिध्यति। अस्यैव पात्रप्रवेशप्रकाराणामन्यतमस्योपादानेन प्रस्तावनायाः प्रकारभेदः कथोद्धातरूपो विमृष्टो नाट्याचार्यैर्बहुभिर्लक्षितश्च यथा—

'स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः।
गृहीत्वा प्रविशेत् पात्रं कथोद्धातो द्विधैव सः॥ इति।

अत्र क्रूरग्रह इत्यादौ शब्दस्याऽभङ्गत्वाच्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमित्यादौ च तद्भङ्गत्वाच्छ्लेषालङ्कारः प्रयुक्तोऽर्थान्तरस्य वाच्यायमानतया विवक्षितत्वात्। तदिदमर्थान्तरं यथा क्रूरग्रहश्चन्द्रगुप्तमभिभवितुं दुराग्रहं मानसं यस्य स राक्षसः केतुना मलयकेतुना सह संधायेदानीमस्मिन्नवसरेऽसम्पूर्णमण्डलं चन्द्रमनायत्तीकृताशेषराजवर्गं चन्द्रगुप्तं साम्राज्यैषिणमभिभवितुं पराभवितुमिच्छति। किन्तु बुधयोगो नयपण्डितस्य कौटिल्यस्य राजराज्ययोः कण्टकशोधनाद्युपायवर्गः एनं चन्द्रगुप्तं रक्षति पराभवान्निस्तारयतीति।

किमप्यत्र विचारणीयमापतति। नटी सूत्रधारयोर्वाक्यस्यार्थेन हेतुना चाणक्यो यदि रङ्गं प्रविशति किमप्यैतिह्यविसंवादकत्वं प्रसक्तम्। चाणक्यस्तु पुराकालवर्ती महापुरुषः। नटीसूत्रधारौ च नाटककारसमयवर्तिनौ स्यातां तत्तदेतन्नाटकाभिनयसमयकल्पितौ वा। कुतस्तरां चाणक्यस्य नटीसूत्रधृतोर्वाक्यश्रवणादि समञ्जसं संजायेत? अत्र समाधानदिगियम्—नाटककृताऽत्र चाणक्यस्य 'आः क एष मयि स्थिते चन्द्रमभिभवितुमिच्छति बला'दिति वदत एव प्रवेशो विवक्षितः, अनयैव वाचो युक्त्या चन्द्रगुप्तव्यसनोपनिपातरूपस्य तन्निवृत्तिरूपस्य च बीजस्यैतन्नाटकेतिवृत्तार्थोपायस्योपक्षेपणात्, अस्यामेव विशिष्टायां वाचि चाणक्यस्य चरितवर्तिनः 'क्षेपादेरसहिष्णुत्वं तेजः प्राणात्ययेऽपि चे'ति लक्षितस्य तेजसोऽथ च 'विघ्नेऽप्यचलनं स्थैर्यं प्रारम्भादशुभादपी' ति लक्षितस्य स्थैर्यस्य गुणस्य यथायथमभिव्यञ्जनसामर्थ्यस्य गर्भीकृतत्वात्, अत्रैव खलु चाणक्यचरितवर्णनयाऽऽप्रबन्धमभिव्यञ्जनविषयीकरिष्यमाणस्य वीररसस्योपयोगिनः 'अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टते'-

---

केतु (वस्तुतः राहु पृथिवी की छाया) द्वारा ग्रास हो जाय, (इतना कहने ही पर नेपथ्य की ओर से)

(नेपथ्ये) आः ! क एष मयि स्थिते चन्द्रमभिभवितुमिच्छति बलात् ?

सूत्रधारः—'......रक्षत्येनं तु बुधयोगः ॥ ६ ॥

नटी—आर्य ! कः पुनरेष धरणिगोचरो भूत्वा चन्द्रं ग्रहाभियोगाद्रक्षितुमिच्छति ? (अज्ज ! को उण एसो धरणिगोअरो भविअ चन्दं ग्गहाभिजोआदो रक्खिदुं इच्छदि ?)

सूत्रधारः—आर्ये ! यत् सत्यं मयाऽपि न उपलक्षितो भवतु भूयो-

स्यादिलक्षितस्यामर्षरूपस्य व्यभिचारिभावस्य स्वरूपोन्मीलनाच्च। अस्य खलु समुस्तनाटकबीजस्य वाक्यस्य प्रस्तावनया सम्बन्धं कयाचन भङ्गया विदधाति कविः। ननु प्रस्तावनामेव तथा निर्माति यथा तद्गतं वाक्यं शृण्वतश्चाणक्यस्यामर्षावेगो विजृम्भते। वस्तुतस्तु 'क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति बला' दिति चाणक्यवाक्ये चन्द्रगुप्तस्येति श्रुतेस्सनाम्नश्चन्द्रस्यास्य ग्रहणादि विकल्पयन् नाटककविरत्र चन्द्रोपरागादिविषयं नटीसूत्रधारवाक्याभ्यामवतारयन् कथोद्घातकारिणीं प्रस्तावनां केनापि कौशलेनारचयतीति।

आः क एष मयि स्थित इत्यादि—अन्तस्तिरस्करिणीसंस्थस्य चाणक्यस्य प्रस्तावनायामेवोक्तं वाक्यमिदं रङ्गाभिनेयार्थं सूचयच्चूलिकारूपम्। चूलिका तु 'वस्तुनः सूचनं चूला पात्रैर्नेपथ्यसंस्थितै'रिति। यद्यप्यन्यैर्नाटककारैः प्रस्तावनायां चूलिका न निबद्धा किन्तु कविरयं वर्त्तिष्यमाणस्य वस्तुनस्सूचनाय प्रस्तावनायामेव चूलिकां निबध्नन् रङ्गाभिनेयवस्त्ववतारे कमपि त्वरातिशयं प्रकाशयन् दृश्यते सामाजिकैः। यदि नेयं चूलिका निबध्येत विष्कम्भकादिप्रसङ्गोऽपेद्येत तद्द्वारा च वृत्तस्य नन्दविनाशरूपस्य राक्षसवशीकाररूपस्य च वस्तुनो निदर्शनं संपाद्येत। तथा कृते नाटकं शिथिलेतिवृत्तचरितरसं पङ्गूयत् प्रचलेत। नेदं सह्यं महाकवेर्विशारदस्य। अतः खलु चूलिकागर्भा प्रस्तावनाऽत्र कृता, यां समापयन् वक्ति सूत्रधारः—

कौटिल्यः कुटिलमतिस्स एष येन क्रोधाग्नौ प्रसभमदाहि नन्दवंशः।
चन्द्रस्य ग्रहणमिति श्रुतेस्सनाम्नो मौर्येन्दोर्द्विषदभियोग इत्यवैति ॥ इति।

'अरे ! मेरे रहते किसकी शक्ति है जो चन्द्र का ग्रहण कर ले !'

सूत्रधार—किन्तु बुध का संयोग ऐसा पड़ा है जो ग्रहण नहीं होने देगा ॥६॥

नटी—ओह ! इस धरती पर रहने वाला यह कौन है जो (आकाश के) चन्द्र को ग्रहण से बचाने का दम भरता है !

सूत्रधार—अरे ! यह बात तो मेरी भी समझ में न आयी ! अच्छा, ध्यान

ऽभियुक्तः स्वरव्यक्तिमुपलप्स्ये। ('क्रूरग्रह……' इत्यादि पुनः पठति)

(नेपथ्ये) आः, क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति बलात् ?

सूत्रधारः—(आकर्ण्य) आं ज्ञातम् !! कौटिल्यः—

(इत्यर्द्धोक्ते नटी भयं नाटयति)

सूत्रधारः—

कौटिल्यः कुटिलमतिः स एष येन
क्रोधाग्नौ प्रसभमदाहि नन्दवंशः।
चन्द्रस्य ग्रहणमिति श्रुतेः सनाम्नो
मौर्येन्दोर्द्विषदभियोग इत्यवैति ॥ ७ ॥

तदिति आवां गच्छावः। (निष्क्रान्तौ)

इति प्रस्तावना।

आः क एष इत्यादि चाणक्यवाक्यमेव विपरिणामेन योजयन्नाह सूत्रधारः—कौटिल्य इत्यादि। समाप्यतां—प्रस्तावनेयं यतो हि कुटिलमतिर्कूटनीतिज्ञः कौटिल्यः, येन नन्दवंशः स्वक्रोधाग्नौ भस्मीकृतस्य एष मौर्येन्दोश्चन्द्रगुप्तस्य मौर्यवंशचन्द्रमसो द्विषता राक्षसेणाभियोगोऽभिभव आस्कन्दनं वेति संभाव्य सामर्षसंरम्भः प्रगल्भमानो दृश्यत इति भावः॥ ७॥

इति प्रस्तावनेति । संस्कृतनाटकेषु प्रस्तावना खल्वामुखापरपर्याया नटीसूत्र-

---

से इसका स्वर सुनूं। अभी पता लगता है कि कौन है! (क्रूर ग्रह इत्यादि श्लोक का पुनः पाठ और नेपथ्य से)

'अरे! किसकी शक्ति है जो मेरे रहते चन्द्र ग्रहण कर ले!'

सूत्रधार—(सुनकर) ओह! अब पता चला। यह तो वह कौटिल्य है जो—

(इतना ही सुनते नटी भयभीत से जाने का अभिनय करती है)

सूत्रधार—'यही तो वह कूटनीतिज्ञ कौटिल्य (चाणक्य) है जो अपनी क्रोधाग्नि में नन्द वंश को बलात्कारपूर्वक जला चुका है और अभी मेरी 'चन्द्र के ग्रहण' की बात सुनते ही, समान नाम वाले अपने 'चन्द्रगुप्त पर शत्रु का आक्रमण' समझ कर बिगड़ उठा है'॥ ७॥

अच्छा है हम तुम अब यहां से चल चलें। (दोनों रंगमंच से चले जाते हैं)

(प्रस्तावना समाप्त होती है)

(ततः प्रविशति मुक्तां शिखां परामृशन् चाणक्यः)

धारयोः परस्परालापरूपा नाटकविषयोद्भावनाय नितरामपेक्षिता। तल्लक्षणं तु यथा नाट्यदर्पणे—

'विदूषकनटीमार्षैः प्रस्तुताक्षेपि भाषणम् ।
सूत्रधारस्य वक्रोक्त-स्पष्टोक्तैर्यत्तदामुखम् ॥' इति ।

यस्यायं भावः—सूत्रधारो, यो हि रङ्गसूत्रयिता भवति, स्थापको वा यः खलु सूत्रधारगुणानुकारो नाट्यार्थस्थापयिता भवति, यद् विदूषकनटी—मार्षैर्व्यस्तैः समस्तैर्वा साक्षादसाक्षाद्वा विवक्षितार्थं प्रतिपादिकाभिर्वाचोयुक्तिभिस्तथा संमाषते यथा प्रस्तुतनाटकार्थस्याक्षेपो भवति सामाजिकानां तदामुखं यस्यैतस्य प्रस्तावनेति नामान्तरं यथोक्तं साहित्यदर्पणकृता 'आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि से'ति। अत्र नाटके सूत्रधारो नट्या सह संलपन् वक्रया वचोभङ्ग्या नाटकीयमर्थं नायकचरितादिरूपं रङ्गाभिनयायावतारयतीति प्रस्तावनां करोत्यामुखं वाऽनुतिष्ठतीत्युच्यते ।

एतन्नाटकप्रस्तावनाविचारे श्रीढुण्ढिराजयज्वभिः प्रस्तावनायाः भारतीवृत्तिरूपत्वाद् भारतीवृत्तेश्च वाग्व्यापारात्मकत्वात्
'वीथ्यङ्गान्यामुखाङ्गत्वादुच्यन्तेऽत्र स्वभावतः। उद्धात्यकावलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम्। वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके । असत्प्रलापव्याहारमृदवानि त्रयोदश' ॥
इत्यादि दशरूपकाक्षरसाक्षात्कारधिया यत् त्रयोदशाङ्गत्वं तत्र तत्र नटी–सूत्रधारभाषणे प्रदर्शितं तत्तु नातीव रोचते । वस्तुतस्तु यः कोऽपि वाग्व्यापारो भवतु नाटकेषु लोके वा तत्रैव त्रयोदशवीथ्यङ्गानि सुनिरूपणीयानि भवन्ति। को विशेषः नाटकप्रस्तावनाया लोकसंभाषणात् ? यो विशेषस्स एव प्रदर्शनीयः। स च पूर्वनिरूपितप्रकार एव ।

प्रस्तावना खलु संस्कृतनाटककाराणां प्रस्तुतनाट्याभिनयस्य काचन सूचना विज्ञप्तिर्वा । यां विना नाटकमनिवेद्यमानं न सामाजिकान् सावधानीकर्तुं प्रभवेत ।

केषुचिन्नाटकेषु सूत्रधारः प्रस्तावनारचयिता केषुचिद् यथाऽभिज्ञानशाकुन्तल मुद्राराक्षसादिषु कविरेव प्रस्तावनां निबध्नाति। यत्र सूत्रधृतैव प्रस्तावना क्रियते तत्र सा नाट्यात् पृथक्भूता, यत्र हि कविकृतिस्सा तत्र नाट्याङ्गरूपिणीति । नाटकेऽत्र कविः करोति प्रस्तावनां या खलु 'आङ् ईषदर्थे वे'ति ईषन्मुखमामुखमिति यथार्थं नामान्तरं लभते मुखसन्धेर्नाटकस्य सूक्ष्मसूचनादित्यलं विस्तरेण ।

ततः प्रविशति मुक्तां शिखां परामृशन्निति—नन्दविनाशप्रतिज्ञाकाले या शिखा

(उसके बाद खुली हुई अपनी शिखा का स्पर्श करते हुये चाणक्य का रङ्गमंच पर प्रवेश)

चाणक्यः—कथय, क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति बलात् ?—

आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां
सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य ।

मुक्ता या च चन्द्रगुप्तराज्यप्रतिष्ठापनानन्तरं बद्धा सैव राक्षसकरिष्यमाणास्कन्दनादिप्रतीकाराय पुनरपि मुक्तेति तां स्पृशमिति भावः। कुपितस्य चाणक्यस्य शिखापरामर्शो योऽनुभावो यश्च कविस्तृतीयाङ्केऽपि प्रसङ्गान्तरे यथा—

'शिखां मोक्तुं बद्धामपि पुनरयं धावति करः
प्रतिज्ञामारोढुं पुनरपि चलत्येष चरणः ।
प्रणाशान्नन्दानां प्रशममुपयातं त्वमधुना
परीतः कालेन ज्वलयसि मम क्रोधदहनम् ॥'

इत्यत्र न विस्मरति सर्वसाधारण एव कश्चन चरितनायकस्यैतन्नाटकस्य लोकोत्तरतामनुभावयितुमुत्प्रेक्षित उदात्तश्च कविनेति विभावनीयं सुधीभिः।

कथय क एष इति—अत्र कथयेति न पात्रान्तरं प्रति सम्बोधनमाक्षिपति स्वगतभाषणत्वाच्चाणक्यवचसः। राक्षसमाक्रमणकारिणं सम्भाव्य संजातामर्षस्य निश्चितकर्तव्यजातस्य च चाणक्यस्य कमपि निवेदयितारं पुरुषमन्यमपश्यतो यदिदं कथयेति वचस्तत्तु राक्षसकृतोपद्रवादिप्रतीकारभावनायाः काष्ठामधिरूढाया अभिव्यञ्जकमित्युपात्तं कविना। अत्र चाऽकस्मादुपनतेन राक्षसकृतोत्पातादिचिन्तनेन चाणक्यमनस्संक्षोभरूप आवेगो व्यभिचारिभावोऽपि सुष्ठु प्रतीतिपथमानीतस्सामाजिकानामिति साधीयसी कवेर्वाक्यविन्यासरीतिः।

चाणक्ये जाग्रति चन्द्रगुप्तस्याभिभवोऽशक्यकरणीय इति मनसि निश्चिन्वानस्य चाणक्यस्यामर्षपरिवाहिनीयमुक्तिः—

आस्वादितद्विरदशोणितेत्यादिरूपा। अयि हृदय! शत्रुकृतास्कन्दनसम्भावनाकारिन्! ननु कथय कोऽस्ति स साहसिको यः खलु जृम्भाविदारितमुखस्य जृम्भया शरीरस्वभावभूतयाऽऽस्यव्यादानात्मकक्रियया नतु परकृतेन खलीकारेण विदारितं मुखं यस्य तथाभूतस्य हरेस्सिंहस्य जीवान्तराणां प्राणहारिणो मृगराजस्य मुखाद्विकरालादास्यकुहरात् स्फुरन्तीं कत्र कयापि कान्त्या प्रदीप्त्या वा प्रकाशमानामथचास्वादितद्विरदशोणितशोणशोभामर्थादास्वादितं संपीतं यद् द्विरदशोणितं दन्ताव-

---

चाणक्य—अरे! कौन है जो मेरे रहते चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने का दम भरता है।

'कौन है जो सोकर उठे, जंभाई लेते शेर को दबा कर उसके मुंह से उसकी

जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात्स्फुरन्तीं
को हर्त्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम् ॥ ८ ॥

लस्य गजराजस्य सद्योनिपातितस्य रक्तं तेन शोणा रक्तरक्ता शोभा कान्तिर्द्युतिर्वा यस्यास्तामिति तत एव कृत्वा च सन्ध्यारुणं संध्यया सांध्यरागोपद्रवकारिण्या सूर्यास्तमनवेलयाऽरुणां रक्तवर्णीकृतां महासंक्षोभव्यञ्जिकां शशलाञ्छनस्य प्रशान्तस्वभावस्यापि तारकाधिपतेश्चन्द्रस्य कलामिव मुखकान्तिमिव स्फुरन्तीं विजृम्भमाणां तस्य दंष्ट्रां तमेव हरिं परिभूय पराजित्य हर्तुमिच्छति समुत्पाटयितुं समीहमानश्चेष्टत इति भावः ॥ ८ ॥

टिप्पणी—(१) वाच्यार्थोऽत्र न स्वविश्रान्तोऽपि तु व्यङ्ग्यमर्थमुपस्थापयितुं निबद्धः। व्यङ्ग्यस्वरूपं त्विदम्—चाणक्यस्य मम परिश्रमविनोदायैव शिथिलीकृतनीत्युद्यमस्य जीवतोऽपि खलु चन्द्रगुप्तविजयश्रियं विनाशितनन्दवैभवां सर्वापत्प्रशमनसमर्थामप्यभिषेणयितुं योऽयं दुःसाहसिको दुष्टामात्यः समुत्सहते सुतरामसमीक्ष्यकारी स दुरात्मा स्वविनाशमेव समीहत इति।

(२) अत्र रसीभवन्तमुत्साहरूपं स्थायिभावं प्रति विशेषेणाभिमुख्येन चरन्नमर्षरूपो व्यभिचारिभावस्सुतरामभिव्यक्तिपथमानीतः नाटककविना। एतदभिव्यञ्जनं च नायकचरितचर्चया। नायकचरितेऽत्र महाव्यसनेऽप्यकातर्यरूपं धीरत्वं नीतिशौर्यादिदर्परूपमुद्धतत्वं च द्योतितं कविना। एतदपि न साक्षात् स्वकृतवर्णनादिना किन्तु चन्द्रगुप्तविषयकविनिपातचिन्तनादिजन्यतत्तत्करिष्यमाणप्रतीकाराभिमानसम्बन्धिवृत्तोद्घाटनादिति संश्लिष्टाऽत्र वृत्तचरित-रसवर्णना सुतरां स्वदते सामाजिकेभ्य इति नाट्यकौशलं कवेर्विजृम्भते किमपि।

(३) अत्र 'कथय क एष मयि स्थित' इत्याद्यारभ्य मुखसन्धिं निबध्नाति कविर्यल्लक्षणं यथोक्तं नाट्यदर्पणकृता—

'मुखं प्रधानवृत्तांशो बीजोत्पत्तिरसाश्रय' इति।

यस्यायमाशयो यत्प्रारम्भोपयोगी यावानर्थराशिः प्रसक्तानुप्रसक्त्या विचित्ररससन्निवेशस्तावान् मुखसन्धिरिति।

ननु सन्धिरेव किमिति चेत्? नाटकीयेतिवृत्तस्य भागानां परस्परं स्वरूपतोऽङ्गाङ्गिभावतश्च सन्धानमेव सन्धिरिति। इतिवृत्तञ्च नायकादिचरितचर्यारूपमेव। चरितवर्णनञ्च हृदयाविष्करणरूपमान्तरं तदनुगततत्तद्वृत्तप्रवर्त्तनरूपञ्च बाह्य-

---

उन चमकती दाढ़ों को उखाड़ना चाहता है जिन में मार कर पीये गये गजराज के रक्त की लाली रह २ कर झलक रही है और जो संध्या की लाली से लाल लाल चन्द्रमा की कला सी दिखाई दे रही हैं' ॥ ८ ॥

अपि च—

नन्दकुलकालभुजगीं कोपानलबहललोलधूमलताम् ।

मिति द्विविधम् । यत्तदान्तरं तद्धि नायकादेः प्रारम्भादीनामवस्थानां वर्णनया यच्च बाह्यं तत्तु तदनुगतानां मुख्यसाध्यं प्रति सहायकानामर्थप्रकृतीनां बीजादीनामितिवृत्तार्थप्रपञ्चनोपायानां यथायथं समुपन्यासविधयेति ।

अत्र खलु नाटके चरितनायकस्य चाणक्यस्य राक्षसवशीकाररूपं प्रधानफलं प्रति व्याप्रियमाणस्य काय–वाङ्–मनसां व्यापाराणामन्यतम आरम्भाख्यः फलप्राप्त्युपायौत्सुक्यरूपस्तदनुगततत्तत्कर्त्तव्यजातरूपश्च व्यापारः प्रथमाङ्के सुतरामुन्मीलितः कविना । अस्यामारम्भावस्थायां चाणक्यस्य चन्द्रगुप्तविनिपातप्रतीकारसिद्धयर्थं तत्तत्कूटनयचिन्तनतत्तत्परपक्षोपजापकारिगूढपुरुषादिनियोजनादयो व्यापारास्सहायकानां सिद्धार्थकादीनां कूटलेखादिसम्पादनादिरूपैर्व्यापारैः परस्परं संश्लिष्टाः नाटकस्यास्य पुरुषकारप्राधान्यं निकाममुन्मीलयन्ति । एवमारभमाणस्य फलसिद्धिं हस्तस्थितां विमृशतो दैवमकिञ्चित्करं मन्यमानस्य नायकस्य मुख्यफलसाधनीभूतेष्वर्थप्रकृतिनामधेयेष्वितिवृत्तार्थोपायेषु य उपाय उपनिबद्धो नाटककृता स तु बीजरूपो यल्लक्षणं यथा परिभाषितं नाट्यदर्पणकारेण—

'स्तोकोद्दिष्टः फलप्रान्तो हेतुर्बीजं प्ररोहणात्' इति ।

यत्स्वरूपं यथा विमृष्टं तेनैव—

'क्वचिद् व्यसनोपनिपाते तन्निवृत्त्युपक्रमरूपम् ।'

यथा मुद्राराक्षसे चाणक्यः—

'आः ! क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति ?

नन्दकुलकालभुजगीं' कोपानलबहललोलधूमलताम् ।

अद्यापि बध्यमानां वध्यः को नेच्छति शिखां मे ।

इत्यादी'ति ।

इत्थं प्रारम्भोपयोगी' बीजोत्पत्तिक्षेत्रभूतः प्रथमाङ्कनिरूपितो नाटकनिबन्धनीयः रसाश्रयो योऽर्थराशिस्स मुखसन्धिरस्य नाटकस्येति सर्वमनवद्यम् ।

राक्षसकृतोत्पातादिचिन्तनेन संक्षुभितमनाश्चाणक्यश्शत्रुपक्षं पुर इव परिस्फुरन्तं तर्जयन्नाह—नन्दकुलेति । नन्दकुलस्य नन्दवंशस्य कालभुजगीं 'कालरूपिणीं' सर्पिणीमिव स्थितां, नन्दकृते संक्षोभे यया हि नन्दान्वय एव दष्टो विनाशितश्च तां तथाभूतामथ च कोपः क्रोध एवानलोऽग्निस्तस्य बहला घनीभूता चासौ लोला व्यापादिका च या धूमलता धूमसंततिस्तामिव स्फुरन्तीं मे मम शिखामिमां ननु

'अरे ! वह कौन है जो अपनी मौत अपने आप बुला रहा है और कभी की बंध चुकने वाली मेरी इस शिखा को अरे ! नन्दवंश की इस काल सर्पिणी को,

अद्यापि बध्यमानां वध्यः को नेच्छति शिखां मे ? ॥ ९ ॥

अपि च—

उल्लङ्घयन् मम समुज्ज्वलतः प्रतापं
कोपस्य नन्दकुलकाननधूमकेतोः ।
सद्यः परात्मपरिमाणविवेकमूढः

को वध्यो हन्तुं योग्यो दुराचारोऽद्याप्यस्मिन्नपि समये यदा महद्भ्योऽपि महीयान् रिपुर्विनाशितो यदा वा मत्प्रतापो लोके सर्वत्र एव प्रज्वलित एव दृश्यते तदा वध्यमानां वद्धमुपक्रम्यमाणां नेच्छति नाभिवाञ्छतीति ॥ ९ ॥

टिप्पणी—(१) अत्र रूपकालङ्कारं निबध्नाति कविः। रूपकलक्षणं यथोक्तं काव्यप्रकाशे-तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोरिति । अत्र हि शिखाकालभुजग्योः, शिखा-धूमलतयोश्चानपह्नुतभेदयोर्योऽभेदारोपः कविकल्पनाकृतस्सहृदयभावनाभाव्यश्च स एव सूक्तेरस्याश्शोभाधायक इत्यलङ्कारत्वेन व्यपदिश्यते। पूर्वत्र कालभुजगीत्वारोपेण नन्दवंशक्षयो भूतपूर्वो निवेदितः, उत्तरत्र धूमलतात्वारोपेण तु करिष्यमाणसर्वविधापकारिसंहारस्सूचयितुमिष्ट इत्युभयमुपाददानो नाटककृत् किमपि विचाररमणीयमौचित्यमाविष्करोत्यलङ्कारयोजनस्यास्येति ।

(२) अत्रानुल्लिखितलक्षणः कोऽप्यनुप्रासः कोपानलवहललोलधूमलतामिति पदस्य स्वरणसरण्या सूचितः शिखाभुजग्याः वैरनिर्यातनार्थं प्रसर्पणादि व्यनक्ति ससंरम्भमिति संदृब्धः कविनेति ।

(३) अत्र वीररसस्पृशो व्यभिचारिभावस्य 'आवेगः संभ्रमोऽतर्क्याद् विकर्ताऽङ्ग-मनो-गिरा'मिति लक्षितस्यावेगाख्यस्य स्वरूपं यदुन्मीलयत्ति कविर्यच्च नायकं प्रज्वलितवीर्यं सामाजिकधियि प्रवेशयति तदतीव विमर्शचार्विति संतोष्टव्यं सुधीभिः ।

विराध्यतां सर्वेषां संहारं प्रतिजानानश्चाणक्यो वक्ति—उल्लङ्घयन्नित्यादि ।

नन्दकुलमेव काननं तस्य धूमकेतोर्दावाग्नेर्भस्मीकृतनन्दवंशस्य समुज्वलतो न प्रशमितस्यापितु प्रज्ज्वलमानस्य मम कोपस्य क्रोधस्य प्रतापं प्रखरदाहमुल्लङ्घयन्नतिक्रमिष्यन् ननु कः कोऽसौ परात्मपरिमाणविवेकमूढः परस्यात्मनश्च यत् परिमाणं तारतम्यं तस्य यो विवेको विमर्शस्तत्र मूढो मुग्धमतिः शून्यबुद्धिर्वा साहसिको

मेरी क्रोधाग्नि की इस चपल-चञ्चल धूमलता को, अभी भी बंधती हुई नहीं देखना चाहता !' ॥ ९ ॥

अरे ! पराये और अपने बलाबल के विचार से सर्वथा शून्य वह कौन है जो नन्दवंश की दावाग्नि इस धधकती मेरीं क्रोधाग्नि की भयङ्कर लपटों को लांघ

कः शालभेन विधिना लभतां विनाशम् ॥ १० ॥

शार्ङ्गरव शार्ङ्गरव !

शिष्यः—(प्रविश्य) उपाध्याय ! आज्ञापयतु ।

यश्शालभेन विधिना शलभरीत्या सद्यो विनाशं लभताम् झटित्येव क्रोधाग्निज्वालया दाह्यतामिति भावः ॥ १० ॥

टिप्पणी—(१) परात्मपरिमाणविवेकमूढ इत्यत्र परात्मनोर्यः परिमाणो यस्य खलु विवेको वाऽभिप्रेतस्स तु कौटिलीयेऽर्थशास्त्रेऽभियास्यत्कर्मनिर्वर्णनाधिकारे प्रपञ्चितो यथा विजिगीषुरात्मनः परस्य च बलाबलं शक्तिदेशकालयात्राकालबलसमुत्थानकालपश्चात्कोपक्षयव्ययलाभापदां ज्ञात्वा विशिष्टबलो यायादन्यथाऽऽसीते' त्यादि । अत्राऽभियास्यतो राक्षसस्य तथाभियानदुर्विवेकित्वरूपं दुःसाहसिकत्वं निश्चितविनाशत्वञ्च सुनिपुणं द्योतयति वाक्यमिदम् ।

अत्र विषये कामन्दकेऽपि विवेचितम्—

'आत्मानं च परं चैव ज्ञात्वा धीरः समुत्पतेत् ।
एतदेव हि विज्ञानं यदात्मपरवेदनम् ॥' इति ।

अन्यत्र च प्रपञ्चितम्—

नाग्निं पतङ्गवद् गच्छेत् स्पृश्यमेव हि संस्पृशेत् ।
किमन्यत्स्यादृते दाहात्पतङ्गस्याग्निमृच्छतः ॥ इति ।

(२) अत्रापि रूपकमेव कविर्विचारपूर्वकमुपन्यस्तवान् । 'कोपस्य नन्दकुलकाननधूमकेतो' रिति वाचोयुक्तौ कोपे धूमकेतुत्वारोपो नन्दकुले काननत्वारोपनिमित्तभूत इति कृत्वा परम्परितभेदोऽत्र रूपकालङ्कारो यल्लक्षणं यथोक्तं काव्यप्रकाशकृता—

'नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः ।
तत् परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदवाचि वा ॥' इति ।

वाचकस्याऽश्लिष्टत्वात्परम्परितरूपकस्याऽश्लिष्टशब्दनिबन्धनताऽत्र विचार्यकृता, श्लिष्टत्वे कविवर्णनावैदग्ध्यस्यैव कारणत्वादश्लिष्टत्वे तु नायकहृदयसंरम्भप्रकाशनैकपरत्वादिति निपुणं निरूपणीयं सुधीभिः ।

(३) परम्परितेन रूपकेणात्र नायकस्य चाणक्यस्य वीरभावो केनाप्यौग्र्येण व्यक्तीकृतः । औग्र्यं तु यथा निरूपितं नाट्यदर्पणकृता—

'दुष्टेऽपराधान्नैर्घृण्यमौग्र्यं बन्धवधादिभि' रिति ।

रहा है और कीड़े की मौत मरना चाहता है ! ॥ १० ॥

शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !!

शिष्य (शार्ङ्गरव)—(रङ्गमञ्च पर आकर) उपाध्याय ! क्या आज्ञा है ।

चाणक्यः—वत्स ! उपवेष्टुमिच्छामि ।

शिष्यः—उपाध्याय ! ननु इयं सन्निहितवेत्रासनैव द्वारप्रकोष्ठशाला, तदस्यामुपवेष्टुमर्हत्युपाध्यायः ।

चाणक्यः—वत्स ! कार्याभिनियोग एवास्मानाकुलयति, न पुनरुपाध्यायसहभूः शिष्यजने दुःशीलता । (नाट्येनोपविश्यात्मगतम्)। कथं प्रकाशतां गतोऽयमर्थः पौरेषु, यथा किल 'नन्दकुलविनाशजनितरोषो राक्षसः पितृवधामर्षितेन सकलनन्दराज्यपरिपणनप्रोत्साहितेन पर्वतकपुत्रेण मलयकेतुना सह सन्धाय तदुपगृहीतेन च महता म्लेच्छराजेन परिवृतो वृषलमभियोक्तुमुद्यत' इति । (विचिन्त्य) अथ वा येन मया सर्वलोकप्रकाशं नन्दवंशवधं प्रतिज्ञाय निस्तीर्णा दुस्तरा प्रतिज्ञासरित्, सोऽहमिदानीं प्रकाशीभवन्तमप्येनमर्थं न समर्थः किं प्रशमयि-

---

सकलनन्दराज्यपरिपणनप्रोत्साहितेनेति—परिपणनमिति । सन्धीनामन्यतमस्य प्रकारस्य वचनम् । यथोक्तं कौटिलीयेऽर्थशास्त्रे-लाभसाम्ये संधिः । सन्धिः परिपणितश्चापरिपणितश्चेत्यादि ।

चाणक्य—वत्स ! कहीं बैठना चाहता हूँ ।

शिष्य—उपाध्याय ! कुटी की इस द्वारप्रकोष्ठशाला में बैठ गये होते जहां कभी से वेत्रासन बिछा पड़ा है ।

चाणक्य—वत्स ! ऐसा न सोचना कि शिष्यजन के प्रति तुम्हारे उपाध्याय में कोई जन्म-सिद्ध रूखापन रहा करता है । कभी २ कार्यव्यग्रता से ही कुछ व्याकुल हो जाया करता हूँ । (बैठने का अभिनय करते हुये-मन ही मन) तो क्या (पाटलिपुत्र के) नागरिक भी यह जान गये कि नन्दवंश के विनाश से विक्षुभित हृदय (महामात्य) राक्षस पितृवध से क्रोधान्ध किं वा (हमसे उसके प्रतिशोध के बदले) समस्त नन्द-साम्राज्य के स्वामित्व-प्रदान की शर्त से उकसाये गये पर्वतपुत्र मलयकेतु से जा मिला है और उसके द्वारा संहत पर्वतीय राजाओं की विशाल वाहिनी के साथ चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने के लिये उद्यत है । (कुछ सोचते हुये) कोई बात नहीं, जब कि मैंने सारे संसार को देखते रहते नन्दवंश-वध की इतनी दुस्तर अपनी प्रतिज्ञा नदी तैर डाली, तब मेरे लिये अभी २ लोगों की दृष्टि में आयी-न-आयी इस बात को दबाना क्या है ! मैं

तुम् ? इति । कुत एतत् ? यस्य मम—

श्यामीकृत्याननेन्दून् रिपुयुवतिदिशां सन्ततैः शोकधूमैः
कामं मन्त्रिद्रुमेभ्यो नयपवनहृतं मोहभस्म प्रकीर्य ।
दग्ध्वा सम्भ्रान्तपौरद्विजगणरहितान् नन्दवंशप्ररोहान्
दाह्याभावान्न खेदाज्ज्वलन इव वने शाम्यति क्रोधवह्निः ॥ ११ ॥

चाणक्यस्स्वमन्त्रपराक्रमं मनसि निर्धार्य शत्रुवर्गं सम्मुखमिवापतन्तं प्रधर्षयन्नाह—श्यामीकृत्याननेन्दूनित्यादि । तिष्ठत साहसिकाश्शूरमानिनः ? किं न पश्यथ यन्मम भवदभियानविषयस्य क्रोधवह्निः क्रोध एव वह्निः कोपाग्निः सन्ततैः समन्तात् सर्वं व्याप्नुवानैश्शोकधूमैश्शोकाः प्रियकरणादिरूपाः क्लेशभावा एव धूमास्तैः रिपुयुवतिदिशां रिपूणां नन्दानां नन्दवंशीयानां वा या युवतयः प्रियाः दाराः ता एव दिशः सर्वाः काष्ठास्तासामाननेन्दून् मुखान्येव चन्द्रास्तान् श्यामीकृत्य पूर्वमश्यामान् प्रभामयानधुना श्यामान् निष्प्रभान् कान्तिरहितान् कृत्वा, अथ च नयपवनहृतं नयोऽन्योन्यसंचरिष्णुः षाड्गुण्यप्रयोगरूपो यो राजनयस्स एव पवनो वायुस्तेन हृतमितस्ततः उह्यमानमेकत्रीकृतं वा मोहभस्म मोहः स्वात्मपरिमाणविवेकाभाव एव यद् भस्म तन् मन्त्रिद्रुमेभ्यः मन्त्रिणो नन्दराज्यमन्त्रशक्तिधरा अमात्या एव द्रुमाः वृक्षास्तेभ्यः प्रकीर्य्य विक्षिप्य, किं बहुना, सम्भ्रान्तपौरद्विजगणरहितान् संभ्रान्ताः व्याकुलीभूताः ये पौराः पाटलिपुत्रीयाः प्रकृतिवर्गास्त एव द्विजगणाः पक्षिसंघास्तैः रहितान् सुतरां परित्यक्तान् नन्दवंशप्ररोहान् नन्दवंश एव वंशो वेणुस्तस्य प्ररोहा एव प्ररोहास्तांश्च दग्ध्वा वने ज्वलन इव दाववह्निरिव संप्रति यच्छाम्यति विरमति तन्न खेदात् न दाहशक्तेः क्षीणभावत्वादपि तु दाह्याभावात्

इसे भी कर दिखाऊंगा ।

अरे ! मेरी यह, 'क्रोधाग्नि, जिसने प्राण बचाने के लिये पक्षियों की भांति भाग खड़े होने वाले पाटलिपुत्र के कतिपय नागरिकों और ब्राह्मण देवों को छोड़ कर, नन्द-वंश के अङ्कुरों तक को जला कर राख कर दिया, जिसके (विध्वंस-जनित) शोक की घनीभूत धूमराशि ने सर्वत्र दिशाओं की भांति व्याप्त शत्रुनारियों के चन्द्र-मुख काले कर दिये, और जिसने विशाल वृक्षों की भांति अडिगे खड़े नन्द-मंत्रियों के ऊपर एक झंझा सरीखी कूटनीति के झकों से किंकर्त्तव्यविमूढ़ता का भस्म-पुञ्ज बिखेर डाला, वह भला बुझी कहाँ ! वह तो जंगल की आग की तरह यदि अभी नहीं जल रही है तो इसी लिये कि जलाने की कोई वस्तु नहीं बची है, न कि इसलिये कि उसकी दाहकता क्षीण हो गयी है' ॥ ११ ॥

शोचन्तोऽवनतैर्नराधिपभयात् धिक्शब्दगर्भैर्मुखै-
र्मामग्र्यासनतोऽवकृष्टमवशं ये दृष्टवन्तः पुरा।
ते पश्यन्ति तथैव सम्प्रति जना नन्दं मया सान्वयं

दाह्यस्य वस्त्वन्तरस्यैवाविद्यमानत्वात्? किन्तु यदि दाह्यानि भवत्संघरूपवस्तूनि स्वयमुपनमन्त्येनं नङ्क्ष्यत्येव निश्चितमित्यभिप्रायः॥ ११॥

टिप्पणी—(१) अत्र साङ्गरूपकं कामपि महतीं शोभां बिभर्ति। साङ्गरूपकं यथा लक्षितं मम्मटाचार्यैः—

'समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा।
श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्ति तत्॥
साङ्गमेतत्॥' इति।

अत्रारोप्यमाणानां वह्नि-धूम-द्रुम-पवन-भस्म-वंशानां कोप-शोक-मन्त्रि-नय मोह-नन्दान्वयानाञ्चारोपविषयाणां सर्वेषां स्वशब्दप्रतिपाद्यत्वादुपमानोपमेययोरभेदमूलं यद्रूपकं तस्य च यत्साङ्गत्वं तेनैव कवेरभिप्रायविशेषस्य कृततत्तत्कर्मणः करिष्यमाणान्यसमस्तकर्मणश्च चाणक्योत्साहस्य सुखाभिव्यक्तिरिति तदेव समीक्ष्य विनिवेशयति कविः।

(२) अत्र चाणक्यहृदयेन संवदन्ति सामाजिकहृदयानि कमपि प्राप्तप्रकर्षमुत्साहमास्वादयन्ति।

(३) चाणक्ये नाटकस्यास्य नेतरि क्षेपादेरसहिष्णुत्वरूपस्य तेजसः, विघ्नेऽप्यचलनत्वरूपस्य स्थैर्यस्य च निकामं प्रकाशनं करोति कविः।

क्रोधावेशेन विस्मृतस्वकृतनन्दविनाशकृत्यः 'नन्दानुच्छेत्तुं प्रतिज्ञां कुर्वन्नाह चाणक्यः—शोचन्तोऽवनतैरित्यादि। ये जनाः पुरा पूर्वस्मिन् काले नराधिपभयात् नराधिपान्महाराजान्नन्दाद्भयं तस्माद्धेतोरवनतैर्नम्रीकृतैर्धिक् शब्दगर्भैः नन्द धिगिति शब्द उत्क्रोशध्वनिर्गर्भे येषां तैस्तथाभूतैर्मुखैरुपलक्षिताश्शोचन्तश्शोकं कुर्वन्तस्सन्तोऽग्र्यासनतो यज्ञीयादासनादवकृष्टं सनिकारमुत्थापितं प्रच्यावितं वा मां चाणक्यमवशं प्रतीकारासमर्थं दृष्टवन्तोऽवलोकितवन्तस्त एव सम्प्रतीदानीं' सद्य एव सान्वयं नन्दं सवंशवंशीयं नन्दनराधिपं सिंहेनाद्रिशिखरात् पातितं गजेन्द्र-

---

'वे लोग, जिन्हों ने कभी अपने महाराज के डर से मुंह झुकाये हुये और (महाराज के लिये) अपने मुंह से बाहर निकलने वाले 'धिक्कार' के शब्द को मुंह में ही छिपाये मुझे विवश किये जाकर यज्ञासन से हटाये जाते देखा हो, अभी २ उसी प्रकार देख लें कि जैसे गजराज पहाड़ की चोटी से सिंहों के द्वारा नीचे पटक दिया जाता है वैसे ही (नये बनने वाले) सपरिवार नन्द-सम्राट्।

सिंहेनेव गजेन्द्रमद्रिशिखरात् सिंहासनात् पातितम् ॥ १२ ॥

सोऽहमिदानीमवसितप्रतिज्ञाभरोऽपि वृषलापेक्षया शस्त्रं धारयामि ।

येन मया—

समुत्खाता नन्दा नव हृदयरागा इव भुवः

कृता मौर्ये लक्ष्मीः सरसि नलिनीव स्थिरपदा ।

मिव सिंहासनाद्राजासनात् मया पातितं तथैव निरुपायं निष्प्रतीकारं च सन्तं पश्यन्ति द्रक्ष्यन्तीति भावः ॥ १२ ॥

टिप्पणी—(१) अत्रोपमानोपमेययोस्सिंहचाणक्ययोः पातनरूपसाधारणधर्मस्यौपम्यवाचिन इव शब्दस्य चोपादानाच्छ्रौती पूर्णोपमा या निबद्धा नाटककृता सा तु प्रसङ्गानुरूपैव । पूर्णोपमया चित्रितेऽत्र द्वे चित्रे । पूर्वं यत्तु मृगराजस्य गजेन्द्रमद्रिकूटात्पातयितुर्यच्चापरं तद्धि चाणक्यस्य सान्वयं नन्दं सिंहासनात् प्रच्यावयितुः । इमे द्वे स्पष्टं पश्यतां समाजिकानां भवति कश्चन प्रत्येकं चित्रयोर्भावाभिनिवेशो यत् प्रतीतेः परस्परं तयोरौपम्यप्रतीतौ किमप्यलौकिकं रौद्रत्वं प्राकरणिकाप्राकरणिकयोः प्रतीतिविषयीभवति ।

(२) अत्र क्रोधरूपः स्थायिभावो रसात्मना परिणममानो वीररसमेवाङ्गिनमुपस्कुर्वन् विभाव्यते समास्वाद्यते च सहृदयैः । धाराधिरूढोऽत्र रसो वीर एव यस्य नैरन्तर्येण पुनः पुनः परामर्शं मालतीमाल्यस्य मर्दनमिव चिन्तयन् कविर्मध्ये रौद्रभङ्गतयोद्दीपयति । रसप्राणो नाट्यविधिः । रससिद्धश्चायं नाटककविरिति सर्वं समञ्जसम् ।

शस्त्रं धारयामीति तु उद्योगं करिष्ये । क्रोधं संहरन्नायकश्चाणक्यः कर्तव्यजातं पूर्वकृतं स्मरन्नात्मप्रसादं प्राप्नुवन्नाह—

समुत्खाता नन्दा इति । येन मया चाणक्येन नव नन्दाः भुवः पृथिव्याः हृदयशल्या इव हृदये मर्मणि प्रविष्टाशङ्कवो यथा समुत्खाताः समूलमुन्मूलिताः, येन मया चाणक्येन मौर्ये चन्द्रगुप्ते लक्ष्मीः राज्यश्रीः सरसि नलिनीव स्थिरपदा निश्चल-

---

(वस्तुतः राक्षस के साथ मलयकेतु) मेरे द्वारा सिंहासन से नीचे गिरा दिये जाते हैं या नहीं !' ॥ १२ ॥

मेरी प्रतिज्ञा तो कभी पूरी हो चुकी थी, किन्तु अब मैं चन्द्रगुप्त के लिये अपनी नीति की मार-काट मचा डालूंगा ।

अरे ! मैंने क्या नहीं किया है ! इस पृथिवी के हृदय-शूल सरीखे एक के बाद एक नवों नन्दों को उखाड़ फेका है ! अपने चन्द्रगुप्त में राजलक्ष्मी को

द्वयोः सारं तुल्यं द्वितयमभियुक्तेन मनसा
फलं कोपप्रीत्योर्द्विषति च विभक्तं सुहृदि च ॥ १३ ॥

अथवा, अगृहीते राक्षसे किमुत्खातं नन्दवंशस्य ? किं वा स्थैर्य्यमुत्पादितं चन्द्रगुप्तलक्ष्म्याः ? (विचिन्त्य) अहो ! राक्षसस्य नन्दवंशे निरतिशयो भक्तिगुणः, स खलु कस्मिंश्चिदपि जीवति नन्दान्वयावयवे, वृषलस्य साचिव्यं ग्राहयितुं न शक्यते । तदभियोगं प्रति निरुद्योगोऽस्माभिरवस्थापयितुं शक्य इति अनयैव बुद्ध्या तपोवनगतोऽपि घातित-

---

स्थितिः कृता विहिता, येन च मयाऽभियुक्तेन मनसा महता स्वमनोऽभिनिवेशेन, न तु यथाकथञ्चिदिति शेषः, द्वयोः कोपप्रीत्योः क्रोध-प्रसादयोस्तुल्यं परस्परं सदृशं द्वितयं द्विविधं सारं न्याय्यं फलं निग्रहानुग्रहरूपं द्विषति शत्रौ सुहृदि मित्रे च विभक्तं विभज्य स्थापितमिति भावः । सोऽहमिदानीं शस्त्रमुद्योगं धारयिष्यामीति पूर्ववाक्येनान्वयः ॥ १३ ॥

टिप्पणी—(२) अत्र स्थायिन उत्साहस्य पोषकत्वेन धृतिरूपो व्यभिचारिभावस्तथाऽङ्कितो व्यञ्जितश्च यथाऽन्यान् सरभसमाक्षिपन् कमपि रसपरिपोषं जनयति ।
(२) चाणक्यस्य चरितवर्णनायां तद्द्वारा वीररसाभिव्यञ्जने या कार्यारम्भरूपाऽवस्थोन्मीलनाय प्रारब्धा नाटककृता यदनुकूलश्च नन्दसेवासक्तराक्षससंग्रहरूपस्य वृत्तप्रपञ्चनोपायस्य बीजस्योपक्षेपः 'आः क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति बला' दित्यादिना पूर्वमेव कृतस्तस्यैवात्र 'सोहमिदानीं वृषलापेक्षया शस्त्रं धारयामी' त्यादिना परिकरः बहुलीकारो विधीयते । बीजन्यासः सुविचार्य कृतस्स्वभावत एवाङ्कुररूपतया कमपि बहुलीभावमायातोऽत्र दृश्यते ।

किसी सरोवर में कमलिनी की भांति स्थिरमूल बना डाला है ! क्यों न हो, अपने शत्रु को अपने क्रोध और अपने मित्र को अपने प्रेम—दोनों को दोनों का बराबर २ महाफल भी तो पूरे मनोयोग से मेरे ही द्वारा बांटा जा चुका है ; ॥ १३ ॥

ओह ! किन्तु जब तक राक्षस मेरी पकड़ में न आजाय, तब तक नन्द-वंश का भी मैंने क्या बिगाड़ दिया ! और चन्द्रगुप्त की राजलक्ष्मी को भी क्या स्थिर कर लिया । (कुछ सोचते हुये)

ओह ! राक्षस की भी नन्दवंश में कितनी बड़ी भक्ति है कि नन्दवंश अथवा उसके लगुवे-भगुवों के भी रहते चन्द्रगुप्त का सचिव उसे कभी बनाया ही नहीं जा सकता । अब जब कि मैंने उसे नन्द-भक्ति के प्रति उसके दृढ आग्रह से विरत रखने के लिये तपोवन में भी भाग जाने वाले बेचारे नन्द-वंशी सर्वार्थ

स्तपस्वी नन्दवंशीयः सर्वार्थसिद्धिः, यावदसौ मलयकेतुमङ्गीकृत्याऽस्म-दुच्छेदाय विपुलतरं प्रयत्नमुपदर्शयत्येव। (प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा) साधु, अमात्य राक्षस ! मन्त्रिबृहस्पते ! साधु। कुतः ?—

ऐश्वर्यादनपेतमीश्वरमयं लोकोऽर्थतः सेवते
तं गच्छन्त्यनु ये विपत्तिषु पुनस्ते तत्प्रतिष्ठाऽऽशया।
भर्त्तुर्ये प्रलयेऽपि पूर्वसुकृतासङ्गेन निःसङ्गया
भक्त्या कार्यधुरां वहन्ति कृतिनस्ते दुर्लभास्त्वादृशाः ॥ १४ ॥

मन्त्रयुद्धमेव राक्षसवशीकारसाधनं निर्धारयन् राक्षसं स्तुवन्नाह चाणक्यः—ऐश्वर्यादनपेतमिति। मन्त्रिबृहस्पते ! राक्षस ! ते त्वादृशाः कृतिनः कृतराजकृत्याः पवित्रितमन्त्रिपदा महान्तो दुर्लभा दुष्प्रापा ये भर्तुस्स्वामिनः प्रलये विनाशेऽपि पूर्वसुकृतासङ्गेन पूर्वं पुराकृतं स्वामिनो यत्सुकृतं वृद्धदर्शित्वकृतज्ञत्वाविसंवादकत्वाद्याभिगामिकगुणकृत्यं तस्याऽसंगेन रूढसंस्कारतयाऽविस्मरणेन हेतुना निस्सङ्गया फलासक्तिरहितया कर्मबुद्ध्यैव कृतया भक्त्या राज–राज्यसेवया कार्यधुरां वहन्ति राज्यप्रतिष्ठापनादिरूपं कार्यभारं वोढुं सततं चेष्टन्ते। लोकोत्तरमिदं भवता आचरितम्। यतो ह्ययं लोकः साधारणो जनस्सर्व एवैश्वर्यादनपेतं प्रभुत्वादप्रच्युतमीश्वरं राजानं स्वामिनं वाऽर्थतस्स्वप्रयोजनसिद्धयै स्वफलाशायै सेवते परिचरति, ये पुनः कियन्तो जनाः विपत्तिषु विपत्तिकालेषु समापन्नेषु तं राजानं स्वामिनं वाऽनुगच्छन्ति तद्दुःखदुःखिनस्सन्तोऽनुवर्तन्ते तेऽपि हन्त ! न निःस्वार्थ-

---

सिद्धि को मरवा डाला है तब भी वह मलयकेतु का सहारा लेकर हमारी जड़ खोदने के लिये एक के बाद एक अनेकों चालें चलता ही जा रहा है। (मानों शून्य में राक्षस को ही एक टक देखते हुए) धन्य हो महामात्य राक्षस तुम धन्य हो। क्यों कि,

'तुम सरीखे कर्मवीर सेवक विरले ही हो सकते हैं जो अपने स्वामी के मर चुकने पर भी केवल उसकी अतीत पुण्य-स्मृति के ही लिये अपनी निःस्वार्थ राजभक्ति से उसीका कार्य करते चले जाते हैं। वैसे तो और भी लोग सेवा किया करते हैं किन्तु या तो वे समस्त वैभवों से समन्वित स्वामी की सेवा करते हैं और स्वार्थ–साधन के लिये ऐसा करते हैं या यदि दुर्दिन में पड़े भी स्वामी की सेवा करते हैं तो इसी आशा से करते हैं कि सुदिन पड़ते ही उनका भी भला होगा' ॥ १४ ॥

अत एवास्माकं त्वत्संग्रहे प्रयत्नः कथमसौ वृषलस्य साचिव्यग्रहणेन सानुग्रहः स्यादिति । कुतः ?—

अप्राज्ञेन च, कातरेण च, गुणः स्यात् सानुरागेण कः ?
प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत्, किं भक्तिहीनात् फलम् ?
प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिता येषां गुणा भूतये
ते भृत्या नृपतेः, कलत्रमितरे, सम्पत्सु चापत्सु च ॥ १५ ॥

सेवाभावतयाऽपितु तत्प्रतिष्ठाशया तस्य स्वामिनो या प्रतिष्ठा पुना राज्यप्राप्तिस्तत्र गतया स्वेष्टसिद्धिरूपया कीर्तिलाभरूपया वाऽशयैव कामनयैवेति ॥ १४ ॥

टिप्पणी—यद्यपि नाट्यानुशासनम् एकत्र नायके धीरत्वादिस्वभावचतुष्कस्य वर्णनं वारयति तथापि नाटककृताऽत्र चाणक्ये नेतरि चण्डत्वविकत्थनत्वयोर्धीरोद्धतधर्मयोः न्यायित्वस्थिरत्वयोर्धीरोदात्तधर्मयोश्च भिन्नप्रक्रमतयाऽभिव्यञ्जनेन किमपि चातुर्यमाविष्कृतम् । नाटकस्यास्य नायकश्चाणक्यः प्रतिनायकं राक्षसं स्तुवन् किमपि महदुदात्तत्वं स्वस्वभावस्य सहृदयहृदयेऽर्पयति । नाऽत्र प्रतिनायको नाटकान्तरेष्विव 'लोभी धीरोद्धतः पापी व्यसनी' वा, किन्तु नायकसमशीर्षिकया विराजमानः कोऽपि महान् पुरुषः । ईदृशस्य प्रतिनायकस्यावतारणे नाटककवेरस्य किमपि नाट्यकौशलं प्रतिभाति ।

राक्षसस्य वृषलसाचिव्यग्रहणमेवैकं सर्वविनिपातप्रतीकारं चिन्तयतश्चाणक्यस्योक्तिरियम्—अप्राज्ञेन चेत्यादि । अप्राज्ञेन स्थूलदर्शिना कातरेण निर्विक्रमेण च सानुरागेण भक्तिमता राजसेवकेन कः गुणस्स्यात् न कोऽपि लाभः राज्ञो राज्यस्य वा । प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि प्रज्ञया विक्रमेण च शालते शोभते इति प्राज्ञात् विक्रमशीलादपि भक्तिहीनात् निरनुरागात् राजभृत्यात् किं फलं न किमपि प्रयोजनं सेद्धमर्हम् । किन्तु येषां राजसेवापरायणानां प्रज्ञाविक्रमभक्तयः प्रज्ञा च विक्रमश्च

वस्तुतः इसीलिये तो तुम्हें अपने साथ रखने के लिये मेरा यह सारा प्रयत्न हो रहा है जिसे मैं तभी सफल मानूंगा जब तुम्हें चन्द्रगुप्त का सचिव बनते देखूंगा । क्यों कि,

'उस स्वामि-भक्त राजसेवक से ही क्या जिसमें न तो बुद्धि हो और न बल और उस बुद्धि-विक्रम वाले से भी क्या जिसमें भक्ति ही नहीं ! राजा के कल्याण के लिये तो (तुम सरीखे) 'ऐसे ही राजसेवकों की आवश्यकता है जिनमें बुद्धि और विक्रम और भक्ति तीनों के तीनों हों । वैसे तो वे सभी लोग राजसेवक ही कहलाते हैं जिनका, अच्छे और बुरे दोनों दिनों में, भरण-पोषण राजा को ही अपने बाल बच्चों की भांति करना ही पड़ता है' ॥ १५ ॥

तन्मयाऽप्यस्मिन् वस्तुनि न शयानेन स्थीयते, यथाशक्ति क्रियते तद्ग्रहणं प्रति यत्नः। कथमिति? अत्र तावद् वृषलपर्वतकयोरन्यतरविनाशेनापि चाणक्यस्यापकृतं भवतीति 'विषकन्यया राक्षसेनास्माकमत्यन्तोपकारी मित्रं घातितः तपस्वी पर्वतेश्वर' इति सञ्चारितो जगति जनापवादः। लोकप्रत्ययार्थमस्यैवार्थस्याभिव्यक्तये 'पिता ते चाणक्येन घातित' इति रहसि त्रासयित्वा भागुरायणेनापवाहितः पर्वतकपुत्रो मलयकेतुः। शक्यः खलु एष राक्षसमतिपरिगृहीतोऽपि

भक्तिश्चेति त्रयोऽपि समुदिताः सामग्र्यवर्तिनो गुणास्त एव भृत्याः भूतये सम्पत्सु आपत्सु च सर्वदा महते कल्याणाय भवन्तीति शेषः। इतरे च ये केवलं भक्तिमन्तः, ये वा केवलं प्रज्ञाविक्रमशालिनस्ते सर्वे कलत्रमेव कुटुम्बवत् सर्वासु समविषमदशासु राज्ञैव भरणीया न राजा तैः कदापि सेव्यत इति भावः॥ १५॥

टिप्पणी— अत्र 'प्रज्ञाविक्रमभक्तयो येषां समुदिताः गुणास्त एव राज्ञो भृत्या' इति वदता नाटककृता कौटिलीयार्थशास्त्रसम्मताऽमात्यसंपदभिप्रेयते। कौटिलीये हि 'अभिजनप्रज्ञाशौचशौर्यानुरागयुक्तानमात्यान् कुर्वीत। गुणप्राधान्यादिति बाहुदन्तीपुत्रमतमुल्लिख्यामात्यसम्पदं विमृशता कौटिल्येन 'प्राज्ञः प्रतिपत्तिमानुत्साहप्रभावयुक्तः दृढभक्तिरित्याद्यमात्यसंपदि प्रज्ञा–विक्रम–भक्तयो गुणास्सविशेषं गणिताः।

'मयापि न शयानेन स्थीयते यथाशक्ति क्रियते तद्ग्रहणं प्रति यत्न' इत्यारभ्य 'तेनेदानीं महत्प्रयोजनमनुष्ठेयं भविष्यती'ति यावद् यावानर्थराशिस्स तु नाटकस्यास्येतिवृत्तार्थोपायस्य बीजस्य सम्यगासमन्ताद् धानात्पोषणाद्वा समाधानं नामाङ्गं मुखसन्धिरूपस्याङ्गिनोऽवयवभूतमिति विभाव्यं नाटकमिदं नाटकरचनादृष्ट्याऽनुशीलयद्भिस्सुधीभिः। अत्रैवाङ्गान्तराण्यपि युक्ति–करणादीनि समनुयन्ति।

विषकन्ययेति। विषमयी कन्या विषकन्येति विवृण्वता श्रीढुण्ढिराजयज्वना

और मैं भी तो इस काम में सोया–पड़ा नहीं हूँ। उसको पकड़ने के लिये तो मुझे कुछ भी उठा नहीं रखना है। इसी लिये तो यह सब कुछ हो रहा है अर्थात् (१) लोगों में किम्वदन्ती सी फैला दी गयी है कि राक्षस ने ही विषकन्या द्वारा हमारे परमोपकारी महाराज पर्वतक की जान ली है और इसलिये ली है जिसमें चन्द्रगुप्त अथवा पर्वतक में से किसी एक की भी मृत्यु से हमारा सारा किया–कराया चौपट हो जाय। (२) भागुरायण के द्वारा पर्वतक पुत्र मलयकेतु को यह कहला कर कि उसके पिता (पर्वतक) को चाणक्य ने मरवा डाला है यहाँ से

ऽभ्युत्तिष्ठमानो बुद्ध्या निवारयितुम्। न पुनरस्य निग्रहात् पर्वतकवधोत्पन्नमयशः प्रकाशीभवत् प्रमार्ष्टुमलमिति। अन्यच्च, नियुक्ताश्च मया स्वपक्ष-परपक्षयोः अनुरक्ता-परक्तजनजिज्ञासया बहुविधदेशभाषावेशाचारसञ्चारवेदिनो नानाव्यञ्जनाः प्रणिधयः। अन्विष्यन्ते च कुसुमपुरनिवासिनां नन्दामात्यसुहृदां निपुणतरं प्रचारगतयः। तत्तत्कारणमुत्पाद्य कृतकृत्यतामापादिताश्चन्द्रगुप्तसहोत्थायिनो भद्रभटप्रभृतयः प्रधानपुरुषाः।

किमपि प्रमाणवचनमुद्धृतम्—

लावण्यभूषणां कान्तां योषितं क्रमशो विषैः।
युवतीं योजयेत् कामिरिपुभूपान्नघातने ॥ इति।

अत्र विषमयीति विषदिग्धा विषसिद्धा वा कन्या भवतु मा वा भूत् किन्तु गूढाजीवाभिः संघमुख्योन्मादनं रात्रिसमागमप्रविष्टानां वा संघमुख्यानां तीक्ष्णपुरुषैर्वधादि यदुक्तमर्थशास्त्रे संघभेदाधिकरणे तत्तु विवक्षितमेव।

नानाव्यञ्जनाः प्रणिधय इति। कौटिलीयार्थशास्त्रे बहुव्यञ्जनाः प्रणिधयः परिगणिताः येष्वन्तेवासि-भिक्षु-सूत्रधार-कार्तान्तिक-नैमित्तिक-मौहूर्तिकादिव्यञ्जनाः प्रणिधयो नाटककृताऽत्र कौटिल्यकृतस्य स्वपक्षपरपक्षोपग्रहरूपस्य कार्यारम्भस्य चिन्तनादौ तत्र तत्र नाटकीयवृत्तप्रपञ्चने संयोजिताः। नेदं सर्वमर्थशास्त्राक्षराभ्यासकृतमपि तु राजतन्त्रप्रत्यक्षव्यवहारनिबन्धनमिति मन्तव्यम्।

जो भगा दिया गया है उससे तो लोगों में इस किम्वदन्ती कि पर्वतक की हत्या राक्षस ने करवायी है विश्वास सा जम गया है क्योंकि उसे यदि यहां (पाटलिपुत्र) ही पकड़ लिया गया होता तब तो हमारे लिये अपना यह कलङ्क कि पर्वतक को भी हम्हीं ने मारा है। पूंछना ही असम्भव हो जाता। और अब यदि मलयकेतु हमसे लड़ाई ठान ले तब लोग तो यही समझेंगे कि राक्षस की चाल में पड़ कर वह ऐसा कर रहा है और यदि ऐसा करता भी है तो उसे रोक रखना हमारी बुद्धि के लिये बांये हाथ का खेल है। (३) नाना प्रकार के छद्म-धारी और भिन्न २ देश-भाषा भूषा-आचार और प्रचार में सर्वथा निपुण अनेकों गुप्तचरों को इसीलिये नियुक्त कर दिया गया है जिससे हमारा और हमारे शत्रु का साथ देने और न देने वाले लोगों की पूरी जानकारी हो जाय। (४) पाटलिपुत्र के नागरिकों में जो नन्द के अमात्य और उनके बन्धु-बान्धव हैं उनकी सभी प्रकार की गति-विधि का पता सतर्कता से लगाया ही जा रहा है। (५) चन्द्रगुप्त

शत्रुप्रयुक्तानाञ्च तीक्ष्णरसदायिनां प्रतिविधानं प्रति अप्रमादिनः परीक्षितभक्तयः क्षितिपतिप्रत्यासन्ना नियुक्तास्तत्राप्तपुरुषाः। अस्ति चास्माकं सहाध्यायि मित्रं विष्णुशर्मा नाम ब्राह्मणः, स चौशनस्यां दण्डनीत्यां चतुःषष्ट्यङ्गे ज्योतिःशास्त्रे च परं प्रावीण्यमुपगतः। स च मया क्षपणक-लिङ्गधारी नन्दवधप्रतिज्ञानन्तरमेव कुसुमपुरमुपनीय, सर्वनन्दामात्यैः सह सख्यं ग्राहितः। विशेषतश्च तस्मिन् राक्षसः समुत्पन्नविस्रम्भः, तेने-

---

तीक्ष्णरसदायिनामिति। टीकाकृता श्रीढुण्ढिराजेन तीक्ष्णरसदायिनो दुःखहेतव इति यदुक्तं न तत्साधु। यतो ह्यर्थशास्त्रानुसारं तीक्ष्णरसदा रसदायिनो वा ये गूढ-पुरुषास्तेऽत्र विवक्षिताः। तीक्ष्णा इति ख्वेवं परिभाषिताः कौटिल्येनार्थशास्त्रे 'ये जनपदे शूरास्त्यक्तात्मानो हस्तिनं व्यालं वा द्रव्यहेतोः प्रतियोधयेयुस्ते तीक्ष्णाः।'

रसदा इति तु तत्रैव यथा—'ये बन्धुषु निःस्नेहाः क्रूराश्चालसाश्च ते रसदाः।'

तीक्ष्णानां रसदानाञ्च प्रयोगः मन्त्रयुद्धसाधनमित्यपि तत्रैव प्रतिपादितम् द्वादश आवलीयसाधिकरणे 'तथापि प्रतिष्ठमानस्य प्रकृतिकोपमस्य कारयेत् तीक्ष्ण-रसदप्रयोगञ्च। यदुक्तमात्मरक्षितके रक्ष्यं तत्र तीक्ष्णान् रसदांश्च प्रयुञ्जीते'त्यादि।

क्षितिपतिप्रत्यासन्ना नियोजितास्तत्र तत्राप्तपुरुषा इति कौटिलीयार्थशास्त्रसंवादिन्य इमा उक्तयः। 'आत्मरक्षा' प्रकरणे विनयाधिकारिकेऽधिकरणे—

'यथात्र योगपुरुषैरन्यान् राजाऽधितिष्ठति।
तथाऽयमन्यबाधेभ्यो रक्षेतात्मानमात्मवान्॥'

के ही अन्तरङ्ग प्रधान राजपुरुष भद्रभट इत्यादि के द्वारा उन २ बातों को बनवा २ कर जो कुछ भी किया जाना था कर ही दिया गया है। (६) शत्रुप्रयुक्त 'तीक्ष्ण' और 'रसद' पुरुषों को निष्फल प्रयत्न करने के लिये चन्द्रगुप्त के आस पास ऐसे लोगों को भी नियुक्त कर ही दिया गया है जिनकी सतर्कता और राजभक्ति में कोई सन्देह नहीं हो सकता। और सब से बड़ी बात तो यह है कि हमारा अपना सहपाठी, परमस्नेही, शुक्रनीति का महापण्डित, ज्योतिष के चौसठों अङ्गों में पारङ्गत, हमारी नन्दवंश विनाश की प्रतिज्ञा की पूर्ति के बाद ही पाटलिपुत्र में बुला कर क्षपणक के छद्मवेष में स्थापित, समस्त नन्दामात्यों का विस्रम्भ भाजन बनवाया हुआ और विशेष रूप से राक्षस का विश्वासपात्र बना हुआ जो ब्राह्मण विष्णुशर्मा है उसके द्वारा तो बहुत बड़ा काम निकाला ही जाने वाला है। मुझ से तो किसी प्रकार की भी कोई चूक नहीं हो सकती। अब बच रहा साम्राज्य

दानीं महत् प्रयोजनमनुष्ठेयं भविष्यति। तदेवमस्मत्तो न किञ्चित् परिहास्यते। वृषल एव केवलं प्रधानप्रकृतिः अस्मासु आरोपितराज्यतन्त्रभारः सततमुदास्ते। अथवा यत् स्वयमभियोगदुःखैरसाधारणैरपाकृतं, तदेव राज्यं सुखयति। कुतः ?—

स्वयमाहृत्य भुञ्जाना बलिनोऽपि स्वभावतः।
गजेन्द्राश्च नरेन्द्राश्च प्रायः सीदन्ति दुःखिताः॥ १६॥

इत्यादि सिद्धान्तयता यदुक्तं कौटिल्येन—

'पितृपैतामहं महासम्बन्धानुबन्धं शिक्षितमनुरक्तं कृतकर्माणं जनमासन्नं कुर्वीत। नान्यतो देशीयमकृतार्थमानं स्वदेशीयं वाप्यपकृत्योपगृहीतमित्यादि तत्सर्वमत्र नाटककृतोऽप्यभिप्रेतम्।

प्रधानप्रकृतिरिति। सप्तप्रकृति राज्यम्। स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः। स्वाम्येव प्रधानप्रकृतिः। राज्यतन्त्रभार इति राज्यतन्त्रमिति स्वलब्धलाभादिचतुष्टयमुच्यते।

सततमुदास्त इति। यद्यपि कौटिलीयार्थशास्त्रानुसारेण राज्ञा—आत्मद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नेन नयस्याधिष्ठानेन विजिगीषुणा च सततं भाव्यम् तथापि नाटककृताऽत्र राजा चन्द्रगुप्तश्चाणक्यधृतराज्यतन्त्रभारो वर्णित इति तदनुसारिणीयमुक्तिः।

मन्त्रयुद्धमारभमाणश्चाणक्यश्चन्द्रगुप्तं निरस्तराज्यचिन्ताभारं स्वमात्मानं च तद्राज्यकार्यजागरूकं ध्यायं ध्यायं निश्चितस्वोद्योगसाफल्यस्सुख्यन्नाह—स्वयमाहृत्येति। स्वभावतो निसर्गतो बलिनश्शक्तिमन्तोऽपि गजेन्द्राः नरेन्द्राश्च स्वयमात्मनैवाहृत्य तत्तद् भोजनादि वस्तु संभारं राज्यतन्त्रादिसंभारं च संभृत्य भुञ्जानाः भोगं कुर्वाणाः दुःखिताः सर्वदा तत्तदर्थजातसंग्रहव्यापृततया तत्तद्दुःखमनुभवन्तो प्रायस्सीदन्ति कार्यव्यग्रत्वान्मनसो बाहुल्येन क्लिश्यन्तीति भावः। यथा हि राजेन्द्रश्चन्द्रगुप्तो न तथेति तदेव महते मनस्तोषाय मम 'तेनैव च सर्वं मत्समीहितं सेत्स्यतीत्यभिप्रायः॥ १६॥

का सर्वे सर्वा हमारा चन्द्रगुप्त और वह भी इन सभी झंझटों से इसी लिये बचा हुआ है। क्योंकि,

साम्राज्य-सञ्चालन का सारा भार उसने हम पर छोड़ दिया है। और क्यों न हो, राज्य-सुख तो सचमुच तभी मिल सकता है जब उसके सञ्चालन के नाना प्रकार के महाकष्ट न भोगने पड़ें! क्योंकि प्रायः होता ऐसा ही है स्वभावतः शक्तिशाली भी हाथी और राजा स्वयं साधन-सामग्री जुटा २ कर जब सुख भोग करते हैं तो दुःखित और खिन्न ही रहा करते हैं।'॥ १६॥

(ततः प्रविशति सह यमपटेन चरः)

चरः—प्रणमत यमस्य चरणौ किं कार्यं देवैरन्यैः ?।
एष खल्वन्यभक्तानां हरति जीवं परिस्फुरन्तम् ॥ १७ ॥
(पणमह जमस्स चलणे, किं कज्जं देवेहिं अस्मेहिं ?।
एसो क्खु अस्मभत्ताणं हरइ जीअं फड़फड़न्तम् ॥ १७ ॥)

अपि च (अवि अ)—

पुरुषस्य जीवितव्यं विषमाद् भवति भक्तिगृहीतात्।

टिप्पणी—अत्रानया वाचोयुक्त्या प्रापणं नामाङ्गमुपनिबद्धं नाटककृता। प्रापणं तु 'प्रापणं सुखसम्प्राप्ति' रिति लक्षितं नाट्यदर्पणकारेण। अत्र चन्द्रगुप्तं निरस्त-राज्यसञ्चालनदुःखं चिन्तयतश्चाणक्यस्य यः मनःप्रहर्षस्तेन बीजस्य बहुभवनो-न्मुख यं साफल्यञ्च सूचितं भवति।

यमपटेन चर इति। यमो धर्मराजस्तत्संबन्धिवृत्तादिर्वा लिखितश्चित्रितो वा यत्र स पटस्तेनोपलक्षितश्चर इति। अत्र 'कृत्यपक्षोपजापमकृत्यपक्षे गूढप्रणिधानं रागापरागौ भर्तरि रन्ध्रं च प्रकृतीनां तापसवैदेहकव्यञ्जनाभ्यामुपलभेते'त्याद्यर्थ-शास्त्रवचनं प्रमाणत्वेन द्रष्टव्यम्।

चाणक्यनियुक्तश्चरः स्वस्य तापसव्यञ्जनत्वप्रकृतिचित्तवेदनादि च चाणक्य-स्य सूचयन् यमगाथां गायन्नाह—प्रणमत यमस्येति। आर्याः यमस्य चरणौ प्रण-मत कृतान्तं भजत केवलम्। यतो ह्यन्यैर्देवैर्हरिहरादिभिः किं कार्यम् न किमपि प्रयोजनं सेद्धमलम्। एष खलु यमस्तथा देवान्तराण्यतिक्रम्य विराजते यथाऽन्य-भक्तानां देवान्तराणि भजमानानां परिस्फुरन्तं जीवं स्फुरतः प्राणानेव हरति वि-नाशयतीति ॥ १७ ॥

टिप्पणी—यमगाथया किमपि प्राकरणिकं प्रकाश्यते–तथा हि पाटलिपुत्रीयाः जनास्संबोध्यन्ते यद्राक्षसभक्त्या नास्ति तेषां कल्याणम् चाणक्य एव श्रद्धानि-बन्धः श्रेयान्। चाणक्ये कुपिते राक्षसभक्तानां नास्ति किमपि शरणमिति।

प्रकारान्तरेणोपर्युक्त वार्थं प्रकाशयन्नाह चरः—पुरुषस्य जीवितव्यमित्यादि।

(यमपट लिये एक गुप्तचर का प्रवेश)

चरः—'धर्मराज के चरणों की शरण आवो, लोगो! छोड़ो और देव-देवताओं की आशा छोड़ो। अरे! उस यमराज की भक्ति करो जो अन्य सभी देवताओं के भक्तों के प्राण–पखेरुओं को पकड़े विना नहीं छोड़ता!' ॥ १७ ॥

सुनो, और सुनो,

'यदि जीवित रहना चाहते हो तो उस यमराज की उपासना करो जो सारे

मारयति सर्व्वलोकं यस्तेन यमेन जीवामः ॥ १८ ॥

(पुरिसस्स जीविदव्वं विसमादो होइ भत्तिगहिआदो ।

मारेइ सव्वलोअं जो तेण जमेण जीआमो ॥ १८ ॥)

तस्मादिदं गृहं प्रविश्य यमपटं दर्शयन् गायामि। (इति परिक्रामति ।)
(ता एदं गेहं पविसिअ जमपडअं दंसअंतो गाएमि)

शिष्यः—(विलोक्य) भद्र ! न प्रवेष्टव्यम् ।

चरः—अहो ब्राह्मण ! कस्येदं गृहम् ? (हंहो बह्मण ! कस्स एदं गेहम् ?)

शिष्यः—अस्माकमुपाध्यायस्य सुगृहीतनाम्न आर्यचाणक्यस्य ।

चरः—(विहस्य) अहो ब्राह्मण ! आत्मीयस्यैव एतद् धर्मभ्रातुर्गृहं भवति, तस्माद् देहि मे प्रवेशं, यावत् तवोपाध्यायस्य धर्म्ममुपदिशामि । (हंहो बह्मण ! अत्तकेरकस्स ज्जेब्व एदं धम्मभादुअस्स घरं होदि, ता देहि मे पवेसं, जाव दे उवज्झाअस्स धम्मं उवदिसामि)

अयि आर्याः ! यदि जीवितुमिच्छत तथा कुरुत यथा वयं कुर्मः। कथमिति चेत् ? यथा वयं तेन यमेन तं यममुपजीव्य तदनुकम्पायामेव च जीवनभारं निक्षिप्य जीवामो यस्सर्वलोकं समस्तं चराचरं जगत् मारयति नाशयति तथा यूयमपि जीवत। नास्त्यन्यः कोप्युपायो जीवनधारणस्य। यतो हि भक्तिगृहीतात् भक्त्या वशीकृतात् अक्करत्ताबद्धश्रद्धात् विषमात् क्रूरात्तस्मादेव यमादिति शेषः—पुरुषस्य प्राणिमात्रस्य जीवितव्यं जीवनधारणादि सर्वं भवति सिध्यतीति ॥ १८ ॥

संसार को मारा करता है किन्तु जिससे हम सरीखे भक्त सुखमय जीवन विताया करते हैं।' ॥ १८ ॥

अरे ! यह तो किसी का घर आ गया, अच्छा यहीं चलूं, यहीं यमपट दिखाऊं और यम-गाथा गाऊं। (घर की ओर चल पड़ता है)

शिष्य—(देख कर)अरे भाई ! भीतर न आना।

चर—अरे ब्राह्मण-देवता ! बताओ तो कि यह किसका घर है।

शिष्य—हमारे उपाध्याय का, हमारे प्रातः स्मरणीय आर्य चाणक्य का।

चर—(हंसते हुये) अच्छा बताये महाराज ! तब तो यह कहो कि यह हमारे ही धर्म भाई का घर है। हटो, भीतर जाने दो, मुझे तुम्हारे उपाध्याय से कुछ धर्म-चर्चा करनी है।

शिष्यः—(सक्रोधम्) **धिङ् मूर्ख ? किं भवान् अस्मदुपाध्यायादपि धर्मवित्तरः ?**

चरः—**अहो ब्राह्मण ! मा कुप्य; न हि खलु सर्व्वः सर्व्वं जानाति, तत् किमपि ते उपाध्यायो जानाति, किमपि अस्मादृशा अपि जानन्ति।** (हंहो बह्मण ! मा कुप्यः, णहि क्खु सब्वो सब्वं जाणादि, ता किम्पि दे उवज्झाओ जाणादि, किम्पि अह्मारिसा पि जाणन्ति)

शिष्यः—(सक्रोधम्) **मूर्ख ! सर्वज्ञतामुपाध्यायस्य चोरयितुमिच्छसि ?**

चरः—**अहो ब्राह्मण ! यदि तवोपाध्यायः सर्वं जानाति, जानातु तावत् कस्य चन्द्रोऽनभिमत इति ?** (हंहो बह्मण ! जइ दे उवज्झाओ सब्वं जाणादि, जाणादु दाव कस्स चन्दो अणभिमदो त्ति ?)

शिष्यः—**मूर्ख ! किमनेन ज्ञातेन गुरोर्भविष्यति ?**

चरः—**अहो ब्राह्मण ! तवोपाध्याय एव ज्ञास्यति यदेतेन ज्ञातेन**

टिप्पणी—अत्रापि गाथया प्रस्तुतं व्यज्यते तथा हि चाणक्यः खलवकरुणः ज्ञातापरागान् तांस्तान् सर्वानेव नाशयिष्यति। चाणक्ये जाग्रति चन्द्रगुप्तराज्यतन्त्रनिर्वाहके न केनापि तस्यापचरितव्यमिति।

शिष्य—(क्रुद्ध होकर) क्या बड़बड़ा रहे हो। हमारे आचार्य से बढ़ कर तुम धर्मज्ञानी बनने चले हो !

चर—अरे ब्राह्मण देवता ! क्रोध में न आवो। सब लोग सब कुछ नहीं जाना करते। कुछ तो बातें ऐसी हैं जो तुम्हारे आचार्य जानते होंगे और कुछ ऐसी भी हैं जिन्हें हमारे ऐसे लोग ही जाना करते हैं।

शिष्य—(क्रोध में आकर) चुप रहो, मूर्ख ! बड़ा आया हमारे उपाध्याय के ऐसा सर्वज्ञ बनने वाला !

चर—ब्राह्मण देवता ! यदि आपके उपाध्याय ही सब कुछ जानते हैं तो यह बता दें कि वह कौन है जो चन्द्र को नहीं चाहता।

शिष्य—तुम तो बड़े मूर्ख हो। भला, हमारे उपाध्याय को इसके जानने-न-जानने से क्या !

चर—ब्राह्मण देवता ! आपके उपाध्याय ही बता सकेंगे कि इसके जानने-

भवति, ऋजुबुद्धिस्त्वं तावत् एतावत् जानासि, कमलानां चन्द्रोऽनभिमत इति। ननु पश्य—(हंहो बह्मण ! तुअ उवज्झाओ ज्जेव्व जाणिस्सदि, जं इमिणा जाणिदेण भोदि। उजुअबुद्धिआ तुमं दाव इत्तिअं जाणासि कमलाणं चन्दो अणभिमदो त्ति। ण पेक्ख,)

कमलानां मनोहराणामपि रूपाद्विसंवदति शीलम्।
सम्पूर्णमण्डलेऽपि यानि चन्द्रे विरुद्धानि॥ १९॥
(कमलाणं मनोहराणं वि रूआदो विसंवअइ शीलम्।
संपुण्णमण्डलम्मि वि जाइ चन्दे विरुद्धाइं॥ १९॥)

चाणक्यः—(आकर्ण्य आत्मगतम्) अये ! 'चन्द्रगुप्तात् अपरक्तान् पुरुषान् जानामि' इति उपक्षिप्तमनेन।

चरश्चाणक्यशिष्यं प्रत्यप्रस्तुतं कमलानां चन्द्रापरागादि वर्णयन् प्रस्तुतं राक्षसपक्षपातिनां चन्द्रगुप्तापरागादि निपुणमुद्भावयन्नाह—कमलानामिति। यानीमानि कमलानि सम्पूर्णमण्डलेऽपि चन्द्रे षोडशकलासमन्वितेऽपि चन्द्रमसि विरुद्धानि नानुरक्तानि प्रत्युत विरक्तानि प्रद्वेषभाञ्जि वा भवन्ति तत इदमेव निश्चीयते यन्मनोहराणां मनोज्ञानां रम्याकृतीनां वा कमलानां शीलं स्वभाव आचरितं वा रूपाद्विसंवदति न रूपमनुहरतीति भावः॥ १९॥

टिप्पणी—(१) अत्राप्रस्तुतप्रशंसातः प्रस्तुतं वस्तु व्यज्यते तथाहि प्रकृतिचित्तपरिज्ञानमतीव दुष्करम्। मित्राण्यपि मित्रव्यञ्जनवदाचरन्ति। चन्द्रगुप्तस्य सम्पूर्णराजमण्डलत्वमसहमाना ये जना गूढगूढं राजापथ्यं सेवन्ते ते खलु प्रतिविधातव्या इति। (२) सम्पूर्णमण्डल इति तु श्लिष्टं वचः। चन्द्रपक्षे पूर्णबिम्बत्वं विवक्षितम्। राजपक्षे तु तदभिप्रेतं यदर्थशास्त्रे मण्डलयोन्यधिकरणे समाम्नातम्—विजिगीषुर्मित्रं मित्रमित्रं वाऽस्य प्रकृतयस्तिस्रः। ताः पञ्चभिरमात्यजनपददुर्गकोश–दण्डप्रकृतिभि-

---

न–जानने से क्या होता है ! आपका क्या, आप तो सीधे ठहरे आप तो बस इतना ही जानते होंगे कि कमल चन्द्र को नहीं चाहा करते। कहिये, ठीक है न !

'कमल कितने सुन्दर हुआ करते हैं ! किन्तु उनका स्वभाव उनकी सुन्दरता से बिलकुल उलटा हुआ करता है और तभी तो ये सम्पूर्ण मण्डल चन्द्र के भी वैरी ही बने रहते हैं' ॥ १९॥

चाणक्य—(इसे सुनते ही, मन ही मन) अरे ! इसका ऐसा कहना तो यह अर्थ रखता है कि इसे चन्द्रगुप्त के विद्रोहियों का पता है।

शिष्यः—मूर्ख ! किमिदमसम्बद्धमभिधीयते ?

चरः—अहो ब्राह्मण ! सुसंबद्धमेवैतद् भवेत् (हं हो ब्रह्मण ! सुसंबद्धं ज्जेव्व एदं भवे)

शिष्यः—यदि किं स्यात्)

चरः—यदि शृण्वन्तं जानन्तञ्च जनं लभे (जदि सुणन्तं जाणन्तं अ जणं लहे) (सुणितुं जाणन्त इति पाठे—श्रोतुं जानन्तम् इति संस्कृतम्)

चाणक्यः—(विलोक्य) भद्र ! सुखं प्रविश, लप्स्यसे श्रोतारं ज्ञातारञ्च।

चरः—(प्रविश्योपसृत्य च) एष प्रविशामि। जयतु जयत्वार्य्यः (एसो प्पविसामि। जेदु जेदु अज्जो)

चाणक्यः—(विलोक्य आत्मगतम्) कथं प्रभूतत्वात् कार्य्याणां कस्य परिज्ञाने नियुक्तो निपुणकः इति न ज्ञायते। आं ज्ञातम्, अये कथमयं

रैकैकशः संयुक्ताः मण्डलमष्टादशकं भवति।' इत्यादि ।

(३) इत आरभ्य 'ननु राक्षस एवास्मदङ्गुलिप्रणयी संवृत्त' इत्याद्यन्तं यदितिवृत्तजातं तत् साध्ये राक्षसवशीकारे बीजस्य सहकारित्वेन निबद्धं कार्यते फलमिति व्युत्पत्तेः कार्यमिति विज्ञेयम् ।

शिष्य—कितना बड़ा मूर्ख है ! कैसी उलटी-पुलटी बातें बकता जा रहा है !

चर—ब्राह्मण महाराज ! उलटी-पुलटी बातें नहीं, ये तो तब सीधी लगेंगी जब······

शिष्य—क्या जब !

चर—यही कि जब इन्हें सुनने-समझने वाले से भेंट हो जाय।

चाणक्य—(देखकर) आजाओ, भीतर आजाओ, तुम्हें सुनने-समझने वाला यहां बैठा है।

चर—(भीतर आकर, पास पहुंचते हुये) आया महाराज ! जय हो, आर्य की जय हो।

चाणक्य—(देखते हुये, मन ही मन) यह तो निपुणक है किन्तु कार्य इतने है कि किस बात की देख-भाल में इसे नियुक्त किया था, कुछ ठीक २ ध्यान नहीं आता। हां, ठीक है, अरे ! यही तो वह निपुणक है जिसे प्रजा क्या सोचती है

प्रकृतिचित्तपरिज्ञाने नियुक्तो निपुणकः। (प्रकाशम्) भद्र! स्वागतम्। उपविश्यताम्।

चरः—यदार्य आज्ञापयतीति (जं अज्जो आणवेदि त्ति) (भूमावुपविशति)

चाणक्यः—भद्र ! उपवर्णय इदानीं स्वनियोगवृत्तान्तम्। अपि वृषलमनुरक्ताः प्रकृतयः ?

चरः—अथ किम् ? आर्येण खलु तेषु तेषु विरागकारणेषु परिहृतेषु सुगृहीतनामधेये देवे चन्द्रगुप्ते दृढमनुरक्ताः प्रकृतयः। किन्तु पुनः सन्त्यत्र नगरे अमात्यराक्षसेन सह प्रथमं समुत्पन्नस्नेहबहुमानास्त्रयः पुरुषाः, ये देवस्य चन्द्रश्रियः श्रियं न सहन्ते (अध इं ? अज्जेण क्खु तेसु तेसु विराअकारणेसु परिहरिदेसु सुगहीदणामधेए देए चन्दउत्ते दिढं अनुरत्ताओ पइदिओ। किन्तु उण संति एत्थ णअरे अमच्चरक्खसेण सह पढमं समुप्पण्णसिणेहबहुमाणा तिण्णि (ण्णा) पुरिसा, जे देअस्स चन्दसिरिणो सिरि ण सहन्ति)

चाणक्यः—(सक्रोधम्) ननु वक्तव्यं 'स्वजीवितं न सहन्ते' इति। भद्र ! अपि ज्ञायन्ते नामधेयतः ?

प्रकृतिचित्तपरिज्ञान इति। 'कृतमहामात्रापसर्पः पौरजानपदानपसर्पये'दिति कौटिल्यार्थशास्त्रानुसारं चरोऽत्र नियुक्तो निपुणकाभिधः कृत्याकृत्यपक्षवेदनायेति।

और क्या चाहती है। इसका भेद लेने के लिये नियुक्त किया है। (सुनाकर) आवो, बैठो, यहां आवो।

चर—जैसी आज्ञा (नीचे ही बैठ जाता है)

चाणक्य—अच्छा ! अब बताओ तुमने क्या २ किया। कहो, क्या प्रजायें चन्द्रगुप्त को चाहती हैं या नहीं !

गुप्तचर—क्यों नहीं चाहेंगी। जब आपने न चाहने के सभी कारण दूर कर दिये तब तो वे हमारे प्रातः स्मरणीय सम्राट् चन्द्रगुप्त को सब प्रकार से चाहेंगी ही। किन्तु इस पाटलिपुत्र के कुछ ऐसे लोग भी हैं जो सम्राट् चन्द्रगुप्त की बढ़ती नहीं देख सकते और ये वे लोग हैं जो बहुत पहले से ही अमात्य राक्षस के स्नेही और मानने-जानने वाले हैं।

चाणक्य—(क्रुद्ध होकर) तब तो यह कहो कि ये लोग जीना नहीं चाहते। कहो, क्या इनके नाम बता सकते हो ?

चरः—कथमज्ञातनामधेया आर्यस्य निवेद्यन्ते ? (कधं अजाणिअणामधेआ अज्जस्स णिवेदिअन्ति ?)

चाणक्यः—तेन हि श्रोतुमिच्छामि ।

चरः—शृणोत्वार्यः, प्रथमं तावदार्यस्य रिपुपक्षे बद्धपक्षपातः क्षपणकः (सुणादु अज्जो, पढ़मं दाव अज्जस्स रिपुपक्खे बद्धपक्खवादो क्खवणओ)

चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतम्) अस्मद्रिपुपक्षे बद्धपक्षपातः क्षपणकः । (प्रकाशम्) किंनामधेयो हि सः ?

चरः—जीवसिद्धिर्नाम (जीवसिद्धी णाम)

चाणक्यः—'अस्मद्रिपुपक्षे बद्धपक्षपातः क्षपणक' इति कथमवगतं भवता ?

चरः—येन स अमात्यराक्षसेन प्रयुक्ता विषकन्यका देवे पर्वतेश्वरे समावेशिता (जेण सा अमच्चरक्खसेण प्पउत्ता विसकण्णआ देए पव्वदेस्सरे समावेसिदा)

चाणक्यः—(स्वगतम्) जीवसिद्धिरेष तावत् अस्मत्प्रणिधिः । (प्रकाशम्) भद्र ! अथ अपरः कः ?

चर—भला, बिना नाम जाने निवेदन ही कैसे करता !

चाणक्य—अच्छा इनके नाम क्या हैं ?

चर—सुनें-सबसे पहले तो एक क्षपणक है जो आपके शत्रु-पक्ष का बहुत बड़ा पक्षपाती है ।

चाणक्य—(प्रसन्नतापूर्वक-स्वगत) ओह ! क्षपणक और हमारे शत्रु पक्ष का बहुत बड़ा पक्षपाती ! (सुनाकर) उसका नाम ?

चर—यही-जीवसिद्धि ।

चाणक्य—तुम्हें यह कैसे पता कि क्षपणक हमारे शत्रुपक्ष का पक्षपाती है ।

चर—इसी से कि अमात्य राक्षस द्वारा भेजी गयी विषकन्या उसीने महाराज पर्वतेश्वर को मारने के लिये लगा दी ।

चाणक्य—(स्वगत) अरे ! यह जीवसिद्धि तो हमारा गुप्तचर है ! (सुनाकर) अच्छा, और दूसरा कौन है ?

चरः—आर्य ! अपरः खलु अमात्यराक्षसस्य प्रियवयस्यः कायस्थः शकटदासो नाम (अज्ज ! अवरा क्खु अमच्चरक्खसस्स प्पिअबअस्सो काअत्थो सअड़दासो णाम)

चाणक्यः—(विहस्यात्मगतम्) कायस्थ इति लघ्वी मात्रा, तथापि न युक्तं प्राकृतमपि रिपुमवज्ञातुम् । तस्मिन् मया सुहृच्छद्मना सिद्धार्थको निक्षिप्तः । (प्रकाशम्) भद्र ! तृतीयं श्रोतुमिच्छामि ।

चरः—तृतीयोऽपि अमात्यराक्षसस्य द्वितीयमिव हृदयं पुष्पपुरनिवासी मणिकारश्रेष्ठी चन्दनदासो नाम, यस्य गेहे कलत्रं न्यासीकृत्य अमात्यराक्षसो नगरादपक्रान्तः (तिदीओ वि अमचरक्खसस्स दुदीअं विअ हिअअं पुप्फउरवासी मणिआरसेट्ठी चन्दणदासो णाम, जस्स गेहे कलत्तं णासीकदुअ अमचरक्खसो णअरादो अवक्कन्तो)

चाणक्यः—(आत्मगतम्) नूनं सुहृत्तमः, न हि अनात्मसदृशेषु राक्षसः कलत्रं न्यासीकरिष्यति । (प्रकाशम्) भद्र ! 'चन्दनदासस्य गृहे राक्षसेन कलत्रं न्यासीकृतमि'ति कथमवगम्यते भवता ?

चरः—आर्य ! इयमङ्गुलिमुद्रा आर्यमवगतार्थं करिष्यति (इति मुद्रा-

---

न युक्तं प्राकृतमपि रिपुमवज्ञातुमिति । **न क्षुद्रोऽपि शत्रुरुपेक्षणीय इति यथोक्तम्— 'अल्पीयसोऽप्यरेर्वृद्धिर्महानर्थाय रोगवदिति ।**

चर—दूसरा तो कायस्थ शकटदास है जो अमात्य राक्षस का अभिन्न मित्र है।

चाणक्य—(हंसते हुये-स्वगत) कायस्थ की क्या हस्ती ! किन्तु नहीं, यह शत्रु है और छोटे से छोटे शत्रु की उपेक्षा ठीक नहीं होती। कोई बात नहीं, उसके लिये तो उसका बनावटी मित्र सिद्धार्थक नियुक्त ही है। (सुनाकर) अच्छी बात है, बताओ तीसरा कौन है ?

चर—तीसरा भी अमात्य राक्षस का ही अभिन्न हृदय चन्दनदास है जो पाटलिपुत्र का सबसे बड़ा जौहरी है और इसी के घर में अपना परिवार सुरक्षित रखकर अमात्य राक्षस यहां से बाहर निकला हुआ है।

चाणक्य—(स्वगत) अवश्य ही यह राक्षस का परम मित्र होगा। क्यों कि इसे विना अपना माने राक्षस अपने बाल-बच्चों को कभी इसे न सौंपता (सुनाकर) एक बात तो बताओ—तुम्हें कैसे पता कि चन्दनदास के ही घर में राक्षस ने अपना परिवार रख छोड़ा है ?

चर—महाराज ! इस अंगूठी को लीजिये। यही आपको सब कुछ बता

मपर्यति) (अज्ज ! इअं अंगुलीअमुद्दा अज्जं अवगदत्थं करिस्सदि) ('अज्जं अवगमइस्सदि' इति पाठे–'आर्यमवगमयिष्यति' इति संस्कृतम्)

चाणक्यः—(मुद्रामवलोक्य गृहीत्वा, राक्षसस्य नाम वाचयित्वा च सहर्षं स्वगतम्) ननु राक्षस एव अस्मदङ्गुलिप्रणयी संवृत्त इति (प्रकाशम्) भद्र ! अङ्गुलिमुद्राधिगमं विस्तरेण श्रोतुमिच्छामि ।

चरः—शृणोत्वार्यः, अस्ति तावदहमार्येण पौरजनचरित्रदर्शने नियुक्तः, ततः परगृहप्रवेशे परस्यानाशङ्कनीयेनानेन यमपटेन आहिण्डमानो मणिकारश्रेष्ठिनश्चन्दनदासस्य गृहं प्रविष्टोऽस्मि, तत्र यमपटं प्रसार्य्य प्रवृत्तोऽस्मि गीतानि गातुम (सुणोदु अज्जो, अत्थि दाव अहं अज्जेण पउरजणचरिददंसणे णिउत्तो, तदा परघरप्पवेसे परस्स अणासंकणीएण इमिणा जमपडेण आहिण्डन्तो मणिआरसेट्ठिणो चन्दणदासस्स घरं पविट्ठो ह्मि, तहिं जमपडअं पसारिअ प्पउत्तोह्मि गीदाइं गाइदुं')

चाणक्यः—ततस्ततः ।

चरः—ततश्च एकस्मात् आवरकात् पञ्चवर्षदेशीयः प्रियदर्शनीयशरीराकृतिः कुमारको बालजनसुलभकौतूहलोत्फुल्लनयनयुगलको निष्क्रमितुं

देगी । (अंगूठी देता है)

चाणक्य—(अंगूठी को देखते हुये हाथ में लेकर राक्षस का नाम पढ़ते ही प्रसन्नता के साथ स्वगत) बस, अब तो राक्षस हमारी मुठ्ठी में आ गया ! (सुनाकर) अच्छा, पूरे विस्तार से सुनाओ कि यह अंगूठी तुम्हारे हाथ कैसे लगी ?

चर—सुनिये महाराज ! मैं तो पाटलिपुत्र के नागरिकों की चाल-ढाल का पता लगाने के लिये नियुक्त ही किया गया था । ऐसा हुआ कि लोगों के घरों में इस यमपट के साथ प्रवेश करने में किसी को सन्देह न होने से इधर-उधर ढूंढ़ता ढांढ़ता एक बार चन्दनदास के घर जा पहुंचा और वहां ही इस यमपट को फैला कर गीत गाने लगा ।

चाणक्य - तब क्या हुआ ?

चर—हुआ यह कि एक देखने में बड़ा सुन्दर, लगभग पांच साल का बालक, जिसकी आंखें बाल सुलभ कौतूहल से खिल गयीं थीं' एक द्वार की ओर से बाहर निकलने लगा और उसके निकलते ही भीतर रहने वाली स्त्रियों का

प्रवृत्तः, ततः 'हा निर्गतः हा निर्गतः' इति शङ्कापरिग्रहनिभृतगुरुकः (शङ्कापड़िग्गहं णिवेदन्त इति पाठे–शङ्कापरिग्रहं निवेदयन् इति सं०) तस्यैव आवरकस्याभ्यन्तरे स्त्रीजनस्य उत्थितो महान् कलकलः। तत ईषद्‌द्वार-देशदापितमुख्या एकया स्त्रिया स कुमारको निष्क्रामन्नेव निर्भर्त्स्यावल-म्बितः कोमलया बाहुलतया। तस्याश्च कुमारसंरोधसम्भ्रमप्रचलिताङ्गुलेः करात् पुरुषाङ्गुलिपरिणाहप्रमाणघटिता विगलितेयमङ्गुलिमुद्रिका देहली-बन्धे निपतिता, तया स्त्रिया अनवबुध्यमानैव मम चरणपार्श्वं समागत्य प्रणामनिभृता नवबधूरिव निश्चला संवृत्ता; मयाऽपि अमात्यराक्षसस्य नामा-ङ्कितेति आर्यस्य पादमूलं प्रापिता, तस्मात् एषोऽस्या मुद्राया आगम इति (तदो एक्कादो आवरकादो पञ्चवरिसदेसीओ प्पिअदंसणीअशरीराकिदी कुमारओ बाल-जणसुलहकोदूहलोप्फुल्लणअणजुअलओ णिक्कमिदुं प्पउत्तो, तदो 'हा णिग्गदो हाणिग्गदो' त्ति संकापरिग्गहणिभृदगुरुओ तस्स ज्जेव्व आवरकस्स अब्भंतरे इत्थिआअणस्स उत्थिदो महन्तो कलअलो। तदो ईसिदुआरदेशदाबिदसुहीए एकाए इत्थिआए सो कुमारओ णिक्कमन्तो ज्जेव्व णिब्भच्छिअ अवलम्बिदो कोमलाए बाहुलदाए। तस्साअ कुमारसंरोहसम्भमप्पचलिदङ्गुलिदो करादो पुरिसङ्गुलिपरिणाहप्पमाणघडिआ विअलिदा इअं अङ्गुलिमुद्दिआ देहलीबद्धम्मि णिपडिआ, ताए इत्थिआए अणवबु-द्धन्त ज्जेव्व मम चलणपासं समागच्छिअ पणामणिहुआ णव–बहूव्व णिच्चला संवुत्ता, मम बि अमच्चरक्खसस्स णामंकिदेत्ति अज्जस्स पादमूलं पविदा, ता एसो इमाए मुद्दाए आगमो त्ति)

'हाय ! कहां गया, कहां गया' का घबराहट से भरा हुआ बड़ा भारी हो–हल्ला मच गया। एक ब एक एक स्त्री ने किवाड़ की ओट से बाहर झांका और बाहर निकलते हुये उस बालक को डाट–फटकार कर अपनी कोमल बाहों से पकड़ लिया। यह अंगूठी, जिसकी गढ़न पुरुष की अंगुली की मोटाई के अनुसार है, उस बालक को पकड़ने में घबराहट के कारण, उस स्त्री की ही कांपती हुई अंगुली से निकल गयी और चौकठ के पास गिर पड़ी। वह स्त्री तो यह सब न जान सकी और यह अंगूठी मेरे पैर के पास चुपके से ऐसे आ पहुंची मानो कोई नवेली सिर झुकाये पड़ी हो। और मैंने भी जैसे ही इस पर अमात्य राक्षस का नाम खुदा देखा, आपकी सेवा में ला उपस्थित किया। यही इस अंगूठी के मेरे हाथ लगने की कहानी है।

चाणक्यः—भद्र ! श्रुतम् । अपसर, न चिरादस्य परिश्रमस्यानुरूपं फलमधिगमिष्यसि ।

चरः—यदार्य आज्ञापयति इति [इति निष्क्रान्तः] (जं अज्जो आणवेदि त्ति)

चाणक्यः—शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !

शिष्यः—(प्रविश्य) उपाध्याय ! आज्ञापय ।

चाणक्यः—वत्स ! मसीभाजनं पत्रञ्चोपानय ।

शिष्यः—यदाज्ञापयत्युपाध्यायः (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) उपाध्याय ! इदं मसीभाजनं पत्रञ्च ।

चाणक्यः—(गृहीत्वा स्वगतम्) किमत्र लिखामि ? अनेन खलु लेखेन राक्षसो जेतव्यः ।

किमत्र लिखामि ? अनेन खलु लेखेन राक्षसो जेतव्य इत्याद्यारभ्य प्रतिमुखसन्धिर्नाटकस्य प्रतिपत्तव्यः । नाटकस्यास्य प्रधान इतिवृत्तभागः प्रारम्भावस्थाभावी स्वरूपतोऽङ्गतश्च परस्परं संश्लिष्टतयाऽरचितः मुखमिव मुखमिति पूर्वमेव निर्दिष्टम् । मुखस्याभिमुख्येन वर्तत इति प्रतिमुखं यस्यैतस्य प्रतिमुखसन्धिरिति संज्ञान्तरं तत्तु यथा लक्षितं नाट्यदर्पणकृता—

'प्रतिमुखं कियल्लक्ष्यबीजोद्घाटसमन्वितः' इति ।

मुख-प्रतिमुखयोः पारस्पर्यं नाटकेऽस्मिंस्तावदित्थं दृश्यते । मुखसन्धौ हि चाणक्यस्य नायकस्य वीरभावोत्सिक्तस्य प्रारम्भावस्थेति परिभाषिता काय-वाङ्-

---

चाणक्य—बहुत अच्छा ! सब सुन लिया । तुम जा सकते हो और सुनो, बहुत शीघ्र तुम्हें इस इतने बड़े काम का यथोचित पुरस्कार मिल जायगा ।

चर—जो आज्ञा । (बाहर चला जाता है)

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !!

शिष्य—(भीतर आते ही) उपाध्याय ! आज्ञा हो ।

चाणक्य—मेरे शार्ङ्गरव ! जाओ, कागज़ और दावात-कलम तो लावो ?

शिष्य—जैसी आज्ञा, उपाध्याय ! (बाहर जाकर, कागज़ और कलम-दावात लिये हुये लौटकर) उपाध्याय ! कागज और कलम-दावात तो ले आया ।

चाणक्य—(कागज और कलम-दावात लेकर-स्वगत) क्या लिखूँ ! इसी लेख से तो राक्षस को जीतना है ।

प्रतिहारी—(प्रविश्य) जयतु जयत्वार्यः (जेदु जेदु अज्जो)

चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतम्) गृहीतोऽयं जयशब्दः । (प्रकाशम्) शोणोत्तरे ! किमागमनप्रयोजनम् ?

मनोऽभ्यावृतिस्तत्र तत्रोपनिबद्धा नाटककृता, तदनुसारि चेतिवृत्तार्थोपक्रमभूतं राक्षसकृताभियोगनिवृत्त्युपायचिन्तनाद्यध्यवसायरूपं भाविफलैकनिदानं बीजमुपक्षिप्तम्।

प्रतिमुखं हि मुखप्रेक्षि मुखानुकूलं नाटकीयेतिवृत्तादेर्भागात्मनाऽवतिष्ठते । मुखे नायकस्य चाणक्यस्य प्रतिनायकस्य राक्षसस्य च विनिपातप्रतिक्रियाचिन्तनौपयिकं विनिपातक्रियाचिन्तनौपयिकं च यथायोगं यदौत्सुक्यं साक्षादसाक्षाच्च वर्णितं तदेव चारनिवेदनादिनाऽवश्यकरणीयेन किमपि व्यवहितं सत् पुनः प्रकर्षेण प्रवर्तमानं प्रतिमुखसन्धेरुत्तम्भकम् । आरम्भावस्थानन्तरं प्रयत्नदशा कस्यापि सचेतस इति मुखसन्धेरनन्तरमेव प्रतिमुखसन्धिरवसरं लभते । नायकस्य विनिपातप्रतीकारौत्सुक्यं गुप्तचरकृतेन चारनिवेदनेन मुद्राप्रदानेन च कयाऽपि त्वरया प्रस्पन्दमानं परमौत्सुक्यरूपेण यन्निबध्यते तदेव प्रयत्नदशापरिकर्मितं प्रतिमुखम् । पूर्वोपक्षिप्तं विनिपातप्रतीकारचिन्तनादिवृत्तरूपं यद् बीजं तदेव नायककृतेन चारज्ञान–मुद्रालाभाद्यनन्तरं कपटलेखनिष्पादनशकटदासादिवधबन्धनाध्यवसायादिना वृत्तेन बिन्द्वात्मना लब्धमेकं स्तम्बीभवितुमर्हमिति बिन्दूपन्यासः प्रयत्नावस्थानुरूपोऽत्र कृत इति प्रतिमुखसन्धिस्संदब्धो नाटककृतेति निपुणं निरूपणीयं सुधीभिः ।

प्रतीहारीति । कार्यनिवेदिका शोणोत्तरेति यन्नामाग्रे निवेदयिष्यते नाटककृता । प्रतीहारीलक्षणं यथा—

> 'सन्धिविग्रहसन्नद्धनानाचारसमुत्थितम् ।
> निवेदयन्ति याः कार्यं प्रतीहार्यस्तु ता मताः ॥ इति ।

जयत्वार्य इति । पताकास्थानकं किमपि चमत्कारनिबन्धनमारचितम् । चाणक्यो हि नायकः 'अनेन लेखेन राक्षसो जेतव्य' इति यदैव मनसि तत्तच्चिन्तयति तदैव प्रतीहारी समागत्य 'जयत्वार्य' इति जयशब्दं प्रसङ्गान्तरोपनिपातनाय समुच्चारयति । ततश्च राक्षसजयादिरूपमुपायमध्यवस्यतश्चाणक्यस्य प्रतीहारीकर्तृकप्रणाम–मङ्गलाशंसनरूपस्य जयस्य लाभेन यः मनःप्रहर्षस्तदुपनिबन्धनोपायभूतं प्रतीहार्यागमनादिरूपमितिवृत्तमत्र प्रधानवृत्तोपकारकं प्रथमं पताकास्थानकं यद्धि नाट्यस्यालङ्करणमिव किमपि निबद्धं नाटककृता । आद्यमिदं पताकास्थानकं यद्धि

प्रतीहारी—(प्रवेश कर) जय हो, महाराज ! जय हो ।

चाणक्य—(प्रसन्न होकर–स्वगत) यह जय शब्द तो बड़ा ही अच्छा लगा ! (सुनाकर) शोणोत्तरे ! कहो, कैसे आना हुआ ?

प्रतिहारी—आर्य ! कमलमुकुलाकारमञ्जलिं शीर्षे निवेश्य देवश्चन्द्रश्रीरार्यं विज्ञापयति–'इच्छाम्यहमार्येणाभ्यनुज्ञातो देवस्य पर्वतेश्वरस्य पारलौकिकं कर्त्तुम्, तेन च धारितपूर्वाण्याभरणानि गुणवतां ब्राह्मणानां प्रतिपादयामि' इति (अज्ज ! कमलमुउलाआरमञ्जलिं सीसे णिवेसिअ देओ चन्दसिरी अज्जं विण्णवेदि–'इच्छामि अहं अज्जेण अब्भणुण्णादो देअस्स पव्वदेसरस्स पारलोइअं कादुं, तेण अ धारिदपुव्वाइं आभरणाइं गुणवन्ताणं बह्मणाणं पड़िवादेमि'त्ति)

चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतम्) साधु वृषल ! साधु ! ममैव हृदयेन सह सम्मन्त्र्य सन्दिष्टवानसि । (प्रकाशम्) शोणोत्तरे ! उच्यतामस्मद्वचनाद् वृषलः साधु, वत्स ! साधु, अभिज्ञः खल्वसि लोकव्यवहाराणाम्, तदनुष्ठीयतामात्मनोऽभिप्रायः; किन्तु पर्वतेश्वरधृतपूर्वाणि भूषणानि गुणवन्ति, गुणवद्भ्य एव ब्राह्मणेभ्यः प्रतिपादनीयानि । तद् एषोऽहं स्वयं परीक्षितगुणान् ब्राह्मणान् प्रेषयामि ।

'सहसेष्टार्थलाभ' इति लक्षितं नाट्यदर्पणकृता, यत्प्रयोजनं च सभ्यानामाकस्मिकचमत्कारजननादि स्वयमूह्यमित्यलं विस्तरेण । गृहीतो जयशब्द इति तु प्रथममङ्गं प्रतिमुखसन्धेस्संयोजितम् । इदमेवाङ्गं 'विलासो नृस्त्रियोरीहे' ति विलास इति परिभाष्यते । वीररसप्रधानमिदं नाटकम् । मुखसन्धावुपक्रान्तो हि वीरो रसोऽत्र प्रतिमुखसन्धौ चाणक्यस्योत्साहसम्पद्विभूषितस्य राक्षसजयाभिलाषसंरम्भरूपेण विलासेन सविशेषमुपन्यसनीय इति विलासप्रकाशकमङ्गमिदम् ।

प्रतीहारी—महाराज ! कमल–मुकुल की भांति प्रणामाञ्जलि को सिर से लगाकर सम्राट् चन्द्रगुप्त का निवेदन है कि, यदि आपकी अनुमति हो, तो महाराज पर्वतेश्वर का श्राद्ध कर दिया जाय और उनके उपयुक्त आभरणों को उपयुक्त ब्राह्मणों को दान में दे दिया जाय ।

चाणक्य—(प्रसन्नता पूर्वक–स्वगत) कितनी अच्छी बात कही चन्द्रगुप्त ने । ऐसा लगता है मानो मेरे मन से ही पूछकर कही हो । (सुनाकर) मेरी ओर से सम्राट् से कहना कि उन्हें तो लोक–व्यवहार का पता है ही और वे जैसा उचित समझें कर लें । किन्तु एक बात का ध्यान रहे कि महाराज पर्वतेश्वर द्वारा धारण किये गये आभूषण बहुमूल्य हैं और उन्हें सच्चे ब्राह्मणों को ही दान में दिया जाना चाहिये । इसलिये मैं अच्छी तरह छानबीन कर स्वयं ब्राह्मणों को दान लेने के लिये भेज रहा हूँ ।

प्रतिहारी—**यदार्य आज्ञापयतीति** [निष्क्रान्ता] (ज अज्जो आणवेदि त्ति)

चाणक्यः—**शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव ! उच्यन्तामस्मद्वचनाद्विश्वावसुप्रभृतयस्त्रयो भ्रातरो यथा—'वृषलात्प्रतिगृह्याभरणानि भवद्भिरहं द्रष्टव्य' इति ।**

शिष्यः—**यदाज्ञापयत्युपाध्यायः** (इति निष्क्रान्तः)

चाणक्यः—(स्वगतम्) **उत्तरोऽयं लेखार्थः, पूर्वः कतमोऽस्तु !**

(विचिन्त्य) **आं ज्ञातः, उपलब्धवानस्मि प्रणिधिभ्यः, यथा तस्य म्लेच्छराजबलस्य मध्यात् प्रधानतमाः पञ्च राजानः परया भक्त्या राक्षसमनुवर्त्तन्ते । ते यथा—**

कौलूतश्चित्रवर्मा मलयनरपतिः सिंहनादो नृसिंहः

राक्षसविजयाय प्रयोक्ष्यमाणस्य कूटलेखस्यार्थस्वरूपं निपुणं निरूपयतश्चाणक्यस्य सुनिश्चितभाविकार्यसिद्धेरुक्तिरियम्—कौलूतश्चित्रकर्मेति । आः चिन्तितं लेखस्य पूर्वलेख्यमर्थंजातम् । राक्षसं परया भक्त्या सेवमानानां मलयकेतुसेनामहाध्यक्षाणां प्रधानतमानां पञ्चानां राज्ञां किमपि तादृशं कर्मादिलेख्यमत्र लेखे यद् दृष्ट्वैव मलयकेतुः क्रोधान्ध एकत एतान् विनाशयेदपरतश्च राक्षसादपरज्येतेति । इमे ते पञ्च राजानोऽस्मच्छत्रुसेनामहादण्डनायकाः । प्रथमस्तु कौलूतः कुलूतदेशाधिपतिः

प्रतीहारी—जैसी आज्ञा महाराज ! (बाहर निकल जाती है ।)

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !! जाओ और मेरी ओर से विश्वावसु इत्यादि तीनों भाइयों से कहो कि उन्हें सम्राट् चन्द्रगुप्त के पास जाना है और वहां से दान-दक्षिणा में मिले आभूषणों के साथ मुझ से भेंट करनी है ।

शिष्य—जो आज्ञा उपाध्याय ! (बाहर चला जाता है)

चाणक्य—(स्वगत) यह सब तो लेख का अन्तिम भाग हुआ । पहला क्या हो ! (कुछ सोचकर) हां, ध्यान आया जैसा कि गुप्तचरों से पता चला था कि म्लेच्छराज की सेनाओं के पांच प्रमुख राजगण राक्षस के बड़े भक्त अनुगामी बन रहे हैं ।

ये हैं वे लोग—

१—कुलूतराज, चित्रवर्मा (नाम के समान सेनासंनाह भी तो चित्र-विचित्र ही होना चाहिये !)

२—मलय नरेश-सिंहनाद (जैसा नाम वैसा ही गुण ! ऐसा लगता है मानो हमारे लिये नृसिंह अवतार बनकर आये हैं !)

काश्मीरः पुष्कराक्षः क्षतरिपुमहिमा सैन्धवः सिन्धुषेणः।
मेघाक्षः पञ्चमोऽस्मिन् पृथुतुरगबलः पारसीकाधिराजो
नामान्येषां लिखामि ध्रुवमहमधुना चित्रगुप्तः प्रमार्ष्टु ॥ २० ॥

(विचिन्त्य) अथवा न लिखामि, सर्वमनभिव्यक्तमेव तावदास्ताम्। (प्रकाशम्) शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !

शिष्यः—(प्रविश्य) उपाध्याय ! आज्ञापय।

चित्रवर्मेतिनामतो स्वगुणश्लाघातश्च विचित्रवर्मादिसन्नाहदुराधर्षत्वादेः। द्वितीयस्तु मलयनरपतिः मलयमहाराजो नृसिंहः नरश्रेष्ठस्सिंहनाद इति नामतः स्वगुणाभिख्यानाच्च सिंहवत्प्राणिमात्रभयङ्करत्वादेः। तृतीयस्तु काश्मीरः काश्मीरदेशनाथः पुष्कराक्ष इति नाम दधानोऽथ चात्मानमपि पुष्कराक्षत्वेन विक्रान्तविष्ण्वात्मना मन्यमान इति। योऽयं चतुर्थस्स तु क्षतरिपुमहिमा क्षतो विनाशितः रिपूणां महिमाऽभिषेणनशक्तिर्येनैवंभूत एवंरूपं वाऽऽत्मानं विजानानः सैन्धवस्सिन्धुनरपतिस्सिन्धुषेण इति संज्ञाप्यमानस्स्वयमपि स्वसेनागणनामगण्यां मन्वान इति········ योऽसौ पञ्चमस्स तु पारसीकाधिराजः पारसीकाधिपतिः पृथुतुरगबलः प्रभूताश्वारोहिसैन्यः मेघाक्ष इति नामतो गुणविकत्थनातश्च। लेखस्य मम पूर्वार्थभूता इम एव ते पञ्च राजानः। एषां निश्चितमृत्यूनां दैवेनाप्यशक्यरक्षाणां नामानि ध्रुवमहमस्मिन् लेखे लिखामि, का शक्तिश्चित्रगुप्तस्य मृत्युलेखाध्यक्षस्यापि मल्लेखमन्यथा कर्तुम् ! यद्यस्ति काचन शक्तिरागच्छतु स वराकश्चित्रगुप्तः प्रमार्ष्टु चाधुना मत्पुरत एव नामानीमानि मल्लेखतोऽवश्यंभाविमरणानाममीषामिति भावः॥ २०॥

३—कश्मीर के महाराज-पुष्कराक्ष (नाम से लगता है मानो शत्रुञ्जय महादेव के रूप धरे हों !)

४—सिन्धु देशाधिप, शत्रुमर्दन सिन्धुषेण नाम से ही मानो सेना का समुद्र ढो रहे हों।

५—पारसीकाधिराज मेघाक्ष-अपनी अश्व-सेना के अभिमान में चूर हों अच्छी बात है पहले इन्हीं का नाम लिखता हूँ, होनी होकर ही रहेगी, यमराज के लेखक को भी देख लूंगा कि कैसे इन नामों को यहां मिटाता है॥ २०॥

(कुछ सोचकर) नहीं नहीं, नाम क्यों लिखूँ-सब कुछ ऐसा लिखूं कि किसी की समझ में ही कुछ न आये। (सुनाकर) शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !!

शिष्य—(प्रवेश कर) उपाध्याय ! आज्ञा हो।

चाणक्यः--वत्स ! श्रोत्रियाक्षराणि प्रयत्नेन लिखितान्यपि नियत-मस्फुटानि भवन्ति, तदुच्यतामस्मद्वचनात् सिद्धार्थकः । (कर्णे एवमिव) 'एभिरक्षरैः केनापि, किमपि, कस्यापि स्वयं वाच्यम्' इति, अदत्तबाह्य-नामानं लेखं शकटदासेन लेखयित्वा मामुपतिष्ठस्व, न चाख्येयमस्मै 'चाणक्यो लेखयती'ति ।

शिष्यः--तथेति । (निष्क्रान्तः)

चाणक्यः--(स्वगतम्) हन्त जितो मलयकेतुः ।

सिद्धार्थकः--(लेखहस्तः प्रविश्य) जयतु जयत्वार्यः । आर्य ! अयं सः शकटदासेन स्वहस्तलिखितो लेखः (जेदु जेदु अज्जो । अज्ज ! अअं सो सअडदासेण सहत्थलिखिदो लेहो) ('मह वअणेण अविचालिय' इत्यधिकपाठे--'मम वचनेनाविचार्य्य' इति संस्कृतम्)

चाणक्यः—(गृहीत्वा निरीक्ष्य) अहो दर्शनीयताक्षराणाम् (इत्यनुवाच्य)

टिप्पणी—अत्र प्रतिमुखसन्धेरङ्गमुपन्यासरूपं निबद्धम् । उपन्यासलक्षणं तु-उपपत्तिरुपन्यास' इति ।

अत्र राक्षसमलयकेत्वोर्भेदकरणरूपमर्थजातं विधातुं चाणक्यस्य या गूढलेख-रचनासम्बन्धिनीयुक्तिस्सैवोपन्यास इति ।

अहो दर्शनीयताक्षराणामिति । राजशासनस्य लेखस्य काचन सम्पदत्र यथाऽर्थ-

---

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! मैं ठहरा श्रोत्रिय और मेरे लिखे अक्षर, चाहे वे जैसे भी संभाल कर लिखे जांय, दूसरों के पढ़ने में न आ पावेंगे । इसलिये मेरी ओर से सिद्धार्थक से जाकर कहो (कान में सब कुछ कह कर) कि वह शकटदास के द्वारा, जिसे केवल इतना ही पता चल सके कि कोई एक व्यक्ति, किसी एक व्यक्ति के पास, किसी बात के लिये कुछ लिखवा रहा है, यह लेख लिखवा कर मुझ से मिले । यह ध्यान रहे कि उसे यह पता न चलने पावे कि चाणक्य के द्वारा यह सब लिखवाया जा रहा है ।

शिष्य—ऐसा ही होगा । (बाहर चला जाता है)

चाणक्य—(स्वगत) अब क्या ! मलयकेतु को तो मार लिया ।

सिद्धार्थक—(हाथ में लेख लिये, भीतर आकर) जय हो महाराज । जय हो । लेख तो शकटदास से लिखवा लिया । यह रहा लेख !

चाणक्य—(हाथ में लेकर—ध्यान से देखते हुए) कितने सुन्दर अक्षर

भद्र ! अनया मुद्रया मुद्रयैनम् ।

सिद्धार्थकः—यदार्य आज्ञापयति । (तथा कृत्वा) आर्य ! अयं स मुद्रितो लेखः, तदाज्ञापयत्वार्यः किमपरमनुष्ठीयतामिति (जं अज्जो आणवेदि त्ति । अज्ज ! अअं सो मुद्दिदो लेहो, ता आणवेदु अज्जो किं अवर अणुचिट्ठीअदुत्ति)

चाणक्यः—भद्र ! कस्मिंश्चित् आत्मनाऽनुष्ठेये कर्मणि त्वां व्यापारयितुमिच्छामि ।

सिद्धार्थकः—(सहर्षम्) आर्य ! अनुगृहीतोऽस्मि, तदाज्ञापयतु आर्यः किमनेन दासजनेन आर्यस्यानुष्ठातव्यम् ? अज्ज ! अणुग्गहीदोह्मि, ता आणवेदु अज्जो, किं इमिणा दासजणेण अज्जस्स अणुचिट्ठिदव्वं)

चाणक्यः—भद्र ! प्रथमं तावत् वध्यस्थानं गत्वा घातकाः सरोषं दक्षिणाक्षिसङ्कोचसंज्ञां ग्राहयितव्याः, ततस्तेषु गृहीतसंज्ञेषु भयापदेशादितस्ततः प्रद्रुतेषु शकटदासो वध्यस्थानादपनीय राक्षसं प्रापयितव्यः, तस्माच्च सुहृत्प्राणरक्षणपरितुष्टात् पारितोषिकं ग्राह्यम् , राक्षस एव कञ्चित् कालं

शास्त्रं विवक्षिता नाटककविना । अर्थशास्त्रे हि–'आशुग्रन्थश्चार्वक्षरो लेखकः स्यादि'ति यत् प्रतिपादितम् । तदेवात्र प्रकारान्तरेणोपपादितमिति ।

हैं ! (बचते हुए) सिद्धार्थक ! इस पर इस अंगूठी की छाप तो लगा !

सिद्धार्थक—जैसी आज्ञा (छाप लगा कर) महाराज ! यह रहा छाप लगा लेख ! आज्ञा हो और क्या करूं ।

चाणक्य—सिद्धार्थक ! तुम्हें तो एक ऐसा काम सौंपना चाहता हूं जिसे मैं स्वयं करता !

सिद्धार्थक—(प्रसन्नता के साथ) यह तो आप की कृपा है महाराज ! दास खड़ा है, जिस बात की भी आज्ञा हो करने के लिये तैयार है ।

चाणक्य—बहुत ठीक ! देखो सिद्धार्थक ! तुम्हें बध्य-भूमि पर जाना है और वहां वधिकों को यह संकेत समझा देना है कि शकटदास का वध करने के समय जैसे ही तुम उनपर बिगड़ उठो और अपनी दाहिनी आंख दबाओ, उन्हें घबराहट में आकर वहां से भाग खड़ा होना है और यह सब हो चुकने पर तुम्हें जो करना है वह है शकटदास को वध्य-भूमि से भगाकर राक्षस के पास पहुंचाना, मित्र की प्राण रक्षा से प्रसन्न राक्षस से पारितोषिक लेना, कुछ समय

सेवितव्यः, ततः प्रत्यासन्नेषु परेषु त्वया प्रयोजनमिदमनुष्ठेयम् (कर्णे एवमेवम्)।

सिद्धार्थकः--यदार्य आज्ञापयतीति (जं अज्जो आणवेदि त्ति)

चाणक्यः--शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !!

शिष्यः--(प्रविश्य) उपाध्याय ! आज्ञापय।

चाणक्यः--उच्यतां मद्वचनात् कालपाशिको दण्डपाशिकश्च, यथा वृषलः समाज्ञापयति 'य एष क्षपणको जीवसिद्धिर्नाम राक्षसप्रयुक्तो विषकन्यया पर्वतेश्वरं घातितवान् ; स एनमेव दोष प्रख्याप्य सनिकारं नगरात् निर्वास्यताम्' इति।

शिष्यः--तथेति (इति परिक्रामति)

चाणक्यः--वत्स ! तिष्ठ तिष्ठ, 'योऽयमपरः कायस्थः शकटदासो नाम राक्षसप्रयुक्तो नित्यमस्मच्छरीरमभिद्रोग्धुमिह प्रयतते, स चाप्येनं दोषं प्रख्याप्य, शूलमारोप्यतां, गृहजनश्चास्य बन्धनागारे प्रवेश्यतामिति।

तक राक्षस की ही सेवा में रहना और जब हमारे दूसरे लोग भी जमा हो जांय तब (कान में सब बातें कह कर) यह काम पूरा करना।

सिद्धार्थक—जो आज्ञा महाराज।

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !!

शिष्य— भीतर आकर) क्या आज्ञा है उपाध्याय !

चाणक्य—जाओ और मेरी ओर से कालपाशिक और दण्डपाशिक से यह कहो कि सम्राट् चन्द्रगुप्त की आज्ञा है कि जीवसिद्धि नाम के जिस राक्षस-प्रयुक्त क्षपणक ने विषकन्या के द्वारा महाराज पर्वतेश्वर की हत्या करवायी है उसे, उसके अपराध की घोषणा करते हुये, अपमान के साथ, नगर से निर्वासित कर दिया जाय।

शिष्य—जैसी आज्ञा, उपाध्याय ! (चलने लगता है)

चाणक्य—ठहरो, ठहरो, सुनते जाओ। और दूसरा व्यक्ति जो कायस्थ शकटदास कहलाता है और जो राक्षस की चाल चलता हुआ इसी पाटलिपुत्र में हमारे प्राण का गाहक बना हुआ है, इसी अपराध की घोषणा के साथ २ फांसी पर चढ़ा दिया जाय और उसके बाल-बच्चों को कारागार में बंद कर दिया जाय।

शिष्यः—तथेति (इति निष्क्रान्तः)

चाणक्यः--(चिन्तां नाटयित्वा स्वगतम् ।) अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत ?

सिद्धार्थकः--आर्य ! गृहीतः (अज्ज ! गहीदो)

चाणक्यः--(सहर्षमात्मगतम्) हन्त ! गृहीतो राक्षसः (प्रकाशम्) भद्र ! कोऽयं गृहीतः ?

सिद्धार्थकः--गृहीतो मया आर्यस्य सन्देशः, तद् गमिष्याम्यहं कार्यसिद्ध्यै (गहीदो मए अज्जस्स सन्देसो, ता गमिस्सं अहं कज्जसिद्धीए)

चाणक्यः--(साङ्गुलिमुद्रं लेखमर्पयित्वा) भद्र ! सिद्धार्थक ! गम्यताम्, अस्तु ते कार्यसिद्धिः ।

सिद्धार्थकः--यदार्य्य आज्ञापयतीति [प्रणम्य निष्क्रान्तः] (जं अज्जो आणवेदि त्ति)

आर्य ! गृहीत इत्यत्र पताकास्थानकमपरं निबध्नाति-कविर्नाटयस्यालङ्करणायेति । तथाह्यत्र चाणक्येन 'अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येते'त्यादिस्वमनोरथेऽस्फुटमुपक्षिप्ते सिद्धार्थकस्य प्रविशतो यत् 'आर्य ! गृहीत' इति प्रत्युत्तरं सन्देशग्रहणज्ञापनप्रयोजनेन प्रयुक्तं तस्य प्रस्तुतार्थसम्बद्धतया चाणक्यहृदये राक्षसग्रहग्रहिलतायाः सविशेषं निश्चायकं चतुर्थमिदं पताकास्थानकम् । इदं हि 'अप्रकटे श्लिष्ट-स्पष्ट-प्रत्यभिधाऽपिचे'ति लक्ष्यते नाट्यविद्भिः ।

शिष्य—ऐसा ही होगा ।(बाहर निकल जाता है)

चाणक्य—(चिन्तित होने का अभिनय करते हुए स्वगत) क्या अब भी यह दुष्ट राक्षस वश में न आवेगा !

सिद्धार्थक—आ गया महाराज !

चाणक्य—(प्रसन्नता के साथ स्वगत) बस, अब राक्षस वश में आ गया ! (सुना कर) क्यों, क्या आ गया !

सिद्धार्थक—महाराज ने जो कुछ कहा, समझ में आ गया। अब मैं अपने काम पर चलता हूँ।

चाणक्य—(अंगूठी के साथ लेख सौंपते हुए) जाओ सिद्धार्थक ! जाओ। अपना काम पूरा कर दिखाओ।

सिद्धार्थक—जो आज्ञा महाराज ! (प्रणाम कर चला जाता है ।)

शिष्यः--(प्रविश्य) उपाध्याय ! कालपाशिको दण्डपाशिकश्च उपाध्यायं विज्ञापयतः 'इदमनुष्ठीयते देवस्य चन्द्रगुप्तस्य शासनमि'ति ।

चाणक्यः--शोभनम् । वत्स ! मणिकारश्रेष्ठिनं चन्दनदासमिदानीं द्रष्टुमिच्छामि ।

शिष्यः--यदाज्ञापयत्युपाध्यायः (इति निष्क्रम्य चन्दनदासेन सह पुनः प्रविश्य) इत इतः श्रेष्ठिन् !

चन्दनदासः—(स्वगतम्)—

चाणक्येऽस्मिन्नकरुणे सहसा शब्दायितस्य लोकस्य ।
वर्द्धते निर्दोषस्यापि शङ्का, किं जातदोषस्य ? ॥ २१ ॥
(चाणक्कम्मि अअरुणे सहसा सद्दाविदस्स लोअस्स ।
वड्ढइ णिद्दोसस्स बि सङ्का, किं जाददोसस्स ? ॥ २१ ॥)

तद्भणिता मया धनसेनप्रमुखास्त्रयो वाणिजिका यथा 'कदापि चाण-

चाणक्यमुपसर्पंश्चन्दनदासः किमप्यनिष्टं स्वविषयकं मनसि निध्यायन्नाह—चाणक्येऽस्मिन्नित्यादि । हन्त ? अकरुणे निर्दये चाणक्ये सति तेन शब्दायितस्याहूतस्य लोकस्य जनस्य निर्दोषस्यापि निरपराधस्यापि शङ्का 'न जाने किं भविष्यती'-त्यादिरूपं भयं सहसाऽकस्मादेव वर्द्धते । मम पुनर्जातदोषस्य राक्षसकलत्ररक्षणादिना कृतराजापथ्यस्याऽपराधिनः पुनः कथैव का ? सुतरामेव नष्टोऽहमधुनेति भाव इति ॥ २१ ॥

शिष्य—(प्रवेश कर) उपाध्याय ! कालपाशिक और दण्डपाशिक का निवेदन है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त की आज्ञा का पालन होगा ।

चाणक्य—बहुत ठीक । शार्ङ्गरव ! अब मुझे चन्दनदास को देखना है ।

शिष्य—जैसी आज्ञा उपाध्याय ! (बाहर निकल कर चन्दनदास के साथ पुनः प्रवेश करके) इधर आइये सेठ जी इधर ।

चन्दनदास—(स्वगत)

'यह चाणक्य भी कैसा निर्दय है कि कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना भी निर्दोष क्यों न हो, अचानक इसके सामने बुलाये जाने पर डर से कांप उठता है । फिर मेरा क्या कहना । मैं तो सचमुच इसका अपराधी हूँ ॥ २१ ॥

अब जो भी हो । कम से कम धनसेन इत्यादि अपने तीनों कारचारियों को

कथहतको गेहं मे विचिनोति तदवहिता निर्वहत भर्त्तुः अमात्यराक्षसस्य गृहजनम्, मम तावत् यद्भवति तद्भवतु, इति (ता भणिदा मए धणसेणप्पमुहा तिणि वाणिजिया। जधा 'कदावि चाणक्कहदओ गेहं मे विचिण्णावेदि, ता अवहिदा णिब्बहध भट्टिणो अमच्चरक्खसस्स घरअणं, मह दाव जं होदि तं होदु'त्ति)

शिष्यः—भोः श्रेष्ठिन्! इत इतः।

चन्दनदासः—अयमागतोऽस्मि (अअं आगदोह्मि) (उभौ परिक्रामतः)

शिष्यः—उपाध्याय! अयं श्रेष्ठी चन्दनदासः।

चन्दनदासः—(उपसृत्य) जयतु जयत्वार्यः (जेदु जेदु अज्जो)

चाणक्यः—(नाट्येनावलोक्य) भोः श्रेष्ठिन्! स्वागतम्। इदमासनमास्यताम्।

चन्दनदासः—(प्रणम्य) किं न जानाति आर्यः, यथाऽनुचित उपचारः (अत्र 'सहिदअस्स' इत्यधिकपाठे—'सहृदयस्य' इति संस्कृतम्) परिभवादपि

'भोः श्रेष्ठिन्! स्वागत'मित्याद्यारभ्य 'कथं न ज्ञायते नामेत्याद्यन्तं यत्प्रश्नप्रतिप्रश्नादि तत्तु प्रतिमुखसन्धेरङ्गप्रगमनं नाम। प्रगमनस्य लक्षणं यथा–'प्रगमः प्रतिवाक्श्रेणिरि'ति। मुखसन्धौ निक्षिप्तं राक्षसवशीकारोपायादिरूपं यद्बीजं तदेव चन्दनदासनिग्रहादिना प्रतिमुखेऽत्र समुद्घाटितं चाणक्यस्य प्रयत्नपरिचायकत्वेनाऽवस्थितमिति निपुणमुद्भावनीयं विद्वद्भिरिति।

तो मैं कह ही चुका हूँ कि अमात्य राक्षस का कुटुम्ब, जब कभी इस दुष्ट चाणक्य द्वारा घर-तलाशी हो, सावधानी के साथ कहीं और हटा दिया जाय। अब मुझ पर जो बीते, बीत जाय।

शिष्य—इधर, सेठ जी! इधर।

चन्दनदास—आया, आया। (दोनों चलते हैं)

शिष्य—उपाध्याय। सेठ चन्दनदास आये हैं।

चन्दनदास—(पास पहुंच कर) जय हो महाराज!

चाणक्य—(विचित्र ढंग से देखते हुये) अरे। सेठ जी! आइये, आइये, यहां इस शासन पर विराजिये।

चन्दनदास—(प्रणाम करते हुये) महाराज तो यह सब कुछ जानते ही हैं कि मेरा यह सत्कार मेरे उचित नहीं और इसलिये मुझे यह सब तिरस्कार से

महद् दुःखमुत्पादयति, तद् इहैव अहमुचितायां भूमावुपविशामि (किं ण जाणादि अज्जो, जहा अणुचिदो उवआरो परिहवादोवि महन्तं दुःखमुप्पादेदि, ता इह ज्जेव्व अहं उचिदाए भूमीए उवविसामि)

चाणक्यः--भोः श्रेष्ठिन् ! मा मैवम् , उचितमेवैतत् अस्मद्विधैः सह भवतः, तदुपविश्यतामासन एव ।

चन्दनदासः--(स्वगतम्) उपलक्षितमनेन किमपि । (प्रकाशम्) यदार्य आज्ञापयति इति (उपलक्खिदमणेण किम्पि जं अज्जो आणवेदि त्ति) (उपविष्टः)

चाणक्यः--भोः श्रेष्ठिन् ! चन्दनदास ! अपि प्रचीयन्ते संव्यवहाराणां वृद्धिलाभा वः ?

चन्दनदासः—(स्वगतम्) अत्यादरः शङ्कनीयः (प्रकाशम्) आर्य ! अथ किम् , आर्यस्य प्रसादेन अखण्डिता मे वाणिज्या (अच्चादरो संकणीओ अज्ज ! अध इं, अज्जस्स पसाएण अखण्डिदा मे वाणिज्जा)

चाणक्यः--भोः श्रेष्ठिन् ! अपि कदाचित् चन्द्रगुप्तदोषा अतिक्रान्त-पार्थिवगुणान् अधुना स्मारयन्ति प्रकृतीः ?

चन्दनदासः--(कर्णौ पिधाय) शान्तं पापम् , शारदनिशासमुद्गतेनेव

भी बढ़ कर बुरा लग रहा है। मेरे बैठने योग्य तो यह धरती है मुझे यहीं बैठने दिया जाय।

चाणक्य—नहीं नहीं, सेठ जी ! ऐसा न कहिये। आसन पर ही विराजिये। हमारे साथ तो आपका आसन पर ही विराजना ठीक लगता है।

चन्दनदास—(स्वगत) इसने कुछ ताड़ लिया है ! (सुनाकर) जो आज्ञा महाराज ! (बैठ जाता है)

चाणक्य—कहिये सेठ चन्दनदास ! व्यवसाय तो आपका बढ़ती पर है न।

चन्दनदास—(स्वगत) इतना आदर-सत्कार ! कोई न कोई अनिष्ट होने वाला है ! (सुनाकर) हाँ महाराज ! महाराज की कृपा से व्यवसाय तो ठीक ठाक चल ही रहा है।

चाणक्य—क्यों सेठ जी। क्या कभी २ प्रजाओं को चन्द्रगुप्त की त्रुटियाँ दिवंगत महाराज के गुणों का स्मरण नहीं करवाया करतीं।)

चन्दनदास—(कानों पर हाथ रख कर) नहीं नहीं, ऐसा न कहें

पूर्णिमाचन्द्रेण चन्द्रश्रियाऽधिकं नन्दन्ति प्रकृतयः (सन्तं पावं । सारअणिसा-समुग्गदेण विअ पुण्णिमाचन्देण चन्दसिरिणा अधिअं णंदन्ति पइदिओ)

चाणक्यः--भोः श्रेष्ठिन् ! यद्येवं, प्रीताभ्यः प्रकृतिभ्यः प्रियमिच्छन्ति राजानः ।

चन्दनदासः--आज्ञापयतु आर्यः किं कियद्वा अर्थजातमस्माज्जनादिष्यत इति (आणवेदु अज्जो । 'किं कित्तिअं वा अत्थजादं इमादो इच्छीअदि त्ति)

चाणक्यः--भोः श्रेष्ठिन् ! चन्द्रगुप्तराज्यमिदम् न नन्दराज्यम् , यतो नन्दस्यैवार्थरुचेरर्थसम्बन्धः प्रीतिमुत्पादयति, चन्द्रगुप्तस्य तु भवतामपरिक्लेश एव ।

चन्दनदासः--(सहर्षम्) आर्य ! अनुगृहीतोऽस्मि (अज्ज ! अणुग्गहीदोह्मि)

चाणक्यः--भोः श्रेष्ठिन् ! स चापरिक्लेशः कथमाविर्भवतीति न पुनः प्रष्टव्याः स्मो भवता ?

चन्दनदासः--आज्ञापयत्वार्यः (आणवेदु अज्जो)

महाराज ! प्रजायें तो साम्राट् चन्द्रगुप्त को देख कर ऐसे प्रसन्न हो रही हैं जैसे शरत् पूर्णिमा के चन्द्र को देख कर प्रसन्न हुआ करती हैं ।

चाणक्य—सेठ जी ! यदि ऐसो बात है तब तो राजा लोग भी अपनी प्रसन्न प्रजाओं से कुछ आशायें रखा करते हैं !

चन्दनदास—आज्ञा हो महाराज ! इस दास से क्या और कितनी सेवा चाहिये ?

चाणक्य—सेठ चन्दनदास ! अब यह राज्य चन्द्रगुप्त का है नन्द का नहीं । धन-लुब्ध नन्द को धन से ही प्रसन्न किया जा सकता होगा, चन्द्रगुप्त को तो आप की सुख-समृद्धि ही प्रसन्न कर सकती है ।

चन्दनदास—(प्रसन्न होकर) महाराज ! यह तो आपकी कृपा है ।

चाणक्य—सेठ जी ! किन्तु आपने पूछा नहीं कि आप को किस प्रकार सुखी और समृद्ध बने रहना चाहिये !

चन्दनदास—महाराज ही आज्ञा दें ।

चाणक्यः--संक्षेपतो राजनि अविरुद्धाभिर्वृत्तिभिर्वर्त्तितव्यम् ।

चन्दनदासः--आर्य ! कः पुनरधन्य आर्येणावगम्यते ? (अज्ज ! को उण अधण्णो, अज्जेण अवगच्छीअदि) ('जो राअरुद्धोत्ति' इति पाठे 'यो राजविरुद्धः' इति । 'राअ' इत्यत्र 'राणि' 'राणा' इति च क्वचित् पाठौ । 'राज्ञि' = राजविषये 'राज्ञा' सह वा इति संस्कृतम्)

चाणक्यः—भवान् एव तावत् प्रथमः ।

चन्दनदासः—(कर्णौ पिधाय) शान्तं पापं, शान्तं पापं, कीदृशस्तृणानामग्निना सह विरोधः ? (सन्तं पावं, सन्तं पावं, कीदिसो तिणाणं अग्गिणा सह विरोहो)

चाणक्यः—अयमीदृशो विरोधो, यत् त्वमद्यापि राजापथ्यकारिणोऽमात्यराक्षसस्य गृहजनं स्वगृहमभिनीय रक्षसि ।

चन्दनदासः—आर्य ! अलीकमेतत्, केनापि अनार्येण आर्यस्य निवेदितम् (अज्ज ! अलीअं एदं केणावि अणज्जेण अज्जस्स णिवेदिदं)

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन् ? अलमाशङ्कया, भीताः पूर्वराजपुरुषाः पौरा-

---

चाणक्य—बस मुझे तो केवल इतना ही कहना है कि राजा के साथ उलटा-पुलटा व्यवहार न होना चाहिये ।

चन्दनदास—महाराज ! ऐसा कौन अभागा है जो आप की दृष्टि में राजा का विरोध कर रहा है ।

चाणक्य—सब से पहले तो तुम्ही हो ।

चन्दनदास—(कान पर हाथ रख कर) ऐसा न कहें महाराज ! भला तिनके का आग से कैसा विरोध !

चाणक्य--ऐसा विरोध कि तुम अभी भी राज-विद्रोही अमात्य राक्षस के परिवार को अपने घर में छिपाये हुये हो ।

चन्दनदास--महाराज ! पता नहीं किस नीच ने आप से ऐसा कह दिया । यह सब बिलकुल झूठ है ।

चाणक्य—सेठ चन्दन दास ! डरो मत । बात ऐसी है कि नन्द के डरपोक राजसेवक नागरिकों की इच्छा के विरुद्ध भी उनके घरों में अपना परिवार छोड़

णामनिच्छतामपि गृहेषु गृहजनं निक्षिप्य देशान्तरं व्रजन्ति, ततस्तत्प्रच्छादनमेव दोषमुत्पादयति।

चन्दनदासः—एवं नु इदम्। तस्मिन् समये आसीदस्मद्गृहे अमात्यराक्षसस्य गृहजनः (एव्वं ण्णेदं। तस्सिं समये आसी अह्मघरे अमच्चरक्खसस्स घरअणो)

चाणक्यः—'प्रथमम् अनृतम्, इदानीम् आसीदि'ति परस्परविरोधिनी वचने।

चन्दनदासः—एतावदेवास्ति मे वाक्छलम् (एत्तिअं ज्जेव अत्थि मे वाआच्चलं)

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन्! चन्द्रगुप्ते राजनि न परिग्रहः छलानां, तत् समर्पय राक्षसस्य गृहजनमच्छलं भवतु भवतः।

चन्दनदासः—आर्य! ननु विज्ञापयामि-'तस्मिन् समये आसीदस्मद्गृहे अमात्यराक्षसस्य गृहजन' इति (अज्ज! णं विण्णवेमि-'तस्सिं समय आसी अह्मघर अमच्चरक्खसस्स घरअणो'त्ति)

चाणक्यः—अथ इदानीं क गतः?

कर कहीं इधर उधर भागे फिर रहे हैं। इसमें तुम्हारा अपराध इतना ही है कि तुम बात छिपा रहे हो।

चन्दनदास—ठीक है महाराज। पहले तो मेरे घर में अमात्य राक्षस का परिवार अवश्य छिपा था।

चाणक्य—चन्दनदास! पहले तुम झूठ बोले--'नहीं छिपा था अब कहते हो 'छिपा था। ऐसी उलटी-पुलटी बातों का क्या अर्थ!

चन्दनदास—महाराज! कहने में भूल हो गई।

चाणक्य—चन्दनदास! ध्यान रखो, चन्द्रगुप्त के राजा रहते हुये छल-बल से काम नहीं चल सकेगा। यह भूल-चूक तभी दूर हो सकेगी जब हमें राक्षस का परिवार सौंप दो।

चन्दनदास—महाराज! मैंने पहले ही कह दिया कि पहले कभी अमात्य राक्षस का परिवार मेरे घर में रह चुका है।

चाणक्य—अब कहां गया!

चन्दनदासः—न जानामि कुत्र गत ? इति (ण जाणामि कहिं गदो ? त्ति)

चाणक्यः—(स्मितं कृत्वा) कथं न ज्ञायते नाम ? भोः श्रेष्ठिन् ! शिरसि फणी दूरे तत्प्रतीकारः। अन्यच्च नन्दमिव विष्णुगुप्तः—'

(अर्द्धोक्तौ लज्जां नाटयति)

चन्दनदासः—(स्वगतम्)—

उपरि घनं घनरटितं दूरे दयिता किमेतदापतितम् ?
हिमवति दिव्यौषधयः शीर्षे सर्पः समाविष्टः ॥ २२ ॥

(उवरि घणं घरणरडिअं दूरे दइया किमेददावडिअम् ।
हिमवदि दिव्वोसहिओ सीस्से सप्पो समाविट्ठो ॥ २२ ॥)

चाणक्यः—चन्द्रगुप्तममात्यराक्षसः समुच्छेत्स्यतीति मैवं मंस्थाः। पश्य—

चाणक्यं फणिनमिव शिरसि निपतन्तं तत्प्रतीकारञ्च कमपि न पश्यतश्चन्दनदासस्योक्तिरियम्—उपरि घनमिति।

उपर्यूर्ध्वं घनं नितरां सान्द्रं यथा स्यात्तथा घनरहितं मेघगर्जनं वियोगिजनासह्यं, दयिता च विरहप्रशमनौपयिकी दूरे क्वचनान्यत्र देश इति यदाभाणकं जनानां किमेतत्तदेवाऽपतितं मम मयैवास्य दृष्टान्तेन भाव्यं किम् ? उत शीर्षे सर्पः समाविष्टश्शिरसि फणी तिष्ठति, तत्प्रतीकारक्षमाश्च दिव्यौषधयो हिमवति प्राप्या इति यथा चाणक्येन साभिप्रायं भणितं तदेव ममापतितमिति न ज्ञायते किं मे भविष्यतीति ॥ २२ ॥

चन्दनदास—मुझे क्या पता महाराज ! कि कहां गया।

चाणक्य—(मुसकुराते हुये) अभी पता चलने लगेगा ! सेठ जी ? यह समझ रखो-सांप तुम्हारे सिर पर सवार है और बचने का उपाय कोसों दूर। और सुनो-क्या यह समझ रखा है कि जैसे चाणक्य ने नन्द को······(आधी बात कह कर लज्जा का भाव प्रदर्शित करते हुये रुक जाता है)

चन्दनदास—(स्वगत) 'सिर पर तो सांप सवार हो और संजीवनी बूटी रहे हिमालय पर ; ऊपर तो मेघ-गर्जन हो रहा हो और प्यारी पड़ी हो कोसों दूर ! मेरी तो दुर्दशा अब आ ही पहुंची ॥ २२ ॥

चाणक्य—वैसे ही अमात्य राक्षस चन्द्रगुप्त को भी सत्यानाश में मिला देगा। भूल कर भी ऐसा न सोचना सेठ ! चन्द्रगुप्त से अलग हम भी तो देखें कि—

विक्रान्तैर्नयशालिभिः सुसचिवैः श्रीर्वक्रनासादिभि-
र्नन्दे जीवति, या तदा न गमिता स्थैर्यं चलन्ती मुहुः ।
तामेकत्वमुपागतां द्युतिमिव प्रह्लादयन्तीं जगत्
कश्चन्द्रादिव चन्द्रगुप्तनृपतेः कर्तुं व्यवस्येत् पृथक् ? ॥ २३ ॥

अपि च—('आस्वादिते'त्यादि प्रागुक्तं [अं० १ श्लो० ८] पठति) ।

चन्दनदासः—(स्वगतम्) फलेन सम्पादितं शोभते ते विकत्थितम्
(फलेण संपादिदं सोहदि दे विकत्थिदं)

(नेपथ्ये कलकलः)

चाणक्यश्चन्दनदासं साधिक्षेपं तर्जयन्नाह—विक्रान्तैरिति । चन्दनदास ! राक्षसश्चन्द्रगुप्तं समुच्छेत्स्यतीति मैवं संस्थाः । कुत इति चेत् । तथाहि—या श्रीराजलक्ष्मीस्तदा तस्मिन्नैश्वर्यमये समये विक्रान्तैर्विक्रमशालिभिर्नयज्ञैर्नीतिनिपुणैर्वा सुसचिवैः राजसेवासक्तैरमात्यैश्श्रीवक्रनासादिभिर्वक्रनासप्रभृतिभिरपि जीवति नन्दे धरमाणे नन्दमहाराजे तदन्वये वा कस्मिंश्चित्स्थैर्यं न गमिता निश्चलस्थितिं न प्रापिताऽथ च मुहुर्वारं वारं चलन्ती चलायमाना एव सती स्थिता, तामद्य समुद्योतमाने चन्द्रगुप्तविभवे प्रनष्टे च नन्दैश्वर्ये कोऽस्ति स साहसिको यश्चन्द्रगुप्तनृपतावेकत्वमुपागतां मन्नीतिशक्त्याऽभिन्नावस्थानेन स्थापितामत एव च हेतोर्जगत् प्रह्लादयन्तीं प्रजाजनमनोरञ्जनकारिणीं, चन्द्राच्चन्द्रमसःस्तदभिन्नां द्युतिं कौमुदीमिव जगदानन्दनकरीं चन्द्रगुप्तनृपतेः पृथक्कर्तुं दूरस्थां विधातुं व्यवस्येत् शक्नुयादिति न कोऽपीति शेष इति भावः ॥ २३ ॥

टिप्पणी—अत्र प्रतिमुखसन्धेरङ्गं वज्राख्यं प्रत्यक्षकर्कशवचस्संचयस्वरूपं निबद्धं

'वह कौन है जो राजलक्ष्मी को, उस राजलक्ष्मी को जिसे नन्द के जीते-जागते उसके बडे २ वक्रनास जैसे राजनीति शूर महामन्त्री भी उसके साथ स्थिर न बना सके, अब सम्राट् चन्द्रगुप्त से अलग हटाने का दम भरता है जब कि उसके साथ वह ऐसी हिली-मिली है और सारे संसार को सुख पहुंचा रही है जैसी चन्द्रमा की चांदनी !' ॥ २३ ॥

कान खोल कर सुन लो—'कौन है जो सोकर उठे हुये, जभाई लेते हुये सिंह के मुंह से उसकी दाढ़ा को······इत्यादि (८ वें श्लोक को दुहराते हुये)'

चन्दनदास—(स्वगत) यह सब डींग नहीं बिलकुल सच है !

(नेपथ्य में कोलाहल मचता है)

चाणक्यः—शार्ङ्गरव ! ज्ञायतां किमेतत् ?

शिष्यः—यदाज्ञापयत्युपाध्यायः (निष्क्रम्य, पुनः प्रविश्य) उपाध्याय ! एष राज्ञश्चन्द्रगुप्तस्याज्ञया राजापथ्यकारी क्षपणको जीवसिद्धिः सनिकारं नगरान्निर्वास्यते ।

चाणक्यः—क्षपणकः ? अहह !! अथवा अनुभवतु राजाऽपथ्यकारित्वस्य फलम् । भोः श्रेष्ठिन् चन्दनदास ! एवमयं राजाऽपथ्यकारिषु तीक्ष्णदण्डो राजा, तत् क्रियतां पथ्यं सुहृद्वचः, समर्प्यतां राक्षसगृहजनः, चिरमनुभूयन्तां विचित्रा राजप्रसादाः ।

चन्दनदासः—नास्ति मे गेहे अमात्यराक्षसगृहजनः (णत्थि मे गेहे अमच्चरक्खसघरअणो)

(नेपथ्ये पुनः कलकलः)

चाणक्यः—शार्ङ्गरव ! ज्ञायतां, पुनः किमेतत ?

नाटककृता । वचसोऽस्य चन्दनदासविषयकसान्त्वप्रयोगानुष्ठानस्य प्रध्वंसकत्वाद् वज्रत्वमिति । वज्रेणानेन नायकप्रयत्नस्य समुद्घाटनं मन्त्रयुद्धविषयकोत्साहस्य च प्रकाशीकरणं निपुणं संपन्नमिति मन्तव्यं सुधीभिः ।

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! जाओ, पता लगाओ, कैसा हल्ला है !

शिष्य—जो आज्ञा उपाध्याय ! (बाहर आकर और पुनः प्रवेश कर) उपाध्याय ! यह तो सम्राट् चन्द्रगुप्त की आज्ञा से राजविद्रोही क्षपणक जीवसिद्धि का देश निकाला हो रहा है और उसे भला-बुरा कहा-सुना जा रहा है ।

चाणक्य—ओह ! यह क्षपणक है ! लेकिन नहीं, राजविद्रोह का तो फल इसे मिलना ही चाहिये । देखलो, सेठ चन्दन दास ! राजविद्रोह का कैसा कठोर दण्ड राजा द्वारा दिया जारहा है । अभी भी मौका है तुम्हारे मित्र होने के नाते तुम्हारी भलाई की ही बात कह रहा हूं—सौंप दो राक्षस का परिवार सम्राट् प्रसन्न हो जायगा और फल भी पाजाओगे मुंह मांगा ।

चन्दनदास—मेरे घर में अमात्य राक्षस का परिवार कहां, महाराज !

(नेपथ्य में पुनः कोलाहल)

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! जाओ, पता लगाओ, अब क्या बात है !

शिष्यः—यदाज्ञापयत्युपाध्यायः। (इति निष्क्रम्य, पुनः प्रविश्य) उपाध्याय: ! असौ राजाऽऽज्ञया राजाऽपथ्यकारी कायस्थः शकटदासः शूलमारोपयितुं नीयते।

चाणक्यः—स्वकर्मफलभाक् भवतु। भोः श्रेष्ठिन्! एवमयं राजाऽपथ्यकारिषु तीक्ष्णदण्डो राजा, न मर्षयिष्यति राक्षसकलत्रप्रच्छादनं भवतः, तद् रक्ष परकलत्रेणात्मनः कलत्रं जीवितञ्च।

चन्दनदासः—आर्य! किं मे भयं दर्शयसि? सन्तमपि गेहे अमात्यराक्षसस्य गृहजनं न समर्पयामि, किं पुनरसन्तम् (अज्ज! किं मे भअं दंसेसि? सन्तं वि गेहे अमच्चरक्खसस्स घरअणं ण समप्पेमि, किं उण असन्तं)

चाणक्यः—चन्दनदास! एष ते निश्चयः?

चन्दनदासः—बाढम्, एष मे स्थिरो निश्चयः (बाढं, ऐसो मे त्थिरो णिच्चओ)

चाणक्यः—(स्वगतम्) साधु चन्दनदास! साधु—

सुलभेष्वर्थलाभेषु परसंवेदने जनः।

चन्दनदासं 'सन्तमपि गेहेऽमात्यराक्षसस्य गृहजनं न समर्पयामि किं पुनरसन्त'मिति निर्भयं वदन्तं निभृतं श्लाघमानस्स्वगतमाह चाणक्यः—सुलभेष्विति। साधु चन्दनदास साधु! शिविना विना कृतात्मदानं शिविं राजानं विहाय त्वदन्यः

शिष्य—जैसी आज्ञा, उपाध्याय! अब तो सम्राट् की आज्ञा से राजद्रोही कायस्थ शकट दास को फांसी पर चढ़ाने के लिये ले जाया जा रहा है।

चाणक्य—तब तो बहुत अच्छी बात है यह भी भोग ले अपने किये का फल! देखा सेठ जी! तुमने, इस राजा का राज-विद्राहियों के लिये कठोर दण्ड! राक्षस के परिवार के छिपा रखने का अपराध तुम्हारा कभी भी सहन नहीं कर सकता! यदि अपने और अपने बाल-बच्चों को जीने देना चाहते हो तो सौंप दो दूसरे का परिवार?

चन्दनदास—महाराज! मुझे क्या डर दिखाने चले हैं! पहले तो मेरे घर में राक्षस का परिवार है नहीं यदि हो भी, तो भी मैं कभी नहीं सौंप सकता!

चाणक्य—चन्दनदास! फिर सोच लो क्या कह रहे हो!

चन्दनदास—जो सोचना था सोच चुका!

चाणक्य—(स्वगत) धन्य हो चन्दनदास! तुम धन्य हो 'सत्ययुग के महाराज शिवि की बात तो और है किन्तु इस युग में तुम्हारे अतिरिक्त भला

क इदं दुष्करं कुर्यादिदानीं शिबिना विना ॥ २४ ॥

(प्रकाशम्) चन्दनदास ! एष ते निश्चयः ?

चन्दनदासः—बाढम् (बाढं)

चाणक्यः—(सक्रोधम्) दुरात्मन् दुष्टवणिक्! अनुभूयतां तर्हि राजकोपः।

चन्दनदासः—(बाहू प्रसार्य) सज्जोऽस्मि, अनुतिष्ठत्वार्य आत्मनोऽधिकारस्यानुरूपम् (सज्जोह्मि, अणुचिठ्ठदु अज्जो अत्तणो अहिआरस्स अणुरूअं) ('सारिम्' इति पाठे—सदृशम्)।

चाणक्यः—(सक्रोधम्) शार्ङ्गरव ! उच्यतामस्मद्वचनात् कालपाशिको दण्डपाशिकश्च—'शीघ्रमयं दुष्टवणिक् निगृह्यताम्', अथवा—तिष्ठतु, उच्यतां दुर्गपालो विजयपालश्च—'गृहीतगृहसारमेनं सपुत्र-कलत्रं संयम्य

कोऽस्ति सः यः खलु परसंवेदने परस्य स्वभिन्नस्य राक्षसकलत्रादेरर्थस्य संवेदने निर्यातने समर्पणे वाऽर्थलाभेषु राजप्रसादादिरूपेषु समीहितसिद्ध्यादिषु सुलभेषु सुप्रापेषु सत्स्वपीदं दुष्करं स्वजीवनस्य संशयापादनादिरूपं परोपकारकृत्यं राक्षसकलत्ररक्षणादि कुर्यात् कर्तुं शक्नुयान्न कोऽपीति भावः ॥ २४ ॥

टिप्पणी—चाणक्यस्यात्र परगुणप्रशंसनं किमपि तद्गतवीरभावस्य प्रकाशनमेवेति मन्तव्यम्।

अनुभूयतां तर्हि राजकोप इति। अत्र चन्दनदासस्य यद्दण्डादि तत्तस्यामित्रोत्साहकत्वरूपमपराधमनुसृत्य यथाऽर्थशास्त्रमुपनिबद्धम्।

और कौन है जो अनायास अपने स्वार्थ के सिद्ध हो सकने पर भी पराये की रक्षा के लिये अपने प्राण देने पर उतारू हो जाय !' ॥ २४ ॥

(सुनाकर) फिर सोचलो चन्दनदास !

चन्दनदास—हां, सोच चुका !

चाणक्य—(क्रुद्ध होकर) अरे नीच बनिये ! देख लेना राज-क्रोध तुम्हारा अभी क्या कर डालता है !

चन्दनदास—(हाथ फैला कर) आप जो भी कर सकें महाराज ! उठा न रखें। मैं सब के लिये तैयार हूं।

चाणक्य—(और भी क्रुद्ध होकर) शार्ङ्गरव ! जाओ और कालपाशिक और दण्ड पाशिक से अभी मेरी ओर से कहो कि इस नीच बनिये को अभी पकड़ लिया जाय और नहीं, नहीं, ठहरो, दुर्गपाल और विजयपाल से कह दो

रक्ष तावत्, यावत् मया वृषलाय कथ्यते, स एवास्य प्राणहरं दण्डमाज्ञापयिष्यति'।

शिष्यः—यदाज्ञापयत्युपाध्यायः। श्रेष्ठिन्! इत इतः।

चन्दनदासः—(उत्थाय) आर्य! अयमागच्छामि! (स्वगतम्) दिष्ट्या मित्रकार्येण मे विनाशो जनितः न पुनः पुरुषदोषेण (परिक्रम्य शिष्येण सह निष्क्रान्तः) (अज्ज ! अअमाअच्छामि । दिट्ठिआ मित्तकज्जेण मे बिणासो जणिदो, ण उण पुरिसदोसेण)

चाणक्यः—(सहर्षम्) हन्त, लब्ध इदानीं राक्षसः। कुतः ?

त्यजत्यप्रियवत् प्राणान् यथा तस्यायमापदि ।
तथैवास्यापदि प्राणा नूनं तस्यापि न प्रियाः ॥ २५ ॥

(नेपथ्ये कलकलः)

चाणक्यश्चन्दनदासं हस्तगतं पश्यन् राक्षसमपि हस्तगतमेव विमृशन्नाह—त्यजत्यप्रियवदिति। यथाऽयं चन्दनदासो दुष्करं मित्ररहस्यगोपनरूपं किमप्यतिमानुष्यकमाचरंस्तस्य राक्षसस्यापदि संकटे समुपस्थिते प्राणान् स्वजीवितं सर्वाधिकप्रियवस्त्वप्रियवत् त्यजति तृणाय मत्वाऽनिष्टमिव किमपि हातुं प्रवर्त्तते तथैव नूनं निश्चितमेवेदं यदस्य चन्दनदासस्यापदि विपत्तिकाले तस्य राक्षसस्यापि प्राणाः न प्रियाः, जीवनं नाऽभिलषणीयं सम्पत्स्यत इति। अर्थाच्चन्दनदासं मोचयितुं राक्षसोऽप्यवश्यमेवाऽस्मानमर्पयिष्यतीति भावः ॥ २५ ॥

कि जब तक मेरे कहने पर इसे राजा के द्वारा प्राणदण्ड न दिया जाय तब तक इसे, इसकी सारी सम्पत्ति छीन कर, इसके बाल-बच्चों के साथ, कारागार में बंद कर के रखें।

शिष्य—जो आज्ञा उपाध्याय! इधर आओ सेठ जी, इधर!

चन्दनदास—(उठते हुये) आ ही रहा हूं। (स्वगत) मेरा तो सौभाग्य है कि किसी अपने किये अपराध में नहीं किन्तु मित्र-स्नेह के निभाने में प्राण दे रहा हूं।

चाणक्य—(हर्ष के साथ) अब भला राक्षस कहां बचकर जायगा। क्योंकि—

'उस पर संकट पड़ने पर जब यह अपने प्राणों का बिना कुछ मोह किये इस प्रकार बलिदान करने पर उतारू है तब तो इसके सङ्कट में वह भी अपने प्राणों की मोह-ममता उसी प्रकार छोड़ देगा' ॥ २५ ॥

(नेपथ्य में कोलाहल)

चाणक्यः—शार्ङ्गरव !

शिष्यः—(प्रविश्य) उपाध्याय ! आज्ञापयतु ।

चाणक्यः—ज्ञायतां किमेतत् ?

शिष्यः—(निष्क्रम्य विभाव्य पुनः प्रविश्य सम्भ्रान्तः) उपाध्याय ! एष खलु शकटदासं वध्यमानं वध्यभूमेरादाय समपक्रान्तः सिद्धार्थकः ।

चाणक्यः—(स्वगतम्) साधु सिद्धार्थक ! साधु, कृतः कार्यारम्भः । (प्रकाशम्) प्रसह्य किमपक्रान्तः ? (सक्रोधम्) वत्स ! उच्यतां भागुरायणो यथा 'त्वरितमेनं सम्भावये'दिति ।

शिष्यः—(पुनस्तथा कृत्वा प्रविश्य सविषादम्) उपाध्याय ! हा धिक् कष्टम्, अपक्रान्तो भागुरायणोऽपि ।

चाणक्यः—(स्वगतम्) व्रजतु कार्यसिद्धये । (प्रकाशं सक्रोधमिव)

साधु सिद्धार्थक ! कृतः कार्यारम्भ इति । अत्र 'कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपद्देशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिरिति पञ्चाङ्गो मन्त्र' इति यदाम्नातं कौटिलीयेऽर्थशास्त्रे तस्य प्रथमाङ्गस्य कर्मारम्भस्यात्र प्रस्तावो निपुणं विहित इव तर्क्यते ।

चाणक्य—शार्ङ्गरव !

शिष्य—(भीतर प्रवेश करते हुये) उपाध्याय ! क्या आज्ञा है !

चाणक्य—पता लगाओ यह सब क्या हो रहा है ?

शिष्य—(बाहर निकल कर और पता लगाने पर घबड़ाये हुये भीतर आकर) अनर्थ हो गया उपाध्याय ! वध किये जाने वाले शकटदास को वध्य भूमि से हटा कर सिद्धार्थक कहीं भाग निकला ।

चाणक्य—(स्वगत) बड़ा अच्छा हुआ ! सिद्धार्थक का काम तो प्रारम्भ हो चुका ! (सुनाकर) क्या जवर्दस्ती भाग निकला ! (क्रुद्ध होकर) शार्ङ्गरव ! भागुरायण से जाकर कहो—शीघ्रातिशीघ्र इसे पकड़ने का प्रबन्ध करे ।

शिष्य—(बाहर आकर और फिर घबड़ाये हुये भीतर पहुंच कर) बहुत बड़ा अनर्थ हुआ उपाध्याय ! भागुरायण का तो कहीं पता नहीं !

चाणक्य—(स्वगत) जाने दो, उसका भी अपना काम बने । (सुना कर क्रुद्ध सा होकर) शार्ङ्गरव ! घबड़ाता क्या है ! जाओ और मेरी ओर से भद्रभट,

वत्स ! कृतं विषादेन, उच्यन्तामस्मद्वचनाद् भद्रभट-पुरुषदत्त-हिङ्गुरात-बलगुप्त-राजसेन-रोहिताक्ष-विजयवर्माणः शीघ्रमुपसृत्य गृह्यतां दुरात्मा भागुरायणः ।

शिष्यः—यदाज्ञापयत्युपाध्यायः । (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य सविषादम्) उपाध्याय ! हा धिक् कष्टम्, सर्वमेव तन्त्रमाकुलीभूतम्, तेऽपि खलु भद्रभटप्रभृतयः प्रथममुषस्येवापक्रान्ताः ।

चाणक्यः—(स्वगतम्) सर्वेषामेव शिवाः पन्थानः सन्तु । (प्रकाशम्) वत्स ! अलं विषादेन । पश्य—

ये याताः किमपि प्रधार्य्य हृदये, पूर्वं गता एव ते
ये तिष्ठन्ति, भवन्तु तेऽपि गमने कामं प्रकामोद्यमाः ।
एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका

चाणक्यः परमं प्रसादमन्तरनुभवन् कमपि व्याजकोपं कुर्वन् स्वशिष्यव्यञ्जनं प्रणिधिप्रधानमाह—ये याता इत्यादि । वत्स ! ये भागुरायणप्रभृतयः किमपि स्वामीप्सितं—वस्तुतस्त्वस्मदभीप्सितम् हृदये प्रधार्य याता अस्मत्पक्षं विहाय परपक्षे-पतितास्ते पूर्वमेव गताः प्रागेव प्रयाता इत्यलं तद्विषयकचिन्तनाभिरिति शेषः । ये च तदतिरिक्ता अस्मत्पक्षस्थास्तिष्ठन्ति तेऽपि गमनेऽस्मत्पक्षं विहाय स्वाभिलषित-साधनाय वस्तुतस्त्वस्मदभिलषितसाधनाय परपक्षस्याश्रयणे कामं भृशं प्रकामो-द्यमा विपुलोत्साहवन्तो भवन्त्विति कोऽवकाशः खेदस्येति शेषः । केवलं नन्दोन्मू-

---

पुरुषदत्त, हिङ्गुरात, बलगुप्त, राजसेन, रोहिताश्व और विजयवर्म इत्यादि को कहो—शीघ्रातिशीघ्र इस दुष्ट भागुरायण का पीछा करें और पकड़ कर यहां ले आवें ।

शिष्य—जैसी आज्ञा उपाध्याय ! (बाहर जाकर, फिर भीतर आते हुये खेद के साथ) अनर्थ ! महान् अनर्थ !! उपाध्याय पूरे राजतन्त्र में गड़-बड़ मच गयी ! भद्रभट इत्यादि का तो सबेरे से ही पता नहीं !

चाणक्य—(स्वगत) यह तो बड़ा अच्छा हुआ ! सब का काम बने ! (सुना कर) शार्ङ्गरव ! घबड़ाने की कोई बात नहीं । देखते रहो !

'सब के सब चले जांय ! जो अपने मन में कुछ सोच कर पहले ही चले गये वे तो गये ही, किन्तु जो नहीं गये, अच्छा है, वे भी चले जांय ! बस, मेरी बुद्धि मुझे छोड़ कर न जाय ! वह मेरी बुद्धि जिसकी महिमा का प्रत्यक्ष नन्दवंश का

नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम ॥ २६ ॥

(उत्थाय प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा) एष खलु दुरात्मनो भद्रभटप्रभृतीनाहरामि । (आत्मगतम्) दुरात्मन् राक्षस ! क्वेदानीं यास्यसि ? एषोऽहमचिरात् भवन्तम्—

स्वच्छन्दमेकचरमुज्ज्वलदानशक्ति-

लनदृष्टवीर्यमहिमा नन्दस्य सान्वयस्य नन्दनृपतेरुन्मूलनेन दृष्टस्सर्वैः प्रत्यक्षीकृतो वीर्यस्य शक्त्युत्कर्षस्य महिमा प्रभावो यस्यास्तथाभूतैका सहायमनपेक्षमाणैकाकिन्येव विराजमाना किन्त्वर्थसाधनविधावर्थस्य समस्तस्यापि राज्यतन्त्रस्य साधनविधौ सम्पादनकर्मणि सेनाशतेभ्योऽधिका अशक्यगणनेभ्यश्चतुरङ्गबलेभ्योऽप्यधिकसामर्थ्या मम बुद्धिर्मन्त्रीतिर्मागात् मां विहाय शत्रून् कथमपि न भजतामिति सर्वं तयैव साधयिष्यते चतुरस्रमिति शेष इति भावः ॥ २६ ॥

टिप्पणी—(१) चाणक्योऽत्र मन्त्रयुद्धे स्वोत्कर्षं ससंरम्भं प्रख्यापयन् वर्णितो नाटककृता। मन्त्रयुद्धौपयिकी कार्यारम्भावस्था च प्रयत्नदशापरिबृंहिता सम्यक् चित्रितैव। बीजञ्च तत्तदितिवृत्तार्थौपयिकं यत्पूर्वं निगूढमुपक्षिप्तं तदपि बिन्दुरूपेण चन्दनदासबन्धनादिवृत्तान्तेनोद्घाटितमेवाङ्कुरीभवनस्तम्बकरितादिप्रयोजनाय। सर्वत्र तत्तद्विशेषैर्विवर्तमान उत्साहरूपस्स्थायी च धारादिरूढस्सूक्ष्ममभिव्यञ्जित एवेति सर्वं महते रसविलासाय सम्पन्नं सहृदयानामिति।

(२) अत्र प्रतिमुखस्याङ्गं वर्णसंहाराख्यम् । किन्तु 'ब्राह्मणादिचतुर्वर्णान्तःपातिनीनां प्रकृतीनां ये याता इत्यादिना निर्वर्णनाक्षिदर्शनाद् वर्णसंहार इति यत्तन्न किञ्चित्। वस्तुतस्तु पात्राणामोघरूपः कार्यार्थं मीलनं वर्ण्यत इतिरूपोऽत्र वर्णसंहारस्साधीयान् यथोक्तं नाट्यदर्पणकृता 'पात्रौघो वर्णसंहतिरि'ति ।

चाणक्यः प्रतीकारभावनाप्रागल्भ्याद्राक्षसं पुर इव तस्थिवांसं पश्यंस्तं बद्धुं निरुद्धसर्वस्वाच्छन्द्यञ्च कर्तुं संनह्यन्निवाह—स्वच्छन्दमिति। राक्षस ! एषोऽहमचिरादेव भवन्तं स्वच्छन्दं निरङ्कुशमिव प्रगल्भमानमेकमेकचरं स्वयूथेषु प्रधानतयाऽवस्थि-

---

विध्वंस है, वह मेरी बुद्धि, जिसकी कार्य-शक्ति अगणित सेनाओं से भी बढ़ी-चढ़ी है। बस वही मेरे साथ रह जाय ॥ २६ ॥

(उठते हुये, आकाश की ओर मानो राक्षस को ही एकटक देखते हुये) देखता हूं ये दुष्ट भद्रभट इत्यादि कहां भाग कर जाते हैं ! (स्वगत) अरे नीच राक्षस ! अब कहां भाग कर जायगा ! देखो क्या करता हूं।

'एक जंगली हाथी के समान इस प्रकार मनमाना करने वाले, निरङ्कुश,

मुत्सेकिना बलमदेन विगाहमानम् ।

तमत एव चैकाकिनमेवास्मदुच्छेदकृत्ये प्रवर्तमानमुज्ज्वलदानशक्तिमस्मत्पक्षोपजा पार्थं तत्तत्तीक्ष्णरसदादिनियोजने बहुधनव्ययकारिणमथ चोत्सेकिना भृशमुद्रिक्तेन प्रवर्द्धमानेन वा बलमदेन सैन्यादिसंचयाभिमानेन विगाहमानं चन्द्रगुप्ताभिमर्षणाय चेष्टमानं त्वां कश्चनैवंगुणोपेतमारण्यकं वन्यं गजमिव दन्तावलं व्यालमिव वृषलस्य कृते प्रियदर्शिनश्चन्द्रगुप्तस्य कारणाय तस्यैव क्रियायां साचिव्यस्वयंग्रहणरूपायां बुद्ध्या नीत्यैव न संग्रामादिनाऽऽडम्बरेण निगृह्य संयम्य प्रगुणीकरोमि वशीकरोमीति भावः ॥ २७ ॥

टिप्पणी—(१) अत्र श्लेषोत्थापिताया उपमाया अस्ति किमपि स्वारस्यं यद्वि-चार्यमाणं स्वदते सहृदयेभ्यः। राक्षसस्य प्रकृतस्याऽप्रकृतेनारण्यकगजेन यत्सा-धर्म्यं तत्तु राक्षसचाणक्ययोर्मन्त्रिप्रवरयोरान्तरं वैधर्म्यं गूढमुद्भावयति यत्कृतोऽयं नाटककृतः प्रसङ्गान्तरे वाग्विलासः—

'उत्सिक्तः कुसचिवदृष्टराज्यतन्त्रो-
नन्दोऽसौ न भवति चन्द्रगुप्त एषः ।
चाणक्यस्त्वमपि च नैव, केवलं ते
साधर्म्यं मदनुकृतेः प्रधानवैरम् ॥' इति ।

अन्यच्च नाटकमिदं स्थूलबुद्धिप्रतिनायकं मा भूदिति निपुणं चिन्तयन् कविर्यं-च्छ्लिष्टशब्दनिबन्धनद्वारा राक्षसं वन्यगजेनोपमिनोति तदपि किमपि नाटककार-कृत्यमेव । उपमायाः विना शब्दश्लेषमुत्थापने वक्ष्यमाणायाः—

'गुरुभिः कल्पनाक्लेशैर्दीर्घजागरहेतुभिः ।
चिरमायासिता सेना वृषलस्य मतिश्च मे ॥'

इति वाचोयुक्तेः कोऽवकाश इति चतुरचेतोहरत्वं श्लेषोन्नामिताया उपमाया अत्रेति ।

अत्र मुद्रालाभनामनि प्रथमाङ्के प्रारम्भप्रयत्नाख्ये येऽवस्थे बीजबिन्दु-निक्षेपो-द्घाटनविधानविषयैकत्राहमहमिकयाऽवस्थिते यत्सुष्ठु समुट्टङ्किते तत्तु किमपि नाटकहार्दमेव व्यनक्ति । चाणक्य आरभते राक्षसवशीकाररूपं स्वनीतिकृत्यम् , प्रयतते च तदर्थं तत्तद्विधाने, चाणक्यकरिष्यमाणे च कर्मणि चाणक्य एव प्रजा-पतिर्नान्यस्य कस्य चनाऽत्र साहायकं मात्रयाऽप्यपेक्षितम् । इदमेव तन्निबन्धनं यदेकस्मिन्नेवाङ्के मुखप्रतिमुखसन्ध्योर्निविडं सन्धानसंविधानकमिति । अङ्कपार्थं-क्येन सन्धिद्वयसंग्रथने प्रयोजनविशेषस्य पूर्वोक्तस्याऽलाभाद् वीररसस्य च धारा-धिरोहत्वरायाः किंचन्निरोधाच्चेति ।

राज-विप्लव के लिये धन का अपव्यय करने वाले और सैन्य-मद से उन्मत्त

बुद्धया निगृह्य, वृषलस्य कृते, क्रियाया-
मारण्यकं गजमिव प्रगुणीकरोमि ॥ २७ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति प्रथमोऽङ्कः ।



इति प्रथमोऽङ्क इति । चाणक्यनायकस्य प्रारम्भप्रयत्नावस्थाद्वयसमाप्तौ नाटकीयेतिवृत्तप्रपञ्चनोपायभूतयोः नायकचरितयन्त्रिततत्तद्वृत्तार्थविस्तारणौपयिकयोश्च विन्दुबीजयोः परिसमापने समाप्तोऽयमङ्क इति । अङ्क इति किम् ?

'अवस्थायाः समाप्तिर्वा च्छेदो वा कार्ययोगतः ।
अङ्कः सबिन्दुर्दृश्यार्थश्चतुर्यामो मुहूर्त्ततः' ॥

इति यथाभाषितः नाटकस्य समुच्छेद इति । अत्राङ्के नाटकस्यास्य नायकचरितोपभोगास्सर्वत्र रञ्जका रसपरीवाहप्रवणाः सामाजिकसाक्षात्काराय निबद्धाः कामपि प्रीतिं जनयन्तो दृश्यन्तेऽथ चाभिनयनमप्यस्य न घटिकाद्वयमितं होरार्द्धपरिमाणं वा समयमतिक्रामतीति सुष्ठ्वङ्कितोऽयमङ्क इति विभावनीयं नाटकसमीक्षकैरिति सर्वमवदातम् ।

इति मुद्रालाभाख्यः प्रथमोऽङ्क ।



होकर हमारा अनिष्ट करने वाले तुम्हें चन्द्रगुप्त का काम करने के लिये अपनी बुद्धि से ही कैसे पकड़ मंगाता हूं !' ॥ २६ ॥

(सभी पात्र रङ्ग-मञ्च से चले जाते हैं)

प्रथम अंक समाप्त



द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्याहितुण्डिकः)

ततः प्रविशतीति । प्रथमाङ्कस्य परिसमाप्तिस्तु पूर्वं निरूपितैव । तदनन्तरमयं द्वितीयोऽङ्कः प्रारिप्सित इति प्रथमाङ्कवर्तिनां पात्राणां निष्क्राम एवानन्तर्यवचनोऽस्य प्रत्येतव्यः आपाततः । किंतु सूक्ष्मदृष्टिकयाऽत्रान्यपरमप्यानन्तर्यमभिप्रेतम् । तत्तु वस्तु-वृत्त-रसानां मुखप्रतिमुखसन्धिरूपतया समुट्टङ्कितानां सामाजिकधियि सङ्क्रान्ततत्तद्विशेषाणां नैरन्तर्येण पुनः पुनरपरामर्शात्मकं विरामरूपं कार्यान्तरस्य गर्भसन्धेरवकाशप्रदानप्रयोजनकमिति ।

आहितुण्डिक इति । अहिस्सर्पस्तस्य तुण्डं मुखं तेन दीव्यतीत्याहितुण्डिकस्सर्पक्रीडोपजीवी । वस्तुतस्त्वाहितुण्डिकव्यञ्जनः विराधगुप्ताख्यो राक्षसचर एवेति । चारज्ञानाय बहुविधव्यञ्जनानां गुप्तचराणां नियोजनं कौटिलीये खलु राजतन्त्रशास्त्रे निपुणं वर्णितम् । तथाहि सूत्रम्—'सूदारालिक-स्नापकसंवाहकास्तरककल्पकप्रसाधकोदकपरिचारका रसदाः कुब्जवामनकिरातमूकबधिरजडान्धच्छद्मानो नटनर्तकगायनवादकवाग्जीवनकुशीलवाः स्त्रियश्चाभ्यन्तरं चारं विदध्यु'रिति । अत्र विराधगुप्तस्सर्पग्राहसर्पक्रीडादिच्छद्मा राक्षसप्रणिधिः प्रविशति रङ्गस्थानमित्यावेदयति नाटककविरिति ।

अत्र द्वितीयस्याङ्कस्य प्रारम्भो गर्भसन्धेरुपक्रमकरो यदुपसंहारस्तृतीयचतुर्थाङ्कयोरङ्कनविषयः । अत्र गर्भसन्धौ नायकचरितस्य स्वाभिलषितसिद्ध्यै तत्तदारम्भवतस्तत्तत्प्रयत्नप्रवणस्य च काय-वाङ्-मनसां व्यापृतिरूपा प्राप्त्याशा निबन्धनीया । प्राप्त्याशालक्षणन्तु—

'फलसंभावना किञ्चित्प्राप्त्याशा हेतुमात्रत' इति । कस्येयं प्राप्त्याशेति चेत् ? प्रधाननायकस्येति । कुत इति चेत् ? न जगत्यस्मिन् कस्यापि समीहितसिद्धिर्निर्विघ्नेतिहेतोर्नायकचरितमपि महारम्भ—महाप्रयत्नप्रबलं प्रतिनायककृतारम्भयत्नादिना विघ्नितप्रसरमेव चर्चितं चेत्स्वाभाविकं मानवचरितं भवत्सामाजिकैस्साधारणीकरणद्वारा स्वीकर्तुमलमिति कृत्वा । गर्भसन्धिरस्य नाटकस्य द्वितीय-तृतीय-चतुर्थाङ्कपरिच्छेदीति प्राप्त्याशाऽप्युपक्रमोपसंहाराभ्यां विशदं वर्णनीयेति तथा वर्णिता । वीररसात्मनि नाटके यथाऽस्मिन्नायकप्रतिनायक-तत्तत्सहायकादीनामहमहमिकया प्रार्थ्यमाने स्व-स्वाभिलषितफले परस्परमाशा—निराशाद्वन्द्वस्यैव वर्णनं लोकस्वभावानुसार्यभिनयनमिति तत्प्रपञ्च एव सुतरां करणीय इति तथैव कृतो नाटककविनेति विचारणीयं सुधीभिः ।

(एक संपेरे के वेष में राक्षस का गुप्तचर-विराधगुप्त)

आहितुण्डिकः—

जानन्ति तन्त्रयुक्तिं यथास्थितं मण्डलमभिलिखन्ति ।

अत्र श्रीढुण्ढिराजव्यासप्रभृतिभिस्तद्वृत्तानुगतिकैरन्यैरपि टीकाकर्तृभिर्यदुक्तम्— अथ राक्षसकृतोपायवृत्तान्तकथनाय प्राप्त्याशा–पताकासम्बन्धरूपो गर्भसन्धिर्द्वितीयेनाङ्केनारभ्यते । 'गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुरि'ति लक्षणात् । पूर्वाङ्के दृष्टस्यात्र राक्षसाहितुण्डिकसंवादरूपया व्यापिन्या कथया पताकाख्यया नष्टस्याद्दृष्टस्य चाणक्यनीतिरूपस्य बीजस्याग्रे मुहुरन्वेषणा'दित्यादि तत्तु न विचाररमणीयं नाट्याभिप्रायानवगाहि चेति नादर्त्तव्यम् । वस्तुतस्तु गर्भसन्धिरत्र नाटके न द्वितीयाङ्कपरिमितोऽपि तु तृतीयचतुर्थयोरप्यङ्कयोस्समन्वेति । दृष्टस्य पूर्वाङ्के समुपक्षेपसमुद्घाटनाभ्यां प्रतीतिपथमानीतस्य बीजस्यान्वेषणमत्र गर्भसन्धाविति तु निर्विवादम् । किन्तु राक्षसाहितुण्डिकसंवादरूपायाः व्यापिन्याः कथायाः यत्पताकात्वमुक्तं तत्तु पताकास्वरूपानभिज्ञानरूपमेव पर्यवसितम् । वस्तुतस्तु नाटकेषु यद् वृत्तं पताकोपममिति कृत्वा रचितं पताकेत्याख्यायते तत्प्रासङ्गिकस्यैव वृत्तस्य नामान्तरम् । पताकाख्यानमस्य प्रासङ्गिकस्य वृत्तस्य यत्कृतं तत्त्वस्य प्रधानवृत्तोपकारकत्वरूपं पारार्थ्यमेव । तथा चोक्तं नाट्यपारदृश्वभिरभिनवगुप्तपादाचार्यैः–'यद्वृत्तं हि परार्थं स्यात् प्रधानस्योपकारकम् । प्रधानवच्च कल्प्येत सा पताकेति कीर्तिते'ति नाट्यशास्त्रवचनं व्याचिख्यासुभिः—'यस्य सम्बन्धि वृत्तं संविदनुसंधानं परस्य प्रयोजनसंपत्तये भवदपि स्वप्रयोजनं संपादयति, अत एवाह–प्रधानवच्च कल्प्येतेति । सचेतनानुसंधाना पताकासिद्धिः प्रधानस्योपकारिणी'त्यादि । इदं पारार्थ्यं राक्षसाहितुण्डिकसंवादरूपायाः कथायाः कथमपि न भवितुमलं तस्याः स्वार्थप्रयोजनपरत्वस्यैव निर्विवादसिद्धत्वात् । वस्तुतस्त्वत्र खलु नाटके पताकैव न निबद्धा कविना, चरितनायकस्य चाणक्यस्य स्वपराक्रमबहुमानशालिनस्साहाय्यापेक्षाया एवानपेक्षणात् । राक्षसाहितुण्डिकौ चाणक्यस्य साहायकमाचरत इति तु न कोऽपि सचेताः वक्तुमलम् । नाट्यतत्त्वदर्शिनां प्राचामाचार्याणामिदमेव पताकागतं रहस्यदर्शनं यथोक्तमभिनवगुप्तपादाचार्यैः—

'न सर्वत्र प्रारम्भादिवत् सर्वा अर्थप्रकृतयोऽपि तु यस्य नायकस्य येनार्थप्रकृतिविशेषेण–प्रयोजनसंपत्तिरधिका तदेव प्रधानमन्यत्तु भवदपि गुणभूतमसत्कल्पम् । यथा स्वपराक्रमबहुमानशालिनां पताकाप्रकर्यांवविवक्षित एव । बीजबिन्दुकार्याणि तु सर्वत्रानपायीनी'ति ।

आहितुण्डिकव्यञ्जनो विराधगुप्तस्स्वस्य राजोपजीवनकौशलं श्लिष्टया वाचोयुक्त्या प्रकाशयन्नाह—जानन्तीत्यादि ।

संपेरा—'सांप और राजा की सेवा में भेद कहां ! सांप की सेवा कौन कर

ये मन्त्ररक्षणपरास्ते सर्पनराधिपावुपचरन्ति ॥ १ ॥

(जाणंति तन्तजुत्तिं जहट्ठिअं मंडलं अहिलिहंति ।

जे मंतरक्खणपरास्ते सप्पणराहिवे उवचरंति ॥ १ ॥)

(आकाशे) आर्य ! किं भणसि कस्त्वमिति ? आर्य अहं खलु आहितुण्डिको जीर्णविषो नाम । (पुनराकाशे) किं भणसि अहमप्यहिना खेलितुमिच्छामीति ? अथ कतरां पुनरार्यो वृत्तिमुपजीवति ? (पुनराकाशे) किं भणसि 'राजकुलसेवक' इति ? ननु खेलत्येव आर्योऽहिना । किं भणसि

ये जनास्तन्त्रयुक्तिं तन्त्रस्य विषौषधविशेष्यस्य युक्तिः प्रयोगस्तं जानन्ति विदन्ति मण्डलं मण्डलाकारतयालेख्यं माहेन्द्रादिदैवतं च यथास्थितं याथातथ्येनाभिलिखन्ति सर्वग्रहणवशीकरणाद्यर्थं निर्मान्ति, अथ च मन्त्ररक्षणपराः मन्त्राणां गारुडादिमन्त्राणां सर्वविषनिर्हारकाणां रक्षणपराः योग्याऽयोग्यसम्प्रदानाऽसम्प्रदानादिकर्मनिपुणास्त एव सर्पनराधिपमुपचरन्ति कालभुजगं सेवितुमर्हन्तीत्यर्थः ॥ १ ॥

टिप्पणी – (१) अत्र वक्तृ-बोद्धव्यवैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषस्सामाजिकाः अर्थान्तरं प्रतीयन्ति तच्च वक्तुः किमप्यनन्यसाधारणं चारज्ञानं तन्निवेदननैपुण्यञ्चेति ।

(२) अत्र टीकाकृतां श्रीढुण्ढिराजादीनां रूपकोपमादिरूपालङ्कृतिचिन्तनं नाटककवेरस्य न हार्दाविष्कारि न च प्रसङ्गौपयिकमिति नादरास्पदम् ।

आकाश इति । आकाशभाषणमिदमितिसंकेताभिप्रायः । वाचिकाभिनयदृष्ट्या नाटकीयवृत्तवस्तुनः प्रकारोऽयमाकाशोक्तिरूपः । तल्लक्षणं तु—'आकाशोक्तिः स्वयं

सकता है ? वही, जिसे विष और उसकी ओषधि के प्रयोग का पता है, वही जिसे सांप को पकड़ने के लिये ठीक २ मण्डल बनाने आता है, वही, जिसे झाड़ फूंक के मन्त्रों की गुप्त सिद्धि है। राजा की सेवा किस से हो सकती है ? उस से, जो स्वराष्ट्र चिन्तन की युक्तियां जानता है, जो राजमण्डल का मर्म समझता है, जो राज-मन्त्रणाओं के गोपन की सिद्धि कर सकता है' ॥ १ ॥

(आकाश में)

क्यों भाई ! 'क्या पूछना चाहते हो ? क्या यह पूछना चाहते हो कि मैं कौन हूं ? अरे ! मुझे एक संपेरा समझ लो–नाम है मेरा जीर्णविष ! जैसा नाम वैसा गुण ! अब क्या पूछते हो ? क्या तुम्हें भी सांप से खेलने की इच्छा है ? तब तो पहले यह बताओ कि तुम हो कौन ? कौन सा है काम तुम्हारा ? (आकाश में ही पुनः) ओह ! तुमने कहा–तुम राजकुल के सेवक हो ? अरे भाई ? तब तो

कथमिति ? 'अमन्त्रौषधिकुशलो व्यालग्राही, अगृहीताङ्कुशो मत्तगजवरारोही, लब्धाधिकारो जितकाशी राजसेवक' इति; एते त्रयोऽवश्यं विनाशमनुभवन्ति । कथं दृष्टमात्रोऽतिक्रान्त एषः । (पुनराकाशे) आर्य ! त्वं पुनः किं भणसि—'किमेतेषु पेटकसमुद्गकेषु' इति ? आर्य ! आत्मजीविकासम्पादकाः सर्पाः । (पुनराकाशे) किं भणसि—'प्रेक्षितुमिच्छामी'ति ? प्रसीदतु आर्यः । अस्थानं खलु एतत्, तद्यदि ते कौतूहलं, तदेहि एतस्मिन्नावासे दर्शयामि । (पुनराकाशे) किं भणसि—'इदं खलु भर्त्तुरमात्यराक्षसस्य गृहम्, नास्तीह अस्मादृशानां प्रवेश' इति ? 'तेन हि गच्छत्वार्यः, जीविकायाः प्रसादेनास्त्यत्र मम प्रवेश' इति । कथमेषोऽप्यतिक्रान्तः ? (अज्ज ! किं भणासि को तुमं त्ति ? अज्ज ! अहं क्खु आहितुण्डिओ जिण्णविसो णाम । किं भणासि अहंपि अहिणा खेलिदुं इच्छामि त्ति ? अध कदरं उण अज्जो वित्तिं उवजीवदि ? किं भणासि राअउलसेवओ त्ति ? णं खेलदि ज्जेव्व अज्जो अहिणा । किं भणासि कधं त्ति ? अमंतोसहिकुशलो वालग्गाही, अगिहीदङ्कुसो मत्तगअवरारोही, लद्धाहिआरो जिदकासी राअसेवओ त्ति, एतण्णि अवस्सं विणासमणुहोंति । कधं दिट्ठमत्तो अदिक्कंतो एसो । अज्ज तुमं पुण किं भणासि—किं

प्रश्न-प्रत्युत्तरमपात्रक'मिति । आकाशे पात्राभावात् शून्ये कृता, उच्यत इत्युक्तिः प्रश्नोत्तरविषयोऽर्थ इति तात्पर्यम् । अत्र विराधगुप्तः स्वोत्तरार्थमनुभाषणच्छायया परकीयं प्रश्नं करोति, स्वप्रश्नस्यानुभाषणच्छायया परकीयमुत्तरमपि ददातीत्युभयप्रकाराऽत्राकाशोक्तिरिति ।

सांप ही से खेल रहे हो ! कहां कैसे ? ऐसे कि तीनों की एक ही दुर्गति लिखी है, इन तीनों की जैसे कि विना मन्त्र और ओषधि जानने वाले संपेरे की, विना अंकुश के ही मतवाले हाथी पर चढ़ने वाले हाथीवान की और अधिकार पाकर घमण्ड में चूर रहने वाले राजकर्मचारी की । (आकाश में ही) अरे ! अब क्या यह पूछ रहे हो कि इन पिटारों में क्या धरा है ? अरे भाई ! ये तो मेरी जीविका के सांप हैं । ओह ! तुम इन्हें देखना चाहते हो ? नहीं, नहीं, मुझ पर न विगड़ो । भला यह भी कोई जगह है जहां इन्हें दिखाया जाय ! यदि नहीं मानते तो चलो इस घर में चलकर दिखाऊं ! (आकाश में ही) अरे ! तुम तो कह रहे हो कि यह घर महामन्त्री राक्षस का है ! भला हमारे सरीखे लोगों की यहां कैसी पहुंच !

एदेसु पेडासमुग्गकेसु त्ति ? अज्ज ! अप्पजीविआसम्पादआ सप्पा । किं भणासि पेक्खिदुमिच्छामि त्ति ? प्पसीददु प्पसीददु अज्जो । अत्थानं क्खु एदं, ता जइ दे कोदूहलं ता एहि एदस्सिं आवासे दंसेमि । किं भणासि एदं क्खु भट्टिणो अमच्चरक्खसस्स गेहं, णत्थि इध अह्मारिसाणं प्पवेसो त्ति ? तेण हि गच्छदु अज्जो । जीविआए प्पसादेण अत्थि एत्थ मम प्पवेसो त्ति । कधं एसो बि अदिक्कन्तो)

(दिशोऽवलोक्य संस्कृतमाश्रित्य स्वगतम्) अहो ! आश्चर्यम् । चाणक्यमतिपरिगृहीतं चन्द्रगुप्तमवलोक्य विफलमिव राक्षसप्रयत्नमवगच्छामि । राक्षसमतिपरिगृहीतञ्च मलयकेतुमवलोक्य चलितमिवाधिराज्याच्चन्द्रगुप्तमवगच्छामि । तथा हि—

कौटिल्यधीरज्जुनिबद्धमूर्तिं मन्ये स्थिरां मौर्यकुलस्य लक्ष्मीम् ।

स्वगतमिति । स्वगतमित्यपि नाटकीयवृत्तस्याभिनयदृष्ट्या कृतो भेदः । स्वहृदि स्थितं यद् वृत्तं पात्रान्तराणामज्ञाप्यं-सामाजिकानां तु ज्ञाप्यमेवेति न सन्देहः-तद् वृत्तं स्वगतमिति ।

अहो आश्चर्यमित्यादि—अत्रेदृशीं वाचोयुक्तिमुपन्यस्तवता नाटककविना प्रधाननायकस्य प्राप्त्याशावस्था कयाचन भङ्ग्या समुन्मीलिता । चाणक्यस्तु स्वलोकजीवनस्य कश्चन लोकोत्तरः पुरुषः स्वारम्भ-यत्नयोः कदापि नैष्फल्यं न चिन्तितवानिति निपुणं विमृश्य कविर्नाटके तच्चरितचर्चाहेतोः प्राप्त्याशां तस्यापि निबध्नाति किन्तु न साक्षादपि तु राक्षसकृतारम्भयत्न-प्राप्त्याशादिपरिशीलन—तदन्यथाभवनादिप्रपञ्चनद्वारेति निपुणं विचारणीयं सुधीभिः ।

विराधगुप्तस्स्वपक्ष-परपक्षयोः प्राबल्यदौर्बल्ये विचिन्तयन्नाह—कौटिल्यधीरज्जु-

---

अरे ! तुम्हारी यहां पहुंच हो या न हो मेरी तो इस जीविका की कृपा से यहां पहुंच है ही !' अरे ! यह तो कहीं खिसक गया !

(चारों ओर देख-दाख कर-स्वगत-संस्कृत में)

कैसा आश्चर्य है ! एक ओर जब चाणक्य की कूटनीति का अनुसरण करते हुये चन्द्रगुप्त को देखता हूं तो ऐसा लगता है मानो राक्षस के सारे प्रयत्न व्यर्थ होते जा रहे हैं और दूसरी ओर जब राक्षस की राजनीति का अनुगमन करते हुये मलयकेतु को देखता हूं तो यही लगता है जैसे चन्द्रगुप्त के पैर साम्राज्य से उखड़ चले हों ! क्यों कि,

'एक ओर जब चाणक्य की कूटनीतिरूपी रस्सी राजलक्ष्मी को मौर्यवंश में

उपायहस्तैरपि राक्षसेन विकृष्यमाणामिव लक्षयामि ॥ २ ॥

तदेवमनयोः सुनयशालिनोः सचिवयोर्विरोधे संशयितेव नन्दकुल-लक्ष्मीर्लक्ष्यते । कुतः ?—

विरुद्धयोर्भृशमिह मन्त्रिमुख्ययोर्महावने वनगजयोरिवान्तरे ।

निबद्धमूर्तिमित्यादि । परपक्षस्तु प्रबलतरः प्रतिभाति यतो हि मौर्यकुलस्य मौर्यवंशस्य सम्राजश्चन्द्रगुप्तस्येति यावत्, लक्ष्मीं राज्यश्रियं कौटिल्यधीरज्जुनिबद्धमूर्तिं कौटिल्यस्य कुटिलनयमूर्तेश्चाणक्यस्य धी राजनीतिरेव रज्जुस्तया निबद्धा सुदृढं नियन्त्रिता मूर्तिराकृतिर्यस्यास्तां तथाभूतां सतीं स्थिरां निश्चलावस्थानतया चतुरस्रशोभिनीं मन्ये सम्भावयामीति यावत् । चाणक्ये जाग्रति तन्नीतौ च व्याप्रियमाणायां चन्द्रगुप्तोच्छेदोऽशक्यक्रिय इति न सन्देहलवोऽपि कश्चनेति भावः । किन्तु स्वपक्षोऽपि दृढाध्यवसायवानेव यतो हि स्थिरां तथा निश्चलीकृतामपि मौर्यश्रियं राक्षसेन महामात्येनोपायहस्तैरुपायास्साम-दाम-दण्ड-भेदास्त एव हस्तास्तैर्विकृष्यमाणामिव बलात् कृतश्लथबन्धनामिव लक्षयामि तर्कयामीत्यर्थः ॥ २ ॥

टिप्पणी—अत्र 'मौर्यकुलस्य लक्ष्मीं स्थिरां मन्ये, राक्षसेन चाणक्यधीरज्जुनिबद्धमूर्तिं तां विकृष्यमाणामिव लक्षयामी'त्यभिदधानो विराधगुप्तश्चाणक्यस्य प्राप्त्याशामेव सूचयति । 'उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशाकार्यसंभव' इति लक्षणस्य संगतत्वात् । उपायशङ्कायाः 'स्थिरां मन्य' इति दार्ढ्यविवक्षया, अपायशङ्कायास्तु 'विकृष्यमाणामिव लक्षयामी'ति शैथिल्यसंभावनया चाणक्यनायकस्य कार्यसंभवो निश्चितकल्प इति तात्पर्यम् ।

मन्त्रिमुख्ययोः चाणक्यराक्षसयोर्नीतियुद्धं वर्णयन् विराधगुप्तो वक्ति—विरुद्धयोरित्यादि । इह मगधराज्ये चन्द्रगुप्तराज्यस्थैर्यापादनतदुच्छेदनात्मके वा द्वन्द्वे भृशं विरुद्धयोः प्रकामं विरोधेन वर्तिनोर्व्यवहरतोश्च मन्त्रिमुख्ययोः प्रधानामात्ययोश्चाणक्यराक्षसयोरन्तरे मध्ये श्रिया राजलक्ष्म्या महावने दुर्गमकानने कस्मिंश्चिद् भृशं

जकड़ कर बांधती और अडिग बनाती दिखाई दे रही है तो दूसरी ओर राक्षस की चालें लम्बे हाथों उसे बलपूर्वक अपनी ओर घसीटती भी जा रही है !' ॥ २ ॥

इन दो महानीतिज्ञ महामन्त्रिओं की आपस की मुठभेड़ क्या हुई नन्द-वंश की राजलक्ष्मी ही खटाई में पड़ गयी !

अब तो बस,

'जैसे किसी बड़े जंगल में दो जंगली हाथिओं के एक दूसरे से झगड़ पड़ने पर, कोई हथिनी, दोनों में से किसी का हार अथवा जीत का निश्चय न कर सकने

अनिश्चयाद्गजवशयेव भीतया गतागतैर्भृशमिव खिद्यते श्रिया ॥ ३ ॥

तद्यावत् अहममात्यराक्षसं पश्यामि (इति परिक्रम्य स्थितः)

इत्यङ्कावतारः ।

(ततः प्रविशत्यासनस्थः स्वभवनगतः पुरुषेणानुगम्यमानः सचिन्तो राक्षसः)

विरुद्धयोर्हस्तिनीमेकां स्व-स्ववशां विधातुमामरणं युध्यतोर्वनगजयोरन्तरे मध्ये गजवशयेव करिण्येव भीतया त्रस्तया तस्याऽनिश्चयादन्यतरविजयाऽनिर्धारणतो गतागतैरेकदा चाणक्यं प्रति गतं गमनमन्यदा तत आगतं तं विहाय राक्षसं प्रत्युपसर्पणमित्येवंरूपं यद् गतागतं गमनाऽगमनपारम्पर्यं तैः कृत्वा भृशं खिद्यत इवात्यन्तं क्लिश्यत इवेत्यर्थः ॥ ३ ॥

टिप्पणी—अत्र मन्त्रिद्वय-गजद्वययोस्साधर्म्यप्रदर्शनादुपमालङ्कारः राजलक्ष्म्याः खेदसंभावनादुत्प्रेक्षा चेत्युपमानुप्राणितोत्प्रेक्षालङ्कार इति विचारितं टीकाकृद्भिः । किन्तु 'राक्षसचाणक्यौ परस्परं प्रतिमानभूतौ निःसङ्गयोगिनौ कावपि महापुरुषावितिरूपो यो नाटकानुकूलो ध्वनिरत्रोन्मिषति तस्य तु स्वरूपमेव तैर्न दृष्टम् । वस्तुतस्तु ध्वनिरयमेवात्र कविहृदयसंरम्भविषयः । अत्रोपमायाः आपातरम्यत्वादुत्प्रेक्षायाश्च कवि-निबद्धवक्तृतात्पर्यभूताया अपि कवितात्पर्यसर्वस्वायमानत्वाभावात् ।

तद्यावदमात्यराक्षसं पश्यामीति- अत्र प्रवेशक-विष्कम्भकसूचनां विनैव राक्षसस्य यः प्रवेशो विवक्षितो येन खलु द्वितीयोऽयमङ्कोऽवतार्यते सोऽयमङ्कावतारोऽत्र नाटककृता निबद्धो दृश्यते । अङ्कावतारस्य लक्षणं तु 'सोऽङ्कावतारो यत् पात्रैरङ्कान्तरमसूचन'मिति । राक्षसः कार्यान्तराभिनिविष्टः मा ज्ञायि सामाजिकैरिति न प्रवेशकादिना तस्य प्रवेशोऽत्र कृतोऽपि त्वङ्कावतारेण, तत एव तस्य चाणक्यविजयैकपरत्वादेः प्रकाशनादिति ।

के कारण कभी एक के पास और कभी दूसरे के पास आती-जाती केवल खिन्न दिखाई देती है वैसे ही इस साम्राज्य में इन दोनों परस्पर-विरुद्ध महामन्त्रिओं के बीच किसी एक की भी हार-जीत का निर्णय न कर पाने के कारण राजलक्ष्मी भी कभी एक के पास और कभी दूसरे के पास डरती हुई आती और जाती और केवल दुःख ही उठा रही है ।' ॥ ३ ॥

देखें क्या होता है ! मुझे तो अमात्य राक्षस से मिलना है ।

(इधर उधर-घूमते हुये खड़ा हो जाता है)

(अपने भवन में पर्यङ्क पर आसीन, चिन्ता-मग्न राक्षस, एक अनुचर के साथ दिखाई देता है)

राक्षसः—(ऊर्ध्वमवलोक्य सबाष्पम्) कष्टं भोः ! कष्टम्—

वृष्णीनामिव नीतिविक्रमगुणव्यापारशान्तद्विषां
नन्दानां विपुले कुलेऽकरुणया नीते नियत्या क्षयम् ।
चिन्ताऽऽवेशसमाकुलेन मनसा रात्रिन्दिवं जाग्रतः
सैवेयं मम चित्रकर्मरचना भित्तिं विना वर्त्तते ॥ ४ ॥

राक्षसो भृशं प्रयतमानोऽपि फलाफलचिन्तादोलान्दोलितमानसस्स्वहृदयेन संलपन्नाह—वृष्णीनामिति । अहो ! किं क्रियताम्, तथाहि—वृष्णीनामिव तथा प्रसिद्धानां यदूनामिव नीतिविक्रमगुणव्यापारशान्तद्विषां नीतिर्मन्त्रशक्तिर्विक्रमः प्रभुशक्तिर्गुणाः स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्रसम्पदः व्यापारास्तन्त्रावापादयश्च तैस्समस्तैः कृत्वा शान्ताः प्रशमितोपद्रवास्संजाताः द्विषश्शत्रवो येषां तथाविधानां नन्दानां विपुले कुले महोदारे महाराजवंशेऽकरुणया नियत्या दारुणेन दुर्भाग्यदुर्विलसितेन क्षयं नीते प्रणाशं प्रापिते सति, चिन्तावेशसमाकुलेन तथाकृतं शत्रुभिः कथं वा प्रतिविधातव्यमित्यादिरूपाणां चिन्तानां य आवेशा आघातास्तैः कृत्वा समाकुलेनात्यर्थमुद्विग्नेन मनसाऽन्तःकरणेन हेतुना रात्रिन्दिवं जाग्रतो विगतनिद्रमहर्निशं तत्तत्संकल्पयतो विकल्पयतश्च मम सा एव इयं चित्रकर्मरचना चित्रकर्मणः चित्रस्य रचनेव चित्राणामाश्चर्यकारिणां कर्मणां तन्त्रावापादीनां संविधानप्रतिभा या हि पुरा नन्देषु जीवत्सु किं तद् यन्न कृतवती किंतु विनष्टेषु तेष्वधुना भित्तिं विना वर्त्तते निराधारं, किमपि कर्त्तुमसमर्था सती हृदय एवावसीदतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

राक्षस—(ऊपर की ओर देख, आंसू भरी आंखों से) ओह ! इससे बढ़ कर दुःख की बात और क्या हो सकती है कि,

'वही मेरी शासन और मन्त्रणा की, लोगों को विस्मय-विमुग्ध कर देने वाली क्रिया जो वृष्णिओं की भांति नन्दों के, उन नन्दो के जिनके पराक्रम, जिनके राजोचित गुण और जिनके साहसमय कार्यों के सामने किसी शत्रु ने कभी सिर नहीं उठाया, रहते हुये क्या से क्या कर दिखाती थी, अब जब कि निष्ठुर दुर्भाग्य ने सब कुछ बिगाड़ डाला है, जब कि नाना प्रकार की चिन्तायें मन में घर किये हुई हैं, जब कि रात-दिन जागते २ बीतते जा रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी भी आधार के न मिलने से उसी प्रकार स्तब्ध खड़ी है जिस प्रकार किसी चित्रफलक के न मिलने से किसी चित्रकार की चित्रकला !' ॥ ४ ॥

अथवा—नेदं विस्मृतभक्तिना न विषयव्यापारमूढात्मना
प्राणप्रच्युतिभीरुणा न च मया नात्मप्रतिष्ठार्थिना ।

टिप्पणी—(१) राक्षसहृदयस्य करुणमुच्छ्वसितमत्र सामाजिकानां हृदयं स्पृशति । करुणरसस्यापूर्वोऽयमुपनिबन्धो नाटककृतो नवमेव रसनिर्माणकौशलमुद्भावयति । राक्षसस्य शोकोऽत्र दैवकृतेन स्वपुरुषकारलुण्ठनचिन्तनेन लब्धजन्मा स्वौपयिकविभावादभिव्यक्तस्सहृदयहृदये रसीभवति ।

(२) टीकाकृद्भिरत्र विभावना-विशेषोक्ति-तत्संसृष्ट्यादीनां चिन्ताभिर्यन्मनः कदर्थितं तत्तु नितरामसमीचीनमेव तेषां प्रतिभाति । 'सैवेयं मम चित्रकर्मरचनाभित्तिं विना वर्त्तते' इति या वाचोयुक्तिस्सा तु टीकाकृद्भिरदृष्टरामणीयका सहृदयानेव सरभसं रमयितुमुत्सुका तिष्ठति । अत्र हि कस्यचन चित्रकरस्य चित्रकर्मरचनया पूर्वप्रदर्शिततत्तदालेख्यसंविधानकयाऽमात्यराक्षसस्य विचित्रराज्यतन्त्रसंचालनसमर्थस्य राजनीतिप्रतिभायाः यदध्यवसानं तदेव चेतश्चमत्कारि किमप्यर्थतत्त्वम् । कविरयं राजनयनिपुणराक्षसं चित्रकरेण राजनीतिं च चित्रकलयाऽध्यवस्यन्नुभयत्र यमाहार्याभेदनिश्चयं करोति तेनैव राक्षसशोकस्य धाराधिरोहो भवितुमर्ह इति विगलितविचिकित्सं मन्तव्यं मनीषिभिः ।

स्वस्य राजनयाभिनिवेशः किं सेवाभावेन किंवा स्वार्थभावनयेति मनसि विकल्पयन्नाह राक्षसः—नेदं विस्मृतभक्तिनेत्यादि । अस्यार्थः काय-वाङ्मनसां प्रगुणीभावेन परदास्यमेत्य परस्यापि यथा मलयकेतोरेव वशवर्तितां स्वीकृत्य मया राक्षसेन नीतौ शत्रुपराभवाय सामादिप्रयोगे यन्निपुणं साभिनियोगं मनो दीयते तत्तत् संकल्प्यते विकल्प्यते वा तदिदं सर्वं न विस्मृतभक्तिना न नन्दभक्तिं विस्मृत्य स्वार्थसिद्धिं वा पुरस्कृत्य, मया क्रियते न विषयव्यापारमूढात्मना न वा विषयाणां तत्तदुपभोगसाधनानां ये व्यापारा मनसः रागविक्षेपादिकरणाध्यवसायास्तैर्मूढस्संमुग्ध आत्मा स्वान्तं चित्तं वा यस्य तेन तथाविधेन सता मया क्रियते, न प्राणप्रच्युतिभीरुणा न वा परिरक्षणीयाः स्वस्य प्रियाः प्राणा एव इति समरमुखाद् भीतत्रस्तेन वा मया क्रियते, नचात्मप्रतिष्ठार्थिना न च हन्त ! पुनरप्यात्मानं महामात्यपदे

और अब भी मैं,

'दूसरे (अर्थात् मलयकेतु) की दासता स्वीकार करके भी राजनीति के दाव-पेंचों में इसीलिये पड़ा हुआ हूं जिसमें दिवंगत महाराज नन्द मेरे द्वारा किये गये अपने शत्रुओं के बध से किसी प्रकार कुछ तृप्त हो सकें, इसलिये नहीं कि नन्दवंश के प्रति अपनी भक्ति ही भूल चुका हूं, इसलिये नहीं कि जीवन के सुख-भोग की वासनायें मुझे मोह रही हैं, इसलिये नहीं कि अपने प्राण न्योछावर

अत्यर्थं परदास्यमेत्य निपुणं नीतौ मनो दीयते
देवः स्वर्गगतोऽपि शात्रववधेनाराधितः स्यादिति ॥ ५ ॥

(आकाशमवलोकयन् सास्रम्) भगवति कमलालये ! भृशम् अगुणज्ञाऽसि । कुतः ?—

आनन्दहेतुमपि देवमपास्य नन्दं
रक्ताऽसि किं कथय वैरिणि मौर्यपुत्रे ? ।
दानाम्बुराजिरिव गन्धगजस्य नाशे
तत्रैव किं न चपले ! प्रलयं गताऽसि ? ॥ ६ ॥

प्रतिष्ठापयेयमिति वा मनसिकृत्य मया क्रियते किन्तु स्वर्गगतोऽपि देवस्मृतिशेषोऽपि महाराजो नन्दश्शात्रववधेन मत्संकल्पितेन शत्रुसमालम्भनेनाऽराधितः स्यात् परितुष्यतु प्रीयतां वेति हेतोरेव सर्वमिदं क्रियत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

टिप्पणी—अत्र श्रीढुण्ढिराजपण्डितैर्गर्भसन्धेरङ्गं मार्गरूपं यद् गवेषितं तत्तु यत्किञ्चिदेव । यद्यपि तत्त्वकीर्तनं तत्त्वार्थशंसनं वा मार्गस्य लक्षणं किन्तु मार्गत्वमेतादृशस्य नाटकवाग्विलासस्य तदैव संघटते यदा वचनमिदं सामान्येनोच्यमानं सत् प्रकृतार्थेन संबध्येत । वस्तुतस्तु तत्त्वार्थशंसनमिदं साक्षादेव प्रकृतार्थभूतमिति न मार्गस्य मार्गणावकाशः कोऽपीति ।

राक्षसो राजलक्ष्मीमेवागुणज्ञां सकलस्य स्वप्रयत्ननैष्फल्यस्य निदानभूतामधिक्षिपन्नाह—आनन्दहेतुमित्यादि । अयि चपले ! भ्रष्टपातिव्रत्ये ! स्वैरिणि ! कथय किं किमर्थं कथं वाऽनन्दहेतुमपि सर्वविधसुखसंभोगप्रदातारमपि देवं महाराजं नन्दमपास्य परित्यज्य वैरिणि मौर्यपुत्रे नन्दशत्रौ चन्द्रगुप्ते रक्ताऽसि प्रणयपरायणा संजाताऽसि ? अये ! गन्धगजस्य नाशे मृते गन्धहस्तिनि दानाम्बुराजिरिव तदीयमदधा-

---

करने का सुझ में साहस नहीं रहा और न इसीलिये कि मुझे अपने प्राचीन गौरव के पुनः पाने की ही कोई लालसा लग चुकी है !' ॥ ५ ॥

(शून्य की ओर देखते हुये-आंखों में आंसू भरे)

वाह री राजलक्ष्मी ! तू भी कितनी विवेकहीन है 'अरी ! बोलती क्यों नहीं ! तुम्हारी ऐसी नीचता कि अपने एक मात्र आनन्ददायक महाराज नन्द को छोड़ चली ! और उनके ही वैरी मौर्य चन्द्रगुप्त से लिपट पड़ी ! अरी ! तुझे तो अपने महाराज के साथ वैसे ही मर मिटना चाहिये था जैसे किसी मतवाले हाथी के मर जाने पर उसके साथ उसकी मदधारा मर जाया करती है !' ॥ ६ ॥

अपि च अनभिजाते !

> पृथिव्यां किं दग्धाः प्रथितकुलजा भूमिपतयः
> पतिं पापे ! मौर्यं यदसि कुलहीनं वृतवती ? ।
> प्रकृत्या वा काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला
> पुरन्ध्रीणां प्रज्ञा पुरुषगुणविज्ञानविमुखी ॥ ७ ॥

रेव तत्रैव नष्टे नन्द एव किं प्रलयं न गतासि ! तेन सहैव कथं न मृताऽसीत्यर्थः । पत्युर्मरणमनुमरणस्य कथैव काऽपरमेवोपपत्तिमभिसर्तुमुपक्रान्ताऽसीत्यभिप्रायः ॥६॥

टिप्पणी—अत्र नन्द–राजलक्ष्म्यादेः प्राकरणिकस्य गन्धगजमदधारादेरप्राकरणिकस्य च यत्साधर्म्यं वर्णयति कविस्तस्यास्ति किमपि स्वारस्यम् । सर्वथा संज्ञाशून्याऽपि मदधारा यदि गन्धहस्तिनि स्वाश्रये समुत्सन्ने समुत्सीदति सुतरां संज्ञानवत्या लक्ष्म्या नन्दे भर्तरि मृते मर्तव्यमेव । यथाहि नानया तथाऽचरितम् तथा नास्ति पापायाः कोऽपि निस्तारमार्ग इति ।

एतावताऽधिक्षेपेण मनसः स्वास्थ्यमलभमानोऽमात्यराक्षसः पुनरपि लक्ष्मीमेव निन्दन्नाह—पृथिव्यामित्यादि । अयि पापे ! पापाचारे ! पृथिव्यां विपुलेऽस्मिन् विश्वे प्रथितकुलजाः विपुलेषु महत्सु प्रसिद्धेषु वा राजवंशेषु जाताः भूमिपतयो राजानः किं दग्धाः विनष्टाः ! यत् कुलहीनं दुष्कुलं मौर्यं चन्द्रगुप्तं पतिं कृतवती असि स्वामित्वेन स्वीकृत्य रन्तुमुत्सुकीभवसि ! चन्द्रगुप्तवरणं केवलं पापफलकमेव नान्यकारणकमिति भावः । वाऽथवा पुरन्ध्रीणां रमणीनां प्रज्ञा बुद्धिः प्रकृत्या स्वभावत एव काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला काशात्प्रभवो यस्य तस्य कुसुमस्य निर्गुणस्य काशपुष्पस्य प्रान्तोऽग्रभाग इव चपला चलायमाना पुरुषगुणविज्ञानविमुखी पुरुषाणां यद् गुणविज्ञानं सत्कुलत्वदुष्कुलत्वादिविवेचनं तत्र विमुखी नितरां निरपेक्षा खलु भवतीति ॥ ७ ॥

टिप्पणी—(१) अत्र काशकुसुमेति वक्तव्ये काशप्रभवकुसुमेतिवचनमधिकपदत्वदोषवदपि यत्कविना स्वीकृतं तत्त्वर्थविशेषस्याविष्करणायैव । कोऽसावर्थविशेष

अरी ! तू कितनी कुलटा है !

'तुम्हारा जीवन ही पापमय है नहीं तो क्या इस इतनी बड़ी धरती पर प्रतिष्ठित वंश वाले राजा-महाराजा लोग जल मरे थे जो तूने इस कुलहीन मौर्य को अपने लिये चुन लिया ! तुम्हारा भी क्या दोष ! स्त्रियों की तो बुद्धि ही ऐसी होती है जो काश-कुसुम के किनारों की भांति कभी भी स्थिर नहीं रह सकती और न जिसे किसी पुरुष के गुण और अवगुण का ही कोई विवेक रहा करता है !' ॥ ७ ॥

अपि च। अविनीते ! तदहमाश्रयोन्मूलनेनैव त्वामकामां करोमि। (विचिन्त्य) मया तावत् सुहृत्तमस्य चन्दनदासस्य गृहे गृहजनं निक्षिप्य नगरान्निर्गच्छता न्याय्यमनुष्ठितम्। किं कारणमिति ? कुसुमपुराभियोगं प्रति अनुदासीनो राक्षस इति, तत्रस्थानामस्माभिः सह एककार्याणां देवपादोपजीविनां नोद्यमः शिथिलीभविष्यतीति। चन्द्रगुप्तशरीरमभिद्रोग्धुमस्मत्प्रयुक्तानां तीक्ष्णरसदायिनामुपसंग्रहार्थं परकृत्योपजापार्थञ्च महता कोशसञ्चयेन स्थापितः शकटदासः। प्रतिक्षणमरातिवृत्तान्तोपलब्धये तत्संहतिभेदाय च व्यापारिताः सुहृदो जीवसिद्धिप्रभृतयस्तत्

इति चेत् ? कर्मधारयेण काशप्रभवेतिविशेषणपदार्थस्य कुसुमेति विशेष्यपदार्थे समानाधिकरणतया बुद्ध्युपारोहणे चापल्यस्याप्युभयत्र संगतत्वावगतिरिति।

(२) अत्र 'भगवति ! कमलालये !' इत्याद्यारभ्य 'पुरन्ध्रीणां प्रज्ञा पुरुषगुणविज्ञानविमुखी' इत्यन्तो यो वाग्विलासो दैवात्मलक्ष्मीनिन्दनादिरूपः शोकानुगुणस्स तु यद्यपि राक्षसगतस्य 'निपुणं नीतौ मनो दीयत' इत्यादिना पूर्ववचसा कियद्विजृम्भितस्योत्साहस्थायिनो विरोधी तथापि तदहमाश्रयोन्मूलनेनैव त्वामकामां करोमी' त्यादिना वीरानुभावेन लक्ष्म्यादेराक्षेपेणाऽपोषितशोकपोष एव पर्यवसित इति चातुर्यमेव रसपाकचतुरस्य कवेराविष्करोतीत्यलं सहृदयेषु बहु विकल्प्येति।

परकृत्योपजापार्थमिति—परस्य शत्रोश्शत्रुविषयस्य वा ये कृत्याः क्रुद्ध-भीत लुब्ध-

---

अरी ! तुम्हारी ऐसी उद्दण्डता ! मुझे राक्षस न कहना यदि मैंने तुम्हारे सहारे को सर्वनाश में न मिला दिया और तुम्हारे मनरथों को चकनाचूर न कर दिया ! (कुछ सोचते हुये)

ऐसा लगता है कि मैंने जो अपना परिवार अपने परममित्र चन्दनदास के घर में रखकर पाटलिपुत्र छोड़ा, वह अच्छा ही किया। क्योंकि जब हमारे कंधे के साथ कंधा मिलानेवाले, महाराज के भक्त हमारे लोग यह जान जायेंगे कि राक्षस अपने पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने में उदासीन नहीं है तो उनके भी प्रयत्न ढीले नहीं पड़ सकेंगे। और मैंने शकटदास को इसीलिये तो नियुक्त कर रखा है कि चाहे जितना भी धन लगे चन्द्रगुप्त की हत्या करने के लिये हमारी ओर से तीक्ष्णों और रसद पुरुषों (विष देनेवालों) को इकट्ठा कर लिया जाय और साथ ही साथ शत्रुपक्ष के लोगों को फोड़ने का प्रयत्न किया जाय। और साथ ही साथ हमारे मित्र जीवसिद्धि इत्यादि भी क्षण २ में शत्रुओं की चालों का

किमत्र बहुना ?—

इष्टात्मजः सपदि सान्वय एव देवः
शार्दूलपोतमिव यं परिपुष्य नष्टः।
तस्यैव बुद्धिविशिखेन भिनद्मि मर्म
वर्मीभवेद्यदि न दैवमदृश्यमानम् ॥ ८ ॥

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

मानिवर्गाः पुरुषाः कृत्यपक्षीया इति यावत् (कौटिलीयमर्थशास्त्रम् १. १४. १०.) तेषां च उपजापो भेदनमात्मपक्षसाहाय्याचरणाय प्रेरणं तदर्थमित्यर्थः। उक्तं चार्थशास्त्रे दुर्गलम्भोपायाधिकरणे—

'तथेति प्रतिपन्नेषु द्रव्यधान्यपरिग्रहैः।
साचिव्यं कार्यमित्येतदुपजापाद्भुतं महदि'ति ॥

किमत्र बहुनेत्यादि। अत्र राक्षसस्य प्रतिनायकस्य प्रारम्भ-प्रत्यत्नावस्थे चाणक्यनायकस्य प्राप्त्याशां सूचयन्त्यावुपनिबद्ध इति विवेक्तव्यं सुधीभिः।

राक्षसः स्वनीतिप्रयोगं मनसि चिन्तयन्नाह—इष्टात्मज इत्यादि। इष्टात्मनः इष्टा आत्मजा यस्येति प्रियसुतो देवो नन्दो यं चन्द्रगुप्तं शार्दूलपोतमिव व्याघ्रशावकमिव परिपुष्य परिपाल्य सान्वय एव सवंश एव सपदि नष्टः 'पालितेन येन कृतघ्नाचारेण विनाशमवाप्तस्तस्यैव दुराचारस्य मौर्यस्य मर्म मर्मस्थानीयं मन्त्राधिकारिणं चाणक्यमिति यावत्। बुद्धिविशिखेन दारुणेन कूटनीतिव्यापारेण भिनद्मि विदारयामि यदि हन्त! अदृश्यमानं दैवमनालक्ष्यं मौर्यस्य भाग्यमस्मद्भाग्यं वा न वर्मीभवेत् न तस्य रक्षकं स्यादित्यर्थः ॥ ८ ॥

टिप्पणी—अत्र टीकाकृद्भिश्श्रीढुण्ढिराजप्रभृतिभिः 'मया तावदित्यारभ्यादृश्यमानमित्यन्तेन राक्षसस्योपायापायशङ्क' इति यदुक्तं तत्तु पूर्वोक्तविमर्शेनाऽसमीचीनमिति नादरणीयम्।

पता लगाने और उनके गुट को तोड़ने के लिये तत्पर ही कर दिये गये हैं। अब तो बस,

'यदि हमारी बढ़ती न सह सकनेवाला हमारा भाग्य ही कहीं बचाने को न तैयार हो जाय तो यह निश्चित है कि मैं अपने नीति-बाण से उस चन्द्रगुप्त का मर्म छिन्न-भिन्न कर दूंगा जिसने एक भेड़िये के बच्चे की भांति पाले-पोसे जाकर पुत्र-प्रेमी महाराज नन्द और उनके वंश का ही सर्वनाश कर डाला' ॥ ८ ॥

(कञ्चुकी प्रवेश करता है)

कञ्चुकी—कामं नन्दमिव प्रमथ्य जरया चाणक्यनीत्या यथा
धर्मो मौर्य इव, क्रमेण नगरे नीतः प्रतिष्ठां मयि।
तं सम्प्रत्युपचीयमानमपि मे लब्धान्तरः सेवया
लोभी राक्षसवज्जयाय यतते, जेतुं न शक्नोति च ॥ ९ ॥

कञ्चुकीति—कञ्चुकिलक्षणं यथा साहित्यदर्पणे—
'अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥' इति।

जाजलिनामधेयः मलयकेतुकञ्चुकी स्वहृदये प्रवर्त्तमानं धर्म-लोभद्वन्द्वं चाणक्य-राक्षससंघर्षमिव चिन्तयन्निर्विण्णमना आह—कामं नन्दमिवेत्यादि। यथा चाणक्यनीत्या चाणक्यस्य कूटनयनैपुण्या नन्दं प्रमथ्य परिभूय नगरे पाटलिपुत्रे योऽयं मौर्यश्चन्द्रगुप्तः क्रमेण सन्धिविग्रहादिना निग्रहानुग्रहपौर्वापर्यपरम्परया समस्तं राजमण्डलं वशीकृत्य प्रतिष्ठां नीतः प्रतिष्ठापितः सम्राड्रूपत्वेनेति शेषः, तथैव जरया वृद्धावस्थयाऽनया कामं विषयाभिनिवेशं मदीयं प्रमथ्य सम्मर्द्य मयि मदन्तःकरणे योऽयं धर्मः विषयाभिषङ्गविमुखीभावः क्रमेण श्रवण-मननादिपरिपाट्या प्रतिष्ठापितोऽनुष्ठानसर्वस्वरूपत्वेनेति शेषः, तं मौर्यमिव धर्मं संप्रत्युपचीयमानमपि चाणक्यनयसाफल्येनेव कालानुगुण्येन समयेऽस्मिन् वर्द्धिष्णुमपि सन्तं राक्षसवत् मे लोभो राक्षस इव मदीयो विषयाभिलाषस्सेवया राक्षसपक्षे मलयकेतुकृतया तत्संभावनया कञ्चुकिपक्षे च स्वकृतया मलयकेतुपरिचर्ययेति भावः, लब्धान्तरः संप्राप्तसंधिभेद इवेति शेषः, प्राप्तहृदयावकाशः जयाय जेतुं (तुमर्थाच्च भाववचनादिति चतुर्थी) यतते प्रयत्नमारचयति किन्तु जेतुं च न शक्नोति पराभवितुं न शक्यतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

टिप्पणी—(१) अत्र चाणक्यस्य प्राप्त्याशाऽन्ययैव भङ्ग्या सूचिता कविना।
(२) प्राकरणिकानां काम-जरा-धर्म-हृदय-लोभ-जयानां विचित्रैरप्राकरणि-

---

कञ्चुकी—'मेरा यह राजसेवा से बढ़ता हुआ लोभ, ऐसा प्रतीत होता है मानो बुढ़ापा के कारण काम के नष्ट कर दिये जाने पर हृदय में क्रमशः प्रतिष्ठित होते हुये मेरे धर्म-भाव को उसी प्रकार दबाना चाहते हुये भी नहीं दबा सकता जिस प्रकार चाणक्य की नीति से नन्द के नष्ट कर दिये जाने पर पाटलिपुत्र में क्रमशः प्रतिष्ठित होते हुये चन्द्रगुप्त को दबाना चाहते हुये भी राक्षस, चाहे अपने राजसंघ से उसे कितना भी बढ़ावा मिल रहा हो, कभी नहीं दबा सकता' ॥ ९ ॥

(दृष्ट्वा) अयममात्यराक्षसः (परिक्रम्य उपसृत्य च) इदममात्यराक्षसस्य गृहं प्रविशामि। (प्रविश्यावलोक्य च) अमात्य ! स्वस्ति भवते।

राक्षसः—आर्य जाजले ! अभिवादये। प्रियंवदक ! आसनम् अत्रभवत उपनय।

पुरुषः—इदमासनम्, उपविशत्वार्यः (एदं आसणं उपविसदु अज्जो)

कञ्चुकी—(नाट्येनोपविश्य) अमात्य ! कुमारो मलयकेतुरमात्यं विज्ञापयति—'चिरात्प्रभृत्यार्यः परित्यक्तोचितशरीरसंस्कार' इति पीड्यते मे हृदयम्। यद्यपि स्वामिगुणाः सहसा न शक्यन्ते विस्मर्तुम्, तथापि मद्विज्ञापनां मानयितुमर्हत्यार्यः' (इत्याभरणानि दर्शयित्वा) अमात्य ! इमान्याभरणानि कुमारेण स्वशरीरादवतार्य प्रेषितानि, धारयितुमर्हत्यार्यः।

राक्षसः—आर्य ! जाजले ! विज्ञाप्यतां मद्वचनात् कुमारः—विस्मृता

कैर्यत्साधर्म्यं कल्पितं कविना तत्तु काव्यौपयिकं भवतु मा वा भूत् नाटकौपयिकमत्र नितरामेव संजातमिति संतोष्टव्यं सुधीभिः।

(देख कर) ओह ! महामन्त्री राक्षस ! (घूमते हुये समीप जाकर) यह रहा महामन्त्री राक्षस का भवन ! अच्छा चलूं, भीतर चलूं। (भीतर पहुंचकर-देखते हुये) कल्याण हो महामात्य !

राक्षस—आर्य ! जाजले ! प्रणाम स्वीकार हो। (सेवक से) अरे ! प्रियम्वदक !! आर्य जाजलि के लिये आसन लाओ।

पुरुष—लाया महाराज ! लीजिये, विराजिये।

कञ्चुकी—(अभिनय-पूर्वक बैठते हुये) अमात्य ! कुमार मलयकेतु का निवेदन है कि उन्हें इस बात का हार्दिक दुःख है कि आपने अपनी शरीरोचित वेष-भूषा आदि का भी ध्यान छोड़ दिया है क्योंकि दिवंगत महाराज नन्द को अकस्मात् भूलना आपके लिये असम्भव है किन्तु तब भी यह प्रार्थना किसी प्रकार अवश्य स्वीकार की जायगी। (आभरणों को दिखाते हुये) अमात्य ! ये वे आभरण हैं जिन्हें कुमार ने अपने शरीर से उतार कर आपके लिये भेजे हैं। क्या इन्हें लेने की कृपा न की जायगी !

राक्षस—आर्य जाजले ! मेरी ओर से कुमार को कृपया यह निवेदन कर

मया स्वामिगुणा भवद्गुणपक्षपातेन। किन्तु—

न तावन्निर्वीर्यैः परपरिभवाक्रान्तिकृपणै-
र्वहाम्यङ्गैरेभिः प्रतनुमपि संस्काररचनाम्।
न यावन्निःशेषक्षपितरिपुचक्रस्य निहितं
सुगाङ्गे हेमाङ्कं नृवर! तव सिंहासनमिदम्॥ १०॥

कञ्चुकी—अमात्य! त्वयि नेतरि सुलभमेतत् कुमारस्य, तत् प्रतिमान्यतां कुमारस्य प्रथमः प्रणयः।

राक्षसः—आर्य! कुमार इवानतिक्रमणीयवचनो भवानपि, तदनुष्ठीयते कुमारस्याज्ञा।

राक्षसः मलयकेतुकृतां स्वस्य संभावनां शत्रुसमुच्छेदेन प्रतिसमर्पयितुं प्रतिजानान आह—न तावन्निर्वीर्यैरित्यादि। आर्य जाजले! विज्ञाप्यतामस्मद्वचनात्कुमारमलयकेतुः—हे नृवर! नरश्रेष्ठ! यावत् यत्कालपर्यन्तं निःशेषक्षपितरिपुचक्रस्य निःशेषं यथा स्यात्तथा क्षपितं विनाशितं रिपुचक्रं शत्रुसामस्त्यं यस्य तस्य तवेदं मद्हृदयस्थं हेमाङ्कं सिंहासनं हिरण्मयं राजासनं सुगाङ्गे महाराजस्य नन्दस्य गङ्गायाः परिसरवर्तित्वात्तन्नाममहनीये तद्गुणरमणीये च प्रासादे न निहितं न प्रतिष्ठापितं मयेति शेषः, तावत्तत्कालपर्यन्तं परपरिभवाक्रान्तिकृपणैः परैः शत्रुभिः कृता या परिभवाक्रान्तिरस्मत्तिरस्क्रियारूपमाक्रमणं तेन कृपणैर्दीनैरत एव निर्वीर्यैर्निस्तेजस्कैरेभिरङ्गैर्मदीयैश्शरीरावयवैः प्रतनुमपि संस्काररचनां स्वल्पमप्यलङ्कारविकल्पं न वहामि नैव धारयिष्यामीत्यर्थः॥ १०॥

दिया जाय कि उनके गुणों के प्रति मेरे अनुराग ने महाराज नन्द के गुणों को भुला सा दिया है। किन्तु,

'मेरी यह प्रतिज्ञा है कि जबतक समस्त शत्रु-संघ का सर्वनाश करके कुमार का स्वर्ण-सिंहासन सुगाङ्ग प्रासाद में स्थापित नहीं कर दिया जाता तब तक अपने इस निर्वीर्य और शत्रुकृत अपमानों के आघात से दीनहीन शरीर पर किसी प्रकार की भी सजधज मुझसे कभी न देखी जा सकेगी'॥ १०॥

कञ्चुकी—अमात्य! आपके महामन्त्री रहते हुये तो कुमार के लिये यह सब बायें हाथ का खेल है। पहले तो आपको कुमार की यह प्रार्थना माननी ही पड़ेगी!

राक्षस—आर्य जाजलि! मेरे लिये तो जैसे कुमार की आज्ञा वैसे आपकी। लीजिये, कुमार की आज्ञा मैंने मान ली।

कञ्चुकी—(नाटयेन भूषणानि परिधाप्य) **स्वस्ति भवते, साधयाम्यहम् ।**

राक्षसः—**आर्य ! अभिवादये ।** (कञ्चुकी निष्क्रान्तः) । **प्रियंवदक ! ज्ञायतां कोऽयमस्मद्दर्शनार्थी द्वारि तिष्ठति ?**

प्रियंवदकः—**यदार्य आज्ञापयतीति ।** (परिक्रम्याहितुण्डिकं दृष्ट्वा) **ननु आर्य ! कस्त्वम् ?** (जं अज्जो आणवेदि त्ति । णं अज्ज ! को तुमं)

आहितुण्डिकः—**भद्र ! अहं खल्वाहितुण्डिको जीर्णविषो नाम । इच्छाम्यमात्यराक्षसस्य पुरतः सर्पैः खेलितुम्** (भद्द ! अहं क्खु आहितुण्डिओ जिण्णविसो णाम । इच्छामि अमच्चरक्खसस्स पुरदो सप्पेहिं खेलिदुं)

प्रियंवदकः—**तिष्ठ, यावदमात्यस्य निवेदयामि ।** (राक्षसमुपसृत्य) **आर्य ! एष खलु सर्पोपजीवी इच्छति सर्पैरमात्यस्य पुरतः खेलितुम्** (चिट्ठ, जाव अमच्चस्स णिवेदेमि । अज्ज ! एसो क्खु सप्पोवजीवी इच्छदि सप्पेहिं अमच्चस्स पुरदो खेलिदुं)

राक्षसः—(वामाक्षिस्पदनं सूचयित्वा आत्मगतम्) **कथं प्रथममेव सर्प-**

टिप्पणी—**अत्र राक्षसचरितस्य प्रभावातिशयस्तथा विवक्षितो यथा करुणवीरयोरङ्गभूतयोस्स्वपुष्टिमलभमानयोर्नृपसमीपस्थाततायिद्वयवन्न घात्यघातकभावो भवितुमर्ह इति रसयोगः कोऽपि कवेश्चमत्करोति चेत इति ।**

कथं प्रथममेव सर्पदर्शनमित्यादि—**राक्षसः शकुनाऽपशकुनयोः सुख्यन् दुःखयन् वा यद्वर्णितं तत्तु चाणक्यचरितात्तच्चरितस्य भेदाविष्करणप्रयोजनकमिति ।**

कञ्चुकी—(आभूषणों को पहनाने का अभिनय करते हुये) मङ्गल हो अमात्य ! मुझे जाने की आज्ञा हो ।

राक्षस—आर्य जालले ! प्रणाम स्वीकार हो । (कञ्चुकी का प्रस्थान) अरे ! प्रियंवदक !! जाओ, पता लगाओ, कौन द्वार पर मिलने के लिये खड़ा है ।

प्रियंवदक—जो आज्ञा महाराज ! (जाते हुये-संपेरे को देख कर) अरे, तुम कौन !

संपेरा—अरे भाई ! मैं हूं जीर्णविष ! एक संपेरा !! अमात्य राक्षस के आगे कुछ सांप के खेल दिखाना चाहता हूँ ।

प्रियंवदक—ठहरो ! अमात्य की आज्ञा ले लेने दो । (राक्षस के पास जाकर) महाराज ! एक संपेरा आया हुआ है, सांप के खेल दिखाना चाहता है ।

राक्षस—(बाईं आँख का फड़कना देख कर स्वगत) ओह ! पहले ही पहल

दर्शनम् ? (प्रकाशम्) प्रियंवदक ! न नः कुतूहलमस्ति सर्पदर्शने, तत् परितोष्य विसर्जयैनम् ।

प्रियंवदकः—यदार्य आज्ञापयति । (परिक्रम्याहितुण्डिकमुपसृत्य) भद्र ! एष खलु ते अमात्योऽदर्शनेन प्रसादं करोति, न पुनर्दर्शनेन (जं अज्जो आणवेदि । भद्द ! एसो क्खु दे अमच्चो अदंसणेण प्पसादं करेदि, ण उण दंसणेण)

आहितुण्डिकः—भद्र ! विज्ञापय मम वचनेनामात्यं—'न केवलमहं सर्पोपजीवी, प्राकृतकविः खल्वहम् , तस्माद् यदि मे दर्शनेनामात्यः प्रसादं न करोति, तदा एतदपि पत्रकं वाचयितुं प्रसीदतु' (पत्रमर्पयति) (भद्द बिण्णवेहि मम वअणेण अमच्चं—'ण केवलं अहं सप्पोबजीवी, पाउअकवी क्खु अहं, ता जइ मे दंसणेण अमच्चो प्पसादं ण करेदि, ता एदं पि पत्तअं बाचेदुं प्पसीददु' त्ति)

प्रियंवदकः—(पत्रं गृहीत्वा राक्षसमुपसृत्य) अमात्य ! एष खलु आहितुण्डिको विज्ञापयति—'न केवलमहं सर्पोपजीवी, प्राकृतकविः खल्वहम् , तस्माद् यदि मे दर्शनेनामात्यः प्रसादं न करोति, तदा एतदपि पत्रकं वाचयितुं प्रसीदतु' इति (अमच्च ! एसो क्खु आहितुण्डिओ विण्णवेदि—'ण केवलं अहं सप्पोवजीवी, पाउअकवी क्खु अहं, ता जइ मे दंसणेण अमच्चं प्पसादं ण करेदि, ता एदं पि पत्तअं बाचेदुं प्पसीददु' त्ति)

सांप देखना पड़ा ! (सुना कर) प्रियंवदक ! मुझे सांप के खेल देखने की इच्छा नहीं । जाओ, कुछ दे दिवाकर इसे विदा कर दो ।

प्रियंवदक—जैसी आज्ञा महाराज ! (चलते हुये संपेरे के पास पहुंच कर) अरे भाई ! सुनो तुम से विना मिले भी अमात्य तुम पर प्रसन्न हैं ।

संपेरा—अरे भाई ! मेरे कहने से कम से कम यह तो अमात्य से निवेदन कर आओ कि मैं केवल संपेरा ही नहीं प्राकृत का कवि भी हूं । और यदि तब भी अमात्य को दर्शन देने की कृपा न हो तो कम से कम मेरी यह कविता ही पढ़ ली जाय ! (पत्र दे देता है)

प्रियंवदक—(पत्र लेकर राक्षस के पास पहुंचते हुये) महाराज ! इस संपेरे का कहना है कि वह केवल संपेरा ही नहीं प्राकृत का कवि भी है और यदि महाराज दर्शन देना नहीं चाहते तो कम से कम इस कविता को ही पढ़ने की कृपा करें ।

राक्षसः—(पत्रं गृहीत्वा वाचयति)—

पीत्वा निरवशेषं कुसुमरसमात्मनः कुशलतया ।
यदुद्गिरति भ्रमरस्तदन्येषां करोति कार्यम् ॥ ११ ॥

(पाऊण णिरवसेसं कुसुमरसं अत्तणो कुसलदाए ।
जं उग्गिरेइ भमरो तं अण्णाणं कुणइ कज्जं ॥ ११ ॥)

राक्षसः—(आत्मगतम्) अये ! कुसुमपुरवृत्तान्तज्ञोऽहं भवत्प्रणिधिश्चेति गाथार्थः । आः कार्यव्यग्रत्वान्मनसः, प्रभूतत्वाच्च प्रणिधीनां विस्मृतम्; इदानीं स्मृतिरुपलब्धा । व्यक्तम् । आहितुण्डिकच्छद्मना कुसुमपुरादागतेन विराधगुप्तेनानेन भवितव्यम् (प्रकाशम्) प्रियंवदक !

विराधगुप्तलिखितं पत्रं वाचयति राक्षसः—पीत्वेत्यादि । भ्रमर इतस्ततस्सर्वत्र च गन्ता दूतः आत्मनः कुशलतया तत्तच्छद्मादिधारणादिनैपुण्येन निरवशेषं यथा स्यात्तथा सामस्त्येन कृत्याकृत्यपक्षीय-तत्तदुपजापादिकार्यसाकल्येनेति यावत्, कुसुमरसं कुसुमपुरस्य पाटलिपुत्रस्य वोदन्तसारं पीत्वा हृदयेऽवस्थाप्य निर्धार्य वा यदुद्गिरति यद्वक्ति वक्ष्यतीति भावस्तदन्येषां मन्त्रि-प्रवराणां केषाञ्चन कार्यं करोति शत्रुविजयादिरूपं प्रयोजनं सम्पादयिष्यतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

टिप्पणी—अत्र प्रकरणेन प्रयुक्तानां भ्रमरादिशब्दानामर्थान्तराभिधायकत्वं नियन्त्रितेऽपि सामाजिकानां सहृदयानां चेतसि मधुकरकर्तृकपुष्परसपान-मधूद्गिरण-दैवपैतृककार्यसम्पादनादिरूपो योऽयमर्थ उद्भासते यश्च प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरुपमानोपमेयभावोऽपि परिस्फुरति सोऽयं व्यञ्जनाविभव इति मन्तव्यं सुधीभिः ।

कार्यव्यग्रत्वान्मनस इत्यादि—कार्यव्यग्रत्वे राक्षसस्य विस्मरणशीलतां यथाऽत्र,

---

राक्षस—(पत्र पढ़ता है)—

'यद्यपि अपनी चतुरता से कुसुम-रस का पान भ्रमर स्वयं किया करता है किन्तु उसके उद्गीर्ण मधु की कुछ ऐसी महिमा है जो अन्य जन का ही कार्य सिद्ध किया करती है।' ॥ ११ ॥

(स्वगत) अरे ! इस गाथा का तो यह आशय हुआ कि इसे कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) के वृत्तान्तों का पता है। और यह गाथाकार हमारा गुप्तचर है। ओह ! इतने काम और इतने गुप्तचर ! कुछ स्मरण नहीं आता। अरे ! ऐसा तो नहीं कि यह विराधगुप्त हो और संपेरे के वेष में पाटलिपुत्र से आ रहा हो। (सुनाकर) प्रियंवदक ! भीतर आने दो इसे। यह तो कोई बड़ा अच्छा

प्रवेशय एनं, सुकविः एषः श्रोतव्यमस्मात् सुभाषितम् ।

प्रियंवदकः—यदार्य आज्ञापयतीति । (आहितुण्डिकमुपसृत्य) उपसर्पत्वार्यः (जं अज्जो आणवेदि त्ति । उपसप्पदु अज्जो)

आहितुण्डिकः—नाट्येनोपसृत्यावलोक्य च संस्कृतमाश्रित्य स्वगतम्)
अये ! अयममात्यराक्षसस्तिष्ठति । स एषः—

वामां बाहुलतां निवेश्य शिथिलं कण्ठे निवृत्तानना
स्कन्धे दक्षिणया बलान्निहितयाऽप्यङ्के पतन्त्या मुहुः ।
गाढालिङ्गनसङ्गपीडितसुखं यस्योद्यमाशङ्किनी

चाणक्यस्य च दुःशीलतां यथा पूर्वत्र वर्णयन् कविस्तयोर्वैधर्म्यं निपुणमुद्भावयितुं प्रवीण इति प्रतिभाति ।

विराधगुप्तस्य चिन्तस्य राक्षसस्य चाणक्यविजयोद्योगपरत्वमनुमिमान आह—वामां बाहुलतामित्यादि । अये ! महोद्यमशीलोऽयममात्यराक्षसो यस्योद्यमाशङ्किनी यस्य सन्धिविग्रहादिप्रयत्नत्रस्ता सती श्रीर्लक्ष्मीः वामां बाहुलतां स्वीयां वामभुजवल्लीं कण्ठे चन्द्रगुप्तस्येतिशेषः, शिथिलं यथा स्यात्तथा यथाकथञ्चिन्नानुरागभरसंरम्भेणेति यावत् निवेश्य संस्थाप्यापि निवृत्तानना मुखं परावृत्यैव तिष्ठन्ती तत्कामिना चन्द्रगुप्तेन च बलाद्बलपूर्वकमेव न स्वेच्छाप्रावण्येन दक्षिणे स्वस्य (चन्द्रगुप्तस्येति) स्कन्धे निहितया स्थापितयाऽपि मुहुर्वारं वारमङ्के लक्ष्म्या एव वक्षस आभोगे पतन्त्या स्खलितया दक्षिणया भुजलतयेति शेषः, उपलक्षिता सती मौर्यस्य चन्द्रगुप्तस्योरसि वक्षःस्थलेऽधुनापि वामेतरं दक्षिणं स्तनं गाढालिङ्गनसङ्गपीडितसुखं यथा-

---

कवि है, इसकी कविता सुननी चाहिये ।

प्रियंवदक—जैसी आज्ञा महाराज ! (संपेरे के पास जाकर) आजाओ, भीतर चले आओ ।

संपेरा—(अभिनय के साथ समीप आकर स्वगत) अरे ! ये हैं अमात्य राक्षस ! ये ही वे हैं—

'जिनके पराक्रमों से राजलक्ष्मी इतनी आतङ्कित है कि उसकी बांयी बांह चन्द्रगुप्त के गले में ढीली ढाली ही डाली जा चुकी है, उसका मुंह चन्द्रगुप्त की ओर से फिरा हुआ ही रहा करता है, उसकी दाहिनी बांह वलात्कार पूर्वक चन्द्रगुप्त के द्वारा अपने कंधे पर रखी जाने पर भी बारम्बार नीचे की ओर ही गिर जाया करती है और उसका दक्षिण स्तन अभी भी चन्द्रगुप्त के वक्षस्थल

मौर्यस्योरसि नाधुनाऽपि कुरुते वामेतरं श्रीः स्तनम् ॥ १२ ॥

(प्रकाशम्) जयतु जयत्वमात्यः (जअदु जअदु, अमच्चो)

राक्षसः—(विलोक्य) 'अये विराध !' (इत्यर्द्धोक्ते विरूढस्मृतिः) प्रियंवदक ! भुजङ्गैः इदानीं विनोदयामः, तद् विश्रम्यतां परिजनेन, त्वमपि स्वमधिकारमशून्यं कुरु ।

प्रियंवदकः—यदमात्य आज्ञापयतीति (जं अमच्चो आणवेदि त्ति)

(सपरिवारो निष्क्रान्तः)

राक्षसः—सखे ! विराधगुप्त ! इदमासनमास्यताम् ।

विराधगुप्तः—यदाज्ञापयत्यमात्य इति (नाट्येनोपविष्टः)

राक्षसः—(सखेदं निर्वर्ण्य) अहो ! देवपादपद्मोपजीविनो जनस्येयमवस्था ? (इति रोदिति) ।

स्यात्तथा न कुरुते निविडाङ्कपालीनिर्भरं नैवार्पयतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

टिप्पणी—अत्र रतिभयाभाससंवलितः यः काव्यार्थस्तेन राक्षसविषयको नाटककवेः प्रीत्युत्कर्षस्सुतरामभिव्यक्तस्सहृदयहृदयं चमत्करोतीति विभावनीयं विचक्षणैः।

देवपादपद्मोपजीविन इत्यादि—अनया वाचोयुक्त्या राक्षसस्य चाणक्यात्किमपि वैशिष्ट्यं प्रत्याप्यते । द्वावपि वीरौ किन्तु राक्षसो भावुकश्चाणक्यश्च क्षामहार्दः कोऽपि कर्मयोगीति ।

के गाढ़ालिङ्गन और उसके आनन्द की आशा नहीं कर सकता' ॥ १२ ॥

(सुनाकर) जय हो अमात्य ! जय हो ।

राक्षस—(देख कर) अरे ! विराध ! (इतना कहते हुये स्मरण हो आने पर) प्रियंवदक ! अब हमें सांपों से कुछ मन बहलाना है । सब लोग विश्राम करें, तुम भी अपने काम पर डट जाओ ।

प्रियंवदक—जैसी आज्ञा अमात्य !

(परिजनों के साथ बाहर निकल जाता है)

राक्षस—अरे भाई विराधगुप्त ! यहां आओ, इस आसन पर बैठ जाओ ।

विराधगुप्त—जो आज्ञा अमात्य ! (बैठने का अभिनय करते हुये) ।

राक्षस—(देख कर, खेद के साथ) ओह ! कितने दुःख की बात है ! महाराज नन्द के चरणों के सेवक ऐसी दुर्दशा भोगें ! (रोने लगता है)

विराधगुप्तः—अमात्य ! अलं शोकेन, नातिचिरादमात्योऽस्मान् नूनं पुरातनीमवस्थामारोपयिष्यति ।

राक्षसः--सखे ! विराधगुप्त ! वर्णय इदानीं कुसुमपुरवृत्तान्तम् ।

विराधगुप्तः--अमात्य ! विस्तीर्णः कुसुमपुरवृत्तान्तः, तदाज्ञापय—कुतः प्रभृति कथयामि ?

राक्षसः--सखे ! चन्द्रगुप्तस्य तावत् नगरप्रवेशात्प्रभृति अस्मत्प्रयुक्तैस्तीक्ष्णरसदायिभिः किमनुष्ठितमित्यादितः श्रोतुमिच्छामि ।

विराधगुप्तः--एष कथयामि । अस्ति तावत् शक-यवन-किरात-काम्बोज-पारसीक-बाह्लीकप्रभृतिभिश्चाणक्यमतिपरिगृहीतैश्चन्द्रगुप्त-पर्वतेश्वरबलैरुदधिभिरिव, प्रलयकालचलितसलिलैः समन्तादुपरुद्धं कुसुमपुरम् ।

राक्षसः--(शस्त्रमाकृष्य ससम्भ्रमम्) मयि स्थिते कः कुसुमपुरमुपरो-

---

अस्ति तावदित्यारभ्य कुसुमपुरमितिपर्यन्तं यत्समस्तपञ्चषपदा संघटना तया-वक्तृ-बोद्धव्ययोर्भावसंरम्भोऽपि सूक्ष्मं प्रकाश्यते ।

उपरुद्धमिति—परिक्षिप्तमित्यर्थः । समन्तादुपरोधस्य सर्वतः प्रतिरुद्धवीवधासारप्रसाररूपः परिक्षेप एवार्थः कौटिलीये भाषितः (व्यसनाधिकारिकेऽधिकरणे) ।

विराधगुप्त—अमात्य ! अधिक दुःखी न होवें वह समय अब दूर नहीं है जब अमात्य हमें हमारी पुरानी अवस्था में देख सकेंगे ।

राक्षस—भाई विराधगुप्त ! सुनाओ, पाटलिपुत्र का समाचार अब सुनाओ ।

विराधगुप्त—कहां से सुनाऊं महाराज ! बहुत कुछ सुनाना है ।

राक्षस—अरे भाई ! मुझे तो वहीं से सुनने की इच्छा है जहां से पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त के प्रवेश कर चुकने पर हमारे द्वारा लगाये हुये तीक्ष्ण और रसद पुरुषों का काम प्रारम्भ हुआ ।

विराधगुप्त—सभी कुछ सुनाता हूँ महाराज ! उस समय जब कि चाणक्य की चालों से संघीभूत, चन्द्रगुप्त और पर्वतक की शकों, यवनों, किरातों, काम्बोजों और पारसीकों की सम्मिलित सेनायें चारों ओर से पाटलिपुत्र को प्रलय कालीन पारावार की विक्षुभित लहरों की भांति घेरने लगीं......

राक्षस—(तलवार खींच कर-संभ्रम के साथ) कौन है जो मेरे रहते पाटलि-

स्यति ? प्रवीरक ! प्रवीरक ! क्षिप्रमिदानीम्—

प्राकारं परितः शरासनधरैः क्षिप्रं परिक्रम्यतां
द्वारेषु द्विरदैः प्रतिद्विपघटाभेदक्षमैः स्थीयताम् ।
मुक्त्वा मृत्युभयं प्रहर्त्तुमनसः शत्रोर्बले दुर्बले
ते निर्यान्तु, मया सहैकमनसो, येषामभीष्टं यशः ॥ १३ ॥

विराधगुप्तः—अमात्य ! अलमावेगेन । वृत्तमिदं वर्ण्यते ।

प्रवीरकेति । साहसिकसैनिकानामन्यतमस्य संबोधनम् । न तु श्रीढुण्ढिराजेन व्याख्यातस्तदानीन्तनस्सन्निहितोऽनुचरः कश्चनात्र संबोध्यते । बलव्यसनेषु कौटिलीयेऽर्थशास्त्रे यदुक्तं—'प्रतिहतहताग्रवेगयोः प्रतिहतमुग्रपातभग्नं प्रवीरपुरुषसंहतं युध्येत न हताग्रवेगमग्रपातहतप्रवीर'मिति तदत्र स्मरणीयं सुधीभिः ।

प्राकारमिति । राक्षसः कुसुमपुरोपरोध इति श्रुतिमात्रेण समरोत्साहसंक्षुभितमानसः प्रवीरपुरुषानाह्वयन्नाह—शरासनधरैर्धानुष्कैः सैनिकैः क्षिप्रं सत्वरं यथा स्यात्तथा प्राकारं दुर्गस्येति शेषः परितः समन्तात् परिक्रम्यताम् सशरासारवर्षं सञ्चर्यताम् , द्वारेषु कुसुमपुरस्येति शेषः, प्रतिद्विपघटाभेदक्षमैः प्रतिद्विपघटानां दुर्गावस्कन्दनायायान्तीनां शत्रुहस्तिसेनानां भेदे विघाते संहारे वा क्षमैः शक्तैर्द्विरदैरस्मद्दन्तावलैस्स्थीयताम् द्वारसंरक्षणाय संनह्यताम् , अथ च मृत्युभयं मुक्त्वा शत्रोर्दुर्बले बले प्रहर्तुमनसः परित्यक्तस्वदेहभङ्गभयाः शत्रुबलं च तृणाय मत्वा तदुच्छेदं कर्तुकामा एकमनसो विरतान्यभावाश्शत्रुविनाशैकपरायणास्ते प्रवीरपुरुषाः मया सह निर्यान्तु बहिर्दुर्गमायोधनाय चलन्तु येषां यशोऽभीष्टं वीरगतिरेव काम्येत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

टिप्पणी—अत्र राक्षसहृदयावेगो विराधगुप्तवर्णिताऽमनोज्ञश्रवणजन्मा तथा वर्णितो यथा सहृदयानां चेतसि वीररसं संचारयन् कोऽपि मनोज्ञो नाटयार्थ इवाऽत्र प्रतिभाति ।

पुत्र को घेर सकता है। प्रवीरक ! सेनानायक देखते क्या हो ! 'चारों ओर से नगर–प्राकार पर धनुर्धर बीर सैनिकों क चढ़ा दिया जाय ! सभी के सभी नगर–द्वारों पर शत्रुओं की हस्ति–सेना के काल हमारे गजराज खड़े कर दिये जांय ! सब के सब मेरे साथ मरने का डर छोड़ कर केवल वीर–यश को पाने के लिये, नगर–दुर्ग के बाहर निकल आवें और इन नीच शत्रुओं को मार भगा दें !' ॥१३॥

विराधगुप्त—अमात्य ! आवेग में न आइये ! ये तो बीती हुई बातें हैं।

राक्षसः--(निःश्वस्य) कष्टं वृत्तमिदम् ? मया पुनर्ज्ञातं 'स एव कालो वर्त्तत' इति (शस्त्रमुत्सृज्य सास्रम्) हा देव नन्द ! स्मरामि ते राक्षसम्प्रति प्रसादातिशयम् । यस्तु एवंविधकाले—

यत्रैषा मेघनीला चलति गजघटा, राक्षसस्तत्र याया-
देतत् पारिप्लवाम्भःप्लुति तुरगबलं वार्यतां राक्षसेन ।
पत्तीनां राक्षसोऽन्तं नयतु बलमिति प्रेषयन्मह्यमाज्ञा-
मज्ञासीः स्नेहयोगात् स्थितमिह नगरे राक्षसानां सहस्रम् ॥१४॥

कष्टं वृत्तमिदमित्यादि—राक्षसस्यावेगो वीरव्यभिचारी तस्य स्मृतिलोपेन करुणानुभावेनाऽहतवेगो यदत्र वर्ण्यते तदपि नाटकहार्दमेवाविष्करोति ।

राक्षसो विस्मृतवृत्तवर्त्तमानभेदस्सावेगं सशोकञ्चात्मानं परामृशन्नाह—यत्रैषेति । हा देव नन्द ! पुरा कुसुमपुरोपरोधप्रसङ्गेषु यत्र यस्मिन्समरमुखे मेघनीला मेघमेदुरैषा यथा प्रत्यक्षं विभाव्यमाना गजघटा हस्तिसेना शत्रूणामिति शेषः, चलति तत्र राक्षसो यायात् तां प्रमर्दयितुं राक्षसः प्रतिष्ठताम्, एतत् संग्रामभूमौ प्रत्यक्षं दृश्यमानं पारिप्लवाम्भःप्लुति पारिप्लवं तरलं चञ्चलं वा यदम्भः जलं गिरिप्रस्रवणादेस्तस्य या प्लुतिर्द्रुतगतिस्तादृशी प्लुतिर्द्रुतगतिर्यस्यैवंभूतं तुरगबलमश्वसैन्यं शत्रूणामिति शेषः, राक्षसेन वार्यताम्, पत्तीनां पदातीनां शत्रूणामेवेति शेषः, बलं सांग्रामिकं पराक्रमं राक्षस एवान्तं नयतु नाशयतु, इत्येवं रीत्या मह्यमाज्ञां प्रेषयन् मामेव तत्र तत्र सर्वत्र नियोजयन् स्नेहयोगात् स्नेहसम्बन्धादेव हेतोरिह नगरे पाटलिपुत्रे स्थितं विराजमानं राक्षसानां सहस्रमज्ञासीः सर्वविधकार्यसम्पादकं मामेवामंस्था इत्यर्थः ॥ १४ ॥

राक्षस—(आह खींच कर) ओह ! क्या यह सब हो चुका ! मैंने तो समझा यह सब अभी हो रहा है । (तलवार फेंक कर-आंसू भरी आंखों से) हा देव ! नन्द ! अभी भी राक्षस को आपके स्नेह का स्मरण है । कभी इन्हीं परिस्थितिओं में, आपकी आज्ञा होती थी कि जहां कहीं भी शत्रुओं की हस्ति-सेना काले बादलों की भांति बढ़ती आ रही हो, राक्षस ही उसका सामना करे ; जहां कहीं भी शत्रुओं की अश्व-सेना समुद्र की लहरों की भांति लहरा रही हो, राक्षस ही उसे पीछे हटावे ; जहां कहीं भी शत्रुओं की पदाति-सेना सन्नद्ध पड़ी हो, राक्षस ही उसे मार भगावे ! ओह ! आपका इस राक्षस पर ऐसा प्रेम ! ऐसा स्नेह जो इस राक्षस को एक रूप नहीं सहस्र रूपों में इसी पाटलिपुत्र में मानता और जानता रहा हो !' ॥ १४ ॥

ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—ततः समन्तादुपरुद्धं पुष्पपुरमवलोक्य बहुदिवसप्रभृति महदुपरोधवैशसमुपरि पौराणां परिवर्त्तमानमसहमाने, तस्यामवस्थायां, पौरजनापेक्षया सुरङ्गामुपेत्यापक्रान्ते तपोवनाय देवे सर्वार्थसिद्धौ, स्वामिविरहात् सुशिथिलीकृतप्रयत्नेषु युष्मद् बलेषु जयघोषणाव्याघातादिसाहसानुमितान्तर्नगरवासिषु; पुनरपि नन्दराज्यप्रत्यानयनाय सुरङ्गया बहिरपगतेषु युष्मासु, चन्द्रगुप्तनिधनाय युष्मत्प्रयुक्तया विषयकन्यया घातिते तपस्विनि पर्वतेश्वरे'—

राक्षसः--सखे ! पश्याश्चर्यम्—

टिप्पणी—अत्र वीर-करुणयोरेकाश्रये परस्परं विरुद्धयोरपि वृत्त-वर्त्तमानदशाभेदेन भिन्नप्रक्रमतयाऽवस्थितयोरविरोध एव चमत्कारास्पदम्। तथा चैतेन राक्षसहृदये विरुद्धयोर्भावयोरायोधनं तथात्वेऽपि च राक्षसस्य प्रारब्धनिर्वाहप्रवणत्वं सुसूक्ष्ममुद्भाव्यमानमन्यदेव चारुत्वं नाटकस्येति सर्वमवदातम्।

बहुदिवसप्रभृतीत्यादि—अत्राग्रेऽपि च विराधगुप्तवचसि 'यस्य च भावेन भावलक्षण'मिति सप्तम्यन्तेषु पदेषु प्रयुज्यमानेषु समासतस्तत्तदर्थप्रत्यायनमेव न प्रयोजनं कवेरपि तु परस्परं पौर्वापर्येण बुद्धिस्थानामर्थानां कार्यकारणपरम्पराऽपि प्रकाशमाना चमत्कृतिभूरेवेति।

कहो, कहो आगे क्या हुआ !

विराधगुप्त—और जब कि चारों ओर से पाटलिपुत्र पर घेरा पड़ गया, महाराज सर्वार्थसिद्धि बहुत दिनों तक चलने वाले इस घेरे से अपनी प्रजाओं पर पड़ने वाली दारुण विपत्ति को न सह सके, प्रजाहित की दृष्टि से इसी दुर्दशा में उन्हें सुरंग के रास्ते तपोवन में भागना पड़ा, राजा की अनुपस्थिति में सैनिक भी किंकर्त्तव्य-विमूढ़ से होने लगे, आप को भी नागरिकों की मनःस्थिति का उनके द्वारा चन्द्रगुप्त की विजय-घोषणा में की गयी नाना भांति की विघ्न-बाधाओं से पता चल चुकने पर नन्द-साम्राज्य की पुनः स्थापना के लिये सुरंग से ही नगर के बाहर निकल जाना पड़ा और जब कि चन्द्रगुप्त की हत्या के लिये आपके द्वारा प्रयुक्त विष-कन्या से बेचारे पर्वतक की जान ले ली गयी……

राक्षस—विराधगुप्त ! कैसी बुरी बीती !

कर्णेनेव विषाङ्गनैकपुरुषव्यापादिनी रक्षिता
हन्तुं शक्तिरिवार्जुनं बलवती, या चन्द्रगुप्तं मया ।
सा विष्णोरिव विष्णुगुप्तहतकस्यात्यन्तिकश्रेयसे
हैडिम्बेयमिवेत्य पर्वतनृपं तद्वध्यमेवावधीत् ॥ १५ ॥

विराधगुप्तः--अमात्य ! दैवस्यात्र कामचारः किमत्र क्रियते ?

राक्षसस्त्वदुर्भाग्यविलसितमेव सविस्मयं चिन्तयन्नाह—कर्णेनेत्यादि । अहो ! दुर्दैवाश्चर्यम् ? मया कर्णेनेव चन्द्रगुप्तमर्जुनमिव हन्तुं व्यापादयितुं या बलवती समर्था तथा चैकपुरुषव्यापादिनी प्रधानतमपुरुषहन्त्री विषाङ्गना विषकन्या शक्तिरिव शक्रप्रदत्तहेतिरिव रक्षिता महता मनोरथेन निपुणं निगूढं स्थापिता सा खलु विष्णुगुप्तहतकस्य चाणक्यवटोर्विष्णोरिवात्यन्तिकश्रेयसे महते कल्याणाय चाणक्यपक्षे परिपणितराज्यार्द्धप्रदानाय कृष्णपक्षे चाऽर्जुनरक्षणाय तद्वध्यं चाणक्यघात्यमेव पर्वतनृपं पर्वतकं हैडिम्बेयमिव घटोत्कचमिवेत्य प्राप्यावधीत् विनाशितवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

टिप्पणी—(१) अत्र चाणक्यस्य प्राप्त्याशा राक्षसप्राप्त्याशा भङ्गद्वारा सूच्यते नाटककृता ।

(२) अत्र यद्यपि राक्षसकर्णादीनां प्राकरणिकाऽप्राकरणिकानां परस्परं साधर्म्ये वर्ण्यमाने पूर्णोपमालङ्कारसिद्ध एव किन्तु राक्षसोऽत्र कविनिबद्धवक्ता कथं चाणक्यहतकं विष्णुनोपमातुमिच्छतीति भवति किञ्चिद्वैघट्यं राक्षसचरितस्य । समाधानं त्वत्रैवम्—न प्रत्येकं प्राकरणिकपदार्थाऽप्राकरणिकपदार्थयोस्साधर्म्यमत्र विवक्षितमपि तु प्राकरणिकवृत्ताऽप्राकरणिकवृत्तयोरेव तत्तच्चरितसंगतयोरिति ।

'जैसे कभी एक व्यक्ति-विशेष का संहार करने वाली कर्ण की अमोघ शक्ति ने, जिसे अर्जुन का ही नाश करने के लिये सुरक्षित रख छोड़ा गया था, घटोत्कच का प्राण लिया जो कृष्ण की आंखों का कांटा था और अन्त में कृष्ण का ही कल्याण किया वैसे ही एक ही व्यक्ति का वध करने के लिये, हमारे द्वारा प्रयुक्त विष-कन्या ने, जिसे चन्द्रगुप्त की हत्या करने के लिये सुरक्षित रख छोड़ा गया था, पर्वतक का ही प्राण ले लिया जिसे चाणक्य ही कभी मरवा डालता है और अन्त में क्या हुआ ! चाणक्य का ही तो लाभ हुआ !' ॥ १५ ॥

विराधगुप्त—यह तो भाग्य की विडम्बना है अमात्य ! हमारा आपका चले भी तो कैसे चले !

राक्षसः--ततस्ततः ?

विराधगुप्तः--ततः पितृवधपरित्रासादपक्रान्ते कुसुमपुरात् कुमारे मलयकेतौ, विश्वासिते च पर्वतकभ्रातरि वैरोचके, प्रकाशिते च चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशे, चाणक्यहतकेनाहूयाभिहिताः कुसुमपुरनिवासिनः सर्वे एव सूत्रधाराः—'यथा सांवत्सरिकवचनादद्यैवार्द्धरात्रसमये एवाभिमतः चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशो भविष्यतीति, ततः प्रथमद्वारात्प्रभृति संस्क्रियतां राजभवनम्' इति । ततः सूत्रधारैरभिहितम्—'आर्य ! प्रथममेव देवस्य चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशमुपलभ्य सूत्रधारेण दारुवर्मणा कनकतोरणन्यासादिभिः संस्कारविशेषैः संस्कृतं प्रथमराजद्वारम् । इदानीमस्माभिरभ्यन्तरे संस्कारो विधेयः' इति । ततश्चाण-

---

ततः पितृवधत्रासादपक्रान्ते कुसुमपुरादित्यारभ्य ज्वलनमुपगता उपरताश्चेत्यन्तो यस्सन्दर्भस्तत्र राक्षसचाणक्ययोः परस्परविजिगीषापरायणयोर्मन्त्रद्वन्द्वं कयाचन महत्याऽहमहमिकया प्रवर्त्तमानं यद् वर्णयति कविर्यच्चात्र नगररोध-यन्त्र-सुरङ्गादिव्यापारांश्चोपनिबध्नाति तत्सर्वं नारञ्जकमपि तु निकाममेव रञ्जकमिति नाङ्कानिबन्धनीयत्वाशङ्कावसरः कश्चन । नाटककविना रसनीयत्वेन विवक्षिता इमेऽर्था अत एव न विष्कम्भकादिनैषामुपपादनमत्रेति निरूपणीयं मतिमद्भिः । प्रयोजनान्तरञ्चास्य तच्च राक्षसाशाविघातपूर्वकं चाणक्याशाविजयप्रदर्शनमिति । कवे-

---

राक्षस—चलो, आगे कहो ।

विराधगुप्त—और जब कि अपने पिता (पर्वतेश्वर) की हत्या से घबड़ा कर कुमार मलयकेतु पाटलिपुत्र से भाग खड़े हुये, पर्वतक के भाई वैरोचक शत्रुओं के द्वारा समझा-बुझा कर शान्त कर दिये गये, सब को सम्राट् नन्द के राज प्रासाद में चन्द्रगुप्त के गृह-प्रवेश से सूचित कर दिया गया, पाटलिपुत्र के सभी कारीगरों को, ज्योतिषियों की गणना के अनुसार आधी रात में चन्द्रगुप्त के नन्द भवन में गृह-प्रवेश के उपलक्ष्य में राज-दुर्ग को, प्रथम द्वार से आरम्भ कर अन्त तक, सजावट कर देने के लिये उस दुष्ट चाणक्य की आज्ञा सुना डाली गयी कारीगरों के द्वारा, यह सुनते ही, चाणक्य को बता दिया गया कि कुशल कलाकार दारुवर्मा ने चन्द्रगुप्त के नन्द-भवन-प्रवेश का समाचार पाते ही नाना प्रकार की सजावटों जैसे कि स्वर्ण-तोरण की स्थापना इत्यादि से राज-दुर्ग का प्रथम द्वार

क्यवटुना 'अनादिष्टेनैव दारुवर्मणा संस्कृतं राजभवनद्वारमिति परितुष्टेन, दारुवर्म्मणः सुचिरं दाक्ष्यमभिनन्द्याभिहितम्—'अचिरादस्य दाक्ष्यस्यानुरूपं फलमधिगमिष्यसि दारुवर्म्मन् !'

राक्षसः—(सोद्वेगम्) सखे ! कुतश्चाणक्यवटोः परितोषः ? । अफलमनिष्टफलं वा दारुवर्म्मणः प्रयत्नमवगच्छामि । यदनेन बुद्धिमोहादथवा राजभक्तिप्रकर्षान्नियोगकालमप्रतीक्षमाणेन सञ्जनितश्चाणक्यवटोश्चेतसि बलवान् विकल्पः । ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—ततश्चाणक्यहतकेन 'अनुकूललग्नवशादद्यार्द्धरात्रसमये चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशो भविष्यती'ति शिल्पिनः पौरांश्च गृहीता-

---

रप्यत्र राजनयप्रयोक्तृत्वं स्पष्टं प्रतीयन्ति सन्तः। नायं नाटककविर्माघमहाकविरिव—

निरुद्धवीवधासारप्रसारा गा इव व्रजम् ।
उपरुन्धन्तु दाशार्हाः पुरीं माहिष्मतीं द्विषः ॥'

इतिरूपां कौटिलीयार्थशास्त्राक्षराभ्यासवैदग्धीं प्रकाशयत्यपि तु निपुणं स्वस्य परेषां वा स्वकालवर्तिनां मन्त्रयोधानां मन्त्रायोधनं ध्यायं ध्यायं तद् वक्ति यत्प्रतिभाविशेषप्रसूतं सद्रसपरिपोषपेशलमिव भवति ।

सजा दिया और भवन के भीतरी भाग की ही सजावट करनी बाकी रह गयी और जब कि उस दुष्ट चाणक्य के द्वारा बड़ी प्रसन्नता की दिखावट के साथ, क्योंकि मन ही मन तो उसे आज्ञा पाने के बिना ही सजावट कर दिखाने में कुछ दाल में काला पता चल चुका था, दारुवर्मा की कला-कुशलता की प्रशंसा दी गयी और शीघ्र ही उचित पुरस्कार मिल जाने का भी वचन दे दिया गया·····

राक्षस—(उद्विग्नता के साथ) विराधगुप्त ! तुमने क्या कहा कि चाणक्य ने बड़ी प्रसन्नता दिखाई ! मुझे तो लग रहा है कि दारुवर्मा के सभी प्रयत्न व्यर्थ हुये अथवा अनर्थकर हुये ! भला बिना आज्ञा की प्रतीक्षा के ही, मूर्खतावश अथवा नन्दभक्ति के आवेश में, दारुवर्मा यह सब कर डाले और उस दुष्ट चाणक्य के मन में कोई बड़ा संदेह न उत्पन्न हो ! अच्छा, आगे चलो, क्या हुआ !

विराधगुप्त—और जब कि उस दुष्ट चाणक्य के द्वारा सभी के सभी नागरिक और कलाकार इस बात से अवगत करा दिये गये कि शुभ लग्न के अनुसार आधी रात को ही नन्द-भवन में चन्द्रगुप्त का गृहप्रवेश-समारोह किया

र्थान् कृत्वा तस्मिन्नेव क्षणे पर्वतेश्वरभ्रातरं वैरोचकमेकासने चन्द्रगुप्तेन सहोपवेश्य कृतः पृथ्वीराज्यार्द्धभागः।

राक्षसः—किमतिसृष्टं पर्वतेश्वरभ्रात्रे वैरोचकाय पूर्वप्रतिश्रुतं राज्यार्द्धम्?

विराधगुप्तः—अथ किम्?।

राक्षसः—(आत्मगतम्) नियतमतिधूर्त्तवटुना तस्यापि तपस्विनः कमप्युपांशुवधमाकलय्य पर्वतेश्वरविनाशजनितस्यायशसः परिहारार्थमेषा लोकप्रतिपत्तिरुपचरिता। (प्रकाशम्) ततस्ततः?

विराधगुप्तः—ततः प्रथममेव प्रकाशिते चन्द्रगुप्तस्यार्द्धरात्रे नन्दभवनप्रवेशे, कृताभिषेके च वैरोचके, विमलमुक्तागुणपरिक्षेपोपरचितचित्रपटवारबाणप्रच्छादितशरीरे, मणिमयमुकुटनिविडनियतरुचिरतरमौलौ, सुरभिकुसुमदामवैकक्षिकावभासितविपुलवक्षःस्थले, परिचिततमैरप्यनभिज्ञायमानाकृतौ चाणक्यहतकादेशाच्चन्द्रगुप्तोपवाह्यां चन्द्रलेखाभिधानां

जायगा और साथ ही साथ पर्वतक के भाई वैरोचन को चन्द्रगुप्त के साथ एक ही राजसिंहासन पर बैठाकर साम्राज्य के दो टुकड़े कर दिये जायेंगे······

राक्षस—अरे! तो क्या पर्वतक के भाई वैरोचक को पहली सन्धि के अनुसार आधा साम्राज्य दे दिया गया!

विराधगुप्त—किया तो ऐसा ही गया!

राक्षस—(स्वगत) कितना बड़ा धूर्त है चाणक्य! यह सब तो लोगों पर विश्वास जमाने की उसकी चालें हैं जिसमें पर्वतक की हत्या का कलङ्क अपने ऊपर से धुल जाय और चुप चाप वह बेचारा (वैरोचक) भी किसी तरह मरवा डाला जाय! (सुनाकर) फिर क्या हुआ!

विराधगुप्त—और जब कि सब लोग अर्द्धरात्रि में ही चन्द्रगुप्त के नन्द-भवन-प्रवेश से अवगत हो चुके, वैरोचक पर राज्याभिषेक कर दिया गया, वह, कुछ तो निर्मल मौक्तिकों की लम्बी लटकती मालाओं से खचित रंग-विरंगे कञ्चुक से सारे शरीर के ढक जाने के कारण या मणिओं से बने मुकुट से कस कर जकड़े हुये अपने मस्तक की एक विचित्र सुन्दरता के कारण या साथ ही साथ दोनों कन्धों से लटकने वाले सुगन्धित पुष्पहारों से अपने विशाल वक्षस्थल की एक अद्भुत चमक के कारण, ऐसा लगने लगा मानो प्रतिदिन के मिलने-जुलने वाले भी न पहचान

गजवशामारुह्य, चन्द्रगुप्तानुयायिना राजलोकेन अनुगम्यमाने, जवेन देवस्य नन्दस्य भवनं प्रविशति वैरोचके, युष्मत्प्रयुक्तेन सूत्रधारेण दारुवर्मणा, चन्द्रगुप्तोऽयमिति मन्यमानेन वैरोचकस्योपरि निपातनाय सज्जीकृतं यन्त्रतोरणम्। अत्रान्तरे बहिर्निगृहीतवाहनेषु स्थितेषु चन्द्रगुप्तानुयायिषु भूमिपालेषु, युष्मत्प्रयुक्तेनैव चन्द्रगुप्तनिषादिना वर्व्वरकेण, कनकदण्डान्तर्निहितामसिपुत्रिकामाक्रष्टुकामेन अवलम्बिता करेण कनकशृङ्खलावलम्बिनी कनकदण्डिका।

राक्षसः—उभयोरप्यस्थाने यत्नः। ततस्ततः?

विराधगुप्तः—अथ जघनाभिघातमुत्प्रेक्षमाणा गजवधूरतिजवनतया गत्यन्तरमारूढवती। ततः प्रथमगत्यनुरोधप्रत्याकलितमुक्तेन प्रभ्रष्टलक्ष्यं पतता यन्त्रतोरणेनाकृष्टकृपाणीव्यग्रपाणिरनासादयन्नेव चन्द्रगुप्तप्रत्याशया वैरोचकं, दारुवर्म्मणा हतस्तपस्वी वर्व्वरकः। ततो दारुवर्मणा,

---

रहे हों और जब कि उसने उस दुष्ट चाणक्य की अनुमति से चन्द्रगुप्त की अपनी हथिनी चन्द्रलेखा पर आसीन होकर चन्द्रगुप्त के ही पृष्ठगामी राजगण के आगे २ चलते हुये नन्द-भवन में प्रवेश करना प्रारम्भ किया कि आपके द्वारा नियुक्त शिल्पकार दारुवर्मा ने उसे 'यही चन्द्रगुप्त है' ऐसा समझ कर उसी पर गिराने के लिये स्वर्णतोरण रूपी अपने (घातक) यन्त्र को संभाल लिया और जैसे ही चन्द्रगुप्त के अनुगामी राजगण ऐसा देख अपने २ वाहनों को बाहर ही रोकने लगे कि आपके द्वारा चन्द्रगुप्त को मारने के लिये नियुक्त चन्द्रगुप्त के हाथीवान वर्वरक ने सोने की छड़ी के भीतर छिपी कटार निकालने के लिये सोने की जंजीर से लटकती उस सोने की छड़ी की मूंठ पकड़ली और ·····

राक्षस—ओह! दोनों ने बड़ा वेमौके काम किया!

विराधगुप्त—और जैसे ही अपनी जांघों पर चोट पड़ने की आशङ्का से उस हथिनी ने बहुत शीघ्रता में अपनी चाल बढ़ायी कि उसकी पहली चाल के अनुमान से उस पर गिराये जाने वाले उस स्वर्ण-तोरण के यन्त्र ने अपना निशाना चूक कर, चन्द्रगुप्त पर तो दूर रहे वैरोचक पर भी न गिर कर, उस वेचारे वर्वरक की ही जान लेली जिसके दोनों हाथ कटार के निकालने और खींचने में ही बझ चुके थे! अब जैसे ही दारुवर्मा ने यह सब देखते सोच लिया कि

यन्त्रतोरणनिपातनादात्मवधमाकलय्य शीघ्रमेवोत्तुङ्गतोरणस्थानमारूढेन यन्त्रघट्टनबीजलोहकीलमादाय हस्तिनीगत एव हतस्तपस्वी वैरोचकः।

राक्षसः—कष्टम्! अनर्थद्वयमापतितम्; न हतश्चन्द्रगुप्तोऽसौ, हतौ वैरोचकवर्वरकौ! (सावेगमात्मगतम्) नैतावुभौ हतौ, दैवेन वयमेव हताः। (प्रकाशम्) अथ स सूत्रधारो दारुवर्मा क?

विराधगुप्तः—वैरोचकपुरःसरेण पदातिलोकेन लोष्ठघातं हतः।

राक्षसः—(सास्रम्) कष्टम्! अहो! वत्सलेन सुहृदा दारुवर्म्मणा वियुक्ताः स्मः। अथ तत्रत्येन भिषजाऽभयदत्तेन किमनुष्ठितम्?

विराधगुप्तः—अमात्य! सर्वमनुष्ठितम्।

राक्षसः—(सहर्षम्) किं हतो दुरात्मा चन्द्रगुप्तः।

विराधगुप्तः—अमात्य! दैवान्न हतः।

तोरण-यन्त्र के गिराने के अपराध में उसका प्राण-दण्ड अवश्यंभावी है तो शीघ्रता के साथ ऊंचे तोरण के ऊपर पहुंचकर उसकी जड़ में लगी लोहे की कील उखाड़ली और हाथी पर बैठे वैरोचक वेचारे को ही मार डाला।

राक्षस—ओह! कितनी दुःख की बात है! एक नहीं दो दो अनर्थ हो गये! चन्द्रगुप्त तो मारा नहीं जा सका और मरे वैरोचक और वर्वरक! (स्वगत, आवेग के साथ) और ये दोनों भी क्या मारे गये, बात तो यह है कि दुर्भाग्य ने हमें ही मार दिया! (सुनाकर) अच्छा यह बताओ दारुवर्मा कहां चला गया।

विराधगुप्त—उसे तो वैरोचक के पीछे पैदल चलने वाले लोगों ने ही ढेले मार २ कर मार दिया!

राक्षस—(आंसू भरी आंखों से) ओह! दारुवर्मा ऐसा परम स्नेही अब कहां मिलेगा! अच्छा, यह बताओ वैद्य अभयदत्त ने वहां पर पड़े २ कुछ किया या नहीं?

विराधगुप्त—अमात्य! किया तो सब कुछ!

राक्षस—(प्रसन्न होकर) क्या कहा तुमने! क्या वह नीच चन्द्रगुप्त मार डाला गया!

विराधगुप्त—अमात्य वह तो भाग्य से बच गया!

राक्षसः—(सविषादम्) ततः किमिदानीं कथयसि परितुष्टः—'सर्वमनुष्ठितम्' इति ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! कल्पितमनेन विषचूर्णमिश्रमौषधं चन्द्रगुप्ताय। तच्च प्रत्यक्षीकुर्वता चाणक्यहतकेन कनकभाजने वर्णान्तरमुपगतमुपलभ्याभिहितश्चन्द्रगुप्तः—'वृषल ! सविषमिवौषधं, न पातव्यम्' इति ।

राक्षसः—शठः खल्वसौ वटुः । अथ स वैद्यः कथम् ?

विराधगुप्तः—स खलु वैद्यस्तदेवौषधं पायित उपरतश्च ।

राक्षसः—(सविषादम्) अहह ! महान् विज्ञानराशिरुपरतः। भद्र ! अथ तस्य शयनाधिकृतस्य प्रमोदकस्य किं वृत्तम् ?

विराधगुप्तः—आत्मविनाशः ।

राक्षसः—(सोद्वेगम्) कथमिव ?

विराधगुप्तः—स खलु मूर्खस्तं युष्माभिरतिसृष्टं महान्तमर्थराशिमवाप्य महता व्ययेनोपभोक्तुमारब्धवान्। ततः 'कुतोऽयं भूयान् धनाग-

---

राक्षस—(दुःखित होकर) तब क्या इतनी प्रसन्नता से कह रहे हो कि सब कुछ कर दिया !

विराधगुप्त—अमात्य ! इसने तो चन्द्रगुप्त के मारने के लिये ऐसी ओषधि बना डाली थी जिसमें विष ही पड़ा हुआ था किन्तु उस दुष्ट चाणक्य ने जैसे ही उस ओषधि को देखा और स्वर्ण-पात्र में रखते ही उसका रंग बदलते पाया कि चन्द्रगुप्त से कह दिया-'चन्द्रगुप्त ! इस विषाक्त औषध को न पीना !'

राक्षस--कैसा दुष्ट है यह चाणक्य ! बताओ, उस वैद्य पर क्या बीती ?

विराधगुप्त—उसे ही वह औषध पीनी पड़ी और जान से हाथ धोना पड़ा।

राक्षस—(विषण्णता के साथ) ओह ! इतने बड़े वैज्ञानिक का ऐसा अन्त ! अच्छा भाई ! यह तो बताओ कि चन्द्रगुप्त के शयन-कक्ष में (उसे मारने के लिये) नियुक्त प्रमोदक का क्या हुआ !

विराधगुप्त—आत्म-घात !

राक्षस—(उद्वेग में आकर) ऐं ! क्या कहा !

विराधगुप्त—उसने तो ऐसी मूर्खताकी कि जो भी धनराशि आप से मिलती गयी उसे लुटाने लगा और मौज उड़ाने लगा और जब उस से यह पूछा जाने

मस्तव' इति पृच्छ्यमानोऽयं यदा वाक्यभेदान् बहूनकथयत्, तदा चाणक्यहतकादेशाद् विचित्रेण वधेन व्यापादितः।

राक्षसः—(सोद्वेगम्) कथमत्रापि वयमेवोपहता दैवेन ? अथ शयितस्य चन्द्रगुप्तस्य शरीरे प्रहर्त्तुमस्मत्प्रयुक्तानां नरपतिशयनगृहस्यान्तःसुरङ्गायां निवसतां बीभत्सकादीनां को वृत्तान्तः ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! दारुणो वृत्तान्तः।

राक्षसः—(सावेगम्) कथं दारुणो वृत्तान्तः, न खलु विदिताः ते तत्र निवसन्तः चाणक्यहतकेन ?

विराधगुप्तः—अथ किम् ?

राक्षसः—कथमिव ?

विराधगुप्तः—प्राक् चन्द्रगुप्तप्रवेशात् प्रविष्टमात्रेणैव शयनगृहे चाणक्येन दुरात्मना समन्तादवलोकितः, ततस्तु एकस्माद् भित्तिच्छिद्राद्-गृहीतभक्तावयवां निष्क्रामन्तीं पिपीलिकापङ्क्तिमवलोक्य पुरुषगर्भमेतद्-

---

लगा कि इतना धन कहां से आया तो उलटी-सीधी बातें बनाने लगा और हुआ यह कि एक विचित्र ढंग से उसकी जान ले ली गयी।

राक्षस—(उद्विग्न होते हुये) ओह ! दुर्भाग्य ने हमें ही मार डाला। अच्छा, कहो उन बीभत्सक आदि का क्या हाल है जो कि चन्द्रगुप्त के शयनागार के भीतर सुरङ्ग में छिपे रह कर उसे सोते समय ही मार डालने के लिये नियुक्त किये गये थे !

विराधगुप्त—बड़ा बुरा हाल हुआ, अमात्य।

राक्षस—(आवेश में आकर) क्यों क्या हुआ ! क्या उस हत्यारे चाणक्य ने उन्हें वहां छिपे हुए भी देख लिया !

विराधगुप्त—ऐसा ही हुआ, अमात्य !

राक्षस—क्यों ! कैसे !!

विराधगुप्त—बात यह हुई कि चन्द्रगुप्त के उस शयनागार में प्रवेश करने के पहले ही वह दुष्ट चाणक्य वहां जा पहुंचा और चारों ओर देख-दाख कर जैसे ही दीवार के एक छेद से चावल के कणों को ढोती हुई चीटिओं की बाहर निकलती कतार पर उसकी दृष्टि पड़ी उसने ताड़ लिया कि कहीं कुछ लोग वहां

गृहमिति गृहीतार्थेन दाहितं तदन्तःशयनगृहम् । तस्मिंश्च दह्यमाने धूमावरुद्धदृष्टयः प्रथममपिहितनिर्गमनमार्गमनधिगम्य सर्वे एव बीभत्सकादयस्तत्रैव ज्वलनमुपगता उपरताश्च ।

राक्षसः—(सास्रम् ।) सखे ! पश्य, चन्द्रगुप्तस्य दैवसम्पदा सर्व एव उपरताः (सचिन्तम्) सखे ! दैवसम्पदं पश्य दुरात्मनश्चन्द्रगुप्तहतकस्य ! कुतः ?

कन्या तस्य वधाय या विषमयी गूढं प्रयुक्ता मया
दैवात् पर्वतकस्तया विनिहतो यस्तस्य राज्यार्द्धभाक् ।
ये शस्त्रेषु रसेषु च प्रणिहितास्तैरेव ते घातिता
मौर्यस्यैव फलन्ति पश्य विविधश्रेयांसि मे नीतयः ॥ १६ ॥

राक्षसः स्वमन्त्रप्रयोगवैयर्थ्यं मुहुः पर्यालोचयन् दैवमेवाधिक्षिपन्नाह—कन्येत्यादि । हन्त ! दुर्भाग्यं ममातः परं किं भविता, यत्तस्य चन्द्रगुप्तस्य वधायोपांशुघाताय या विषमयी कन्या मया गूढं प्रयुक्ता व्यापारिता तया दैवात् चन्द्रगुप्तस्य सौभाग्यान्मम दौर्भाग्याद्वा स पर्वतकः विनिहतो व्यापादितो यस्तस्य मौर्यस्य

छिपे पड़े हैं और उस घर में आग लगवा दी । अब बीभत्सक इत्यादि सब के सब की आंखें उस जलते हुये घर में धुंए से ऐसी भर गईं कि उन्हें वहां से निकल भागने का वह रास्ता ढूंढते न मिल सका जिसे उन्होंने (लोगों के न जान सकने के लिये) पहले ही ढँक रखा था और तब होना क्या था, सबके सब वहीं उस आग में ही जल भुन कर मर गये !

राक्षस—(आंसू भरी आंखों से) विराधगुप्त ! चन्द्रगुप्त का भाग्य बड़ा प्रबल दिखाई दे रहा है ! हम सब के सब मारे गये ! (कुछ चिन्तित होते हुए) ओह ! इस नीच चन्द्रगुप्त का ऐसा भाग्य ! विराधगुप्त ? कुछ बोलते क्यों नहीं ! अरे !

'सब से पहले तो, उसके भाग्य का क्या कहना ! जिस विषकन्या को इतने रहस्यमय ढंग से मैंने उसे मारने के लिये लगाया, उसने उस पर्वतक का ही प्राण तो लिया जिसे आधे राज्य का अधिकारी होना था ! और इतना ही क्यों, जो जो लोग जिन २ घातक यन्त्रों और जिन २ घातक रसों के प्रयोग से उसे मारने के लिये लगे रहे उन २ की उन्हीं २ से जान गयी । अब तो ऐसा ही लगता है कि मेरी सभी चालें मेरा तो क्या ! चन्द्रगुप्त का ही काम बनाती चली जा रही हैं !' ॥ १६ ॥

विराधगुप्तः—अमात्य ! तथापि प्रारब्धमपरित्याज्यमेव । पश्यतु—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्वमिवोद्वहन्ति ।। १७ ।।

अपि च—

किं शेषस्य भरव्यथा न वपुषि ? क्ष्मां न क्षिपत्येष यत्,

राज्यार्द्धभाक् यथासन्धिपरिपणं राज्यार्धग्रहीताऽर्द्धराज्याधिकारीति वा यावत् । अन्यच्च हन्त ! ये गूढपुरुषाः शस्त्रेषु रसेषु च प्रणिहिताः मौर्यघाताय तेषु तेषूपायेषु नियोजितास्ते तैरेवोपायैर्विपर्यस्तैस्स्वयंर्घातिता विनाशिताः, दैवादेवेति शेषः, मे नीतयः मदीयाः कूटप्रयोगाः मन्त्रयुद्धप्रयोगा वा मौर्यस्यैव विविधश्रेयांसि भूयांसि भूयोविधानि च मङ्गलानि फलन्तीति पश्य त्वमिति शेष इत्यर्थः ।। १६ ।।

टिप्पणी—अत्र विषादः प्रतिकूलदैवचिन्तनादिजन्यो यद्यपि वीररसस्य विरोधी तथापि विचार्य विनिवेशितस्तत्पारतन्त्र्यमेव भजमानः किमप्यौत्सुक्यं तदौपयिकमुद्धाटयतीति सर्वमवदातम् ।

प्रारभ्यत इत्यादि—श्लोकार्थस्तु निगदव्याख्यातः । किन्त्वनया वाचोयुक्त्या राक्षसस्य नीतिविषयकोत्साहमुत्तेजयति कविरयमिति न विस्मर्त्तव्यं सुधीभिः ।।१७।।

विराधगुप्तः राक्षसं भूयोऽभियोगायोत्साहयन्नाह—किं शेषस्येत्यादि । किं शेषस्य

विराधगुप्त—अमात्य ! अब तो चाहे जो कुछ भी हो, आपको तो वह काम पूरा ही करना होगा जिसे आप उठा चुके हैं ! और यह सब इसीलिये, क्योंकि—

'आप सरीखे महापुरुषों की तो यही शोभा है कि जिस काम को भी उठालें उसे, चाहे विघ्न-बाधायें कितने भी रोड़े क्यों न अटकावें, पूरा करके ही छोड़ा करते हैं। क्यों कि वे लोग तो मध्यम श्रेणी के लोग हुआ करते हैं जो काम प्रारम्भ तो कर देते हैं किन्तु बाधा पड़ते ही छोड़-छाड़ कर भाग खड़े होते हैं। और उन नीचों का क्या ! जो इस डर से कि कोई न कोई अड़चन अवश्य पड़ेगी किसी काम को ही हाथ में नहीं लिया करते !' ।। १७ ।।

एक और भी तो बात है !

'महापुरुषों की कुल-परम्परा ही कुछ ऐसी चलती आ रही है कि वे जिस काम को भी ठान लें, अन्त तक उसे पूरा ही कर दिखाते हैं। शेषनाग को ही

किं वा नास्ति पर मो दिनपतेः ? आस्ते न यन्निश्चलः ।
किन्त्वङ्गीकृतमुत्सृजन् कृपणवत् श्लाघ्यो जनो लज्जते,
निर्वाहः प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतद्धि गोत्रव्रतम् ॥ १८ ॥

राक्षसः—सखे ! प्रारब्धमपरित्याज्यमिति प्रत्यक्षमेवैतद्भवताम् । ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—ततः प्रभृति चाणक्यहतकश्चन्द्रगुप्तस्य शरीरे सहस्रगुणमप्रमत्तः एभ्य एव ईदृशं भवतीत्यन्विष्य निगृहीतवान् कुसुमपुरनिवा-

---

भूभारस्य धारयितुर्नागराजस्य वपुषि शरीराभोगे भरव्यथा भूभारधारणजन्या क्लान्तिर्न यद्देषः क्षमां न क्षिपति पृथिवीं न पातयति ? किं वा दिनपतेस्सूर्यस्य लोकत्रयसन्तमसस्य निवारयितुः परिश्रमो नास्ति यस्स निश्चलो नास्ते विरतायासो न भवितुमिच्छति ? वस्तुतस्तु भवत्येव शेषस्य भूभारवहनव्यथा, सूर्यस्य च संतमसनिवारणायासः किन्तु प्रतिपन्नवस्तुषु कर्त्तव्येषु कार्येषु निर्वाहोऽङ्गीकारपरिपालनं यदेतद्धि सतां, न लब्धजन्मनामपि तु जन्म सफलयतां महतां गोत्रव्रतम् कुलधर्मः कुलक्रमागताचारो वा । अत एव श्लाघ्यो जनः सफलजन्मा मानवोऽङ्गीकृतं कर्त्तव्यत्वेन स्वीकृतं यत्किञ्चन कृपणवत् प्राकृतजनवदुत्सृजन्ननिर्वहन् लज्जतेऽपत्रपत एवेति भावः ॥ १८ ॥

टिप्पणी—अत्र सतामेतद्धि गोत्रव्रतमित्यस्य प्रकृतस्य समर्थनार्हस्य सामान्यस्य किं शेषस्येत्यादिना समर्थकेन विशेषेण समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासो योऽयमुपनिबद्धस्तेन राक्षसः शेषवत्सूर्यवद्वा प्रतिपन्नं वस्तु यथापूर्वमुवाह तथैवाग्रेऽपि बोढैवेति वस्तु व्यज्यते ।

देखिये ! उसका शरीर पृथिवी के बोझ से कितना भी पीड़ित क्यों न हो किन्तु वह उसे उतार-फेंक नहीं डालता ! और सूर्य ! क्या उसे परिक्रमा करते २ थकावट नहीं होती ! किन्तु नहीं वह कभी भी बैठा नहीं करता ! जो वस्तुतः महापुरुष हैं उन्हें एक वार कोई काम ठान र. त चों की भांति उसे छोड़ देने में लज्जा लगा करती है अमात्य !' ॥ १८ ॥

राक्षस—विराधगुप्त ! तुम्हें तो यह पता ही है कि जिस काम को मैंने ठान रखा है उसे पूरा किये बिना छोड़ नहीं सकता । आगे बताओ क्या २ हुआ !

विराधगुप्त—तभी से लेकर वह दुष्ट चाणक्य चन्द्रगुप्त की शरीर-रक्षा में इतना सतर्क है कि कुछ पूछिये नहीं ! इसीलिये तो इन २ लोगों से ऐसा २ हो

सिनो युष्मदीयानाप्तपुरुषान् ।

राक्षसः—(सोद्वेगम्) वयस्य ! कथय, कथय, के के निगृहीताः ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! आदावेव तावत् क्षपणको जीवसिद्धिः सनिकारं नगरान्निर्वासितः ।

राक्षसः—(आत्मगतम्) एतावत् सह्यं, न निष्परिग्रहं स्थानपरिभ्रंशः पीडयिष्यति (प्रकाशम्) सखे ! कमपराधमुद्दिश्य निर्वासित एषः ?

विराधगुप्तः—'एष दुरात्मा राक्षसप्रयुक्तया विषकन्यया पर्वतेश्वरं घातितवान्' इति ।

राक्षसः—(स्वगतम्) साधु कौटिल्य ! साधु ।

स्वस्मिन् परिहृतमयशः पातितमस्मासु घातितोऽर्द्धराज्यहरः ।

राक्षसस्सवैलक्ष्यं साभ्यसूयञ्च चाणक्यं सफलनयं शृण्वन् तत्पराभवं च निपुणं मनसि चिन्तयन्भावनारूढं तमेव सम्बोधयन्नाह—परिहृतमित्यादि । अये कौटिल्य !

सकता है इसका निर्णय कर अनेकों आपके विश्वासपात्र पाटलिपुत्र के लोगों को उसने पकड़ रखा है!

राक्षस—(उद्विग्न होते हुये) विराधगुप्त ! बताओ, बताओ किन २ को पकड़ लिया है !

विराधगुप्त—अमात्य ! सब से पहले तो क्षपणक जीवसिद्धि ही है जिसे अपमान के साथ पाटलिपुत्र से निर्वासित किया जा चुका है ।

राक्षस—(स्वगत) इसे तो किसी प्रकार सहन किया जा सकता है । जीवसिद्धि तो बिना बाल-बच्चों वाला ठहरा देश-निष्कासन से भला उसे कौन सा कष्ट ! (सुनाकर) विराधगुप्त ! क्या बता सकते हो उसका अपराध क्या है जिस से देशनिर्वासन का दण्ड दिया गया है ?

विराधगुप्त—हां इसे इसलिये अपराधी माना गया है कि इसी ने राक्षस द्वारा प्रयुक्त विषकन्या से पर्वतेश्वर की हत्या करवायी थी ।

राक्षस—(स्वगत) कौटिल्य भी कितना धूर्त है ! 'एक ओर तो उसने कितनी सफाई के साथ अपने शिर पर से हत्या का कलङ्क हटाया और साथ ही आधे राज्य के अधिकारी की भी जान लेली और दूसरी ओर अपना सारा पाप

एकमपि नीतिबीजं बहुफलतामेति यस्य तव ॥ १६ ॥

(प्रकाशम्) ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—तत 'श्चन्द्रगुप्तशरीरमभिद्रोग्धुमनेन व्यापारिता दारुवर्मादय' इति नगरे प्रख्याप्य शकटदासः शूलमारोपितः ।

राक्षसः—(सास्रम्) हा सखे ! शकटदास ! अयुक्तस्तवायमीदृशो मृत्युः !! अथवा, स्वाम्यर्थमुपरतो न शोच्यस्त्वमसि; वयमेवात्र शोच्याः, ये नन्दकुलविनाशेऽपि जीवितुमिच्छामः ।

यस्य तवैकमपि नीतिबीजं मत्प्रयुक्तविषकन्योपजापरूपं बहुफलतां बहूनि मौर्यरक्षण-पर्वतकवध-प्रतिश्रुतराज्यार्द्धोऽप्रदानादिरूपाणि फलानि यस्य तस्य भावस्तत्ता तां फलाढ्यतामित्यर्थः, एति प्राप्नोति तेन त्वयाऽस्मास्वयशः पर्वतकघातकत्वरूपमिति यावत् , पातितं पङ्कप्रक्षेपणमिव प्रक्षिप्तम् । स्वस्मिन् वस्तुतः पापाचारे स्वात्मनि तदयशः पर्वतकवधरूपमेवेति यावत् , परिहृतं निवारितम् । अथ चार्द्धराज्यहरः भवत्प्रतिश्रुतराज्यार्द्धभाक् पर्वतकोऽपि घातितः मारित एव । भवतु भवतु तथापि मैवं मंस्था राक्षसो वशीकृत इति शेष इत्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

टिप्पणी—अत्र तैस्तैर्व्याख्याकर्तृभिर्विना रसभावविमर्शं योऽत्तरार्थोऽभिहितस्स तु कविहृदयवाह्य इति न खण्डनायोद्धृतः। अत्र स्वगतं चाणक्यसाफल्यं चिन्तयितुः राक्षसस्योत्साहपरिपोषकश्चिन्ताख्यो व्यभिचारी स्मृतिसम्बलित एव वर्णितो न चाणक्यप्रशंसनमत्र विवक्षितमिति निपुणमुन्नेयं सहृदयैः । नाटकमिदमभिनयचतुष्टयजीवितं न वाक्यकदम्बकमात्रमिति कथं विस्मृतं टीकाकृद्भिरिति न जानीम इत्यलं गुरुजनानां सुचरितेतरचिन्तनैरिति ।

मुझ पर लाद दिया ! ऐसा लगता है जैसे उसकी कूटचाल की एक ही बीज से नाना भांति के फल निकलते जा रहे हैं !' ॥ १९ ॥

(सुनाकर) अच्छा, चलो, आगे चलो ।

विराधगुप्त—इसके बाद शकटदास को, पाटलिपुत्र भर में यह प्रसिद्ध करा कर कि चन्द्रगुप्त को मारने के लिये दारुवर्मा इत्यादि को ठीक करना इसी का काम था, सूली पर चढ़ा दिया गया ।

राक्षस—(आंसू भरी आंखों से) ओह ! शकटदास की ऐसी मृत्यु । अपने महाराज के लिये तुमने आत्मोत्सर्ग किया ! तुम पर क्यों शोक ! अरे शोक तो मुझे अपने ऊपर है जो नन्द-वंश के विनष्ट हो जाने पर भी जीने की इच्छा रखता है !

विराधगुप्तः—अमात्य ! स्वाम्यर्थ एव साधयितव्यः इति प्रयतसे ।

राक्षसः—सखे !—

अस्माभिरसुमेवार्थमालम्ब्य न जिजीविषाम् ।
परलोकगतो देवः कृतघ्नैर्नानुगम्यते ॥ २० ॥

विराधगुप्तः—अमात्य ! नैतदेवम् (अस्माभिरसुमेवार्थमित्यादि पुनः पठति)

राक्षसः—सखे ! कथ्यतामपरस्यापि सुहृद्व्यसनस्य श्रवणे सज्जोऽस्मि ।

विराधगुप्तः—तत एतदुपलभ्य, चन्दनदासेनोपारूढसाध्वसेनापवाहितममात्यकलत्रम् ।

राक्षसः श्रुतशकटदासविनाशस्स्वात्मानमधिक्षिपन् विराधगुप्तेन कृतसान्त्वनो धैर्यं लभमान आह—अस्माभिरित्यादि । सखे ! विराधगुप्त ! अस्माभिश्श्रुततत्तत्सुहृद्विनाशैः अत एव कृतघ्नैः सुहृदुपकारानभिज्ञैरिवाचरद्भिरप्यसुमेवार्थं स्वामिकार्यनिर्वाहरूपमेव प्रयोजनमेकमालम्ब्य न जिजीविषां स्वजीवितपरित्राणकामनां कामच्यालम्ब्य परलोकगतो देवो नानुगम्यते नानुस्रियते न सद्यः मृत्युरालिङ्ग्यते भूयः प्रयत्यत एव कार्यसिद्ध्यै इति यावदित्यर्थः ॥ २० ॥

टिप्पणी—अत्र राक्षसस्य धीरत्वं महति विघ्नेऽप्यकातर्यं प्रकाशयति कविः ।

विराधगुप्त—अमात्य ! आप ऐसा न कहें आप तो महाराज के ही लिये सब कुछ कर रहे हैं ।

राक्षस—अरे भाई !

'मुझसा कृतघ्न कौन होगा जो दिवंगत महाराज का अनुगमन न कर सका ! अब इस जीवन से क्या मोह, अब तो केवल महाराज के लिये ही यह सब करना-धरना है !' ॥ २० ॥

विराधगुप्त—अमात्य ! आप ऐसा न कहें । (आप कृतघ्न नहीं, कृतघ्न तो वे लोग हैं जो महाराज के ऋण से उऋण हुये बिना भी मरना या जीना चाहते हैं)

राक्षस—विराधगुप्त ! सुनाते चलो हमारे मित्रों में से और कौन २ मारे गये । मैं सब सुनने को अब तैयार हूँ ।

विराधगुप्त—इन सब घटनाओं से चन्दनदास भयभीत हो उठे और अमात्य का परिवार कहीं अन्यत्र भेज दिया गया !

राक्षसः—सखे ! क्रूरस्य चाणक्यवटोर्विरुद्धमयुक्तमनुष्ठितं चन्दनदासेन।

विराधगुप्तः—अमात्य ! ननु-अयुक्ततरः सुहृद्द्रोहः।

राक्षसः—ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—ततो याच्यमानेनापि यदा न समर्पितमनेनाऽमात्यकलत्रं, ततः कुपितेन चाणक्यवटुना—

राक्षसः—(सोद्वेगं) स खलु व्यापादितः ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! न खलु व्यापादितः,—किन्तु गृहीतगृहसारः सपुत्रकलत्रः संयम्य बन्धनागारे निक्षिप्तः।

राक्षसः—ततः किं परितुष्टः कथयसि—'अपवाहितमनेन राक्षसकलत्रम्' इति ? ननु वक्तव्यं 'संयतः सकलत्रो राक्षसः' इति।

(प्रविश्य पटाक्षेपेण पुरुषः) जयत्वार्यः। आर्य ! एष खलु शकटदासः प्रतिहारभूमिमुपस्थितः। (जअदु अज्जो। अज्ज ! एसो क्खु सअडदासो पडिहारभूमिमुवत्थिदो)

राक्षस—विराधगुप्त ! चन्दनदास ने अच्छा नहीं किया। यह तो उस दुष्ट चाणक्य से वैर मोल लेना हुआ !

विराधगुप्त—किन्तु मित्रता का न निभाना तो इससे भी बुरा होता अमात्य !

राक्षस—अच्छा कहो, आगे क्या हुआ।

विराधगुप्त—और जब कि कहने-सुनने पर भी उन्हों ने अमात्य का परिवार न सौंपा तब चाणक्य इतना क्रुद्ध हुआ कि·····

राक्षस—(उद्विग्न) क्या उसे भी मार डाला गया !

विराधगुप्त—मार तो नहीं डाला गया अमात्य ! किन्तु सारी धन-सम्पत्ति छीन ली गयी, बाल-बच्चों को पकड़ लिया गया और सब को कारागार में ठूस दिया गया।

राक्षस—तब क्या बड़े प्रसन्न होकर सुनाते जा रहे हो कि राक्षस का परिवार अन्यत्र हटा दिया गया ! अरे अब तो यह कहो कि सपरिवार राक्षस को ही पकड़ लिया गया !

(पर्दा हटाते हुये एक सेवक का प्रवेश) जय हो, अमात्य की जय हो ! शकटदास अमात्य से मिलने आ रहे हैं !

राक्षसः—प्रियंवदक ! अपि सत्यम् ?

प्रियंवदकः—**किमलीकममात्यपादेषु विनिवेदयामि ?** (किं अलिअं अमच्चपादेसु विणिवेदेमि ?)

राक्षसः—**सखे ! विराधगुप्त ! कथमेतत् ।**

विराधगुप्तः—**अमात्य ! स्यादेतदेवं, यतो भव्यं रक्षति भवितव्यता ।**

राक्षसः—**प्रियंवदक ! यद्येवं, तत् किं चिरयसि ? क्षिप्रं प्रवेशय तम् ।**

प्रियंवदकः—**यदमात्य आज्ञापयतीति** (निष्क्रान्तः) (जं अमच्चो आणवेदि त्ति)

(ततः प्रविशति सिद्धार्थकेनानुगम्यमानः शकटदासः)

शकटदासः—(दृष्ट्वा आत्मगतम्)—

दृष्ट्वा मौर्यमिव प्रतिष्ठितपदं शूलं धरित्र्यास्तले

शूलघातात् शकटदासस्सिद्धार्थकेन परित्रातमात्मानं चिन्तयन्नाह—दृष्ट्वा मौर्य-मित्यादि—**अहो ! धरित्र्यास्तले भूमौ प्रतिष्ठितपदं स्थूणानिखननमिव निखात-मूलं शूलं मारणसाधनं लौहदण्डं मौर्यमिव स्थिरसाम्राज्यं कठोरदण्डं चन्द्रगुप्तमिव दृष्ट्वा, चेतसः प्रमथिनीं मनोहृदयविदारिणीं वध्यस्रजं बध्यचिह्नभूतां रक्तकरवीर-**

राक्षस—प्रियंवदक ! क्या जो कह रहे हो सच है !

प्रियम्वदक—महाराज के आगे भला झूठ बोलूंगा !

राक्षस—विराधगुप्त ! यह कैसी बात है !

विराधगुप्त—संभव है अमात्य ! भाग्य ने उन्हें बचा दिया हो ।

राक्षस—प्रियंवदक ! यदि ऐसी बात थी तो देर क्यों लगायी ! शीघ्रातिशीघ्र भीतर बुला ले आवो ।

प्रियम्वदक—महाराज की जो आज्ञा ! (बाहर निकल जाता है)

(शकटदास और पीछे २ सिद्धार्थक का साथ ही साथ प्रवेश)

शकटदास—(स्वगत-अपने आपको देख कर) 'अरे ! मैं सचेत हूं ! और क्यों न रहूँ ! जब मेरी चेतना उस समय भी न मिटी जब कि आखों के आगे पृथिवी के हृदय में चुभने वाले चन्द्रगुप्त की भांति ठीक २ कर गड़ा हुआ शूल दण्ड खड़ा था, गले के चारों ओर हृदय को विदीर्ण करने वाली चन्द्रगुप्त की

तल्लक्ष्मीमिव चेतसः प्रमथिनी*मुन्मुच्य बध्यस्रजम् ।
श्रुत्वा स्वाम्युपरोधरौद्रविषमानाध्माततूर्यस्वनान्
न ध्वस्तं प्रथमाभिघातकठिनं मन्ये मदीयं मनः ॥ २१ ॥

(नाट्येनावलोक्य सहर्षम्) अयममात्यराक्षसस्तिष्ठति । य एषः—

अक्षीणभक्तिः क्षीणोऽपि नन्दे स्वाम्यर्थमुद्वहन् ।
पृथिव्यां स्वामिभक्तानां प्रमाणे परमे स्थितः ॥ २२ ॥

मालां तल्लक्ष्मीमिव मर्मघातिनीं मौर्यराज्यश्रियमिवोन्मुच्य परिधाय, अथ चाध्मातूर्यस्वनान्–मद्वधाघोषणायाध्मातानि तीव्रं वादितानि रणन्ति यानि तूर्याणि तेषां स्वनान् घोरान् निनादान् स्वाम्युपरोधरौद्रविषमान् स्वामिनो महाराजस्य नन्दस्य य उपरोधास्सर्वविधशत्रुकृतव्यसननिपातास्तानिव रौद्रविषमान् भृशमसह्यान् श्रुत्वाऽपीति शेषः, मदीयं मनो हृदयं मम यन्न ध्वस्तं न विदीर्णं जीवाम्यधुनापीति वा यावत् तन्मन्ये संभावयामि प्रथमाभिघातकठिनं प्रथममनुभूता येऽभिघाता अनर्थास्तैः कृत्वा कठिनं कठोरं यावन्मात्रदुःखसहनशीलं सञ्जातमिति शेष इत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

टिप्पणी—अत्र शूल-वध्यस्रक्-तूर्यस्वनादेर्मौर्य-तल्लक्ष्मी-नन्दोपरोधादिना यत्साधर्म्यं साक्षात्प्रतिपादितम् तदतीव नाटकौपयिकमत्र प्रतिभाति । शकटदासः मौर्यायासूयतीति राक्षसोत्साहं समुत्तेजयिष्यतीत्यपि वस्तु ध्वनितमेवात्रेति सुमहान् मनस्तोषः सहृदयानामिति ।

शकटदासः राक्षसं चिन्तयन्नाह—अक्षीणभक्तिरिति । अये ! अयं राक्षसो यो हि क्षीणेऽपि नन्दे विनष्टेऽपि नन्दमहाराजेऽक्षीणभक्तिर्दृढनन्दानुरागस्स्वाम्यर्थं स्वामिन

राजलक्ष्मी की भांति मेरे बध की सूचना देने वाली माला लटक रही थी और कानों में हमारे महाराज के असह्य और भयङ्कर विनाश के समान असह्य और भयङ्कर बध के बाघों की कठोर कर्कश ध्वनियां पड़ रही थी, तब भला अब क्यों मिटे ! अब तो एक के बाद एक अनेकों चोटें सहते २ यह सब कुछ सहने को तैयार हो उठी है !' ॥ २१ ॥

(राक्षस को अभिनयपूर्वक देखते हुये-प्रसन्न होकर) अरे ! ये ही वे अमात्य राक्षस हैं जिनकी 'भक्ति महाराज के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं हुई और जिन्होंने महाराज का ही कार्य पूरा करते हुये इस संसार में एक ऐसा आदर्श उपस्थित किया है जो समस्त स्वामिभक्त सेवकों का महान् आदर्श है !' ॥ २२ ॥

(उपसृत्य) जयत्वमात्यः ।

राक्षसः—(विलोक्य सहर्षम्) सखे शकटदास ! दिष्ट्या कौटिल्यगोचरगतोऽपि दृष्टोऽसि, तत् परिष्वजस्व माम् ।

(शकटदासस्तथा करोति)

राक्षसः—(तं परिष्वज्य) इदमत्रासनमास्यताम् ।

शकटदासः—यदाज्ञापयत्यमात्यः । (इति नाट्येनोपविष्टः)

राक्षसः—सखे ! शकटदास ! अथ कोऽयमीदृशस्य मे हृदयानन्दस्य हेतुः ?

शकटदासः—(सिद्धार्थकं निर्दिश्य) अमात्य ! प्रियसुहृदा सिद्धार्थकेन घातकान् विद्राव्य वध्यस्थानादपवाहितोऽस्मि ।

राक्षसः—(सहर्षम्) भद्र सिद्धार्थक ! काममपर्याप्तमिदमस्य प्रियस्य, तथापि गृह्यताम् (इति स्वगात्रादवतार्य भूषणानि प्रयच्छति)

एव अर्थं कार्यं प्रयोजनं वोद्वहन् सम्पादयन् पृथिव्यां विस्तीर्णेऽस्मिन् विश्वे स्वामिभक्तानां दृढभक्तीनां राजसेवकानां परमे प्रमाणे स्थितः प्रथमकोटौ विराजमानस्तिष्ठतीति शेष इत्यर्थः ॥ २२ ॥

(समीप आते हुये) जय हो अमात्य ! आपकी जय हो ।

राक्षस—(देखकर-प्रसन्नता के साथ) शकटदास ! प्रिय मित्र शकटदास ! मैं प्रसन्नता से इसलिये फूला नहीं समाता कि कौटिल्य की कुटिल-दृष्टि जिसपर पड़ चुकी हो वह हमारी दृष्टि के सामने खड़ा है ! आओ, गले मिला लें ।

(शकटदास गले मिलता है)

राक्षस—(शकटदास को गले लगाकर) यहां इस आसन पर विराजो ।

शकटदास—जो आज्ञा अमात्य !

राक्षस—बताओ, बताओ मेरी इस हार्दिक प्रसन्नता का किसे दानी बताते हो।

शकटदास—(सिद्धार्थक की ओर देखते हुए) अमात्य ! यही वह मेरा प्रियमित्र सिद्धार्थक है जिसने बधिकों को डरा-धमका कर मुझे बध्य-भूमि से हटाया और आप से मिलाया !

राक्षस—(प्रसन्नतापूर्वक) ओह सिद्धार्थक ! यद्यपि मेरी प्रसन्नता के समान यह, जो कुछ तुम्हें दे रहा हूँ, नहीं कहा जा सकता, किन्तु ले लो, स्वीकार कर लो इसे । (अपने आभूषण उतार कर देते हुये)

सिद्धार्थकः—(गृहीत्वा पादयोर्निपत्य स्वगतम्) अयं खलु आर्योपदेशः। भवतु। तथा करिष्यामि। (प्रकाशम्) अमात्य! अत्र मे प्रथमप्रविष्टस्य नास्ति कोऽपि परिचितः, यत्रेममसात्यस्य प्रसादं निक्षिप्य निर्वृतो भविष्यामि; तदिच्छाम्यहमेतया मुद्रया मुद्रितममात्यस्यैव भाण्डागारे निक्षेप्तुम्। यदा मे एतेन प्रयोजनं भविष्यति, तदा ग्रहीष्यामि (अश्रं क्खु अज्जोवदेसो, होदु, तधा करिस्सं। अमच्च! एत्थ मे पढमप्पविट्टस्स णत्थि कोवि परिचिदा, जहिं एदं अमच्चस्स प्पसादं णिक्खिविअ णिव्वुदो भविस्सं; ता इच्छामि अहं इमाए मुद्दिआए मुद्दिदं अमच्चस्स ज्जेव भाण्डागारे णिक्खिविदुं, जदा मे एदिणा प्पओअणं भविस्सदि, तदा गेह्निस्सं)

राक्षसः—भद्र! भवतु, को दोषः? शकटदास! एवं क्रियताम्।

शकटदासः—यदाज्ञापयतीति (मुद्रां विलोक्य जनान्तिकम्) अमात्य! भवन्नामाङ्कितेयं मुद्रा।

राक्षसः—(विलोक्य सविषादं सवितर्कमात्मगतम्) सत्यं नगरात् निष्क्रामतो मम हस्तादु ब्राह्मण्या उत्कण्ठाविनोदार्थं गृहीता, तत् कथमस्य

ब्राह्मण्या उत्कण्ठाविनोदार्थमिति—अनयापि वाचोयुक्त्या राक्षसस्य धैर्यमेव सुतरामुन्मील्यते कविना।

सिद्धार्थक—(आभूषणों को लेकर, राक्षस के पैरों पर गिरते हुये स्वगत) आर्य चाणक्य की भी तो यही आज्ञा थी! अच्छा, मुझे भी इसका पालन करना ही चाहिये। (सुनाकर) अमात्य! मैं पहली ही बार यहां आ रहा हूं, अजनवी हूं, मुझे पता नहीं किस के पास अमात्य के दिये इस पारितोषिक को धरोहर रखूं और शान्ति की सांस लूं! मेरी तो यही इच्छा है कि अमात्य के ही कोषागार में यह सब इस अङ्गुलिमुद्रा से मुद्रित कर दिया जाय और रख दिया जाय। जब मुझे आवश्यकता होगी, ले लूंगा।

राक्षस—अरे भाई! इसमें क्या हानि है। ऐसा ही कर दो। और शकटदास! कर लो ऐसा!

शकटदास—जैसी आज्ञा अमात्य! (अंगूठी देख कर-एकान्त दिखाते हुये) इस अंगूठी पर तो आपका नाम अङ्कित है अमात्य!

राक्षस—(देखते हुये कुछ दुःखित और चिन्तित-स्वगत) ओह! इसके हाथ यह अंगूठी कैसे लगी! इसे तो मेरे पाटलिपुत्र से बिदा होते समय मेरी

हस्तमुपगता ? (प्रकाशम्) भद्र ! सिद्धार्थक ! कुतस्त्वयेयमधिगता ?

सिद्धार्थकः—अमात्य ! अस्ति कुसुमपुरनिवासी मणिकारश्रेष्ठी चन्दनदासो नाम, तस्य गेहद्वारे भूमौ पतिता मया समासादिता (अमच्च ! अत्थि कुसुमपुरणिवासी मणिआरसेट्ठी चन्दणदासो णाम, तस्स गेहदुआरे भूमिए पडिदा, मए समासादिदा)

राक्षसः—युज्यते ।

सिद्धार्थकः—अमात्य ! किमत्र युज्यते ? (अमच्च ! किं एत्थ जुज्जदि)

राक्षसः—भद्र ! यतो महाधनानां गृहे पतितस्यैवंविधस्योपलब्धिर्भवति ।

शकटदासः—सखे सिद्धार्थक ! अमात्यनामाङ्कितेयं मुद्रा, तदितो बहुतरेणाऽर्थेन भवन्तममात्यस्तोषयिष्यति तद् दीयतामेषा मुद्रा ।

सिद्धार्थकः—आर्य ! एष मे परितोषः, यदमात्योऽस्या मुद्रायाः परिग्रहप्रसादं करोतीति । (इति मुद्रां समर्पयति) (अज्ज ! ऐसो मे परितोसो, जं अमच्चो इमाइ मुद्दाए परिग्गहप्पसादं करेदि त्ति)

प्यारी पत्नी ने अपने धैर्य के लिये मेरी अंगुली से निकाल लिया था ! (सुनाकर) अरे भाई सिद्धार्थक ! तुम्हें यह कहां मिली !

सिद्धार्थक—अमात्य ! मैंने तो इसे पाटलिपुत्र के सबसे बड़े जौहरी सेठ चन्दनदास के भवन-द्वार पर गिरी-पड़ी पायी ।

राक्षस—हुआ होगा ।

सिद्धार्थक—क्या हुआ होगा अमात्य !

राक्षस—यही कि बड़े २ धनिओं के घर में ही तो ऐसी वस्तु गिरी रह सकती है जिसे कोई भी दूसरा पाले ।

शकटदास—सिद्धार्थक ! ऐसा करो कि अमात्य के नाम से अङ्कित इस अंगूठी को इन्हें ही दे डालो । इसके बदले तो अमात्य तुम्हें बहुत कुछ दे डालेंगे और तुम प्रसन्न हो जावोगे ।

सिद्धार्थक—मित्र शकटदास ! इससे बढ़कर मेरी क्या प्रसन्नता होगी कि अमात्य इसे लेने की कृपा कर सकेंगे । (अंगूठी दे देता है)

राक्षसः—सखे शकटदास ! अनयैव मुद्रया स्वाधिकारे व्यवहर्तव्यं भवता ।

शकटदासः--यदाज्ञापयत्यमात्यः ।

सिद्धार्थकः--अमात्य ! विज्ञापयामि किमपि (अमच्च ! विणवेमि किं पि)

राक्षसः--भद्र ! विश्रब्धं ब्रूहि ।

सिद्धार्थकः--जानात्येवामात्यो यथा चाणक्यहतकस्य विप्रियं कृत्वा नास्ति मे पुनः पाटलिपुत्रे प्रवेश इति । तदिच्छाम्यहममात्यस्यैव सुप्रसन्नौ पादौ सेवितुम् (जाणादि ज्जेव अमच्चो जधा चाणक्कहदअस्स विप्पअं कदुअ णत्थि मे पुणो पाडलिउत्ते प्पवेसो त्ति । ता इच्छामि अहं अज्जस्स ज्जेव सुप्पसणे पादे सेविदुं)

राक्षसः--भद्र ! प्रियं नः, किन्तु त्वदभिप्रायपरिज्ञानेनाऽन्तरितोऽस्माकमनुनयः । तदेवं क्रियताम् ।

सिद्धार्थकः—(सहर्षम्) अनुगृहीतोऽस्मि (अणुग्गहिदोह्मि)

राक्षसः—सखे शकटदास ! विश्रामय सिद्धार्थकम् ।

शकटदासः—यदाज्ञापयत्यमात्यः (इति सिद्धार्थकेन सह निष्क्रान्तः)

राक्षस—शकटदास ! लो तुम्हीं इस अंगूठी को रखो और जहां जैसी आवश्यकता हो अपने काम में इसे ले आवो ।

शकटदास—जैसी आज्ञा अमात्य !

सिद्धार्थक—अमात्य ! मुझे भी कुछ निवेदन करना है ।

राक्षस—हां, हां, जी खोल कर कहो ।

सिद्धार्थक—अमात्य ! आप तो स्वयं सोच सकते हैं कि उस हत्यारे चाणक्य की जब मैंने बुराई की तब भला पाटलिपुत्र मैं कैसे लौट सकता हूँ । अब तो केवल यही इच्छा है कि यहां ही रहूं और अमात्य के ही इन मङ्गलमय चरणों की सेवा करता रहूँ ।

राक्षस—अरे भाई ! तुमने तो मेरे ही मन की बात कहीं । अब तो तुम्हारे इस अनुरोध से मन की बात मन ही में रह गयी । तुम्हें अब यहीं रहना होगा ।

सिद्धार्थक—(प्रसन्न होकर) ओह ! आप कितने कृपालु हैं !

राक्षस—भाई शकटदास ! सिद्धार्थक को विश्राम करवाओ ।

शकटदास—जो आज्ञा अमात्य ! (सिद्धार्थक के साथ बाहर चला जाता है)

राक्षसः—सखे विराधगुप्त ! वर्णयेदानीं कुसुमपुरवृत्तान्तशेषम्। अपि क्षमन्ते कुसुमपुरनिवासिनोऽस्मदुपजापं चन्द्रगुप्तप्रकृतयः ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! बाढं क्षमन्ते, ननु यथाप्रधानमनुगच्छन्त्येव।

राक्षसः—सखे ! किं तत्र कारणम् ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! इदं तत्र कारणम्—मलयकेतोरपक्रमणात् प्रभृति पीडितश्चन्द्रगुप्तेन चाणक्य इति। चाणक्योऽपि जितकाशितयाऽसहमानस्तैस्तैराज्ञाभङ्गैश्चन्द्रगुप्तस्य चेतसः पीडामुपचिनोति, अयमपि ममानुभवः।

राक्षसः—(सहर्षम्) सखे विराधगुप्त ! तद्गच्छ त्वमनेन आहितुण्डिकच्छद्मना पुनः कुसुमपुरमेव। तत्र हि मे सुहृत् वैतालिकव्यञ्जनः स्तनकलशो नाम प्रतिवसति। स त्वया मद्वचनात् वाच्यः, यथा 'चाणक्येन क्रियमाणेष्वाज्ञाभङ्गेषु चन्द्रगुप्तस्त्वया समुत्तेजनसमर्थैः श्लोकैरुपश्लोकयितव्य' इति। कार्यञ्चातिनिभृतं करभकहस्तेन सन्देष्टव्यम् इति।

राक्षस—विराधगुप्त ! अब पाटलिपुत्र का जो कुछ समाचार बचा है सुना डालो। क्या यह कह सकते हो कि पाटलिपुत्र के रहने वाले, चन्द्रगुप्त के प्रजागण और अधिकारी वर्ग हमारी इन चालों से मन ही मन प्रसन्न हैं या नहीं ?

विराधगुप्त—पूरे प्रसन्न हैं अमात्य ! पता तो स्पष्ट चल रहा है कि वे हमारा साथ दे रहे हैं।

राक्षस—अरे भाई ! ऐसी क्या बात है !

विराधगुप्त—बात यही हैं कि मलयकेतु के (पाटलिपुत्र से) निकल भागने के बाद, जहां तक मेरा अनुभव है, चन्द्रगुप्त के द्वारा चाणक्य तंग किया जा रहा है और अपनी विजय के अभिमान में चूर चाणक्य के द्वारा भी चन्द्रगुप्त की बात नहीं सुनी जाती और उसे तंग किया जा रहा है।

राक्षस--(बहुत प्रसन्न होकर) भाई विराधगुप्त ! यह तो बड़ा अच्छा हुआ ! तुम अपने इसी संपेरे वेष में एक बार और पाटलिपुत्र जाओ और वहां रहने वाले मेरे मित्र वैतालिक स्तनकलश से मेरी ओर से कहो कि जब २ चाणक्य के द्वारा चन्द्रगुप्त की आज्ञा की अवहेलना हो, ऐसी प्रशस्तियां चन्द्रगुप्त को सुनाया करे कि वह उत्तेजित हो जाया करे और जो भी बात मुझे बतानी हो करभक के द्वारा बता दिया करे।

विराधगुप्तः--**यदाज्ञापत्यार्यः** (इति निष्क्रान्तः)

पुरुषः—(प्रविश्य) जयतु जयत्वमात्यः । अमात्य ! शकटदासो विज्ञापयति-'एते खलु त्रयोऽलङ्कारविशेषा विक्रीयन्ते, तत् प्रत्यक्षीकरोत्वमात्यः' जेदु जेदु अमच्चो । अमच्च ! सअडदासो विणवेदि, एदे क्खु तिणि अलङ्कारविसेसा विक्कीअन्ति, ता पच्चक्खीकरेदु अमच्चो)

राक्षसः—(विलोक्यात्मगतम्) अहो ! महार्हाण्याभरणानि । (प्रकाशम्) भद्र ! उच्यतां शकटदासः—'परितोष्य विक्रेतारं गृह्यन्ताम्' इति ।

पुरुषः—यदमात्य आज्ञापयति (इति निष्क्रान्तः) (जं अमच्चो आणवेदि)

राक्षसः—(स्वगतम्) यावदहमपि कुसुमपुरांय करभकं प्रेषयामि (उत्थाय) अपि नाम दुरात्मनश्चाणक्याच्चन्द्रगुप्तो भिद्येत, अथवा सिद्धमेव समीहितं पश्यामि । कुतः ?—

मौर्यस्तेजसि सर्वभूतलभुजामाज्ञापको वर्त्तते

राक्षसो विदिततत्तद्वृत्तश्चाणक्यचन्द्रगुप्तयोर्वैमनस्यवार्ताश्रवणमात्रेण रूढस्वविजयाभिलाषस्स्वमनसा मन्त्रयन्नाह—मौर्यस्तेजसीत्यादि—नात्र सन्देहलवोऽपि यच्चन्द्रगुप्तचाणक्ययोर्भेदो बद्धमूलः । यतो हि योऽयं मौर्यश्चन्द्रगुप्तस्सर्वभूतलभुजा-

---

विराधगुप्त—अमात्य की जैसीं आज्ञा ! (बाहर चला जाता है)

सेवक—(भीतर आकर) जय हो अमात्य ! शकटदास ने कहला भेजा है कि ये तीन बहुमूल्य आभूषण बिकने के लिये आये हैं और यदि इन्हें अमात्य देख लेते तो······

राक्षस—(देखकर-स्वगत) अरे ! ये आभूषण तो सचमुच बहुमूल्य हैं । (सुनाकर) सुनो, जाओ और शकटदास से कहो कि इन्हें ले लिया जाय और इनके बेचने वाले को पूरा पारितोषिक भी दे दिया जाय ।

सेवक--अमात्य की जो आज्ञा ! (बाहर निकल जाता है)

राक्षस--(स्वगत) ओह ! तब तक मैं भी करभक को पाटलिपुत्र भेजने का प्रबन्ध करूं। (उठते हुये) क्या ही अच्छा होता यदि चन्द्रगुप्त उस दुष्ट चाणक्य से अलग कर दिया जाता ! किन्तु, अब तो इसमें संदेह ही क्या है ! मेरा काम तो अब बना-बनाया दीख रहा है ! क्योंकि—

'एक ओर तो चन्द्रगुप्त ऐसा है जो अपने राज-तेज के कारण अन्य समस्त

चाणक्योऽपि मदाश्रयादयमभूद्राजेति जातस्मयः ।
राज्यप्राप्तिकृतार्थमेकमपरं तीर्णप्रतिज्ञार्णवं
सौहार्दात्कृतकृत्यतैव नियतं लब्धान्तरा भेत्स्यति ॥ २३ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

(इति राक्षसविचारनामकद्वितीयोऽङ्कः ॥ २ ॥)



माज्ञापकस्सर्वे च ते भूतलभुजश्च तेषां सकलभूपतीनां शासनकर्त्ता स तेजसि वर्तते राजमदाध्मातस्तिष्ठति, यश्चासौ चाणक्यस्सोऽपि मदाश्रयात्–मम साहायकादयं चन्द्रगुप्तः राजाऽभूदिति जातस्मयो जातगर्वो वर्तते, अत एवैकं चन्द्रगुप्तं राज्यप्राप्तिकृतार्थं साम्राज्यप्रतिष्ठितसुखितमपरं चाणक्यञ्च तीर्णप्रतिज्ञार्णवं पूर्णनन्दविनाशप्रतिज्ञमत एव गर्वितं कृतकृत्यता एव निरपेक्षतैव लब्धान्तरा उभयोस्स्वार्थसिद्ध्या प्राप्तावसरा सौहार्दात् परस्परंसौमनस्यात् नियतं निश्चितं यथा स्यात्तथा भेत्स्यति विघटयिष्यतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

द्वितीयोऽङ्क इति—पूर्वोक्त एवाङ्कलक्षणोऽत्रानुसंधातव्यः ।

अत्र विराधगुप्तसंवादरूपवृत्तयोजनया राक्षसस्यारम्भयत्नयोर्भग्नसामर्थ्ययोर्निरूपणेन चाणक्यस्य प्राप्त्याशाया यदुन्मीलनं तदेव गर्भसन्धेरुपक्रमस्य प्रथमावस्थेति । अङ्कस्य समाप्तिर्हि चाणक्यस्य प्राप्त्याशोपक्रमस्य प्रथमावस्थापरिसमाप्तेरिति ।

इति राक्षसविचाराख्यो द्वितीयोऽङ्कः ।



राज-गण का एक शासक बना बैठा है और दूसरी ओर चाणक्य ऐसा है जो चन्द्रगुप्त को राजा बनाने के कारण अपने गर्व में अकेला चूर पड़ा है ! जहां एक राज्य पालेने से कृतार्थ हो रहा है वहां दूसरा अपने प्रतिज्ञा–सागर के पार कर लेने से कृतकृत्य हो चुका है ! अब तो वह समय आ ही पहुंचा है जब इन दोनों की अपनी २ यह कृतकृत्यता इन दोनों को एक दूसरे से अलग कर के ही शान्त हो सकेगी ॥ २३ ॥

(सभी पात्र रङ्गमञ्च से चले जाते है)

द्वितीय अङ्क समाप्त ।



तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी—

रूपादीन् विषयान् निरूध्य करणैर्यैरात्मलाभस्त्वया
लब्धस्तेष्वपि चक्षुरादिषु हताः स्वार्थावबोधक्रियाः ।
अङ्गानि प्रसभं त्यजन्ति पटुतामाज्ञाविधेयानि मे

ततः प्रविशतीति—ततः राक्षसनीतिबीजवापानन्तरं तदुत्पाटनप्रयोजनायाश्चाणक्यस्य प्राप्त्याशायाः प्रथमपर्वावसाने च तद् द्वितीयपर्वप्रारम्भाय राक्षसनीतिबीजविध्वंसोपक्रमाय चन्द्रगुप्तकञ्चुकिनोः रङ्गप्रवेशादिवृत्तमारचयति कविरिति । 'तृतीयेऽङ्के नियताप्ति'रिति सिद्धान्तयद्भिर्व्याख्यातृभिश्श्रीढुण्ढिराजप्रभृतिभिः 'अथ राक्षसाभिलष्यमाणचाणक्यचन्द्रगुप्तविरोधकथनार्थं विमर्शसन्धिरारभ्यते । तृतीयचतुर्थाङ्कौ विमर्शसन्धि'रित्यादि यदुपक्रान्तं तदेतत्सर्वमेतन्नाटकरचनाविचारवैमुख्यरूपमेव तेषां पर्यवसितम् । वस्तुतस्तु तृतीयाङ्कोऽयं प्राप्त्याशोपक्रमस्य द्वितीयपर्वणस्समुट्टङ्कनरूपो न नियताप्तिनिरूपणार्थो न वा विमर्शोद्भवप्रवण इत्यलं पूर्वं विमृष्टस्य पौनःपुन्येन विमर्शसंरम्भेणेति ।

चन्द्रगुप्तकञ्चुकी कौमुदीमहोत्सवमधिकृत्य चन्द्रगुप्तचाणक्ययोर्भिन्नमतत्वं निवेदयितुकामो वार्द्धक्येऽपि राजामात्यमुखप्रेक्षित्वमिति स्वभृत्यभावाज्जुगुप्समानो वक्ति—रूपादीनित्यादि । अयि तृष्णे ? मदीयतत्तत्स्पृहे ! मुधा माद्यसि व्यर्थमेव वृद्धे मयि सति तरुणीवदाचरन्ती नरीनृत्यसि । यतो हि त्वया यैः करणैर्मदीयैश्चक्षुरादीन्द्रियैर्हेतुभूतैः रूपादीन् विषयान् रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दानात्मनो निर्बन्धस्यापि बन्धकरान् भावजातान् निरुध्य समनुभूयात्मलाभो लब्धः स्वजन्म गृहीतम् तेष्वपि चक्षुरादिषु तत्तद्विषयानुभवशक्तयो हता नष्टा एव, अथ चाज्ञाविधेयानि भवन्नियोगानुष्ठानकराणि मे ममाङ्गानि करचरणादीन्यपि प्रसभं यथा स्यात्तथा

(कञ्चुकी प्रवेश करता है)

कञ्चुकी—'अरी तृष्णे ! अब तो भला शान्त हो जा ! अब भला मेरी आंख, कान इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों में अनुभव की वह शक्ति कहां जिन से उन २ विषयों का आनन्द उठाती हुई तू पलीं-पोसी गयी ! अब भला इन हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों में ही कौन सामर्थ्य जो कभी तेरी अंगुली के इशारे नाच उठते रहे !

न्यस्तं मूर्ध्नि पदं तवैव जरया, तृष्णे ! मुधा माद्यसि ॥ १ ॥

(परिक्रम्याकाशे) भो भोः सुगाङ्गप्रासादाधिकृताः पुरुषाः ! सुगृहीतनामा देवश्चन्द्रगुप्तो वः समाज्ञापयति । तथा—'प्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवरमणीयतरं कुसुमपुरमवलोकयितुमिच्छामि, तत् संस्क्रियन्तामस्मद्दर्शनयोग्याः सुगाङ्गप्रासादस्योपरि भूमय.' इति । तत् किं चिरयन्ति भवन्तः ? (आकाशे आकर्ण्य) किं ब्रूथ 'आर्य ! किमविदित एवायं देवस्य चन्द्रगुप्तस्य कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधः' इति ? आः दैवोपहताः ! किमनेन वः प्राणहरेण कथोद्घातेन ? शीघ्रमिदानीम्—

आलिङ्गन्तु गृहीतधूपसुरभीन् स्तम्भान् पिनद्धस्रजः

पटुतां त्यजन्ति भूयो भवदाज्ञापालनसामर्थ्यं भृशं जहत्येव । अन्यच्च जरया वृद्धावस्थया तवैव मूर्ध्नि पदं न्यस्तम् त्वमेवाक्रान्ता शिरसि न किमपि ममच्छिन्नमिति शेष इत्यभिप्रायः ॥ १ ॥

टिप्पणी—कञ्चुकिकृतेन स्वतृष्णाविनिन्दनेन यद्वस्तु व्यङ्ग्यत्वेनात्र विवक्षितं तत्तु चन्द्रगुप्तचाणक्ययोर्वैमनस्ये संभाव्यमाने तद् भृत्यानामन्यतरसुखप्रेक्षित्वरूपानर्थपतनमेवेति ।

कञ्चुकी विदितचाणक्यकृतकौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधवृत्तो निभृतं कमप्यनर्थमालोचमानश्चन्द्रगुप्ताज्ञापितां कौमुदीमहोत्सवायोजनां काकुभङ्ग्याऽऽघोषयन्नाह—आलिङ्गन्त्वित्यादि । (पौराः कौमुदीमहोत्सवे पौरीभिस्साकं सुखमनुभवन्तु मा

अब तो बुढ़ापा का पैर तुम्हारे ही सिर पर पड़ चुका है अब भला ऐसा मदोन्माद क्यों !' ॥ १ ॥

(इधर-उधर घूम कर-ऊपर की ओर देख)

अरे ! सुगाङ्ग-प्रासाद के अधिकारियो ! सुनो, प्रातः स्मरणीय महाराज चन्द्रगुप्त की आज्ञा है कि कौमुदी महोत्सव के अवसर पर पाटलिपुत्र ऐसा सजा-धजा दिया जाय जो देखते ही बने । प्रासाद की ऊंची २ अट्टालिकाओं की ऐसी सुन्दर सजावट कर डालो जो महाराज के देखने योग्य हो । क्यों, देर क्यों हो रही है ? (कुछ सुनते हुये से) क्या तुम लोगों ने यह कहा कि महाराज को पता नहीं कि कौमुदी-महोत्सव का मनाया जाना मना कर दिया गया ! अरे ! ऐसी बातें बंद करो, अनर्थ हो जायगा तुम सब के प्राण के लाले पड़ जायगें ! शीघ्रता करो ! 'देखो,

पूर्णचन्द्र की किरणों के झुण्ड की भांति सुन्दर २ चंवरों की छटायें ऐसी छिटक

सम्पूर्णेन्दुमयूखसंहतिरुचां सच्चामराणां श्रियः।
सिंहाङ्कासनधारणाच्च सुचिरं सञ्जातमूर्च्छामिव
क्षिप्रं चन्दनवारिणा सकुसुमः सेकोऽनुगृह्णातु गाम् ॥ २ ॥

(आकाशे) किं कथयन्ति भवन्तः 'एते त्वरामहे' इति ? भद्राः !

वाऽन्वभूवन्) सम्पूर्णेन्दुमयूखसंहतिरुचां सम्पूर्णेन्दोः पूर्णिमाचन्द्रस्य याः मयूख-संहतयः संपिण्डिताः किरणकान्तयस्तासां रुगिव रुक् कान्तिर्येषामेवंभूतानां सच्चा-मराणां बालव्यजनानां श्रियश्शोभासम्पत्तयो गृहीतधूपसुरभीन् धूपितसुरभितश-रीरान् पिनद्धस्रजः पिनद्धपुष्पहारान् स्तम्भान् सुगाङ्गप्रासादस्येति शेषः, आलिङ्गन्तु निपुणं स्वगाढोपगूहनेन सफलयन्तु सुखयन्तु चेति, तथा त्वरयितव्यं सूत्रधारैर्यथा द्रुतमेव सुगाङ्गप्रासादः प्रतिस्तम्भं धूपितस्सुरभितः माल्यवेष्टितश्चामरवीजितश्च राज्ञः स्वागताय संनह्यत्विति भावः। अथ च चन्दनवारिणा सकुसुमस्सेकः पुष्प-परिमिलितेन चन्दनरसेन कृतस्सुगाङ्गप्रासादभूमिभागस्य मार्जनप्रक्षणादिः सुचिरं सिंहाङ्कासनधारणात् बहोः कालात् मौर्यस्य सिंहोऽङ्कश्चिह्नं यस्य तच्च तदासनं धर्मासनं च सिंहाङ्कासनं तस्य भारवहनात्सञ्जातमूर्च्छां समनुभूतनन्दछत्रकृतो-परोधवैशसां गां पाटलिपुत्रभुवं काञ्चिद् सिंहक्रोडीकृतां धेनुमिव विगतसंज्ञां क्षिप्रं सत्वरं प्राणपरिरक्षणं यथा स्यात्तथा बिना विलम्बमनुगृह्णातु संभावयत्विति । प्रासादभूमयः राजमार्ग-रथ्या-वीथिभूमयश्च जलसेकेन सुमृष्टाः पार्थिवसञ्चारयोग्या भवन्त्विति भावः ॥ २ ॥

टिप्पणी—अत्र श्लिष्टविशेषणमहिम्ना स्तम्भ-चामरश्रियोर्नायकनायिकाव्यव-हारप्रतिपत्त्या पूर्वार्द्धे समासोक्तिरलङ्कारः । उत्तरार्द्धे चातिगौरवशालिराजसिंहासनं सुगाङ्गे विराजमानमासीत् इति तद्धारणात्सञ्जातमूर्च्छामिवेति वस्तूत्प्रेक्षालङ्कारः । अत्र समासोक्तौ यदप्रस्तुतस्य व्यवहारसमारोपः प्रतीयमानतयाऽवस्थितस्तेन कौमु-दीमहोत्सवस्यामोदा अपि कल्प्यन्तां नामेति किमपि वस्तु व्यज्यत इति ।

ने लगीं मानो सुगन्धित धूपों से सुरभित और लटकती मालाओं से सुशोभित अट्टालिका के स्तम्भ का आलिङ्गन कर उठी हों। इतना ही नहीं, फूलों की सुवास से भी चन्दन-जल का छिड़काव ऐसा सर्वत्र शीघ्रातिशीघ्र हो जाय जैसे सिंह के पंजे की भांति पड़े राज-सिंहासन के बोझ से मूर्च्छित यह गाय सी धरती एक बार उच्छ्वसित हो उठे !' ॥ २ ॥

(आकाश में) अब भी कुछ कहना-सुनना चाहते हो ! क्या कहा, शीघ्रता

त्वरध्वम्, अयमागत एव देवश्चन्द्रगुप्तः। य एषः—

सुविश्रब्धैरङ्गैः पथिषु विषमेष्वप्यचलता
चिरं धुर्येणोढा गुरुरपि भुवो याऽस्य गुरुणा।
धुरं तामेवोच्चैर्नववयसि वोढुं व्यवसितो
मनस्वी दम्यत्वात् स्खलति न च दुःखं वहति च॥ ३॥

(नेपथ्ये) इत इतो देवः।

(ततः प्रविशति राजा प्रतीहारी च)

कञ्चुकी चन्द्रगुप्तस्यागमनं चिन्तयन् तमेव निपुणं परामृशन्नाह—सुविश्रब्धैरित्यादि। दम्यो वृषभ इव एष चन्द्रगुप्तो नववयसि तारुण्य एव तां भुवो धुरं राज्यतन्त्रस्य भारं वोढुं धारयितुमुच्चैर्व्यवसितो भृशं समुद्युक्तो या गुरुरपि दुःशक्यवहनाऽपि धूः सुविश्रब्धैरङ्गैर्विश्वसनीयैश्शरीरावयवैरिव राज्यतन्त्रावयवैर्विषमेष्वपि पथिषून्नताऽऽनतेष्वपि मार्गसंक्रमेष्विव राजनयसञ्चारेष्वचलताऽनिष्कम्पगतिनाऽत एव धुर्येण धूर्वहनसमर्थेन राज्यतन्त्रधौरेयेणाऽस्य गुरुणा तातेन महाराजनन्देन चिरमूढा बहुकालपर्यन्तं धृता। अये! मनस्वी महासाहसिकः महामनाः खल्वयम् यतो हि दम्यत्वाद् भारवहनाऽनभ्यस्तत्वादेव न तु न्यूनबलप्रकर्षत्वात् स्खलति यदि कुत्रचन स्खलनमवाप्नोति किन्तु दुःखं च न वहति तथात्वेऽपि कार्पण्यं नैवाश्रयते॥ ३॥

टिप्पणी—अत्र कञ्चुकी चन्द्रगुप्तं राज्यतन्त्रभारस्वयंवहनसमर्थं परामृशन् चन्द्रगुप्त-चाणक्ययोः किमपि मतवैभिन्न्यं सूचयति।

इत इतो देव इति। अत्र कञ्चुकिनं प्रति चन्द्रगुप्तागमनं नेपथ्यसंस्थितेन प्रतीहारीभूमिकाभृता पात्रेण सूचितमिति चूलिकया चन्द्रगुप्तप्रवेश इति। चूलिका तु—

कर रहे हो! शीघ्रता करो। महाराज चन्द्रगुप्त आ ही पहुंचे। देखलो, आ गये!

ये ही हमारे महाराज हैं जिनके कंधों पर, उमड़ती जवानी में ही, बिना किसी प्रौढ़ता के ही, केवल धीर-गम्भीर स्वभाव के कारण, थोड़ी बहुत त्रुटियां होने पर भी उनके दूर कर हटाने में दृढ़ आत्म-विश्वास के बल पर, इस साम्राज्य के शासन की उस धुरा का भार-वहन आ पड़ा है जिसे अब तक, एक के बाद एक, इनके बड़े २ शक्तिशाली पूज्य पूर्वज, राजनीति संकटाकीर्ण मार्ग में भी अडिग चलते हुये, अपने बलिष्ठ व्यक्तित्व के ही कारण संभालते आ चुके हैं'॥ ३॥

(नेपथ्य से) इधर आवें महाराज!

(प्रतीहारी के साथ महाराज चन्द्रगुप्त का प्रवेश)

राजा—(स्वगतम्) राज्यं हि नाम राजधर्मानुवृत्तिपरतन्त्रस्य भूपते-र्महदप्रीतिस्थानम् । यतः—

परार्थानुष्ठाने रहयति नृपं स्वार्थपरता
परित्यक्तस्वार्थो नियतमयथार्थः क्षितिपतिः ।
परार्थश्चेत् स्वार्थादभिमततरो, हन्त परवान्
परायत्तः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्तु पुरुषः ? ॥ ४ ॥

'अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिके'ति लक्षिता साहित्यदर्पणकृता ।

चन्द्रगुप्तः करिष्यमाणं कृतककलहं चाणक्याज्ञापितं मुहुश्चिन्तयन् विकलस्वान्त आह—परार्थानुष्ठान इति । राज्यं हि नाम न किमपि सुखमपि तु दुःखमेव केवलम् । तथाहि परार्थानुष्ठाने परस्य स्वव्यतिरिक्तस्यामात्यजनपदादिप्रकृतिवर्गस्य (येऽर्थाः अभिलषितानि कार्याणि तेषां सम्पादने क्रियमाणे स्वार्थपरता स्वाभिलषितसिद्धि-र्नृपं राजानं रहयति परित्यजति । अर्थात् पराभिलषितं चाणक्यसमीहितं कृतक-कलहादीति यावद् , यदि साध्येत स्वाभीप्सितं गुरुद्रोहवर्जनं दत्तजलाञ्जलिप्रसज्ये-तेति । अथ च यदि क्षितिपतिर्नृपः परित्यक्तस्वार्थः स्यादिति शेषः, परार्थसाधनप्र-वणतया स्वार्थं स्वाभिलषितं नैव साधयितुं शक्नुयात् तदा नियतमयथार्थो ना-स्त्येव सत्यभूतः राजेति । तात्पर्यं तु यत् चाणक्यचिन्तितमेव तत्तद् यदि क्रियेत कुतो मे मनसः शान्तिर्गुरुद्रोहिण इति । अन्यच्च परार्थः स्वार्थादभिमततरश्चेत् यदि परार्थ एव कर्तव्यबुद्ध्या साधनीयो हन्त ! यो वा नृपस्स तु परवान् परवशः पराधीन एव न स्ववशः स्वतन्त्रो वा । यदि च नृपः परायत्त एव तिष्ठेत् पराधीन-स्सन् परप्रयोजनमेव संपादयेत तदा पुरुषः प्राकृतजनस्सन् प्रीतेस्सुखस्य रसमा-नन्दं कथमिव वेत्तु न कथमप्यनुभवितुं समर्थं इत्यर्थः ॥ ४ ॥

टिप्पणी—अत्र चन्द्रगुप्तस्य तत्तत्स्मरणादिभिरनुभावैरभिव्यक्तश्चिन्ताख्यो भाव-

---

राजा—(स्वगत) राजा तो कभी भी स्वतन्त्र नहीं, राज-धर्म का पालन उसे परतन्त्र बनाये है ! यह राज्य भी कैसी दुःखद वस्तु है !

'राजा यदि प्रजा के स्वार्थों को सिद्ध करता रहे तो भला अपने स्वार्थ से क्यों कर न वञ्चित हो ! वह राजा भी क्या जो अपने स्वार्थ से ही सर्वथा विमुख रहकर नाम का ही राजा कहलाता रहे ! यह ठीक है कि राजा के लिये स्व-हित से बढ़ कर प्रजा-हित ही होना चाहिये, किन्तु तब तो वह स्वाधीन कहां सर्वथा पराधीन ही रहा ! और भला जो पराधीन हो उसे कौन सा सुख, कौन सा आनन्द !' ॥४॥

अपि च-दुराराध्या हि राजलक्ष्मीरात्मवद्भिरपि राजभिः। कुतः?—
तीक्ष्णादुद्विजते, मृदौ परिभवत्रासान्न सन्तिष्ठते,
मूर्खं द्वेष्टि, न गच्छति प्रणयितामत्यन्तविद्वत्स्वपि।

स्सुष्ठु प्रकाशितः। अत एव च लाभालाभगवेषणारूपा चाणक्यप्राप्त्याशाऽपि सुतरामुन्मीलितेति।

आत्मवद्भिरिति—आत्मसम्पद्युक्तैरित्यर्थः। आत्मसंपल्लक्षणं यथा कौटिलीयेऽर्थशास्त्रे मण्डलयोन्यधिकरणे—'वाग्मी प्रगल्भः स्मृतिमतिबलवानुदग्रः स्ववग्रहः कृतशिल्पो व्यसने दण्डनाभ्युपकारापकारयोर्दृष्टप्रतीकारी ह्रीमानात्मप्रकृत्योर्विनियोक्ता दीर्घदूरदर्शी देशकालपुरुषकारकार्यप्रधानः संधिविक्रमत्यागसंयमपणपरच्छिद्रविभागी संवृतोऽदीनाभिहास्यजिह्मभ्रूकुटीक्षणः कामक्रोधलोभस्तम्भचापलोपतापपैशुन्यहीनः शुक्लः स्मितोदग्राभिभाषी वृद्धोपदेशाचार इत्यात्मसंपदि'ति।

चन्द्रगुप्तः स्वविषयकमेव पुनरपि ध्यायन्नाह—तीक्ष्णादुद्विजत इत्यादि। राजलक्ष्मीः स्थिरा भवत्वित्ययमेव आर्याभिनिवेश एतन्निबन्धन एव च स कोऽपि कृतककलह इत्याज्ञाप्यमानोऽर्थः। किन्तु यथाऽऽत्मसंपद्युक्तेनाऽपि मया राजलक्ष्मीस्थैर्यं दुःसाध्यमेवमेव सर्वामात्यसम्पत्समन्वितेनाप्यार्यचाणक्येन राक्षसप्रारब्धास्मद्राज्यतन्त्रविघटनादि न सुखप्रतीकारमिति किं भावीति न ज्ञायते। तथाहि श्रीराजलक्ष्मीर्लब्धप्रसराऽस्मद्वशीकरणेन प्राप्तप्रागल्भ्या वशीकृतकामुकेव वेशवनिता वारनारी भृशं नितान्तं दुःखोपचर्या दुराराध्याऽशक्यवशीकारेति वा यावत्। कुत इति चेत्? यतो हीयं स्थिरीभूय कं कामयत इत्यविज्ञेयमनालोच्यं च वस्तु। तथाहीयं तीक्ष्णादुग्राद् विक्रमोदग्राद्वा राज्ञ उद्विजते उद्विग्ना संजायते स्वमृदुस्वाभाव्यादिति शेषः, मृदौ विगततैक्ष्ण्ये च नृपे न सन्तिष्ठते न स्थितिमात्मनः करोति परिभवत्रासाद् बलवता प्रतिपक्षेण तथाविधस्य राज्ञः पराभूयमानत्वशङ्कातङ्कादिति, मूर्खानविवेकिनो नृपान् द्वेष्टि न कामयते स्वविद्वत्सेवासक्तिपरत्वात्। अत्यन्तविद्वत्स्वपि महाविवेकिष्वपि राजसु प्रणयितां न गच्छति निकाममनुरक्ता न कदापि

इतना ही क्यों! चाहे कैसे भी अपने को संभाल कर रहे, राज-लक्ष्मी को प्रसन्न रखना राज के लिये असंभव है! क्यों न हो!

यदि वह उग्र स्वभाव का हो जाय, तो राजलक्ष्मी उस से उद्विग्न हो उठे, यदि वह सरल-स्वभाव का बन जाय तो उसके कभी भी हो सकने वाले पराभव की आशंका से राजलक्ष्मी ही पहले उसके पास न टिके, यदि वह अल्प-बुद्धि का हो तो भला राजलक्ष्मी उसे क्यों चाहने लगे, यदि वह बड़ा बुद्धिशाली हो तो उसे

शूरेभ्योऽप्यधिकं बिभेत्युपहसत्येकान्तभीरूनहो,
श्रीर्लब्धप्रसरेव वेशवनिता दुःखोपचर्या भृशम् ॥ ५ ॥

अन्यच्च। कृतककलहं कृत्वा स्वतन्त्रेण त्वया कश्चित् कालं व्यवहर्त्तव्यमित्यार्योपदेशः। स च कथमपि मया पातकमिवाभ्युपगतः, अथवा शश्वदार्योपदेशसंस्क्रियमाणमतयः सदैवास्वतन्त्रा वयम्। कुतः ?—

इह हि रचयन् साध्वीं शिष्यः क्रियां न निवार्यते

भवति तेषां विवेकैकनिरतमानसत्वादिति, शूरेभ्योऽपि राजभ्योऽधिकं बिभेति भृशं त्रस्यति स्व-सुस्थचित्तप्रणयपारवश्यादिति, एकान्तभीरून् स्वव्यतिरिक्तप्रकृतिवर्गमुखप्रेक्षिणो हि नृपानुपहसति तेषां भयैकव्यग्रहृदयत्वादित्यहो महदाश्चर्यं कथं मया वर्तितव्यमिति न ज्ञायत इति शेष इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

कृतककलहमिति—राक्षसोपभेदनीतिबीजमेव चाणक्यबुद्धिप्रागल्भ्यादत्र नष्टसारं कृतकद्वन्द्वतया पर्यवस्यतीति प्राप्स्याशैव पुनरामृष्टेति।

चन्द्रगुप्तश्चाणक्यचिन्तिते कृतककलहे कमपि लाभविशेषं निश्चिन्वानस्सुस्थचित्तमाह—इह विरचयन्निति। इहास्मिन् लोके हि साध्वीं क्रियां रचयन् न्याय्यं कार्यं कुर्वाणशिष्यो गुरुजनशासनानुवर्ती जनः न निवार्यते नैव दण्ड्यते गुरुभिरिति

राजलक्ष्मी कभी प्रेम ही न कर पाय, यदि वह शूर-वीर हो तो निरन्तर राजलक्ष्मी उससे सशङ्क ही बनी रहे, यदि कहीं वह कायर हुआ तब भला राजलक्ष्मी उसकी हंसी क्यों न उड़ाय ! अरे यह राजलक्ष्मी ! यह तो वह वेश्या है जिस के पास पहुँच तो कोई भी जाय किन्तु जिसे सदा साथ रखते प्रसन्न देखना किसी के भी बूते में नहीं !' ॥ ५ ॥

और तो और,

आर्य चाणक्य की भी क्या आज्ञा हुई कि उनसे मुझ कृतक-कलह (बनावटी झगड़ा) करना पड़ेगा, स्वतन्त्र बनना पड़ेगा, शासन का भार कुछ समय तक स्वयं संभालना पड़ेगा ! मैंने भी भला क्या किया जो जानते हुये भी ऐसे इस पाप कर्म को करना ठान लिया ! और मैं अन्यथा कर भी क्या सकता हूं ! मुझे तो आर्य की आज्ञा के पालन में अपनी परतन्त्रता ही बड़ी अच्छी प्रतीत होती है ! और यह ठीक भी है ! क्योंकि—

'यदि एक विनीत शिष्य की भांति मुझ से सब कुछ ठीक ठीक होता चला

त्यजति तु यदा मार्गं मोहात्, तदा गुरुरङ्कुशः।
विनयरुचयस्तस्मात् सन्तः सदैव निरङ्कुशाः
परतरमतः स्वातन्त्र्येभ्यो वयं हि पराङ्मुखाः॥ ६॥

(प्रकाशम्) आर्य वैहीनरे! सुगाङ्गप्रासादमार्गमादेशय।

कञ्चुकी—इत इतो देवः।

राजा—(परिक्रामति)

कञ्चुकी—(परिक्रम्य) अयं सुगाङ्गप्रासादः, शनैरारोढुमर्हत्यार्यः।

राजा—(नाट्येनारुह्य दिशोऽवलोक्य) अहो! शरत्समयसम्भृतशोभाविभूतीनां दिशामतिरमणीयता!! कुतः?—

शेषः, अपि तु तत्रानुमोद्यत एवेति भावः, यदा तु स एव शिष्यः मोहाद् मार्गं त्यजति मतिभ्रंशात् कुमार्गेण गच्छति तदा गुरुरङ्कुशस्ततस्तस्य निवारयिता भवति। तस्मादेवंभूताद् गुरुस्वाभाव्याद् विनयरुचयो गुरुकृतशिक्षणे बद्धश्रद्धास्सन्तस्सदाचाराः शिष्या इति शेषः, सदैव निरङ्कुशास्सर्वदैव स्वतन्त्रा न दण्डभागिनो गुरूणां भवन्तीति, अतोऽस्मादेव कारणात् वयं हि स्वातन्त्र्येभ्यस्स्वच्छन्दानुवर्तनेभ्यः परतरमत्यधिकं पराङ्मुखाः परावृत्तवदना यत्तिष्ठाम आर्याधीना एव सर्वदा वर्तामह इति वा यावत्, तत्सर्वं साध्वेव कस्मैचन मङ्गलायैव सर्वदा भावीति भावः॥ ६॥

तब तो मुझे कुछ इधर-उधर की सुननी ही नहीं पड़ेगी और यदि कहीं कुछ असावधानी के कारण मैं मार्ग ही भूल बैठूं, तब भी आर्य के नियन्त्रण में मुझे चिन्ता किस बात की! मुझे तो आर्य के आज्ञा-पालन में ही अपनी स्वतन्त्रता दिखाई दे रही है! मेरे लिये तो सभी स्वच्छन्दताओं से मुंह मोड़ लेना ही अच्छा'॥ ६॥

(सुनाकर) आर्य वैहीनरे सुगाङ्गप्रासाद की ओर चलना है!

कञ्चुकी—इधर आवें महाराज!

राजा—(घूमता है)

कञ्चुकी—(चलने का अभिनय करते हुये) यह रहा सुगाङ्गप्रासाद! धीरे २ ऊपर चला जाय महाराज!

राजा—(चढ़ने का अभिनय करते हुये-चारों ओर देख कर) ओह! जिधर देखता हूँ उधर ही शरत् काल की शोभा छायी दिखाई दे रहीं है! अरे!

शनैः शान्ता भूताः सितजलधरच्छेदपुलिनाः
समन्तादाकीर्णाः कलविरुतिभिः सारसकुलैः ।
चिताश्चित्राकारैर्निशि विकचनक्षत्रकुमुदै-
र्नभस्तः स्यन्दन्ते सरित इव दीर्घा दश दिशः ॥ ७ ॥

चन्द्रगुप्तस्स्वभावनाऽशंसिते कौमुदीमहोत्सवे शरदः प्रसन्नतां प्रसाधितजलस्थलनभोमण्डलां पश्यन्नाह—शनैः श्यानीभूता इत्यादि । अये ! शरत्साम्राज्यं विजृम्भते सर्वत्र । सर्वं जगत् शरच्छासनमनुवर्तमानमिव विभाव्यते । तथा हि दीर्घा दश दिशः शरदि मेघापगमेन विविक्ततया स्फुटं प्रतीयमानाः दिशः प्रदिशश्च शनैश्श्यानीभूताः शरदागमक्रमेण वर्षाजलमेदोभारापचयात् प्राप्तकार्श्यास्समृद्धसौन्दर्याश्च सत्यः, सितजलधरच्छेदपुलिनाः सिताः शुभ्राः जलधरच्छेदाः पुलिनानीव सैकतानीव यासां ताः धवलजलदखण्डदन्तुराः, कलविरुतिभिर्मधुरगुञ्जनैः सारसकुलैस्समन्तात्सर्वत आकीर्णा व्याप्ताश्शब्दायमाना वेति यावत्, निशि रात्रौ च चित्राकारैः विचित्ररूपैर्विविधरूपैर्वा विकचनक्षत्रकुमुदैर्विकचानि ज्योतिर्मयानि प्रफुल्लानि वा नक्षत्राणि कुमुदानीव तैः प्रफुल्लकुमुदनिभनक्षत्रैश्चिताः भरिताभोगा नभस्त आकाशात् सरित इव वर्षाविरतेस्तनूकृतप्रवाहवेगाः शुभ्रसैकतभूमयः, गुञ्जितसारसकलरवाः विकसितनक्षत्रशुभ्रकुमुदा नद्य इव स्यन्दन्ते मन्दमधुरं निस्सरन्त्य इव दृश्यन्त इत्यर्थः ॥ ७ ॥

टिप्पणी—अत्र कौमुदीमहोत्सवमिव प्रतीक्षमाणायाः शरदो वर्णनं किमपि रामणीयकं बिभर्ति । शरदः रामणीयकं दिक्षु सरित्सु च कृतसंविभागमुभयोः परस्परौपम्यं किमप्युद्भावयति । इदमेव चोपमेयोपमायाः वाच्यालङ्कृतेरात्मलाभनिदानम् । पर्यन्ते चानया वाचोयुक्त्या यत्प्रतिपिपादयिषितं तत्तु संभावितस्य कौमुदीमहोत्सवस्य मनःप्रसादवितरणत्वरानिर्भरत्वादि ।

'शरत्काल की बड़ी २ नदियां दिशाओं की भांति लग रही हैं और दसों दिशायें नदियों की भांति ! एक ओर तो सर्वत्र मधुर-स्वर वाले सरसों की पंक्तियों कभी भरे चमकते बालुका-पुञ्ज ऐसे शान्त पड़े हुये हैं मानो धवल मेघ-खण्ड हों और दूसरी ओर इसी प्रकार के धवल मेघों के टुकड़े ऐसे निःशब्द दिखाई दे रहे हैं जैसे नदी-पुलिन हों ! एक ओर इस रात में खिले हुये चित्र-विचित्र कुमुदों से भरी हुई नदियां श्रावण मास के उद्गम से निकलती हुई ऐसी लग रही हैं मानो रंग-बिरंगे तारों से भरी दिशायें हों और दूसरी ओर इसी भांति आकाश की ये दिशायें ऐसी दीख रही हैं मानो चित्र-विचित्र कुमुदों से भरी नदियां हों !' ॥ ७ ॥

अपि च—

अपामुद्वृत्तानां निजमुपदिशन्त्या स्थितिपदं
दधत्या शालीनामवनतिमुदारे सति फले।
मयूराणामुग्रं विषमिव हरन्त्या मदमहो!
कृतः कृत्स्नस्यायं विनय इव लोकस्य शरदा ॥ ८ ॥

चन्द्रगुप्तः कौमुदीमहोत्सवारम्भे शरदेव निपुणं विनीतं दृश्यजातं विमृशन्नाह—अपामुद्वृत्तानामित्यादि। अहो! शरदियं सर्वं जगद्विनयन्तीव दृश्यते। तथा हि उद्वृत्तानां वर्षर्त्तौ जलाप्लावेन स्वप्रवाहपथमुत्सृत्य यत्र कुत्रचित्सर्वत्र वा प्रवृत्तानामुन्मार्गगामिनामिति ध्वनिः, अपां जलसम्पदां नन्दानुरक्तानां प्रजानामिति ध्वनिः, निजं स्वाभाविकं स्थितिपदं प्रवाहस्थानं, मर्यादामिति ध्वनिः, उपदिशन्त्या शिक्षयन्त्या, उदारे फले सति शस्यादौ फले प्रभूते संजाते, खनिसेतु–वन–व्रज–वणिक्प्रथाद्यायसंपदि समृद्धायां सत्यामिति ध्वनिः, शालीनां धान्यानां, समृद्धसम्पदां प्रजानामिति ध्वनिः, अवनतिं फलभारमुन्नाग्रतां नम्रतां वा दधत्या सम्पादयन्त्या, मयूराणां, प्रतिपक्षवर्तिनां विशिष्टपुरुषाणामिति ध्वनिः, उग्रं तीक्ष्णं विषमिव मदं वर्षामोदसंरम्भं, प्रज्ञा–विक्रमादिरूपावलेपमिति ध्वनिः, हरन्त्या दूरीकुर्वन्त्याऽनया शरदा कृत्स्नस्य समस्तस्य लोकस्य चराचरस्य जगतः, प्रकृतिवर्गस्येति ध्वनिः, विनय इव कृतः यथायथं कृत्रिमस्स्वाभाविको वा विनय आहित इत्यर्थः ॥ ८ ॥

टिप्पणी—अत्र शरदृतोराचार्यकत्वं निपुणमुन्नावितं वर्णितं च नाटककृता। अनेन शरत्कृतेन विनयेन प्रजानां शुश्रूषा–श्रवण–ग्रहण–धारण–विज्ञानोहापोहतत्त्वाभि-

इतना ही क्यों!

'यह शरत् ऋतु तो, ऐसा लग रहा है जैसे सारे चराचर जगत् को ही एक विचित्र ढंग से अपने वश में करती जा रही है। एक ओर जहां इधर–उधर बह चलने वाली जल–धारायें अपनी तट–सीमा में ऐसीं नियन्त्रित की जा रही हैं जैसी मनमानी करने वाली प्रजायें अपनी निज की मर्यादा में नियमित चलायी जाती हैं, वहां दूसरी ओर भरपूर पके धानों के गुच्छों से लदे धान के खेत धरती पर ऐसे झुके बना दिये गये हैं जैसे मनोवांछित धनसम्पदा को पा चुकने वाली प्रजायें राजा के आगे झुकने को बाध्य कर दी जाया करती हैं! इतना ही क्यों चारों ओर मयूरों की केका–ध्वनि का मद इस प्रकार चूर किया जा रहा है जैसे प्रजाओं में राजविद्रोह का भयङ्कर विष शान्त किया जाता है!' ॥ ८ ॥

अपि च—

भर्त्तुस्तथा कलुषितां बहुवल्लभस्य
मार्गे कथञ्चिदवतार्य तनूभवन्तीम्।
सर्वात्मना रतिकथाचतुरेव दूती
गङ्गां शरन्नयति सिन्धुपतिं प्रसन्नाम्॥ ९॥

(समन्तान्नाट्येनावलोक्य) अये ! कथमप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवः ?

निवेशादिसम्पदां स्थैर्यमपि वर्द्धिष्णु सुतरामभिव्यक्तमिति रमणीयमिदं शरत्काव्यं नाटकौपयिकतया समञ्जसं शोभते।

चन्द्रगुप्तः कौमुदीमहोत्सवसमारम्भे समाशास्यमाने शरत्प्रसन्नां गङ्गां नवयैव भङ्गया पश्यन्नाह—भर्तुस्तथेत्यादि। अये ! शरदियं रतिकथाचतुरा प्रियवार्तानिवेदननिपुणा दूतीव गङ्गां, नायिकामिव मानिनीमिति ध्वनिः, तथा कलुषितां वर्षाकृतेन मलिनिम्नाऽतिमलिनजलां, सेर्ष्यामिवेति ध्वनिः, अत एव तनूभवन्तीं वर्षामालिन्यापगमे कृशप्रवाहां, वियोगकृशामिवेति ध्वनिः, बहुवल्लभस्यानेकसरिद्भार्यस्य भर्तुस्सरितारपतेस्समुद्रस्य मार्गे समुद्रगामिस्त्रखातपथे, प्रियाभिसारपथ इवेति ध्वनिः, कथञ्चिन्महताऽनुनयविनयादिनोपायेनाऽवतार्य संस्थाप्य सञ्चार्य वा प्रसन्नामपगतजलकालुष्यामपगतेर्ष्याकषायामिवेति ध्वनिः, सतीं सर्वात्मना सर्वप्रकारेण सिन्धुपतिं सिन्धुं पतिमिव नयति प्रापयतीत्यर्थः॥ ९॥

टिप्पणी—अत्र कोऽपि ध्वनिस्समुल्लसति स तु शारदेन कौमुदीमहोत्सवेन काचन कृतककलहात्मिका नवैव कूटनीतिश्चाणक्यहृदयेऽनन्तनीतिभरिते प्रवेश्यत इतिरूपः।

इतना ही नहीं,

नीचे दिखाई देने वाली यह गङ्गा भी, जो अब तक वर्षा के कलुषित जल से भरी हुई ऐसी लगा करती थी मानो अपने प्रियतम से खीझी कोई मुंह फुलायी नायिका हो, इस समय, अपनी स्वाभाविक धार में अपने निर्दिष्ट मार्ग पर बहती हुई ऐसी प्रसन्न-सलिला बनी हुई इस शरद् के द्वारा समुद्र से मिलने के लिये ले जायी जा रही है जैसे किसी प्रेमालाप-चतुर दूती के द्वारा समझा बुझा कर कोई रूठी नायिका, मनोमालिन्य भूली हुई प्रिय-मिलन के लिये ले जायी जा रही हो !'॥ ९॥

(चारों ओर देखने का अभिनय करते हुये) एँ ! कौमुदी-महोत्सव क्यों नहीं मनाया जा रहा है !

कञ्चुकी—देव ! अथ किम् ?। आघोषितो देवस्याज्ञया कुसुमपुरे कौमुदीमहोत्सवः ।

राजा—आर्य ! तदेवं किं न परिगृहीतमस्मद्वचनं पौरजनेन ?

कञ्चुकी—(कर्णौ पिधाय) देव ! शान्तं पापं, शान्तं पापं, पृथिव्यामस्खलितपूर्वं देवस्य शासनं, कथं पौरेषु स्खलितुमर्हति ?

राजा—आर्य वैहीनरे ! तत् कथमप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवमधुनाऽपि कुसुमपुरं पश्यामि ? पश्य—

धूर्तैरन्वीयमानाः स्फुटचतुरकथाकोविदैर्वेशनार्यो
नालङ्कुर्वन्ति रथ्याः पृथुजघनभराक्रान्तिमन्दैः प्रयातैः ।
अन्योन्यं स्पर्द्धमाना न च गृहविभवैः स्वामिनो मुक्तशङ्काः
साकं स्त्रीभिर्भजन्ते विधिमभिलषितं पार्वणं पौरमुख्याः ॥ १० ॥

चन्द्रगुप्तः कौमुदीमहोत्सवविषयमेव चिन्तयन्नाह—धूर्तैरित्यादि । अये ! किङ्कारणं यत्स्फुटचतुरकथाकोविदैः स्फुटाश्च ताश्चतुराश्च कथाः प्रेमवार्तास्तासु कोविदैः कुशलैर्धूर्तैर्विटरन्वीयमाना अनुगम्यमाना वेशनार्यो वारविलासिन्यः पृथुजघनभरा-

---

कञ्चुकी—हां महाराज ! नहीं मनाया जा रहा है । कौमुदी-महोत्सव मनाये जाने के लिये महाराज की आज्ञा तो पाटलिपुत्र में घोषित कर दी गयी थी !

राजा—तो नागरिक हमारी बात क्यों कर नहीं मान रहे हैं !

कञ्चुकी—(कान बंद कर) महाराज ! ऐसा न कहें महाराज ! पाटलिपुत्र के पौरजन महाराज की आज्ञा भला कैसे न मानें जब सारा संसार मान रहा है ।

राज—आर्य वैहीनरे ! तव क्यों नहीं पाटलिपुत्र में कौमुदी-महोत्सव का मनाया जाना कहीं दिखाई दे रहा है ! भला देखो तो,

'कहां पाटलिपुत्र के मार्गों पर अपने प्रेमालाप-निपुण विटों और चेटों के साथ निकलने वाली वारनारियां अपने मांसल जघन-भार से धीमी चालों से चलती दिखायी पड़ रही हैं ! कहां हैं वे पाटलिपुत्र के बड़े २ नागरिक जो ऐसे समय पर, अपने २ गृह-वैभव के बल पर परस्पर स्पर्द्धा रखते हुये, निःशङ्क, अपनी २ कुल-कामिनियों के साथ, अपने २ मन की उमङ्गे लिये, इस शारदीय पार्वण कर्म का अनुष्ठान करते दिखायी पड़ रहे हों !' ॥ १० ॥

कञ्चुकी—देव एवमेतत् ।

राजा—किमेतत् ?

कञ्चुकी—देव ! अत इदम्—'

राजा—आर्य ! स्फुटमभिधीयताम् ।

कञ्चुकी—'—देव ! प्रतिषिद्धः कौमुदीमहोत्सवः ।

राजा—(सक्रोधम्) आः केन ?

कञ्चुकी—नातः परमस्माभिर्देवो विज्ञापयितुं शक्यते ।

क्रान्तिमन्दैः पृथू ये जघने तयोर्या भराक्रान्तिर्गुरुभारवत्ता तया मन्दैरलसैः प्रयातैस्स्वगमनागमनैः रथ्याः पाटलिपुत्रीयान् राजमार्गान्नालङ्कुर्वन्ति न शोभयन्ति न भूषयन्तीति वा यावत् । किं वा कारणं यद् गृहविभवैस्स्वगृहसम्पत्तिभिरन्योन्यं स्पर्द्धमानाः परस्परं विजयैषिणः पौरमुख्याः नगरवासिप्रमुखाः स्वामिनो धनिनः पाटलिपुत्रीयाः मुक्तशङ्काः विगतभयास्सन्तः स्त्रीभिस्साकं स्वस्त्रीभिस्सममभिलषितं स्वमनोरथशतैरवाप्तं पार्वणं विधिं शरत्पूर्णिमोत्सवमिमं कौमुदीमहोत्सवं न भजन्ते न सेवमानाः दृश्यन्ते इत्यर्थः ॥ १० ॥

टिप्पणी—कौमुदीमहोत्सवोऽयं कामशास्त्रे वात्स्यायनीये कौमुदीजागर इति नाम्ना स्मृतो दृश्यते । कौमुदीजागरोत्सवः माहिमानीनां सर्वदेशव्यापिनीनां वा क्रीडानामन्यतमः, आश्वयुज्यां हि पौर्णमास्यां कौमुद्या ज्योत्स्नायाः प्रकर्षेण प्रवृत्तेस्तत्र दोलापूतप्रायाः क्रीडाः प्रचलन्तीति । भोजराजस्तु सरस्वतीकण्ठाभरणे कौमुदीति नाम स्मरत्यस्योत्सवस्य ।

कञ्चुकी—बात तो कुछ ऐसी ही है महाराज !

राजा—क्यों ! कैसे !

कञ्चुकी—महाराज ! ऐसा लगता है जैसे यह·····

राजा—कञ्चुकी ! स्पष्ट कहो क्या लगता है !

कञ्चुकी—यही, महाराज ! कि कौमुदी-महोत्सव का मनाया जाना मनाकर दिया जा चुका है।

राज—(क्रुद्ध होकर) ऐं ! किसने मना किया ।

कञ्चुकी—महाराज ! महाराज के सामने इससे अधिक क्या निवेदन किया जाय !

राजा—न खल्वार्येण चाणक्येनापहृतः प्रेक्षकाणामतिशयरमणीयश्चक्षुषो विषयः ?

कञ्चुकी—देव ! कोऽन्यो जीवितुकामो देवस्य शासनमुल्लङ्घयिष्यति ?

राजा—शोणोत्तरे ! उपवेष्टुमिच्छामि ।

प्रतीहारी—देव ! एतत् सिंहासनम्, उपविशतु देवः (देव ! एदं सिंहासणं, उपविसदु देवो)

राजा—(नाट्येनोपविश्य) आर्य वैहीनरे ! आर्यचाणक्यं द्रष्टुमिच्छामि ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः (इति निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशत्यासनस्थः स्वभवनगतः कोपानुविद्धां चिन्तां नाटयन् चाणक्यः)

चाणक्यः—(आत्मगतम्) कथं स्पर्द्धते मया सह दुरात्मा राक्षसहतकः ? कुतः ?—

कृतागाः कौटिल्यो भुजग इव निर्याय नगरात्

चाणक्यः कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधतन्निमित्तककृतककलहादि चिन्तयन् राक्षसं बुद्धिस्थितं प्रधर्षयन्नाह—कृतागा इत्यादि । राक्षस ! कथं स्पर्द्धसे मया सह ! तथाहि— यथा कृतागाः नन्देन कृताप्रियः कौटिल्यश्चाणक्यो भुजग इव पादादिप्रहतस्सर्प इव

राजा—तो क्या आर्य चाणक्य ने तो देखने वालों की आंखों का यह सुन्दर दृश्य नहीं लूट लिया !

कञ्चुकी—महाराज ! और दूसरा भला कौन जो महाराज की बात काट दे और जीता रह जाय !

राजा—शोणोत्तरे ! मेरी अब बैठने की इच्छा है ।

कञ्चुकी—महाराज ! सिंहासन पड़ा है, कृपा करें ।

राजा—(अभिनय के साथ बैठकर) कञ्चुकी ! आर्य चाणक्य को बुलाओ ।

कञ्चुकी—जो आज्ञा महाराज !

(बाहर चला जाता है ।)

(अपनी कुटी में आसन पर विराजमान, क्रोधपूर्वक चिन्ता का अभिनय करते हुये चाणक्य का प्रवेश)

चाणक्य—(स्वगत) ऐं ! इस नीच राक्षस की मेरे साथ बराबरी !

'क्या उसने यह सोच लिया है कि जैसे कभी क्रुद्ध सर्प की भांति अपमान के

यथा नन्दं हत्वा नृपतिमकरोन्मौर्यवृषलम् ।
तथाऽहं मौर्येन्दोः श्रियमपहरामीति कृतधीः
प्रभावं मद्बुद्धेरतिशयितुमेष व्यवसितः ॥ ११ ॥

(प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा) राक्षस ! राक्षस !! विरम्यतामस्माद् दुर्व्यवसितात् ।

उत्सिक्तः कुसचिवदृष्टराज्यतन्त्रो
नन्दोऽसौ न भवति चन्द्रगुप्त एषः ।
चाणक्यस्त्वमपि च नैव, केवलं ते
साधर्म्यं मदनुकृतेः प्रधानवैरम् ॥ १२ ॥

नगरात्पाटलिपुत्रान्निर्याय सक्रोधं बहिर्निःसृत्य नन्दं पुनर्हत्वा मौर्यं वृषलञ्चन्द्रगुप्तं नृपतिमकरोत्, तथाऽहमपि मौर्येन्दोश्चन्द्रगुप्तस्य मौर्यवंशचन्द्रमसः श्रियमपहरामि राज्यलक्ष्मीमात्मसात् करिष्यामीत्येवं कृतधीः कृतनिश्चयः एष त्वं मद्बुद्धेः मन्नीतेः प्रभावं सामर्थ्यमतिशयितुमतिवर्तितुं व्यवसितोऽसीति शेष ? इत्यर्थः ॥ ११ ॥

टिप्पणी—अत्र चाणक्यो नायकः कृतमहारम्भः कृतप्रयत्नश्च राक्षसं जेतुमाशास्ते। अत्र तर्जनावमाननादिभिरनुभावैः प्राप्तपरिपोषोऽमर्षाख्य उत्साहव्यभिचारी भावस्समुल्लसन्ननुभूयते सहृदयैरिति चाणक्यनायकस्य प्राप्त्याशाहृदयङ्गमीक्रियते ।

पुनरपि राक्षसमेव बुद्धिस्थमधिक्षिपन्नाह चाणक्यः—उत्सिक्त इत्यादि । राक्षस ! किं न जानीषे यदेष चन्द्रगुप्तः मौर्यवंशचन्द्रमाः महीविजिगीषुरुत्सिक्तो गर्वितः

प्रतिशोध के लिये, कौटिल्य ने पाटलिपुत्र को छोड़ा, नन्द का सर्वनाश कर दिया और मौर्य को महाराज बनाया, वैसे ही वह भी अब चन्द्रगुप्त का साम्राज्य हड़प लेगा ! अरे ! तो क्या सचमुच मेरे बुद्धिबल को नीचा दिखाने के लिये उसने निश्चय कर लिया ।' ॥ ११ ॥

(अपनी दृष्टि ऊपर किये मानों राक्षस को ही सामने एक टक देख रहा हो)
राक्षस राक्षस ! समय है, अभी भी इन चालों से अपने हाथ खींच लो !

'ध्यान रखो, तुम चाणक्य नहीं हो और चाणक्य से तुम्हारी यह बराबरी केवल एक नकल है और इसी रूप में है तुम चन्द्रगुप्त के शत्रु बन रहे हो (वैसे ही, जैसे चाणक्य नन्द का शत्रु बना)। कहां यह चन्द्रगुप्त और कहां भला वह घमण्डी और तुम्हारे सरीखे विवेकहीन मन्त्रिओं पर राज-काज करने वाला नन्द !' ॥ १२ ॥

(विचिन्त्य) अथवा, नातिमात्रमस्मिन् वस्तुनि मया मनः खेदयितव्यम् । कुतः ?—

मद्भृत्यैः किल सोऽपि पर्वतसुतो व्याप्तः प्रतिष्ठान्तरै-
रुद्युक्ताश्च नियोगसाधनविधौ सिद्धार्थकाद्याः स्पशाः ।
कृत्वा सम्प्रति कैतवेन कलहं मौर्येन्दुना, राक्षसं
भेत्स्यामि स्वमतेन भेदकुशलो ह्येष प्रतीपं द्विषः ॥ १३ ॥

कुसचिवदृष्टराज्यतन्त्रः कुसचिवैर्दृष्टं संचालितं राज्यतन्त्रं यस्य स तथाविधोऽसौ मृतो नन्दो न भवति । नन्द-मौर्ययोर्महदन्तरमिति भावः । किमिदमपि विस्मरसि यत्त्वमपि च चाणक्यो नैवाऽपितु राक्षस एवासि ! नास्ति मम समानधर्मा कोप्यस्मिन् लोक इत्यभिप्रायः । ते तव साधर्म्यं मया सहेति शेषः, केवलं प्रधानवैरं प्रवृद्धमात्सर्यमेव कुत इति चेत् ? मदनुकृतेः ममानुकारकरणादेव हेतोर्न बुद्धिविक्रमादेरिति शेष इत्यर्थः ॥ १२ ॥

टिप्पणी—अत्रासूयाभावश्चाणक्यस्योत्साहभरितादेव हृदयादुच्छलन् सहृदयहृदयान्याप्लावयितुमुत्सुको दृश्यते ।

चाणक्यो निश्चितनयप्रयोगः राक्षसपराजयमवश्यंभाविनं निर्धारयन्नाह—मद्भृत्यैरिति । मद्भृत्यैरस्मत्पक्षीयैस्तैस्तैः प्रविष्टान्तरैरायत्तीकृतशत्रुहृदयैर्भागुरायणप्रभृतिभिः किल सोऽपि पर्वतसुतः राक्षसोपलालितः मलयकेतुर्व्याप्तस्समन्तात् संवृत एव तिष्ठति, सिद्धार्थकाद्याश्च स्पशाः सिद्धार्थकप्रमुखा अस्मच्चराः राक्षसाभिन्नहृदया इव लोकैः प्रतीयमानाः नियोगसाधनविधावस्मदाज्ञानुष्ठानमहाकर्मणि चोद्युक्ताः तत्परतयाऽवस्थिता एव वर्त्तन्ते, सम्प्रत्यधुना कैतवेन व्याजेन न तु वस्तुतः मौर्येन्दुना चन्द्रगुप्तेन सहेति शेषः, स्वमतेन स्वबुद्ध्यैव न तु परबुद्धिवशवर्तितया कलहं कृत्वा भेदकुशलः कृतकृतकस्वपक्षविघटनः किन्तु करिष्यमाणाऽकृतकपरपक्षाविघटन एषोऽहं प्रतीपं मन्नीतिप्रभावात्प्रतिकूलतया प्रख्यायमानं राक्षसं द्विषः

(कुछ सोचकर) अथवा मुझे इन सब बातों की क्या चिन्ता ! क्योंकि,

'मेरे अनेकों सेवक पर्वतकपुत्र मलयकेतु को केवल बाहर से ही नहीं घेरे हुये हैं अपितु उसके हृदय पर भी स्थान जमाये बैठे हैं और सिद्धार्थक सरीखे अनेकों गुप्तचर अपने २ कृत्य सम्पादन में ही नहीं नियुक्त हैं अपितु पूरे तत्पर पड़े हुये हैं। अब तो मुझे चन्द्रगुप्त के साथ बस एक कृतक-कलह (बनावटी झगड़ा) करना है और देखना है कि किस तरह भेदनीति में निपुण बना बैठा यह राक्षस मलयकेतु से ही फोड़ दिया जाता है।' ॥ १३ ॥

कञ्चुकी—(प्रविश्य) कष्टं खलु सेवा नाम । कुतः ?—

भेतव्यं नृपतेस्ततः सचिवतो राज्ञस्ततो वल्लभा-
दन्येभ्यश्च वसन्ति येऽस्य भवने लब्धप्रसादा विटाः ।
दैन्यादुन्मुखदर्शनापलपनैः पिण्डार्थमायास्यतः
सेवां लाघवकारिणीं कृतधियः स्थाने श्ववृत्तिं विदुः ॥१४॥

तथैव प्रख्यापयमानाच्छत्रोर्मलयकेतोर्भेत्स्यामि पृथक्करिष्यामीत्यर्थः । आवयो र्वैमनस्यापादनसंरम्भोऽस्मच्छत्रूनेव भेत्स्यतीत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

टिप्पणी—अत्र प्राप्त्याशा प्रधानफललाभाशा वा चाणक्यं महोत्साहसंरम्भिणं कुर्वन्ती प्रकामं समुल्लसन्ती दृश्यते । मतिरूपो व्यभिचारी च भावो नीत्युत्साहं पुष्णन् सहृदयैर्भाव्यत एवेति सर्वं स्पष्टम् ।

चन्द्रगुप्तेन चाणक्यं प्रति प्रेषितस्तत्कञ्चुकी महामन्त्रिणो मनस्वितां मनस्येव श्लाघमानः स्वस्य भृत्यत्वशोचनीयत्वं स्मरन्नाह—भेतव्यं नृपतेरित्यादि । कृतधियः मनीषिणो मनस्विनो, यदित्यध्याहारः, भृत्यस्य दैन्यात्कार्पण्यादुन्मुखदर्शनापलपनैरुन्मुखं मुखमुन्नमय्य यद्दर्शनं स्वामिनो यच्चापलपनं काकुभाषितं तेन सह तैरुपायैः पिण्डार्थमुदरभरणायायस्यतः क्लिश्यमानस्य सेवां भृत्यजीविकां लाघवकारिणीं तस्य लघुतासम्पादिनीं श्ववृत्तिं शुनो वृत्तिमिव वृत्तिं कुक्कुरचारिकां तज्जीविकां वा विदुर्जानन्ति तत्स्थाने सत्यमेवेति । यतो हि सेवकैः प्रथमं नृपतेर्भेतव्यं राज्ञो बिभ्यद्भिरेव तत्तदाचरितव्यम् , ततस्तदनन्तरं सचिवतोऽमात्यतो भेतव्यमित्यावृत्तिस्ततः राज्ञो वल्लभात् स्नेहभाजनाज्जनाद् भेतव्यमिति पुनरावृत्तिः, ततोऽन्येभ्यश्च ये ह्यस्य राज्ञो भवने लब्धप्रसादाः प्राप्तराजानुग्रहा विटा वसन्ति, तेभ्यो भेतव्यमिति पुनरप्यावृत्तिरिति प्रतिपदं बिभ्यतो भृत्यस्य जीवनं किं जीवनमित्यभिप्रायः ॥ १४ ॥

कञ्चुकी—(प्रवेश करते हुये) राज-सेवा भी बड़ी दुःखद वस्तु है ! क्योंकि

'जो भी राज-सेवा करता है उसे किस २ से नहीं डरना पड़ता है सबसे पहले तो राजा से, फिर उसके सचिव से, फिर उसके स्नेह-पात्र लोगों से और जितने भी ऐसे लोग राजभवन में डेरा दिये पड़े रहते हैं जो उसके मुंह-लगे हुआ करते हैं। मनस्वियों ने यह ठीक ही कहा है कि सेवा की जीविका कुत्ते की जीविका है जिसमें किसी को भी अपनी दीनतावश, रोटी के दो टुकड़ों के लिये, लोगों का मुंह ताकना, झूटमूठ की लोगों की प्रशंसा करना और साथ ही साथ सब प्रकार से अपने आपको नीचा बनाना पड़ा करता है' ॥ १४ ॥

(परिक्रम्यावलोक्य च) इदमार्यचाणक्यस्य गृहम्, यावत् प्रविशामि (नाट्येन प्रविश्यावलोक्य च) अहो ! राजाधिराजमन्त्रिणो गृहभूतिः !! कुतः ?

उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां
वटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः ।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि-
र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम् ॥ १५ ॥

ततः स्थाने खल्वस्य वृषलो देवश्चन्द्रगुप्त इति । कुतः ?

स्तुवन्त्यश्रान्तास्याः क्षितिपतिभूतैरपि गुणैः

कञ्चुकी चाणक्यस्य राजाधिराजमन्त्रिणो निस्सङ्गभावं मनस्विताञ्च तद्गृहदर्शनेनानुमिमान आह—उपलशकलमित्यादि । अये ! देवश्चन्द्रगुप्तश्चाणक्यस्य कृते वृषल इति यत्तत्तु चाणक्यगृहमेव निस्सन्देहं प्रत्याययति । तथा हि अनासक्तियोगिनो गृहमिदं न राजाधिराजमन्त्रिणः स्वसुखाभिलाषिणः । एकतोऽस्य गृहस्य गोमयानां त्रेताग्निसंभरणसमिन्धनार्थं शुष्काणाञ्च करीषगोलकानां भेदकं चूर्णनसाधनमुपलशकलं प्रस्तरखण्डमेतत् पुरो दृश्यमानं तिष्ठति, एष पुरोवर्ती वटुभिर्ब्रह्मचारिभिरुपहृतानामानीतानां बर्हिषां दर्भाणां स्तोमः पिञ्जूलभरो दृश्यते, एतत्पुरोवर्तीत्यध्याहारः, शरणं गृहमपि शुष्यमाणाभिश्शुष्यन्तीभिश्शुष्काभिश्चाभिः प्रत्यक्षं दृश्यमानाभिस्समिद्भिः पलाशादिकाष्ठयष्टिभिर्विनमितप्रटलान्तं भाराधिक्याज्जीर्णशीर्णत्वाद्वा विभुग्नतृणच्छदिप्रान्तं (पटलं छिदिरित्यमरः) जीर्णकुड्यं विशीर्णभित्ति विराजत एवेति किमन्यत् प्रत्यायनमार्यचाणक्यस्यानासक्तियोगस्येति भावः ॥१५॥

कञ्चुकी चाणक्यमेव पुनश्चिन्तयन्नाह—स्तुवन्तीत्यादि । यदवितथवाचस्सत्य-

---

(इधर-उधर घूमते हुये-देखकर) अरे ! यह रहा आर्य चाणक्य का घर । चलूं, भीतर चलूं । (भीतर जाने का अभिनय करते हुये-देख कर) अरे ! यह है एक चक्रवर्त्ती सम्राट् के महामन्त्री का भवन-वैभव !

एक ओर तो सूखे कंडों को तोड़ने के लिये पत्थर का टुकड़ा पड़ा है, दूसरी ओर ब्रह्मचारियों के इकठ्ठे किये कुशों की ढेर लगी है, चारों ओर छप्पर पर सुखाई जाने वाली समिधाओं से घर झुका जा रहा है और दीवारें गिरती-पड़ती किसी प्रकार खड़ी हैं' ॥ १५ ॥

और तभी तो सम्राट् चन्द्रगुप्त इनके लिये 'वृषल' रहा करते हैं ! क्योंकि—

'जो इतना निःस्पृह है उसके लिये कोई राजा या महाराजा तिनके के बराबर

प्रवाचः कार्पण्याद् यदवितथवाचोऽपि कृतिनः ।
प्रभावस्तृष्णायाः स खलु सकलः स्यादितरथा
निरीहाणामीशस्तृणमिव तिरस्कारविषयः ॥ १६ ॥

(अवलोक्य सभयम्) तदयमार्यचाणक्यस्तिष्ठति ।

योनन्दमौर्यनृपयोः परिभूय लोक-
मस्तोदयौ प्रतिदिशन्नविभिन्नकालम् ।
पर्यायपातितहिमोष्णमसर्वगामि
धाम्नाऽतिशाययति धाम सहस्रधाम्नः ॥ १७ ॥

वादिनः कृतिनो यशस्विनोऽपि कार्पण्याद्दारिद्र्यात् प्रवाचो वाचालास्सन्तोऽश्रान्तास्याः वचने मुखश्रममगणयन्तः क्षितिपतिं राजानमभूतैरपि गुणैरविद्यमानरपि दयादाक्षिण्यादिसौभाग्यैस्स्तुवन्ति गायन्ति तृष्णायास्स खलु सकलः प्रभावस्स्याद् भवेदितरथा नो चेत् निरीहाणां निःस्वार्थवृत्तीनां वीतरागाणां चाणक्यसदृशानां मनस्विनां कृते ईशः राजा प्रभुर्धनवान् वा सर्वो जनस्तृणमिव तिरस्कारविषयोऽनादरपात्रमेवेति भावः ॥ १६ ॥

टिप्पणी—अत्र चाणक्यचरितस्य किमप्यलौकिकं माहात्म्यं ध्वनितम् ।

कञ्चुकी चाणक्यं वर्णयन्नाह—यो नन्दमौर्यनृपयोरित्यादि । सोऽयं चाणक्यो महामना विराजते यो हि लोकं परिभूय सर्वान् सहायकान् प्रकृतिवर्गानगणयित्वाऽविभिन्नकालं समकालमेव यथा स्यात्तथा युगपदेवेति यावत्, नन्दमौर्यनृपयोर्नन्दचन्द्रगुप्तयोरस्तोदयौ ह्रासविकासौ प्रतिदिशन् ददत् धाम्ना स्वतेजसा सहस्रधाम्नस्सूर्यस्य पर्यायपातितहिमोष्णं पर्यायेणऽयौगपद्येन विभिन्नकालमिति यावत्

न हो तो क्या हो ! अन्यत्र तो तृष्णा का प्रभाव सर्वत्र जमा ही हुआ है क्योंकि बड़े २ सत्यवादी और यशस्वी लोग मुंह की थकान तक का अनुभव नहीं करते जब कि दीनतावश वाचाल बने हुये राजाओं की झूठ-मूठ की प्रशंसा के पुल बांधते रहा करते हैं' ॥ १६ ॥

(देखते हुये भयभीत होकर) अरे ! ये हैं आर्य चाणक्य साक्षात् विराजमान !

जो अपने तेज से सहस्रांशु भगवान् सूर्य के तेज को भी नीचा दिखाया करते हैं । कहां तो इनका तेज सारे संसार का सहसा आक्रामक और एक साथ ही नन्दराज और मौर्यराज के अस्त और उदय का नियामक और कहां भला सूर्य का तेज, क्रमशः ही शीत और आतप का करने वाला और क्रमशः ही जगत् में व्याप्त होने वाला है !' ॥ १७ ॥

(जानुभ्यां भूमौ निपत्य) जयतु जयत्वार्यः ।

चाणक्यः—(नाट्येनावलोक्य) वैहीनरे ! किमागमनप्रयोजनम् ?

कञ्चुकी—आर्य ! प्रणतसम्भ्रमसमुच्चलितभूमिपालमौलिमालामाणिक्यशकलशिखापिशङ्गीकृतपादपद्मयुगलः सुगृहीतनामधेयो देवश्चन्द्रगुप्त आर्यं शिरसा प्रणिपत्य विज्ञापयति—'अकृतक्रियान्तरायमार्यं द्रष्टुमिच्छामी'ति ।

चाणक्यः—वृषलो मां द्रष्टुमिच्छति ? वैहीनरे ! न खलु वृषलश्रवणपथं गतोऽयं मत्कृतः कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधः ?

कञ्चुकी—आर्य ! अथ किम् ?

पातितं प्रवृत्तं लोकयोरिति शेषः, हिमं शैत्यमुष्णमुष्णत्वं च येन तथा भूतमथ चासर्वंगामि युगपदेव सकलं लोकं गन्तुं व्याप्तुं यन्न शक्नोति तादृशं धामातिशाययति सुतरामतिक्रम्य स्थापयतीत्यर्थः । तद्धाम तु स्वयमेव सूर्यधामातिशेते तथाभूतमपि स्वधाम स प्रयोजयतीति किमु वक्तव्यं तस्येति यावदित्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

प्रणतेत्यादि—प्रणताः कृतप्रणामा अत एव सम्भ्रमेण सत्वरं समुच्चलितास्स्वासनस्थानं प्रति गन्तारो ये भूमिपालास्सामन्तीभूता राजानस्तेषां मौलिमालासु यानि माणिक्यशकलानि प्रत्युप्तानि मणिखण्डानि तेषां शिखाभिर्ज्वालाग्रभागैः पिशङ्गीकृतं पिङ्गलीकृतं पादपद्मयुगलं चरणकमलद्वयं यस्य स इति ।

अकृतेत्यादि । अकृतः न कृतः क्रियासु कास्वप्यन्तरायो यस्य तथाविधमिति ।

(घुटने टेक कर साष्टाङ्ग प्रणामपूर्वक) जय हो ! आर्य की जय हो !

चाणक्य—(देखने का अभिनय करते हुये) किसलिये आना हुआ वैहीनरे !

कञ्चुकी—आर्य ! प्रातः स्मरणीय सम्राट् चन्द्रगुप्त ने, जिनके चरणकमल निरन्तर अभिनन्दनार्थ झुककर आते और जाते राजा-महाराजाओं के मौलि-मुकुटों के मणि-माणिकों की रश्मि-शिखाओं से रक्त-पीत रहा करते हैं, सिर झुकाये आप से निवेदन किया है—यदि आर्य के किसी कार्य में कोई विघ्न न पड़े तो दर्शन करने की इच्छा है !

चाणक्य—वैहीनरे ! क्या वृषल मुझ से मिलना चाहता है । कहीं ऐसा तो नहीं कि मेरी यह कौमुदी महोत्सव के आयोजन की मनाहट उसके कान तक जा पहुंची !

कञ्चुकी—आर्य ! कुछ ऐसी ही बात है ।

चाणक्यः—(सक्रोधम्) आः ! केन कथितम् ?

कञ्चुकी—(भयं नाटयित्वा) प्रसीदत्वार्यः स्वयमेव सुगाङ्गप्रासादशिखरगतेन देवेनावलोकितमप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवं कुसुमपुरम् ।

चाणक्यः—आः ज्ञातं, भवद्भिरेव मदन्तरा प्रोत्साह्य रोषितो वृषलः, किमन्यत् ?

कञ्चुकी—(सभयं तूष्णीमधोमुखस्तिष्ठति)

चाणक्यः—अहो ! राजपरिजनस्य चाणक्योपरि विद्वेषपक्षपातः । अथ क्व वृषलस्तिष्ठति ?

कञ्चुकी—(भयं नाटयन्) आर्य ! सुगाङ्गप्रासादगतेन देवेनाहमार्यपादमूलं प्रेषितः ।

चाणक्यः—(उत्थाय) कञ्चुकिन् ! सुगाङ्गप्रासादमार्गमादेशय ।

कञ्चुकी—इत इत आर्यः । (इत्युभौ परिक्रामतः)

कञ्चुकी—अयं सुगाङ्गप्रासादः, शनैरारोढुमर्हत्यार्यः ।

चाणक्य—(क्रुद्ध होकर) ऐं किसने पहुंचायी !

कञ्चुकी—(भय का अभिनय करते हुये) आर्य अप्रसन्न न हों । सम्राट् ने स्वयं सुगाङ्गप्रसाद-शिखर से पाटलिपुत्र में देखा कि कहीं भी कौमुदीमहोत्सव नहीं मनाया जा रहा है ।

चाणक्य—चुप रहो । मुझे सब पता है, यह सब तुम लोगों का काम है जिससे वृषल मुझ पर उबल पड़ा है !

कञ्चुकी—(भयभीत, सिर नीचे झुकाये, चुप खड़ा रहता है)

चाणक्य—ओह ! इन राज-परिजनों का चाणक्य के साथ ऐसा विरोध-विद्वेष । बताओ, कहां है वृषल !

कञ्चुकी—(भय का अभिनय करते हुये) आर्य ! मुझे जब आर्य चरणों तक भेजा तब तो सुगाङ्गप्रासाद में ही थे ।

चाणक्य—(उठते हुये) कञ्चुकी ! चलो, सुगाङ्गप्रासाद का मार्ग बताओ !

कञ्चुकी—इधर से आइये २ महाराज ! (दोनों घूमते हैं)

कञ्चुकी—आर्य ! यही सुगाङ्गप्रासाद है, धीरे से ऊपर चढ़ने की कृपा हो !

चाणक्यः—(नाट्येनारुह्यावलोक्य च सहर्षमात्मगतम्) अये ! सिंहासन-मध्यास्ते वृषलः। साधु साधु—

नन्दैर्वियुक्तमनपेक्षितराजराजैरध्यासितञ्च वृषलेण वृषेण राज्ञाम्।
सिंहासनं सदृशपार्थिवसङ्गतञ्च प्रीतिं परां प्रगुणयन्ति गुणा ममैते ॥१८॥

(उपसृत्य) विजयतां वृषलः।

राजा—(सिंहासनादुत्थाय चाणक्यस्य पादौ गृहीत्वा) आर्य ! चन्द्रगुप्तः प्रणमति।

चाणक्यः—(पाणौ गृहीत्वा) उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वत्स !

आशैलेन्द्राच्छिलान्तस्खलितसुरधुनीशीकरासारशीतात्,

चाणक्यश्चन्द्रगुप्तं सिंहासनासीनं पश्यन् परमं प्रमोदमनुभवन्नाह—नन्दैरित्यादि। अये ! सिंहासनमिदं पुरोदृश्यमानमनपेक्षितराजराजैस्तिरस्कृतधनाधिपैर्धनाधिपात् कुबेरादप्यधिकधनसमृद्धैर्नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वरैरिति यावत्, नन्दैर्नन्दवंशीयैः नृपैर्वियुक्तं विरहितं यत्, यच्च राज्ञां बृषेण राजराजेश्वरेण वृषलेन चन्द्रगुप्तेनाध्यासितमधिष्ठितं, यदपि च सदृशपार्थिवसंगतं यथेदं महार्घं तद्वदेव महार्घेण राज्ञा विभूषितमिति यावत्, तदेते गुणाः मम परां प्रीतिं प्रगुणयन्ति ध्यायं ध्यायमिमान् विषयान् प्रमोदो ममान्तरात्मनः वर्द्धिष्णुरेवोत्तरोत्तरं विभाव्यत इत्यर्थः ॥ १८ ॥

चाणक्यश्चन्द्रगुप्तमाशिषाऽभिसंवर्द्धयन्नाह—आशैलेन्द्रादित्यादि। राजन् ! चन्द्र-

---

चाणक्य—(चढ़ने का अभिनय करते हुये, देख-दाख कर, प्रसन्नता पूर्वक, स्वगत) ओह ! वृषल सिंहासन पर विराजमान है ! मैं तो फूला नहीं समाता, 'मुझे तो वस्तुतः इन सब बातों से ही हार्दिक आनन्द मिल रहा है कि यह सिंहासन राज-धर्म को तिलाञ्जलि देने वाले नन्दों से छोड़े जाने पर, अब हमारे राजश्रेष्ठ वृषल द्वारा सुशोभित किया जा रहा है और जितना यह स्वयं महान् है उतना ही महान् एक राजा भी इसे मिल चुका है' ॥ १८ ॥

(समीप जाकर) विजय हो वृषल तुम्हारी विजय हो !

राजा—(सिंहासन से उठते हुये चाणक्य के चरणों को पकड़ कर) आर्य ! स्वीकार हो चन्द्रगुप्त का प्रणाम !

चाणक्य—(हाथों में उठाते हुये) विजय हो वत्स ! विजय हो तुम्हारी।

'(उत्तर से) हिमशिलाओं पर गिरती हुई गङ्गा के जलकणों की फुहार से

आ तोरान्नैकरागस्फुरितमणिरुचो दक्षिणस्यार्णवस्य।
आगत्यागत्य भीतिप्रणतनृपशतैः शश्वदेव क्रियन्तां
चूडारत्नांशुगर्भास्तव चरणयुगस्याङ्गुलीरन्ध्रभागाः ॥ १९ ॥

राजा—आर्यप्रसादादनुभूयत एवैतत्, नाऽऽशास्यते। उपविशत्वार्यः।
(इत्युभौ यथासनमुपविष्टौ)।

चाणक्यः—वृषल ! किमर्थं वयमाहूताः ?

राजा—आर्यस्य दर्शनेनात्मानमनुग्राहयितुम्।

चाणक्यः—(स्मितं कृत्वा) वृषल ! अलमनेन प्रश्रयेण, न निष्प्रयोजनमधिकारवन्तः प्रभुभिराहूयन्ते, तत् प्रयोजनमभिधीयताम्।

गुप्त ! मत्पादयोः प्रणतस्य तव राजराजेश्वरस्य चरणयुगस्याङ्गुलीरन्ध्रभागाः पादयुगलाङ्गुलिजालरन्ध्राः शिलान्तस्खलितसुरधुनीशीकरासारशीतात् शिलान्तेषु शिलानां प्रान्तभागेषु स्खलिताः प्राप्तस्खलनाः प्राप्ताघाता वा ये सुरधुनीशीकरासाराः गङ्गाजलकणधारासम्पातास्तैः शीताच्छीतलादाशैलेन्द्रादाहिमालयात्, नैकरागस्फुरितमणिरुचः नैकरागा विविधवर्णाः स्फुरिताः अवभासमानाः मणिरुचः मणिकान्तयस्सन्ति यस्य तस्य दक्षिणस्यार्णवस्य दक्षिणसागरस्य चातीरादातटादागत्यागत्य पौनःपुन्येन समेत्य भीतिप्रणतनृपशतैः भीत्या भयेन नम्रीकृतशिरोभिः परःशतैस्सामन्तीभवद्भी राजभिश्शश्वदेव सर्वकालमेव। चूडारत्नांशुगर्भाः क्रियन्ताम् स्वमुकुट-प्रत्युप्तमणिकिरणकिर्मीरिता विधीयन्ताम्, आहिमालयादासेतोश्च समागतास्सर्वे नरपतयस्त्वां प्रणमन्त्विति संक्षेपार्थ इत्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

शीत-शीतल हिमालय की ओर से ओर (दक्षिण से) रंग-विरंगी चमकती मणिओं की आभाओं से भासमान दक्षिण सागर की ओर से आते रहें और बराबर आते रहें, सहस्रों भयभीत वे राजगण और भरते रहें तुम्हारे इन चरणों की अंगुलिओं के रन्ध्र भाग उनके मौलि-मुकुटों में जटित रत्नों की किरण-जाल से !' ॥ १९ ॥

राजा—आर्य ! यह सब तो आर्य का प्रसाद मिल रहा है न कि मिलना है ! विराजने की कृपा करें। (दोनों यथोचित आसनों पर बैठ जाते हैं)

चाणक्य—वृषल ! किसलिये बुलाया गया मुझे !

राजा--आर्य के दर्शन से कृतार्थ होने के लिये।

चाणक्य—(मुसकुराते हुये) बस बस, बहुत हो चुका यह अनुनय-विनय ! भला राजा लोग अपने अधिकारियों को बुलावें और बिना प्रयोजन के ! मुझ से कहा जाय-किसलिये बुलाहट हुई !

राजा—आर्य ! कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधस्य किं फलमार्यः पश्यति ?

चाणक्यः—(स्मितं कृत्वा) वृषल ! उपालब्धुं तर्हि वयमाहूताः ।

राजा—आर्य ! नोपालब्धुम् ।

चाणक्यः—किं तर्हि ?

राजा—विज्ञापयितुम् ।

चाणक्यः—वृषल ! यद्येवं तर्हि विज्ञापनीयानामवश्यं शिष्येण रुचयोऽनुरोद्धव्याः ।

राजा—आर्य ! कः सन्देहः ? किन्तु न कदाचिदप्यार्यस्य निष्प्रयोजना प्रवृत्तिरित्यस्ति नः प्रश्नावकाशः ।

चाणक्यः—वृषल ! सम्यगगृहीतवानसि मदाशयम् । न हि प्रयोजनमनपेक्षमाणः स्वप्नेऽपि चाणक्यश्चेष्टते ।

राजा—आर्य ! अत एव मां प्रयोजनशुश्रूषा मुखरयति ।

विज्ञापनीयानामिति—शिष्यैस्तत्तद् विज्ञापयितुं योग्यानां गुरूणामिति ।

राजा—आर्य ! किसलिये कौमुदी-महोत्सव मनाकर दिया गया-मुझे पता लगना चाहिये !

चाणक्य—(मुसकुराते हुये) ओह ! तब तो, वृषल ! उलाहना देने के लिये बुलाया गया मुझे !

राजा—आर्य ! नहीं, इसलिये नहीं ।

चाणक्य—तब क्यों ।

राजा—निवेदन करने के लिये !

चाणक्य—तब तो जिससे निवेदन किया जाय उसकी इच्छाओं का उसे ध्यान ही रखना होगा जो निवेदन किया करता है !

राजा—आर्य ! इसमें क्या संदेह ! विना किसी प्रयोजन के तो आर्य का कोई भी कार्य-व्यापार नहीं होता ! केवल इतना ही पूछना है !

चाणक्य—बहुत ठीक वृषल ! तुमने तो मेरा अभिप्राय ताड़ ही लिया ! विना किसी प्रयोजन के तो स्वप्न में भी चाणक्य कुछ नहीं करता !

राजा—इसीलिये तो पूछना है—ऐसा करने का प्रयोजन क्या है !

चाणक्यः—वृषल ! श्रूयताम्, इह खलु अर्थशास्त्रकाराः त्रिविधां सिद्धिमुपवर्णयन्ति । तद्यथा—राजायत्तां, सचिवायत्ताम्, उभयायत्ताञ्चेति । तत् सचिवायत्तसिद्धेर्भवतः किं फलान्वेषणेन ? यतो वयमेवात्र नियुक्ता वेत्स्यामः ।

राजा—(सकोप इव मुखं परिवर्त्तयति) ।

(ततो नेपथ्ये वैतालिकौ पठतः) ।

एकः—

आकाशं काशपुष्पच्छविमभिभवता भस्मना शुक्लयन्ती
शीतांशोरंशुजालैर्जलधरमलिनां क्लिन्दती कृत्तिमैभीम् ।

त्रिविधां सिद्धिमुपवर्णयन्तीत्यादि—**अत्र कौटिल्यार्थशास्त्रवचनं मण्डलयोन्यधिकरणस्थमनुसंधातव्यम् । तद् यथा—सुखं सिद्धिः । शक्तिस्त्रिविधा ज्ञानबलं मन्त्रशक्तिः, कोशदण्डबलं प्रभुशक्तिः, विक्रमबलमुत्साहशक्तिः । एवं सिद्धिस्त्रिविधैव—मन्त्रशक्तिसाध्या मन्त्रसिद्धिः, प्रभुशक्तिसाध्या प्रभुसिद्धिः, उत्साहशक्तिसाध्या उत्साहसिद्धिरिति । ताभिरभ्युच्चितो ज्यायान् भवति । अपचितो हीनः । तुल्यशक्तिस्समः ।' इति ।**

राक्षसप्रयुक्तः वैतालिकव्यञ्जनः प्रथमो गूढप्रणिधिश्चन्द्रगुप्तमुत्तेजयितुं शरदं भङ्ग्या वर्णयन्नाह—आकाशमित्यादि । **राजन् चन्द्रगुप्त ! ऐशी तनुरिव शैवी मूर्तिरिव शरदियं वः सचिवायत्तसिद्धीनात्मनो मन्वानानां युष्माकं क्लेशं सचिवकृतस्वनियोगनिग्रहादिरूपं दुःखं हरतु विनाशयतु । कथं भूतैशी तनुः ? काशपुष्पच्छविम-**

चाणक्य—सुन लो वृषल ! अर्थशास्त्रकारों ने तीन प्रकार की ही सिद्धि (राजसत्ता) का वर्णन किया हैः—पहली राजायत्त दूसरी सचिवायत्त और तीसरी उभयायत्त तुम्हारी सिद्धि तो सचिवायत्त है अब किस प्रयोजन से क्या हुआ इसके जानने से तुम्हें क्या, यह सब तो मेरा कार्य है ।

राजा—(क्रुद्ध सा होकर मुंह फेर लेता है)

(नेपथ्य में वैतालिकों का प्रशस्ति-पाठ)

एक वैतालिक—'राजन् ! काश-कुसुमों की शुभ्र-कान्ति को भी आक्रान्त करने वाली भस्माङ्गराग-चर्चा से आकाश को शुक्ल-धवल बनाने वाली, (शिरोभूषाभूत) चन्द्र के किरण-जाल से सजल मेघ के समान काले गज-चर्म-परिधान को भिगोती रहने वाली, कलाधर की कौमुदी की भांति कपाल-माला को धारण

कापालीमुद्वहन्ती स्रजमिव धवलां कौमुदीमित्यपूर्वा
हासश्रीराजहंसा हरतु तनुरिव क्लेशमैशी शरद्वः ॥ २० ॥

अपि च—

प्रत्यग्रोन्मेषजिह्मा क्षणमनभिमुखी रत्नदीपप्रभाणाम्,

भिभवता भस्मनाऽऽकाशं शुक्लयन्तीं, काशकुसुमाधिकधवलेन भस्माङ्गरागेण गगनं धवलयन्ती व्याप्य सर्वं जगत् स्थितेति यावत्, तदुपमाना च शरत् कीदृशी? भस्माभिभवत्या काशपुष्पच्छव्याऽकाशं शुक्लयन्ती, भस्माधिकधवलया काशकुसुमकान्त्या दिगाभोगं धवलधवलं कुर्वन्ती सर्वत्र व्याप्तरूपेति यावत्; पुनश्च कथंभूतैशी तनुः? शीतांशोश्चूडाचन्द्रमसोरंशुजालैः किरणकलापैर्जलधरमलिनां मेघनीलामैभीं गजासुरसम्बन्धिनीं कृत्तिं क्षिप्नती विवर्णयन्ती स्थिता, तदुपमिता च शरत्कथम्? शीतांशोरंशुजालैरैभीं कृत्तिमिव जलधरमलिनां मेघमलिनिमानं क्षिप्नती विनाशयन्ती विराजमानेति; पुनरपि कथंरूपैशी तनुः? कौमुदीमिव धवलां कापालीं स्रजमुद्वहन्ती चन्द्रज्योत्स्नामिव विमलावदातवर्णां मुण्डमालां दधाना, शरच्च कथम्? शिवमुण्डमालिकामिव धवलां कौमुदीं चन्द्रचन्द्रिकामुद्वहन्ती दधानेति, पुनश्च कथंभूतैशी तनुः? शरच्चेति? अपूर्वा लोकोत्तराऽतिरम्या, हासश्रीराजहंसा च राजहंसवदट्टहासशोभाविभूषिता; राजहंसैर्वा स्मितशोभिनीति। सर्वात्मना शिवमूर्त्या परस्परमुपमानोपमेयभावं चरितार्थयन्तीत्यभिप्राय इत्यर्थः॥

टिप्पणी—अस्यां शरत्स्तुतौ तत्र तत्र विपरिणामाध्याहारौ समाश्रित्य योऽर्थावबोधो विवक्षितो यच्च परस्परौपम्यं प्रस्तुताप्रस्तुतयोश्शरच्छिवमूर्त्योरभिप्रेतं तेन सर्वेण वचसोऽस्य राक्षसप्रयुक्त-निगूढभेदमन्त्रत्वं सुतरां स्फोरितमिति विभावनीयं सुधीभिः।

स एव वैतालिकच्छद्मा राक्षसपुरुषश्शरदं भङ्ग्यन्तरेण वर्णयन् चन्द्रगुप्तमुत्साहयन्नाह—प्रत्यग्रेत्यादि। राजन्! चन्द्रगुप्त! फणाचक्रवालोपधानं फणामण्डलमे-

---

करने वाली और राज-हंसों की शुभ्रछटा के समान अट्टहास की छटा छिटकाने वाली (ताण्डव-नट) महादेव की दिव्यमूर्ति की भांति यह अद्भत शरद् आप के दुःख-संताप को दूर करे जिसकी धवल भस्म से भी बढ़ कर धवल काश-पुष्पच्छवि से समस्त आकाश अत्यन्त धवल बन रहा है, जिसकी चन्द्र-ज्योत्स्ना से गज-चर्म के समान काले २ मेघ धुल कर निर्मल बनते जा रहे हैं, जिसकी शुभ्र चन्द्र-किरणों की माला महादेव की मुण्ड-माला की भांति दिखाई दे रही है और जिसके राजहंसों की शोभा आकाश की शोभा सी प्रतीत होती चल रही है' ॥२०॥

और इतना ही क्यों,

'फणा-मण्डल के बने उपधान (तकिया) से सुशोभित अपने नागाङ्क (शेष-

आत्मव्यापारगुर्वी जनितजललवा, जृम्भितैः साङ्गभङ्गैः ।
नागाङ्कं मोक्तुमिच्छोः शयनमुरुफणाचक्रवालोपधानं,
निद्राच्छेदाभिताम्रा चिरमवतु हरेर्दृष्टिराकेकरा वः ॥ २१ ॥

द्वितीयः—

सत्त्वोत्कर्षस्य धात्रा निधय इव कृताः केऽपि कस्यापि हेतो-
र्जेतारः स्वेन धाम्ना मदसलिलमुचां नागयूथेश्वराणाम् ।

वोपधानं यस्य तथाभूतमुरु महन्नागाङ्कं शेषरूपमत एव शेषाङ्कतया प्रख्यातं शयनं पर्यङ्कं मोक्तुमिच्छोस्त्रुटितनिद्रत्वात्तत उत्थातुकामस्येति यावत्, हरेर्विष्णोः प्रत्यग्रोन्मेषजिह्मा प्रत्यग्रसद्यस्संजातो य उन्मेषो निमीलाभ्रंशस्तेन जिह्माऽकूणितान्ता भृशमलसायमाना वा अत एव रत्नदीपप्रभाणां समुद्रभवनं विद्योतयन्तीनां रत्नदीपकिरणानां क्षणं नयनोन्मीलनसमकालं यथा स्यात्तथा अनभिमुखी सम्मुखमतस्थुषी, साङ्गभङ्गैर्जृम्भितैस्साङ्गत्रोटैर्मुखव्यादानैश्च कृत्वा जनितजललवा समुत्पन्नाश्रुबिन्दुसंभृता अत एवात्मव्यापारगुर्वी तत्तद्दर्शनक्रियाऽसमर्था, निद्राच्छेदाभिताम्रा निद्राभङ्गेन भृशं लोहितवर्णा अत एव आकेकरा किञ्चिन्मात्रं सङ्कुचिता दृष्टिश्चिरं सर्वदा वो युष्मानवतु रक्षत्वित्यर्थः ॥ २१ ॥

टिप्पणी—अत्र शरदि त्रुटितनिद्रो विष्णुरिव चन्द्रगुप्तोऽपि शरदुत्सवे विगतनिद्रश्शनैश्शनैस्सर्वं कार्यजातं पश्यत्विति निगूढोऽर्थः स्फोरितः ।

द्वितीयो वैतालिकव्यञ्जनः राक्षसप्रणिधिश्चन्द्रगुप्तं चाणक्याद् विघटयितुमुपस्तुवन्नाह—सत्त्वोत्कर्षस्येति । नृवर ! नरश्रेष्ठ ! चन्द्रगुप्त ! त्वादृशास्सार्वभौमाः नृपतयः

नाग के देहरूप और सर्प-शरीर की अनुकृति पर निर्मित) पर्यङ्क से उठ-बैठने के इच्छुक भगवान् विष्णु की वे अलसायी अधखुली आंखें आपका कल्याण करती रहें जो सहसा निद्रा-भङ्ग के कारण रत्न-दीपों की शिखा पर टिक नहीं पातीं, जो देह की ऐंटन और जंभाई के कारण अश्रु-कणों से भरी हुई इधर-उधर देखने की स्फूर्ति नहीं रख पातीं और नींद के टूटने से जिनकी लाली कम नहीं हो पातीं !' ॥ २१ ॥

दूसरा वैतालिक--महाराज ! आप सरीखे ही वे सार्वभौम सम्राट् हुआ करते हैं जो विधाता के द्वारा, किसी अज्ञात कारणवश, मानव-व्यक्तित्व की महत्ताओं को आकर-रूप से रचे जाया करते हैं, जिनका आत्म-तेज ऐसा प्रबल हुआ करता है जिस से महा अभिमानी और बड़ी २ हस्ति-सेनाओं के स्वामी लोग भी हार माना करते हैं, जिनका स्वाभिमान और पौरुष-दर्प सब पर छाया रहा करता है

दंष्ट्राभङ्गं मृगाणामधिपतय इव व्यक्तमानावलेपा-
नाऽऽज्ञाभङ्गं सहन्ते नृवर नृपतयस्त्वादृशाः सार्वभौमाः ॥२२॥
अपि च—

भूषणाद्युपभोगेन प्रभुर्भवति न प्रभुः ।
परैरपरिभूताज्ञस्त्वमिव प्रभुरुच्यते ॥ २३ ॥

चक्रवर्तिनो राजानः ये हि केऽपि लोकोत्तराः कस्यापि हेतोः कस्मैचित् लोकोत्तराय प्रयोजनाय धात्रा सत्त्वोत्कर्षस्य वीर्यमहिम्नः निधय इव निधानानीव कृता रचिताः येऽत एव हेतोस्स्वेन धाम्ना स्वाभाविकेन निजतेजसा मदसलिलमुचां मदोन्मत्तानां नागयूथेश्वराणां गजराजानां जेतारो विजयिनोऽभिभवितारो वा भवन्ति, ये हि तस्मादेव कारणाद् व्यक्तमानावलेपाः प्रकटीकृतस्वाभिमान-स्वगौरवातिशयाश्च दृश्यन्ते ते खलु मृगाणामधिपतयस्सिंहा दंष्ट्राभङ्गमिवान्येन केनचनापि जीवेन क्रियमाणं दन्तोत्पाटनमिवाऽऽज्ञाभङ्गं नियोगव्याघातं केनापि क्रियमाणं न सहन्ते न कथमपि मृष्यन्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥

टिप्पणी—अत्र चाणक्यो नियोगव्याघाती दण्डनीय इत्यभिप्रायस्स्पष्टं प्रतिपादितः ।

स एव वैतालिकस्तमेवार्थमुत्तानीकर्त्तुं-पुनराह—भूषणाद्युपभोगेनेति । राजन् ! भूषणाद्युपभोगेन छत्र-चामर-रत्नादिराजभोगैरेव प्रभुः कश्चन राजा प्रभुर्न भवति न सत्यं राजपदं भजते । वस्तुतस्तु यो हि परैः कैश्चनाप्यन्यैर्जनैरपरिभूताज्ञोऽविघातितनियोगोऽप्रतिहतमनोरथो वा त्वमिव त्वादृशो भवति स एव प्रभुरुच्यते राजेति लोकैर्ज्ञायते कथ्यते चेत्यर्थः ॥ २३ ॥

टिप्पणी—अत्र विशिष्टदेवतास्तुतिरूपेण शरद्गुणप्रख्यापने राक्षसनिदिष्टं भेद

और सच बात तो यह है कि जो अपनी आज्ञा का भंग उसी प्रकार नहीं सहा करते जिस प्रकार मृगराज सिंह, विधाता के द्वारा बनाया गया स्वाभाविक बल का आकर सिंह, मतवाले गजराजों को अपने तेज से परास्त करने वाला सिंह, वह सिंह जिसका भयंकर बल-दर्प प्राणिमात्र के हृदय में सदा बैठा रहा करता है, अपनी दाढ़ों का तोड़ा जाना नहीं सहा करता !' ॥ २२ ॥

इतना ही क्यों,

'वस्तुतः प्रभु तो आप सरीखा वही कहा जाता है जिसकी आज्ञा की अवहेलना कोई नहीं कर सकता । वैसे तो भूषणादि सांसारिक भोगों को भोगने वाले बहुतेरे हुआ करते हैं किन्तु वे प्रभु नहीं कहे जा सकते !' ॥ २३ ॥

चाणक्यः—(आकर्ण्यात्मगतम्) प्रथमं तावद्विशिष्टदेवतास्तुतिरूपेण प्रवृत्तशरद्गुणप्रख्यापनमाशीर्वचनम्। इदमपरं किमिति नावधारयामि। (विचिन्त्य) आः ज्ञातम्। राक्षसस्यायं प्रयोगः। आः दुरात्मन्! राक्षस-हतक! दृश्यसे, जागर्त्ति खलु कौटिल्यः।

राजा—आर्य वैहीनरे! दापयाभ्यां वैतालिकाभ्यां सुवर्णशतसहस्रम्।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः (इत्युत्थाय परिक्रामति)

चाणक्यः—(सक्रोधम्) वैहीनरे! तिष्ठ तिष्ठ, न गन्तव्यम्। वृषल! किमयमस्थाने एव महानर्थोत्सर्गः क्रियते?

राजा—आर्येणैवं सर्वतो निरुद्धचेष्टाप्रसरस्य मम बन्धनमिव राज्यं, न राज्यमिव।

बीजं गूढं यदासीत्तदेवोत्तानीकृतं तिष्ठतीत्युत्तरोत्तरं राक्षसमन्त्रस्य प्रकाशनमेव चाणक्यकृततदुच्छेदस्य निदानमिति सर्वं समञ्जसम्।

आः ज्ञातमित्यादि। अत्र प्राप्त्याशाऽवस्थाऽवस्थितस्य चाणक्यबीजस्य प्रकर्षेणाऽविर्भावनादाक्षेपाख्यं गर्भसन्धेरङ्गमुपनिबद्धम्। आक्षेपलक्षणं तु—आक्षेपो बीज प्रकाशनमिति।

वैहीनरे! तिष्ठेत्यादि। अत्र गर्भसन्धेरङ्गं तोटकं निबद्धम्। 'तोटकं गर्भितं वच'

चाणक्य—(सुनकर-स्वगत) पहले तो देवविशेषों की स्तुति के साथ २ प्रस्तुत शरदागम की विशेषताओं का ऐसा वर्णन हुआ जिसमें आशीर्वाद का अर्थ निकलता रहा, किन्तु पीछे क्या हो रहा है कुछ समझ नहीं आता! (कुछ सोचते हुये) ओह! पता चल गया! ये तो राक्षस की ही सब चाले हैं! अरे नीच राक्षस! तुन्हें पता नहीं कि चाणक्य जागा हुआ है!

राजा—कञ्चुकी! इन दोनों वैतालिकों को एक २ लाख स्वर्ण-मुद्रायें दिलवा दी जांय।

कञ्चुकी—जैसी आज्ञा महाराज! (उठकर जाना चाहता है)

चाणक्य—(क्रुद्ध होकर) ठहरो। कञ्चुकी! तुम नहीं जा सकते। वृषल! इस प्रकार बिना किसी प्रयोजन के इतने धन का अपव्यय क्यों!

राजा—यह मेरा राज्य है न कि कोई बंधन, कि जब देखो तभी आप मेरे प्रत्येक कार्य में रोड़ा अटकाते रहें!

चाणक्यः--वृषल ! स्वयमनभियुक्तानां राज्ञामेते दोषाः सम्भवन्ति। तद्यदि न सहसे, तदा स्वयमेवाभियुज्यस्व।

राजा--एते वयं स्वकर्मण्यभियुज्यामहे।

चाणक्यः--प्रियं नः, वयमपि स्वकर्मण्यभियुज्यामहे।

राजा--यद्येवम्, तर्हि कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधस्य प्रयोजनं श्रोतुमिच्छामि।

चाणक्यः--वृषल ! कौमुदीमहोत्सवानुष्ठानस्य किं प्रयोजनमित्यहमपि श्रोतुमिच्छामि।

राजा--प्रथमं तावत् ममाज्ञाव्याघातः।

चाणक्यः--वृषल ! ममापि खलु त्वदाज्ञाव्याघात एव कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधस्य प्रथमं प्रयोजनमिति। कुतः ?—

इति तल्लक्षणम्। चाणक्यवाक्येऽत्र क्रोधावेगगर्भिते चन्द्रगुप्तहृदयभेदनसमर्थे लक्षणस्यास्य सुतरां सांगत्यादिति।

एते स्वकर्मण्यभियुज्यामह इति। इदं गर्भसन्धेरधिबलं नामाङ्गम्। चन्द्रगुप्तस्य सोल्लुण्ठनं वाक्यं चाणक्यस्य तथाभूताद्वाक्यात् स्पर्द्धाधिरूढतयोपनिबद्धमिति सङ्गतमधिबलस्य 'सोपालम्भं वाक्य'मिति लक्षणमत्रेति।

चाणक्य—यह तो तुम्हारा दोष है जो स्वयं तुम कुछ कर नहीं सकते ! अपने आप क्यों नहीं सब देखते-भालते, यदि तुम्हें मेरा हस्त-क्षेप अच्छा नहीं लगता !

राजा--बहुत ठीक ! अब से हम स्वयं सब कुछ करेंगे।

चाणक्य--बहुत अच्छा ! अब हम भी अपना काम अपने ही आप करेंगे !

राजा--तब तो आपको यह बताना पड़ेगा कि कौमुदीमहोत्सव का मनाया जाना क्यों रोका गया !

चाणक्य--पहले मुझे यह बताओ कि क्यों कर कौमुदी-महोत्सव मनाया जानेवाला था !

राजा--सबसे पहले तो मेरी आज्ञा थी, जिसका आपने उल्लंघन किया।

चाणक्य--मेरा भी कौमुदी-महोत्सव के मना कर देने का सबसे पहला कारण तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन करना था ! सुनना चाहते हो क्यों !

अम्भोधीनां तमालप्रभवकिसलयश्यामवेलावनानाम्
आपारेभ्यश्चतुर्णां चटुलतिमिकुलक्षोभितान्तर्जलानाम् ।
मालेवाज्ञा सपुष्पा नतनृपतिशतैरुह्यते या शिरोभिः
सा मय्येव स्खलन्ती प्रथयति विनयालंकृतं ते प्रभुत्वम् ॥ २४ ॥

राजा—अथापरमपि प्रयोजनं यत्तच्छ्रोतुमिच्छामि ।

चाणक्यः—तदपि कथयामि ।

चाणक्यश्चन्द्रगुप्तं व्याहताज्ञं समाश्वासयन्नाह—अम्भोधीनामिति । राजन् ! चन्द्रगुप्त ! मत्कृतस्त्वदाज्ञाव्याघातस्तवैव गौरवाय नातः किमपि मम समीहितं सिद्धयति । तथाहि या तव सार्वभौमस्य सम्राज आज्ञा शासनं तमालप्रभवकिसलयश्यामवेलावनानां तमालप्रभवाणि यानि किसलयानि तैश्श्यामानि श्यामलानि वेलावनानि तीरवर्तिकाननानि येषां तथाभूतानामथ च चटुलतिमिकुलक्षोभितान्तर्जलानां चटुलानि सर्वत्र सञ्चरन्ति यानि तिमिकुलानि महामत्स्यसमूहाः तैः क्षोभितानि भृशं विलोडितान्यन्तर्जलानि गभीरतलवर्तीनि सलिलानि येषां तथाभूतानां चतुर्णामम्भोधीनां सागराणामापारेभ्यः (अभिविधावाङ्) पारतीरेभ्यः समागतैर्नतनृपतिशतैः सामन्तीभवद्भी राजशतैस्सपुष्पा मालेव पुष्पस्रगिव शिरोभिः प्रणतैर्मस्तकैरुह्यते वध्यत इति यावत्, सा मय्येव स्खलन्ती मत्त एव प्राप्तप्रतिघाता सती ते विनयालङ्कृतं प्रभुत्वमेव प्रथयति किमपि तव लोकोत्तरं राजैश्वर्यमेव लोकेषु प्रख्यापयतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

टिप्पणी—अत्र गर्भसन्धेरङ्गं क्रमाख्यं निबद्धम् । 'क्रमो भावस्य निर्णय' इति इति क्रमलक्षणम् । अत्र चाणक्येन भाव्यमानस्य चन्द्रगुप्तप्रभुत्वरूपस्यार्थस्योहप्रतिभादिवशान्निर्णयः कृत इति सङ्गतं क्रमलक्षणमिति ।

'तुम्हारी वह आज्ञा, जिसे तमाल-बीथिओं से श्यामायमान बेला-वनों वाले और चञ्चल तिमि-गणों से विक्षुभित गम्भीर जल राशि वाले चारों समुद्रों की सीमाओं से आ कर तुम्हारे आगे झुके हुये अनेकानेक सामन्त-गण फूल की माला की भांति सिर से लगाया करते हैं मेरे आगे ही झुका करती है और इसीलिये इसे झुकना चाहिये जिसमें तुम्हारा प्रभुत्व विनयावनत होकर और भी चमका करे' ॥ २४ ॥

राजा—और भी कोई प्रयोजन है जिसे मुझे सुनना चाहिये ।

चाणक्य—उसे भी कह देता हूँ ।

राजा—कथ्यताम् ।

चाणक्यः—शोणोत्तरे ! शोणोत्तरे । मद्वचनात् कायस्थमचलदत्तं ब्रूहि—'यत् भद्रभटप्रभृतीनामितोऽपरागादपक्रम्य मलयकेतुमाश्रितानां लेख्यपत्रं तत्तावत् दीयतामि'ति ।

प्रतीहारी—यदार्य आज्ञापयतीति । (निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) आर्य ! इदं पत्रम् (जं अज्जो आणवेदित्ति । अज्ज ! एदं पत्तं)

चाणक्यः—(गृहीत्वा) वृषल ! श्रूयताम् !

राजा—दत्तावधानोऽस्मि ।

चाणक्यः—(वाचयति) स्वस्ति, सुगृहीतनामधेयस्य देवस्य चन्द्रगुप्तस्य सहोत्थायिनां प्रधानपुरुषाणामितोऽपक्रम्य मलयकेतुमाश्रितानां प्रमाणलेख्यपत्रम् । तत्र प्रथमं तावत् 'गजाध्यक्षो भद्रभटः, अश्वाध्यक्षः पुरुषदत्तः, महाप्रतीहारस्य चन्द्रभानोर्भागिनेयो हिङ्गुरातः, देवस्य स्वजनगन्धी महाराजो बलगुप्तः, देवस्यैव कुमारसेवको राजसेनः, सेनापतेः सिंहबलस्य कनीयान् भ्राता भागुरायणः, मालवराजपुत्रो रोहिताक्षः, क्षत्रगणमुख्य-

---

राजा—कह डालिये ।

चाणक्य—शोणोत्तरे ! जाओ और मेरी ओर से कायस्थ अचलदत्त से कहो कि भद्रभट इत्यादि का जो 'लेख' है उसे मेरे पास भेज दिया जाय ।

प्रतीहारी—जो आज्ञा आर्य !

(बाहर जाकर पुनः भीतर आते हुये) आर्य ! यह रहा वह लेख-पत्र !

चाणक्य—(लेकर) सुनते जाओ वृषल !

राजा—अच्छी तरह सुन रहा हूं ।

चाणक्य—(पढ़ता है) प्रणामादि के बाद यह विदित हो कि प्रातः स्मरणीय महाराज चन्द्रगुप्त के सहोत्थायी (सदा साथ निभाने वाले) हम निम्नलिखित प्रधान राजपुरुष—

१—गज-सेनापति भद्रभट । २—अश्व सेनापति पुरुषदत्त । ३—महाप्रतीहार, चन्द्रभानु के भागिनेय हिङ्गुरात ! ४—महाराज के आत्मीय महाराज बलगुप्त । ५—महाराज के कुमार सेवक राजसेन । ६—सेनापति सिंहबल के कनिष्ठ भ्राता भागुरायण । ७—मालवराज पुत्र रोहिताक्ष, तथा ८—क्षत्रगण-प्रधान विजयवर्मा !

तमो विजयवर्मा' इति (आत्मगतम्) एते वयं देवस्य कार्येऽवहिताः स्म इति (प्रकाशम्) एतावदेतत् । पत्रम् ।

राजा—आर्य ! एतेषामपरागहेतून् श्रोतुमिच्छामि ।

चाणक्यः—वृषल ! श्रूयताम्, अत्र यावेतौ गजाध्यक्षाश्वाध्यक्षौ भद्रभट-पुरुषदत्तनामानौ, एतौ खलु स्त्री-मद्य-मृगयाशीलौ हस्त्यश्वावेक्षणेऽनभियुक्तौ इति स्वाधिकाराभ्यामवरोप्य मया स्वजीवनमात्रेणैव स्थापितावित्यपरक्तौ, गत्वा स्वेन स्वेन चाऽधिकारेण व्यवस्थाप्य मलयकेतुमाश्रितौ । यावेतौ हिङ्गुरातबलगुप्तौ, तावत्यन्तलुब्धप्रकृती दत्तं धनमबहुमन्यमानौ 'तत्र बहु लभ्येत' इति मलयकेतुमाश्रितौ । योऽप्यसौ भवतः कुमारसेवको राजसेनः सोऽपि तव प्रसादादतिप्रभूतकोषहस्त्यश्वं सहसैव सुमहदैश्वर्यमवाप्य पुनरुच्छेदशङ्कयाऽपक्रम्य मलयकेतु-

---

महाराज का साथ छोड़ कर मलयकेतु के पक्ष में मिलते हुये निवेदन करना चाहते हैं कि (स्वगत) हम सब लोग महाराज के कार्य में सदा सावधान रहेंगे । (सुनाकर) बस इतना ही यह पत्र है !

राजा—आर्य ! मैं जानना चाहता हूं कि ये लोग हम से क्यों विरक्त हो रहे हैं !

चाणक्य—यह भी सुन लो वृषल ! इन लोगों में ये जो गजसेनानायक और अश्वबलाधिपति भद्रभट और पुरुषदत्त हैं वे तो स्त्री-मद्य और मृगया में निरन्तर आसक्त रहने के कारण हस्ति-बल और अश्व-बल के संरक्षण-निरीक्षण में सदा असावधान रहते आये हैं जिसके लिये इन्हें इनके अधिकारों से पृथक् कर जीविका निर्वाह मात्र पर रहने दिया गया और इसी लिये इन्हें यहां से विरक्त होने पर मलयकेतु के पक्ष में मिलते ही इन्हीं अपने २ कार्यों पर नियुक्ति मिल गयी है। इनमें ही ये जो हिङ्गुरात और बलगुप्त रहे, स्वभावतः अत्यन्त लोभी, जितना भी हम देते उसे उतना ही थोड़ा मानने वाले, उन्होंने तो इसलिये मलयकेतु का आश्रय लिया जिसमें उन्हें वहां मनचाहा मिलता रहे । अब इनमें यह जो तुम्हारा कुमारसेवक राजसेन रहा, जिसे तुम्हारी कृपा से अकस्मात् प्रचुर धन-सम्पत्ति और हाथी-घोड़ों का वैभव मिल गया, इस डर से यहां से हट कर मलयकेतु में जा मिला कि कहीं यह सब किसी समय उससे छीन न लिया जाय ।

माश्रितः। योऽयमपरः सेनापतेः सिंहबलस्य कनीयान् भ्राता भागुरायणः, असावपि तत्र काले पर्वतकेन सह समुत्पन्नसौहार्दः तत्प्रीत्या च 'पिता ते चाणक्येन घातितः' इति रहसि त्रासयित्वा मलयकेतुमपवाहितवान्, ततो भवदपथ्यकारिषु चन्दनदासप्रभृतिषु निगृह्यमाणेषु स्वदोषाशङ्कयाऽपक्रम्य मलयकेतुमाश्रितः। तेना'प्यसौ मम प्राणरक्षक' इति कृतज्ञतामनुवर्तमानेन आत्मनोऽनन्तरममात्यपदं ग्राहितः। यौ तौ लोहिताक्ष-विजयवर्माणौ, तावप्यतिमानित्वात् स्वदायादेभ्यस्त्वया दीयमानमसहमानौ मलयकेतुमाश्रितौ-इत्येषामपरागहेतवः।

राजा--आर्य! एवमेतेषु परिज्ञातापरागहेतुषु क्षिप्रमेव कस्मान्न प्रतिविहितमार्येण?

चाणक्यः--वृषल! न पारितं प्रतिविधातुम्।

राजा--किमकौशलात्, उत प्रयोजनापेक्षया?

अब सेनापति सिंहबल का कनिष्ठ सहोदर जो भागुरायण है वह तो, पहले से ही पर्वतक के साथ इसकी जैसी घनिष्ठ मित्रता रहती आयी जिससे इसने 'तुम्हारे पिता को चाणक्य ने ही मरवाया है, ऐसा डरा-धमका कर मलयकेतु को यहां से भगाया; यह जान लेने पर कि तुम्हारे अहित चिन्तक और अनिष्टकर चन्दनदास आदि लोग पकड़े जा रहे हैं और उसे भी उसके अपराधों का दण्ड मिलेगा, यहां से निकल भागा है और मलयकेतु में जा मिला है और मलयकेतु ने भी इसे अपना प्राण-रक्षक मान, कृतज्ञता प्रकट करते हुये अपने सन्निकट अमात्य के पद पर नियुक्त कर लिया है। अब इनमें जो ये बचे लोहिताक्ष और विजयवर्मा वे तो यहां से छोड़ कर मलयकेतु के पास इसलिये जा पहुंचे हैं कि उन्हें, तुम्हारे द्वारा उनके सम्बन्धियों को जो कुछ दिया जाता रहा, सह्य नहीं होता रहा और अपने अभिमान पर इससे ठेस लगती प्रतीत होती रही। ये हैं इन लोगों के तुम से विरक्त होने के कारण!

राजा—मैं यह जानना चाहूंगा कि जब इनके विराग के कारणों का पता चल चुका तब इनका उचित प्रतीकार क्यों नहीं किया गया!

चाणक्य—वृषल! प्रतीकार मुझ से न हो सका!

राजा—क्या किसी असमर्थता के कारण या प्रयोजन-विशेष से!

चाणक्यः--कथमकौशलं भविष्यति, प्रयोजनापेक्षयैव।

राजा—तदप्रतिविधानप्रयोजनमिदानीं श्रोतुमिच्छामि।

चाणक्यः--वृषल ! श्रूयतामवधार्यताञ्च।

राजा--उभयमपि क्रियते, कथ्यताम्।

चाणक्यः--वृषल ! इह खलु विरक्तानां प्रकृतीनां द्विविधं प्रतिविधानम्—अनुग्रहो निग्रहश्चेति। अनुग्रहस्तावत् आक्षिप्ताधिकारयोः भद्रभट-पुरुषदत्तयोः पुनरधिकारारोपणमेव। अधिकारश्च पुनस्तादृशेषु व्यसनयोगात् अनभियुक्तेषु पुनरारोप्यमाणः सकलस्यैव राज्यस्य मूलं हस्त्यश्वमवसादयेत्। हिङ्गुरात-बलगुप्तयोरत्यन्तलुब्धप्रकृतिकयोः सकल-

---

इह खलु विरक्तानां प्रकृतीनां द्विविधं प्रतिविधानमनुग्रहो निग्रहश्चेति—अत्र कौटिलीयार्थशास्त्रस्य व्यसनाधिकारिकमधिकरणमनुसंधातव्यम्। तत्र खलु 'द्वेष्यता, शत्रुवेदनं दुःखासङ्गश्च कोपः। परिभवो द्रव्यनाशः पाटच्चरद्यूतकारलुब्धकगायकवादकैश्चानर्थ्यैः संयोगः कामः' इत्यारभ्य पुरुषव्यसनानि विवेचितानि। तत्प्रतिविधानञ्च विजिगीषोः षाड्गुण्याधिकरणे निग्रहानुग्रहाभ्यां प्रतिपादितम्। तदेतत्सर्वं नाटककारोऽयं नाटकार्थं तत्रस्थमादाय निबध्नात्यत्राऽपि तु तदनुसारिणो व्यवहाराननुसंधायेत्यलं बहुनोक्तेन।

अनभियुक्तेष्विति—तत्तदभियोगाऽयोग्येषु तत्तदधिकारानर्हेष्विति वा यावत्।

चाणक्य—असमर्थता के कारण क्यों ! प्रयोजन-विशेष से ही !

राजा—क्या मैं जानसकता हूं वह कौनसा प्रयोजन-विशेष रहा !

चाणक्य—सुन लो और समझते रहो !

राजा—कहते चलिये-यहां दोनों काम हो रहे हैं।

चाणक्य—सुनो वृषल ! जब राज्य के अङ्गों में विद्रोह समा जाय तो दो ही प्रकार से इसका प्रतीकार संभव है-या तो अनुग्रह से और नहीं तो निग्रह से। अब पद-च्युत भद्रभट और पुरुषदत्त के प्रति, अनुग्रह करना तो यही होता कि उन्हें उनके पदों पर पुनः नियुक्त कर दिया जाता। किन्तु क्या ऐसे दुर्व्यसन-ग्रस्त और शासनकार्य के सर्वथा अयोग्य व्यक्तियों को उनके पदों पर पुनः नियुक्त करना हमारे साम्राज्य की जड़-हमारी हस्ति-सेना और अश्व-सेना-का खोखला बना देना न होता ! इन दोनों अर्थात् हिङ्गुरात और बलगुप्त पर जो स्वभाव से ही महालोभी हों और जिन्हें सारा राज्य सौंप कर भी प्रसन्न न किया जा सके, किस

राज्यप्रदानेनाप्यपरितुष्यतोरनुग्रहः कथं कर्तुं शक्यः ? राजसेन-भागुरायणयोस्तु धनप्राणनाशभीतयोः कुतोऽनुग्रहस्यावकाशः ? लोहिताक्ष-विजयवर्मणोरपि दायादमसहमानयोरतिमानिनोः कीदृशोऽनुग्रहः प्रीतिं जनयिष्यतीति परिहृतः पूर्वः पक्षः। उत्तरोऽपि खलु 'वयमचिरादधिगत-नन्दैश्वर्याः सहोत्थायिनं प्रधानपुरुषवर्गमुग्रेण दण्डेन पीडयन्तो नन्दकुलानुरक्तानां प्रकृतीनामविश्वास्या भवाम' इत्यतः परिहृत एव। तदेवमनुगृहीतास्मद्भृत्यपक्षो राक्षसोपदेशश्रवणप्रवणो महीयसा म्लेच्छबलेन परिवृतः पितृवधामर्षी पर्वतकपुत्रो मलयकेतुरस्मानभियोक्तुमुद्यत इति, सोऽयं व्यायामकालो नोत्सवकाल इति। अतो दुर्गसंस्कारे आरब्धव्ये किं कौमुदीमहोत्सवेन ? इति प्रतिषिद्धः।

राजा--आर्य ! बहुप्रष्टव्यमत्र।

चाणक्यः--वृषल ! विश्रब्धं पृच्छ, ममापि बह्वाख्येयमत्र।

प्रकारका अनुग्रह ! अब रहे राजसेन और भागुरायण, जो अपने २ धन और अपने २ प्राण का भय रखने वाले हैं इन पर भला अनुग्रह का कहां अवसर ! इसी प्रकार लोहिताक्ष और विजयवर्मा हैं, जिन्हें अपने दायादों की बढ़ती से कुढ़न है और जिनके अभिमान का कोई ठिकाना नहीं, किस प्रकार के अनुग्रह से भला प्रसन्न किये जा सकते ! बस इन्हीं बातों से अनुग्रह का पक्ष तो छूट ही गया। अब रहा निग्रह का पक्ष जिसे छोड़ देना इसलिये उचित समझा गया जिसमें अभी २ नन्द का ऐश्वर्य हस्तगत करने वाले हम लोगों के द्वारा यदि नाम के साथ निभाने वाले प्रमुख राजसेवकों को कठोर दण्ड दे दे कर पीड़ित किया जाने लगा तब भला नन्द-वंशानुरक्त प्रजायें क्यों कर हम पर विश्वास करने लगें ! और वस्तुतः इस समय जब कि हमारे ही भृत्यों से अपना पक्ष भर २ कर, राक्षस की राजनीति के श्रवण में बद्धश्रद्ध, हम लोगों से अपने पिता के वध के कारण अत्यन्त क्रुद्ध यह पर्वतक-पुत्र मलयकेतु अपनी विशाल पर्वतीय-वाहिनी के साथ हम पर आक्रमण करने को उद्यत हो उठा हो तब भला हमारे लिये अपने सेना-सन्नाह का यह समय है या उत्सव-विनोद का ! मना कर दिया हमने कौमुदी-महोत्सव का आयोजन, क्यों कि हमें राजदुर्गों की सैन्य-सज्जा करनी है (मनोविनोद क्यों !)

राजा—आर्य ! मुझे इस सम्बन्ध में बहुत कुछ पूछना बाकी है !

चाणक्य—वृषल ! मुझे भी बहुत कुछ कहना है। खोद २ कर पूछते जाओ !

राजा—एवं पृच्छामि।

चाणक्यः—अहमप्येष कथयामि।

राजा--योऽयमस्माकमस्य सर्वस्यैवानर्थस्य हेतुर्मलयकेतुः स कस्मादार्येणापक्रामन्नुपेक्षितः ?

चाणक्यः--वृषल ! मलयकेतोरपक्रमणानुपेक्षणे द्वयी गतिः स्यात्, अनुगृह्येत निगृह्येत वा। अनुग्रहे 'पूर्वप्रतिश्रुतं राज्यार्द्धं प्रतिपाद्येत'। निग्रहे तावत् 'पर्वतकोऽस्माभिर्व्यापादित' इति कृतघ्नतायाः स्वयं हस्तो दत्तः स्यात् प्रतिश्रुतार्द्धराज्यप्रतिपादनेऽपि 'पर्वतकविनाशः केवलं कृतघ्नतामात्रफलः स्यात्' इति मलयकेतुरपक्रामन्नुपेक्षितः।

राजा--अत्र तावदेवम्। राक्षसः पुनरिहैवान्तर्नगरे वर्त्तमान आर्येणोपेक्षित इत्यत्र किमुत्तरमार्यस्य ?

कृतघ्नताया इत्यादि। कृतघ्नता स्वयमस्माभिस्स्वागतीक्रियेतेति।

राजा—पूछ तो रहा हूँ।

चाणक्य—कह भी तो रहा हूं।

राजा—तो यह बताइये कि हमारे सभी अनर्थों के मूल इस मलयकेतु के यहां से भगाने की क्यों कर उपेक्षा की गई !

चाणक्य—वृषल ! मलयकेतु के यहां से न भागने दिये जाने पर दो ही बात हो सकती थी—पहली, उस पर अनुग्रह की और दूसरी, उसके निग्रह की, अब यदि अनुग्रह की बात होती तब तो पूर्वकृत सन्धि के अनुसार राज्य का आधा भाग उसे दे देना पड़ता और यदि उसका निग्रह किया जाता तब पर्वतक की हत्या करने में हमारी जो कृतघ्नता हुई है उसे हमें अपने ही हाथों-हाथ स्वीकार कर लेना पड़ता ! साथ ही साथ यदि पहली सन्धि के ही अनुसार उसे आधा राज्य भी दे दिया जाता तब भला पर्वतक की हत्या हमारी कृतघ्नता के अतिरिक्त और क्या प्रयोजन रखती। इसलिये ही तो ऐसा किया गया कि मलयकेतु को यहां से भाग जाने दिया गया !

राजा—अच्छी बात है, यहां तक तो आपका किया सब ठीक हो गया ! किन्तु आपने इस नगर में ही पड़े हुये राक्षस को क्यों कर निकल जाने दिया ?

चाणक्यः--राक्षसोऽपि खलु निजस्वामिनि स्थिरानुरागित्वात् सुचिरमेकत्र वासाच्च शीलज्ञानां नन्दानुरक्तानां प्रकृतीनामत्यन्तं विश्वास्यः, प्रज्ञा-पुरुषकाराभ्यामुपेतः, सहायसम्पदा युक्तः, कोषबलवानिहैवान्तर्नगरे वर्त्तमानो महान्तं खल्वन्तःकोपमुत्पादयेत्। दूरीकृतस्तु बाह्यकोपमुत्पादयन्नपि न दुःखसाध्यो भविष्यतीत्यतोऽपक्रामन्नुपेक्षितः।

राजा--तत् किमर्थमिहस्थ एवोपायैर्नोपक्रान्तः ?

चाणक्यः--अथ कथमपक्रान्तो भविष्यति ? ननु उपायैरेवासौ हृदयेशयः शङ्कुरिवोद्धृत्य दूरीकृतः। दूरीकरणस्य चोक्तं प्रयोजनम्।

राजा--आर्य ! कस्माद्विक्रम्य न गृहीतः ?

अन्तः कोपमुत्पादयेदित्यादि—अत्र 'राजा राज्यमिति प्रकृतिसंक्षेपः। राज्ञोऽभ्यन्तरो बाह्यो वा कोप इति। अहिभयादाभ्यन्तरः कोपः बाह्यकोपात् पापीयान्।' इत्यादि कौटिलीयार्थशास्त्रवचनानि व्यसनाधिकारिकाधिकरणवर्तीन्यनुहरति वाचोयुक्तिरत्र चाणक्यस्येति कर्णेहत्य निरीक्षणीयं सुधीभिः।

चाणक्य—राक्षस को भी यहां से इसलिये भाग जाने दिया गया कि कई एक कारणों से जैसे कि अपने महाराज में उसकी दृढ़ राजभक्ति, बहुत दिनों से उसके यहां रहते आने के कारण उसके सौजन्य-स्वभाव से प्रजाओं का उस पर विश्वास, उसकी राजनीति-प्रतिभा और उसके पौरुष, उसके सहायकों की अधिकता और साथ ही साथ उसके पास कोष और सेना की प्रचुरता से उसके पाटलिपुत्र में रहते हुये प्रजा में राज-विद्रोह के उभड़ने की पूरी संभावना हो चुकी थी किन्तु अब जब वह यहां से बाहर चला गया तब अधिक से अधिक बाहरी विप्लव ही मचा सकेगा और यदि कहीं ऐसा हुआ तो उसका प्रतीकार भी असाध्य नहीं हो पायेगा।

राजा—किन्तु उसके यहां पड़े रहने पर क्या आपकी बुद्धि उसका कुछ नहीं कर सकती रही !

चाणक्य—वह मुझ से भाग कर ही कहां जा सकता है ! अरे ! अपनी बुद्धि से ही तो हमने हमारे हृदयों में चुभे हुये उस कांटे को निकाल बाहर किया ! और यह तो बता ही चुका हूं कि ऐसा क्यों किया गया !

राजा—बल-प्रयोग से उसे क्यों नहीं वश में किया गया ?

चाणक्यः--वृषल ! राक्षसः खल्वसौ विक्रम्य निगृह्यमाणः स्वयं वा विनश्येत्, युष्मद्बलानि वा विनाशयेत्। एवं सत्युभयथाऽपि दोषः।
पश्य--

स हि भृशमभियुक्तो यद्युपेयाद् विनाशं
ननु वृषल ! वियुक्तस्तादृशेनापि पुंसा।
अथ तव बलमुख्यान्नाशयेत् साऽपि पीडा
वनगज इव तस्मात् सोऽभ्युपायैर्विनेयः ॥ २५ ॥

राजा—न शक्नुमो वयमार्य्यस्य मतिमतिशयितुं, सर्वथाऽमात्यराक्षस एवात्र प्रशस्यतरः।

चाणक्यो राक्षसनिग्रहमकरणीयत्वेनोपदिशन् चन्द्रगुप्तमाह–स हीत्यादि। वृषल ! स हि राक्षसः भृशमभियुक्तो विक्रम्य निगृह्यमाणो यदि विनाशमुपेयात् म्रियेत, ननु तादृशेन प्रज्ञाविक्रमभक्तिगुणगणान्वितेन पुंसा पुरुषरत्नेन वियुक्तोऽसि विरहितो भवसि ! सेयं प्रथमा पीडाऽस्माकम् ! अथ यदि समाक्रान्तस्स तव बलमुख्यान् प्रधानसैन्याधिपतीन् नाशयेत् मारयेत् सापि पीडैवाऽस्माकं महद्दुःखमेव ! तस्मात्ततो हेतोस्स राक्षसो न निग्रहार्होऽपि तु वनगज इव वन्यदन्तावल इवाभ्युपायैर्वन्येन वशीकारसाधनैरिव मन्त्रयुद्धसाधनैर्विनेयो वशीकरणीय इत्यर्थः ॥२५॥

टिप्पणी—अत्र चाणक्यः स्वनीतिबीजं परामृशन् प्राप्त्याशां च स्वीयां चन्द्रगुप्तं प्रति प्रख्यापयन् निपुणं वर्णितो नाटककृतेति विभावनीयं सहृदयैः।

चाणक्य—वृषल ! क्या तुम्हें पता नहीं कि वह राक्षस है यदि बल से उसे पकड़ा जाता तब दो ही बातें होतीं–या तो वह स्वयं मर मिटता या तुम्हारी सेनाओं का ही संहार कर डालता ! और भला तब हमें मिलता ही क्या ! देखो—

'यदि हमारे द्वारा बल-प्रयोग किये जाने पर कहीं वह स्वयं मर मिटता तो ऐसा महापुरुष भला हमें कहां मिल पाता ! और यदि तुम्हारे प्रवीर सैनिकों को ही कहीं वह मार गिराता तब भी तो हमें दुःख ही होता ! उसे तो बस उसी प्रकार बुद्धि से बश में करना है जिस प्रकार एक वन्य गजराज को वश में किया जाता है !' ॥ २५ ॥

राजा—आप की बातों से तो मैं बातें नहीं लड़ा सकता किन्तु लगता ऐसा ही है कि अमात्य राक्षस आप से कहीं बढ़ा-चढ़ा ही है।

चाणक्यः—(सक्रोधम्) 'न भवानि'ति वाक्यशेषः। मा तावदेवम्। भो वृषल ! तेन किं कृतम् ?

राजा—यदि न ज्ञायते, तदा श्रूयताम्! तेन खलु महात्मना—

लब्धायां पुरि यावदिच्छमुषितं, कृत्वा पदं नो गले
व्याघातो जयघोषणादिषु बलादस्मद्बलानां कृतः।
अत्यर्थं विपुलैः सुनीतिविभवैः सम्मोहमापादिता
विश्वास्येष्वपि विश्वसन्ति मतयो न स्वेषु वर्गेषु नः॥ २६॥

चाणक्यः—(विहस्य) वृषल ! एतत् कृतं राक्षसेन ?

कुपितश्चन्द्रगुप्तश्चाणक्यं कोपयन्नाह—लब्धायां पुरीत्यादि। कोऽपि महात्मा खलु स राक्षसो येन लब्धायां पुर्यस्माभिरधिकृतेऽपि पाटलिपुत्रनगरे यावदिच्छं यावत्कालं निवसितुमिच्छा तावत्कालं यावती वा इच्छेति स्वेच्छानुसारं वा नो गले पदं कृत्वाऽस्मानेवाविगणयतोषितं स्थितम्, येनाऽस्मद्बलानामस्मत्सैन्यानां जयघोषणादिष्वस्मद्विजयघोषणाप्रभृतिषु तेषु तेषु वैजयिकव्यापारेषु बलात्स्वविक्रमोत्साहादिना व्याघातः कृतः प्रत्यूह आचरितः, यस्य चात्यर्थं विपुलैस्सुनीतिविभवैस्सम्मोहमापादिताः किङ्कर्त्तव्यविमूढीकृताः नोऽस्माकं मतयो बुद्धयो विश्वास्येष्वपि विश्वासयोग्येष्वपि यथा भद्रभटादिष्विति शेषः, स्वेषु वर्गेषु स्वपक्षीयेषु न विश्वसन्ति न विश्वस्तीभवन्तीत्यर्थः॥ २६॥

चाणक्य—(क्रुद्ध होकर) यह भी कह डालो कि मैं कुछ नहीं ! किन्तु समझ लो वृषल ! बहुत बुरा होगा ! बताओ वह किस खेत की मूली है !

राजा—क्या आप को पता नहीं ? मुझ से सुन लीजिये-राक्षस एक ऐसा महान् व्यक्ति है, जो 'पाटलिपुत्र पर हमारा अधिकार हो चुकने पर भी, जब तक चाहता रहा यहीं रहता रहा और हमारी गर्दन दबाकर रहता रहा, जो अपने बलातिशय द्वारा हमारी सेनाओं की विजय-घोषणाओं में प्रत्येक प्रकार का विघ्न खड़ा करता रहा और इतना ही क्यों, यह तो उसी के विपुल बुद्धि-वैभव का काम है कि हमारी बुद्धि ऐसी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो चुकी है जिससे हम ऐसा भी नहीं कर सकते कि उन पर विश्वास रख सकें जो पूर्णतया विश्वास के ही पात्र हैं !' ॥२६॥

चाणक्य—(हंसते हुये) क्या कहा वृषल ! तुमने ! अच्छा, तो यह सब राक्षस का काम है !

राजा—अथ किम् ? एतत् कृतममात्यराक्षसेन ।

चाणक्यः—वृषल ! मया पुनर्ज्ञातं, नन्दमिव भवन्तमुद्धृत्य भवानिव भूतले मलयकेतुरधिराज्यमारोपितः ।

राजा—अलमुपालम्भेन । आर्य ! दैवेनेदमनुष्ठितं, किमार्यस्य ?

चाणक्य—हे मत्सरिन् !

आरुह्यारूढकोपस्फुरणविषमिताग्राङ्गुलीमुक्तचूडां
लोकप्रत्यक्षमुग्रां सकलरिपुकुलोच्छेददीर्घां प्रतिज्ञाम् ।
केनान्येनावलिप्ता नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वरास्ते
नन्दाः पर्यायभूताः पशव इव हताः पश्यतो राक्षसस्य ॥ २७ ॥

चाणक्यश्चन्द्रगुप्तकृतं राक्षसप्रशंसनमसहमानस्सक्रोधमाह–आरुह्येत्यादि । राजन् ! राक्षसश्लाघिन् ! लोकप्रत्यक्षं सर्वजनसमक्षं यथा स्यात्तथा आरूढकोपस्फुरितविषमिताग्राङ्गुलीमुक्तचूडाम् आरूढः प्रवृद्धः यः कोपस्तस्य यत्स्फुरणं तीव्रावेशस्तेन विषमिताभिः प्रचलिताभिरग्राङ्गुलीभिरङ्गुल्यग्रभागैर्मुक्ता श्लथबन्धनीकृता चूडा शिखा यस्यां तथाभूतां सकलरिपुकुलोच्छेददीर्घां सकलानि यानि रिपुकुलानि तेषां य उच्छेदो विनाशस्तेन दीर्घां दुःखसाध्यामुग्रां कठोरां प्रतिज्ञामारुह्य कृत्वा केनाऽन्येन मद्भिन्नेन केन जनेन नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वराः महाधनिनः महै-

---

राजा—और क्या ! राक्षस का नहीं कहिये अमात्य राक्षस का !

चाणक्य—क्यों वृषल ; मुझे तो ऐसा लगा जैसे तुम्हें ही उसने गद्दी पर से नन्द की भांति उठा दिया हो और मलयकेतु को उस पर तुम्हारी भांति बैठा गया हो !

राजा—रहने दीजिये इन उलाहनाओं को ! अरे यह सब तो भाग्य से हुआ हैं आप के वश की यह बात कैसी !

चाणक्य--अरे ! तेरी मुझसे ऐसी डाह !

'अरे ! मेरे अतिरिक्त ऐसा कौन है जिसने उस राक्षस को देखते-देखते, सारे संसार की आंखों के सामने, अपने शत्रु के समूलोन्मूलन की वह भयङ्कर प्रतिज्ञा की जिसमें क्रोध के आवेश से कांपते शरीर की उद्विग्न अङ्गुलिओं ने (प्रतिशोध की सूचक) शिखा खोल डाली और जिसके द्वारा अगणित धन-सम्पत्ति के स्वामी, महाभिमानी महाराज नन्द और उनके वंशधर वलि के पशुओं की भांति एक के बाद एक मौत के घाट उतार डाले गये !' ॥ २७ ॥

अपि च—

गृध्रैराबद्धचक्रं वियति विचलितैर्दीर्घनिष्कम्पपक्षै-
र्धूमैर्ध्वस्तार्कभासां सघनमिव दिशां मण्डलं दर्शयन्तः ।
नन्दैरानन्दयन्तः पितृवननिलयान् प्राणिनः पश्य चैतान्
निर्वान्त्यद्यापि नैते स्रुतबहलवसावाहिनो हव्यवाहाः ॥ २८ ॥

श्वर्यवन्तो वाऽवलिप्ताः गर्विताास्ते पूर्वं नन्दाः नन्दवंशीया राजराजेश्वराः राक्षसस्य पश्यतः पश्यन्तं राक्षसमनादृत्य ('षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी) पर्यायभूताः पशव इव हतास्समालम्भिता विनाशिता वेत्यर्थः ॥ २७ ॥

टिप्पणी—अत्र चाणक्यस्य क्रोधस्सहृदयहृदये रसीभवन् विभाव्यते तैस्तैरनुभावादिभिः पर्यन्ते च वीररसधारामेव परिपोषयतीति न विरुद्धताऽस्य काऽपीति ।

पुनरपि चाणक्यस्स्वक्रोधविजृम्भितमेव वर्णयन्नाह सगर्वं—गृध्रैरित्यादि । अरे मत्सरिन् ! वृषल ! पश्य कस्येदं क्रोधविजृम्भितं यदद्यापि वियति गगन आबद्धचक्रं विरचितमण्डलं यथा स्यात्तथा विचलितैरुड्डीयमानैर्दीर्घनिष्कम्पपक्षैः दीर्घाः विपुलास्तथा निष्कम्पाः निश्चलाश्च पक्षा येषां तथाभूतैर्गृध्रैरेव धूमैर्ध्वस्तार्कभासां स्थगितरविकिरणनिकराणां दिशां मण्डलं दिक्चक्रवालं सघनमिव घनान्धकारितमिव दर्शयन्तो लोकानिति शेषः, नन्दैश्च पर्यायभूतैः पशुभिरिव मया हतैः पितृवननिलयान् श्मशानवासिन एतान् प्रत्यक्षं दृश्यमानान् प्राणिनः प्रेतरङ्क-वृक-गोमायुप्रभृतीन् जीवानानन्दयन्तः प्रीणयन्तः एते हव्यवाहा इमे चिताग्नयः स्रुतबहलवसावाहिनो दह्यमानदेहच्युतमेदोमज्जितास्सन्तो न निर्वान्ति नैव प्रशाम्यन्त्यपि तु धगिति भृशं प्रज्वलन्त्येवेत्यर्थः ॥ २८ ॥

टिप्पणी—अत्र 'मम नन्द शनिर्दहनकोपोऽद्यापि न शान्त' इति रूपेणाऽभिव्यक्तः

अरे !

'क्या तुम्हें दिखाई नहीं देती ! अभी भी उस अग्नि की वे निकलती लपटें । जले-मरे नन्दों (की मांस-मज्जा) से श्मशान-वासी जीवों को तृप्त करने वाली वे ज्वालायें, नन्द के वंशधरों की पिघलने वाली चर्बियों से धू २ कर जलने वाली वे अग्नि-शिखायें, दीर्घनिष्कम्प पक्ष वाले, चारों ओर आकाश में चक्कर काटते हुए गिद्धों के रूप में प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाली धूम-राशियों से नष्ट सूर्यालोक दिशाओं में घनान्धकार फैलाने वाली वे लपटें, आंख खोलकर देखो, भला बुझी कहां हैं !' ॥ २८ ॥

राजा—अन्येनैवेदमनुष्ठितम् ।

चाणक्यः—आः, केन ?

राजा—नन्दकुलविद्वेषिणा दैवेन ।

चाणक्यः—दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति ।

राजा—विद्वांसोऽप्यविकत्थना भवन्ति ।

चाणक्यः—(सक्रोधम्) वृषल ! वृषल !! भृत्यमिव मामारोढुमिच्छसि ?—

शिखां मोक्तुं बद्धामपि पुनरयं धावति करः,

(भूमौ पादप्रहारं कृत्वा)

प्रतिज्ञामारोढुं पुनरपि चलत्येष चरणः ।

औग्रयाख्यो व्यभिचारिभावो बीभत्समुपसर्जनीकुर्वन् वीरमेवोत्तम्भयन् वर्णित इति सुतरां वीर-बीभत्सयोरङ्गाङ्गिभावो निर्व्यूढ इति ।

अत्र चन्द्रगुप्त-चाणक्ययोः परस्परमुत्तर-प्रत्युत्तररूपस्य संलापस्य क्रोधजन्यत्वात्सम्फेटरूपं गर्भसन्धेरङ्गम् । सम्फेटलक्षणं यथा—'सम्फेटः क्रोधजं वचः' इति ।

चाणक्यः कोपप्रज्वलितमानसश्चन्द्रगुप्तं प्रधर्षयन्नाह—शिखां मोक्तुमित्यादि ।

वृषल ! अयं करः मदीयो हस्तो बद्धामपि पूर्णनन्दप्रणाशप्रतिज्ञत्वाद्बद्धुमिष्टामपि शिखां पुनर्मोक्तुं स्वत्कृत-मदवमानप्रतिशोधनायेति शेषः, धावति प्रसभं प्रसरति, एष चरणः मदीयः पादः प्रतिज्ञामारोढुं मदवमानिनं विनाशयिष्यामीति प्रतिज्ञापथेनाऽतिसंकटेन सञ्चरितुं पुनरपि चलत्यग्रेसरीभवति । अरे ! कालेन परीतः

राजा—यह सब दूसरे का किया-कराया है !

चाणक्य—क्यों किसका किया-कराया है ?

राजा—नन्द से रूठ चुकने वाले भाग्य का और किसका ।

चाणक्य—भाग्य पर तो मूर्खों का भरोसा है !

राजा—और विद्वान् लोग भी तो अपने मुंह मियां मिट्ठू नहीं हुआ करते !

चाणक्य—(क्रुद्ध होकर) वृषल ! वृषल ! चुप रहो, हमें क्या भृत्य समझ रखा है तुमने ! 'अरे ! क्या यही चाहता है तू कि मेरे हाथ कभी की बंधी इस शिखा को पुनः खोलने के लिये दौड़ पड़ें ! (पृथिवी पर पैर पटकते हुये)

अच्छी बात है सम्हल जा ! अब ये पैर पुनः प्रतिज्ञा पर आरूढ़ हो रहे हैं !

प्रणाशान्नन्दानां प्रशममुपयातं त्वमधुना
परीतः कालेन ज्वलयसि मम क्रोधदहनम् ॥ २९ ॥

राजा--(सावेगं स्वगतम्) अये ! तत् कथं सत्यमेव कुपित आर्यः ? तथा हि—

संरम्भस्पन्दिपक्ष्मक्षरदमलजलक्षालनक्षामयाऽपि
भ्रूभङ्गोद्भेदधूमं ज्वलितमिव पुनः पिङ्गया नेत्रभासा ।
मन्ये, रुद्रस्य रौद्रं रसमभिनयतस्ताण्डवे संस्मरन्त्या
संजातोदग्रकम्पं कथमपि धरया धारितः पादघातः ॥ ३० ॥

मृत्युना वशीकृत इव त्वमधुना भृत्यभावेन मां यदा स्पृशसि तदा नन्दानां प्रणाशात्प्रशममुपयातमपि प्रशान्तमपि मम क्रोधदहनं कोपाग्निं ननु ज्वलयसि प्रदीपयितुमुत्सहसे इत्यर्थः ॥ २९ ॥

टिप्पणी—चाणक्यावलम्बनो वीरो रसस्सहृदयहृदयान्यत्र भृशमुद्दीपयति ।

चन्द्रगुप्तश्चाणक्यं सत्यमेव कुपितं पश्यन् किमपि विचिन्तयन्नाह—संरम्भस्पन्दीत्यादि । सत्यमेव कुपित आर्यस्तथा हि संरम्भस्पन्दिपक्ष्मक्षरदमलजलक्षालनक्षामयाऽपि संरम्भेण क्रोधावेशेन स्पन्दीन्युत्कम्पवन्ति यानि पक्ष्माणि तेभ्यः क्षरन्निस्सरद् यदमलं जलं क्रोधाश्रु तेन कृतं यत् क्षालनं तेन क्षामयाऽतिरूक्षयाऽपि पिङ्गया क्रोधाक्रान्तिपुनरावृत्त्या रक्तरञ्जितया नेत्रभासा नेत्रदीप्त्या (कर्त्र्या) भ्रूभङ्गोद्भेदधूमं भ्रुवोर्भङ्गोद्भेद एव धूमो यस्मिन् कर्मणि तद् यथा तथा पुरः ज्वलि-

---

जला डाल मेरी इस क्रोधाग्नि को ! जिसे मौत मांगना है वह भला नन्द–विनाश के बाद बुझती हुई इस आग को क्यों कर न जलावेगा !' ॥ २९ ॥

राजा—(उद्विग्नता के साथ–स्वगत) अरे ! यह तो बड़ा भारी अनर्थ हो गया ! क्या सचमुच आर्य चाणक्य कुपित हो गये ! क्योंकि,

'एक ओर जहां क्रोधावेश से कम्पायमान पलकों से निकलती जल की बूंदों से धुली और समस्त (कोमल) भाव-शून्य ये रक्तपीत आंखें चढ़ी हुई भौंहों के रूप की धूमराशि के साथ जलती दिखाई दे रही हैं वहां दूसरी ओर भयङ्कर हलचल के साथ यह पृथिवी भी ताण्डव नृत्य के समय रौद्र-रस का अभिनय करने वाले देवाधिदेव के पाद-विक्षेप का स्मरण करती हुई किसी प्रकार इन पैरों के प्रहार को सहती सी लग रही है !' ॥ ३० ॥

चाणक्यः--(कृतकं कोपं संहृत्य) वृषल ! वृषल !! अलमुत्तरोत्तरेण। यद्यस्मत्तो वरीयान् राक्षसोऽवगम्यते, तस्मादिदं शस्त्रं तस्मै दीयताम् (इति शस्त्रमुत्सृज्य उत्थाय च आकाशे लक्ष्यं बध्द्वा स्वगतम्)

राक्षस ! राक्षस !! एष भवतः कौटिल्यबुद्धिविजिगीषोर्बुद्धेः प्रकर्षः ?

चाणक्यतः स्खलितभक्तिमहं सुखेन
जेष्यामि मौर्य्यमिति सम्प्रति यः प्रयुक्तः।
भेदः, किलैष भवता सकलः स एव

तमिवाग्रे प्रज्वलितुमुपक्रान्तमिव ! मन्येऽत एव संभावयामि यदार्यस्य पुनः प्रतिज्ञामारुरुक्षोः पादघातः पादप्रहारो धरया पृथिव्या ताण्डवेषु विकटविक्रान्तनृत्येषु रौद्रं रसमभिनयतः हृद्गतं क्रोधं काय–मनो–वाग्व्यापारैः प्रकाशयतः रुद्रस्य स्मरन्त्या (अधीगर्थदयेषां कर्मणीति षष्ठी) सत्या सञ्जातोदग्रकम्पं संजातस्समुद्भूत उदग्रो विकटः कम्पो यस्मिन् कर्मणि तद् यथा तथा कथमपि महता क्लेशेन धारितस्सोढ इत्यर्थः ॥ ३० ॥

टिप्पणी—अत्र चन्द्रगुप्तकर्तृकं चाणक्यकोपस्यापायकारकतादिसम्भावनं यत्तद् विद्रवाख्यं गर्भसन्धेरङ्गम्। विद्रवलक्षणं तु यथा नाटयदर्पणे—'विद्रवः शङ्के'ति। विद्रवस्य विद्रवत्वं हृदयविद्रावणात् मनःश्लथीकरणाद्वेति।

चाणक्यः राक्षसोप्तं भेदबीजं सोल्लुण्ठं समुत्पाटयन् बुद्धिस्थं तं भृशं प्रधर्षयन्नाह—चाणक्यत इत्यादि। अरे शठ महाधूर्त ! राक्षस ! यः भेदः भवता भेदपटुना 'अहं चाणक्यतश्चलितभक्तिं विश्लथानुरागं मौर्यं चन्द्रगुप्तं सुखेन विना कष्टमेव जेष्यामि पराभविष्यामी'ति ध्यायं ध्यायं कमपि नीतिप्रयोगं संप्रति यदा मया पूर्वमेव सर्वोऽयं विदितस्तदा प्रयुक्तस्तर्हि एष किल स एव सकलो भेदः तवैव हि दूष-

---

चाणक्य—(कृत्रिम कोप को दूर कर) वृषल ! वृषल !! मुझे तुमसे वाद-विवाद नहीं करना है। यदि तुम राक्षस को हमसे बड़ा समझते हो, दे दो यह शस्त्र उसे ! (शस्त्र फेंक कर, उठते हुये, आकाश की ओर एकटक देख-स्वगत)

राक्षस ! राक्षस !! कौटिल्य की बुद्धि के विजयैषी हो न ! तुम्हारी बुद्धि का ऐसा प्रकर्ष !

'अरे नीच ! धूर्त !! क्या यह चाल इसीलिये चली है कि चन्द्रगुप्त को चाणक्य से शिथिलभक्ति देखते ही अनायास जीत लोगे ! अरे ! तुमने जो यह फूट हम दोनों में पैदा करने की चेष्टा की है, देख लेना, किस प्रकार तुम्हारा ही

सम्पत्स्यते, शठ ! तवैव हि दूषणाय ॥ ३१ ॥

(इति निष्क्रान्तः)

राजा—आर्य ! वैहीनरे ! 'अद्य प्रभृत्यनादृत्य चाणक्यं चन्द्रगुप्तः स्वयमेव राज्यकार्याणि करिष्यती'ति गृहीतार्थाः प्रकृतयः क्रियन्ताम् ।

कञ्चुकी—(स्वगतम्) कथं निरुपपद एव चाणक्यो, नार्यचाणक्य इति । हन्त ! सत्यमेव हृतोऽधिकारः । अथवा न खल्वत्र वस्तुनि देवदोषः ।

स दोषः सचिवस्यैव यदसत् कुरुते नृपः ।
याति यन्तुः प्रमादेन गजो व्यालत्ववाच्यताम् ॥ ३२ ॥

राजा—आर्य ! किं विचारयसि ?

णाय त्वत्त एव मलयकेतुं भेत्तुं सम्पत्स्यते परिणंस्यतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—अत्र चाणक्यस्य राक्षसनीतिबीजोत्पाटनरूपाल्लाभाशंसनात् प्राप्त्याशा शीर्षमुन्नमय्य स्थिता समवलोक्यते सामाजिकैः ।

कञ्चुकी राजामात्ययोः कृतककलहं सत्यमेव मन्वान आह—स दोष इत्यादि । स सचिवस्यैव चाणक्यस्यैवेति यावद्, दोषोऽपराधो यन्नृपश्चन्द्रगुप्त इति यावदसत्कुरुते नाद्रियते सचिवमिति शेषः । यतो हि गजो यन्तुर्हस्तिपकस्य प्रमादेनैव व्यालत्ववाच्यतां व्यालत्वेन दुष्टगजत्वेन वाच्यतां निन्दनीयतां याति प्राप्नोति, हस्तिपकमपि नाद्रियत इति भाव इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

सर्वनाश कर दिखाती है !' ॥ ३१ ॥

(बाहर चला जाता है)

राजा—आर्य ! वैहीनरे ! आज से चाणक्य को हटाया, अब चन्द्रगुप्त स्वयं राज-काज करेगा, जाओ और प्रजाओं को इस बात से अवगत करा दो ?

कञ्चुकी—(स्वगत) अरे ! आज तो केवल 'चाणक्य' कह दिया, 'आर्य चाणक्य' अब गये ! अब गया उनका सारा आधिपत्य ! कोई बात नहीं महाराज का इसमें क्या दोष !

'यह तो सचिव का दोष है जो राजा कुछ अनुचित कर बैठे । भला बिना हाथीवान के प्रमाद के हाथी क्योंकर बदमाश कहा जा सकता है !' ॥ ३२ ॥

राजा—क्यों, क्या सोच रहे हो !

कञ्चुकी—देव ! न किञ्चिद्विचारयामि, किन्तु एतद्विज्ञापयामि, दिष्ट्या देव इदानीं देवः संवृत्त इति ।

राजा—(आत्मगतम्) एवमस्मासु गृह्यमाणेषु स्वकार्यसिद्धिकामः, सकामो भवत्वार्यः । (प्रकाशम्) शोणोत्तरे ! अनेन शुष्ककलहेन शिरोवेदना मां बाधते, तच्छयनगृहमार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—एतु एतु महाराजः (एदु एदु महाराजो)।

राजा—(आसनादुत्थायात्मगतम्)।

आर्याज्ञयैव मम लङ्घितगौरवस्य
बुद्धिः प्रवेष्टुमवनेर्विवरं प्रवृत्ता ।
ये सत्यमेव न गुरून् प्रतिमानयन्ति

चन्द्रगुप्तः कृतककलहेन खिन्नमनाश्चिन्तयति—आर्याज्ञयैवेत्यादि । आर्याज्ञयैव आर्यचाणक्यस्य शासनेनैव न तु स्वेच्छया लङ्घितगौरवस्यातिक्रान्तार्यमर्यादस्य कृतककलहेनेति शेषः, मम बुद्धिरवनेर्विवरं पातालं प्रवेष्टुमिव प्रवृत्ता लज्जाभरविलतत्वादिति शेषः, ये जनाः सत्यमेव गुरुन् न प्रतिमानयन्ति नाद्रियन्ते नु (वितर्के) तेषां हृदयं लज्जा कथं न भिनत्ति कुतो न विदारयतीत्यर्थः। आवयोः कृतक-

---

कञ्चुकी—कुछ नहीं महाराज ! बस यही कहना चाह रहा हूं कि आज महाराज महाराज हुये !

राजा—(स्वगत) जब लोग भी अब ऐसा समझने लगे तब तो अपनी कार्यसिद्धि के अभिलाषी हमारे आर्य चाणक्य का मनोरथ, क्या ही अच्छा हो, पूरा हो जाता ! (सुनाकर) शोणोत्तरे ! इस व्यर्थ के विवाद से मेरा सिर दुख रहा है, मुझे शयन-गृह में ले चलो ।

प्रतीहारी--इधर आवें महाराज !

राजा--(आसन से उठते हुये-स्वगत)

'ओह ! जब कि आर्य की ही आज्ञा से उनके गौरव का हमने अतिक्रमण किया तब यदि हमारा हृदय ऐसे अधीर हो उठा है जैसे पाताल में धंस जाना चाहता हो तब भला उन लोगों का हृदय तो लज्जा से फट ही जाना चाहिये जो

तेषां कथं नु हृदयं न भिनत्ति लज्जा ? ॥ ३३ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति मुद्राराक्षसे तृतीयोऽङ्कः ।



कलहः मामित्थं पीडयति राक्षसमलयकेतोर्यथार्थकलहः किं किं न करिष्यतीत्यभिप्राय इति भावः ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—अत्र मौर्यकौटिल्ययोः कृतककलह एव कौटिल्यस्य राक्षसवशीकाररूपायाः प्राप्त्याशाया उपोद्बलकः । अस्यां खल्ववस्थायां चाणक्यनायकस्य नीत्युत्साहः कयाऽप्यन्ययैव विचित्रया विधया वर्णनाविषयीकृतः इति किमपि चतुरजनचेतोहरं वस्तु–नेतृ–रसानां समुद्दङ्कनमिति निध्यातव्यं नाटयवेदिभिरिति ।

इति कृतककलहाख्यस्तृतीयोऽङ्कः ।



अपने बड़ों का सचमुच ही अपमान किया करते हैं !' ॥ ३३ ॥

(सभी पात्र बाहर चले जाते हैं)

तृतीय अङ्क समाप्त ।



चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यध्वगवेशः पुरुषः)

पुरुषः—हीमाणहे ! हीमाणहे !! [आश्चर्यम् ! आश्चर्यम् !!]

योजनशतं समधिकं को नाम गतागतमिह करोति ।
अस्थानगमनगुरुका प्रभोराज्ञा यदि न भवति ॥ १ ॥

(जोअणसअं समधिअं को णाम गदागदं इह करेइ ।
अत्थाणगमणगुरुई पहुणो अण्णा जइ ण होइ ॥ १ ॥)

तद्यावदमात्यराक्षसस्यैव गेहं गच्छामि । (परिश्रान्तवत् परिक्रम्य) भोः ! कोऽत्र दौवारिकाणाम् ? निवेदय तावद् भर्त्तुः अमात्यराक्षसस्य—'एष खलु करभकः करभक इव कार्यं त्वरयन् पाटलिपुत्रादागतः' इति । (ता जाव अमचरक्खसस्स ज्जेव गेहं गच्छामि, भोः ! को एत्थ दुआरिआणं ?

पथिकव्यञ्जनोऽमात्यराक्षसप्रणिधिर्विदितशत्रुवृत्तान्तस्तत्तन्निवेदयितुं स्वामिने राक्षसाय साधितनियोगमात्मानं प्रकाशयन्नाह—योजनशतमित्यादि । यदि प्रभोरस्थानगमनगुरुकाऽऽज्ञा न भवति, यदि स्वामिनोऽमात्यस्य 'करभक ! गच्छ पाटलिपुत्रं, जानीहि विज्ञापय च तत्रत्यं सर्वमुदन्तजातं सत्वर'मित्यादिरूपाऽऽज्ञा या ह्यस्थाने निरुद्धस्वच्छन्दसंचरणे निरीक्ष्यमाणसर्वजनगतागते पाटलिपुत्रे यद् गमनं तेन कृत्वा गुरुका कष्टसम्पाद्या-प्राणहारिकेति वा, न भवति तर्हि को नाम मद्भिन्नो मदन्यो वा जनस्समधिकं योजनशतं गतागतं तत्र ततो वाऽत्र गमनागमनं करोति ? न कोऽपीति भावः । महत्या खलु स्वभाग्यसंपदैवाऽहं ध्रिये इत्यभिप्राय इति ॥ १ ॥

(पथिक वेष में एक पुरुष का प्रवेश)

पुरुष—ओह ! कितने आश्चर्य की बात है ! 'कि ऐसे तो सैकड़ों कोसों की दूरी को कोई भी नापना न चाहे, किन्तु वहां जाने के लिये भी, जहां जाना प्राणों को संकट में डालना हुआ करता है, जब किसी प्रभु की विकट आज्ञा निकल जाय तब हम सरीखे लोग उसे पूरा करके ही छोड़ा करते हैं !' ॥ १ ॥

अच्छा, चलूं, मुझे तो अब अमात्यराक्षस के घर चलना है । (थके-मांदे से चलते-फिरते) अरे ! कोई द्वारपालों में से है यहां ? अरे भाई ! हमारे स्वामी

णिवेदेह दाव भट्टिणो अमच्चरक्खसस्स, एसो क्खु करहको करहक विअ कज्जं तुवरन्तो पाडलिपुत्तादो आगदो त्ति)

दौवारिकः—(प्रविश्य) **भद्र ! मा उच्चैर्मन्त्रय, एष खलु भर्त्ता अमात्यराक्षसः कार्यचिन्ताजनितेन जागरणेन समुत्पन्नशीर्षवेदनोऽद्यापि तावन्न शयनतलं मुञ्चति; तस्मात् तिष्ठ तावन्मुहूर्त्तम् , यावत् तस्य लब्धावसरो भूत्वा भवत आगमनं निवेदयामि** (भद्द ! मा उच्चं मन्तेहि; एसो अमच्चो भट्टा कज्जचिन्ताजणिदेण जाअरेण समुप्पणसीसवेअणो, अज्ज वि दाव ण सअणदलं मुञ्चदि; ता चिट्ठ दाव मुहुत्तअं, जाव से लद्धावसरो भविअ, भवदो आगमणं णिवेदेमि)

पुरुषः—**भद्रमुख ! यथा ते रोचते** (भद्दमुह ! जधा दे रोअदि)

(ततः प्रविशति शयनगत आसनगतेन शकटदासेन सह चिन्तितो राक्षसः)

अत्र श्रीढुण्ढिराजपण्डितैस्तदनुयायिभिरन्यैश्च टीकाकर्तृभिः 'अथ चतुर्थेऽङ्के राक्षसचारसंवादरूपाऽल्पा कथा प्रकरी कथ्यत' इति यदुल्लिखितं तत्तु मोहवशत एव न नाट्यरहस्यपारवश्यात् । क्वात्र नाटके स्वपराक्रमबहुमानशालिचाणक्यनेतृके प्रकर्यपेक्ष्यते ! न राक्षसोऽस्य नाटकस्य नायको यदर्थं प्रकरीं नाटककविरयं प्रकल्पयेत् ! वस्तुतस्तु चाणक्यस्य प्राप्त्याशाया एवान्तिमपर्वणोऽत्र निपुणं निबन्धं विदधाति कविः। ततश्च गर्भसन्धिरयं सर्वोऽपि चतुर्थाङ्कसंदब्धो नाटकार्थराशिरतो 'नियताप्ति प्रकरीरूपो विमर्शसन्धि'रिति नाव्याक्षरालोचनादिना न मनः खेदयितव्यं सुधीभिरत्र विमर्शपरामर्शपरिक्लेशैरिति ।

अमात्यराक्षस से जाकर निवेदन कर आओ-'आपका करभक सांड़नी सवार के समान सब काम बनाकर पाटलिपुत्र से यहां आ पहुंचा ।

दौवारिक—(प्रवेश करके) क्यों क्या बात है ! जोर से न बोलो । हमारे स्वामी अमात्यराक्षस कार्यचिन्ता से जागते रहने के कारण सिर दर्द से पीड़ित अभी तक पर्यङ्क पर लेटे पड़े हैं । थोड़ी देर रुके रहो, अवसर मिलते ही तुम्हारे आने की सूचना पहुंचा दी जायगी ।

पुरुष—अरे ! भले मानुस ! जैसी तुम्हारी इच्छा !

(पर्यङ्क पर लेटे चिन्तामग्न राक्षस और आसन पर बैठे शकटदास की रंगमञ्च पर उपस्थिति)

राक्षसः—(आत्मगतम्)

मम विमृशतः कार्यारम्भे विधेरविधेयतां
सहजकुटिलां कौटिल्यस्य प्रचिन्तयतो मतिम् ।
अथ च विहिते मत्कृत्यानां निकाममुपग्रहे
कथमिदमिहेत्युन्निद्रस्य प्रयान्त्यनिशं निशाः ॥ २ ॥

अपि च—

कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छन्

व्यापृतबहुकृत्योऽमात्यराक्षसश्चिन्तामग्नमात्मानमाविष्कुर्वन्नाहात्मगतम्— मम विमृशत इत्यादि । हन्त ! न जाने किं भावि यतो ह्यनिशं सततमेवोन्निद्रस्य नष्टनिद्रासुखस्य मम निशास्सर्वा अपि रजन्यः प्रयान्ति व्यतिगच्छन्ति । तथा हि कार्यारम्भे कृत्योपक्रमप्रवृत्त्येव विधेर्भाग्यस्याऽविधेयतां प्रतिकूलतां विमृशतो विचिन्तयतो मम क्व निद्रालाभः ? यदि कथञ्चिदारब्धं किञ्चित्कार्यं तर्ह्यपि–कौटिल्यस्य स्वभावत एव कूटकपटपटोश्चाणक्यहतकस्य सहजकुटिलां निसर्गत एव वक्रामत एव च दुर्विज्ञेयां मतिं मत्कार्यव्याघातकारिणीं नीतिं प्रचिन्तयतो विशेषेण विचारयतः कुतस्स्वापसुखम् ! अथ च मत्कृत्यानां विषकन्या–तीक्ष्णरसदप्रयोगादिरूपाणां महतामपि मदीयव्यापाराणां निकाममुपग्रहे यथाविराधवर्णितं विपरिवर्त्ते विभाव्यमाने विनिर्णीयमाने वेहास्मिन् कर्मणि यथा विषकन्याप्रयोग एव निश्चितसाफल्य इदमचिन्तितोपनतं वैफल्यं कथं किं मद्भाग्यपरिक्षयात्किमुत शत्रुमाहाभाग्यादितीत्यादि संकल्पयतो विकल्पयतो वा कथं शयनोत्सवः ! इत्युन्निद्रस्यैव विगतस्वापस्यैव यथा दिनानि तथा निशा अपि कष्टवाहितया व्यतियान्तीति भावः ॥ २ ॥

पुनरपि चिन्ताग्रस्तहृदयः राक्षसः किमपि स्वहृदयानुभूतं महत्क' राजनीतिनाटकाभिनयनिर्वाहं मनसि कुर्वन्नाह—कार्योपक्षेपमादावित्यादि । हन्त ! क्लेशमय-

---

राक्षस—(स्वगत) 'सारी रातें जागते हुये निकलती जा रही हैं ! किसी काम को जब हाथ में लूं तो भाग्य की विडम्बना सोचने लग जाता हूं ! कुछ कर चुका होऊं तो कुटिलबुद्धि चाणक्य की स्वभावतः टेढ़ी-मेढ़ी नीति से सोच में पड़ जाता हूं ! जब कि पता लग जाय कि मेरे दांवपेंच पकड़ में आ चुके हैं तब यह चिन्ता सताने लगती है कि यहां ऐसा क्यों हुआ ! क्या करूं, क्या न करूं-नींद भला कैसे आये' ॥ २ ॥

ओह ! 'कैसा विचित्र कष्ट भोगना पड़ रहा है ! यह राजनीति भी कैसा नाटक है ! जैसा कष्ट भोगे नाटक रचने वाला, वैसा ही कष्ट भोगे राजनीति में पड़ने वाला!

बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च।
कुर्वन् बुद्धया विमर्शं प्रसृतमपि, पुनः संहरन् कार्यजातं

एवायं राजनयमार्गः! राजनयप्रयोगो नाटकाभिनयप्रयोग इव द्रष्टॄणां यथा सुखावहो न तथा कर्तॄणाम्। तथा ह्यादावारम्भे तनुमपि स्वल्पमपि कार्योपक्षेपं प्रतिपक्षोपजापोपग्रहादिरूपस्य कृत्यजातस्योपन्यासं रचयन्नस्मद्विधो जनः राजनयप्रयोक्षेमसुनिद्रताविधायिनं कमपि क्लेशमनुभवत्येव कृत्याकृत्यपक्षादिप्रविचारकर्मणि, ततश्च तस्योपक्रान्तस्य कर्मणश्शत्रूच्छेदादिप्रयोजनस्य विस्तारं बहुलाभोन्मुखीभावमिच्छन् हृदयेन समाशंसमानोऽस्मादृशो जनस्सुतरामनुभवत्येव दुःखं तत्तदाज्ञाऽनुज्ञाप्रदानादिभिस्तदनन्तरं खलु गर्भितानां निपुणं निगूढानां बीजानां स्वोप्तानां शत्रुप्रणाशफलानां मन्त्राणामतिगहनं दुरवगमं गूढमनभिव्यक्तं च फलं साध्यमुद्भेदयन् प्रकटमुन्नयन् क्लेशमेव केवलमनुभवति मादृशः राजकार्यकरस्तत्तत्कृत्यविघातेष्वपि तत्तत्कृत्यसाफल्याशंसनाभिः, तत्पश्चात् बुद्ध्या कर्मारम्भयत्न-फलौत्सुक्य-तदाप्त्यादिषु प्रज्ञया धारयिष्णुतया दक्षतया च वा विमर्शं सिद्ध्यसंभावनानिरासपूर्वकं सिद्धिनिश्चयादि कुर्वन् विदधानो भृशमेवानुभवति मनःखेदम्, परतरञ्च पुनः कार्यजातं तत्तन्मन्त्रसंप्रसाध्यानर्थसंभारान् संहरन् समुपक्षिपन्ननुभवत्येव भूयोऽप्यन्तेऽपि किमपि कष्टमिति निकामं निर्वेदप्रायोऽयममामात्यभारस्तथैव प्रत्येकं पर्वसु समापन्नदुःखस्समुपनतचिन्तो वा यथा नाटककृतो नाटकनिर्माणभारो, यत्र हि मुखसन्धौ निर्मास्यमाने बीजोपक्षेपे तत्तदभिनयोपयोगिवस्तु-वृत्त-रसादिविनिवेशनव्यापारे चित्तसमाधानादिरूपं दुःखम्, तदुत्तीर्य प्रतिमुखे प्रारभ्यमाणे बीजोद्घाटादिकर्मप्राग्भारे प्रयत्नावस्थापरिच्छेदादिजन्यमन्यदेव किमपि सतर्कताकारिदुःखम्, तदुत्तरं गर्भसन्धौ निबध्यमाने नायक-प्रति-

सर्वप्रथम ही कुछ कार्यारम्भ (नाटककार के लिये मुखसन्धि और राजनीति में पड़ने वाले के लिये राजनैतिक चालों का आरम्भ) करते हुये, तदनन्तर उसे फलोन्मुख बनाने के लिये उसमें (नाटककार के लिये प्रतिमुखसन्धि और राजनीति में पड़ने वाले के लिये राजनैतिक चालों की व्यापकता की दृष्टि से) विशेष प्रयत्नशील होते हुये, इसके बाद ही भविष्य के गर्भ में पड़े गूढ़ फलों के मूल बीजों को विकासोन्मुख बनाते हुये (नाटककार के लिये तो गर्भसन्धि में बीजोद्भेद करते हुये और राजनीतिज्ञ के लिये राजनीति की मन्त्रणाओं को गूढ़ रूप से फलोन्मुख बनाते हुये), कालान्तर में बुद्धिपूर्वक (नाटककार के लिये विमर्श सन्धि के निर्माण में और राजनीतिज्ञ के लिये कर्त्तव्याकर्त्तव्य चिन्तन में)

कर्त्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा ॥ ३ ॥

नायकादिचिन्तितलाभालाभादिचिन्ताप्रचुरं प्रवृद्धतरमेव स्वानुभववेद्यं दुःखं, ततोऽग्रे विमर्शसन्धौ चिकीर्षिते सति नायकस्य फलावाप्तौ संदेहमुग्धस्य प्रत्यूहसम्पातादिचिन्तासंकुलस्य हृदयेन साकमेव स्वहृदयेनाऽपि तत्तद्रसभावादिनिर्वहणौन्मुख्यादिविकल्पनायामन्यादृशमेव दुःखम्, पर्यन्ते चापि निर्वहणसन्धौ विधातव्ये समस्तस्य नाटकीयार्थराशेस्समुपसंहारेऽतिमहदेव सदोन्निद्रताकारि सर्वभावेन तत्तदौचित्यपरिचिन्तनादिरूपमन्यविधं तत्तद्दुःखमिति दुःखमयमेव मन्त्राधिकृतत्वमिति ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(१) अत्र 'कविरद्भुततरनीतिविषयकस्वसंविधानक्लेशं राक्षसवचनव्याजेन प्रस्तौती'ति सिद्धान्तयता नाटकव्याख्यात्रा श्रीढुण्ढिराजेन यदुक्तं न तत् सर्वसहृदयहृदयहारि न वैतन्नाटकप्रस्थानप्रगुणं यतो हि ततोऽप्यधिकतरमानुगुण्यमस्य सिद्धान्तस्यात्र यत् 'राक्षस एव तत्तद्योगक्षेमनिरतस्सद्योजागृतकर्मयोगबोधः लाभालाभौ जयाजयौ च समदर्शितया परिपश्यन् राजनीतिकृत्यं कविकृत्यं नाटककृत्कर्मैव वा लोकसंग्रहबुद्ध्या विभावयन् स्वदुःखमपि ताटस्थ्येन परिच्छिनत्ति महोदारत्वं च स्वात्मनः प्रकाशयतीति ।

(२) उत वाऽत्र विशाखदत्तो नाटककविर्महता मनोलयेन राक्षसहृदयेन स्वहृदयं संवादयन् कमपि राक्षसविषयकं स्वपक्षपातं सहृदयहृदयादर्शे संक्रामयतीति । यः महामनोयोगरूपः क्लेशश्चाणक्येन सह मन्त्रयुद्धे राक्षसस्य स एव तादृशो वा क्लेशो नाटककर्तुरप्यस्य नायक–प्रतिनायकगततत्तद् रसभावादिवर्णनाविषये तत्र तत्र सर्वत्रेति ।

(३) योऽयं ढुण्ढिराजीयसिद्धान्तो वाच्यायमानो दृश्यते तस्यात्र सिद्धान्ते भङ्ग्यन्तरानुसरणेन यद् व्यङ्ग्यायमानत्वं तत्रैव कवेस्संरम्भ इत्यपि महालाभस्सुमेधसामिति ।

(४) अत्र यदर्वाचीनानां टीकाकृतां श्लेषालङ्कारदर्शनमथवा मन्त्रि–नाटककृतोः प्रस्तुताप्रस्तुतयोरेकक्रियाभिसम्बन्धाद्दीपकालङ्कारप्रेक्षणमुभयोरुत साङ्कर्यसमीक्षणं तदुत्तानमेव किमपि न सुसूक्ष्मं नाटकस्यास्य रामणीयकचिन्तनमिति । अत्र हि 'कार्योपक्षेप'मित्यारभ्य 'पुनः संहरन् कार्यजात'मिति वदन्नेव राक्षसस्स्वात्मानं,

---

फलाफल का सतत विश्लेषण और विवेक करते हुये और सब से अन्त में (नाटककार के लिये निर्वहण सन्धि में और राजनीतिज्ञ के लिये उद्देश्य सिद्धि में) समस्त कार्यकलाप को फलप्राप्ति की दृष्टि से समेटते हुये–यह जो कुछ हुआ करता है वह भला सुख कहां ! एकमात्र दुःख ही दुःख है !' ॥ ३ ॥

तदपि नाम दुरात्मा चाणक्यवटुः,—'

दौवारिकः—(उपसृत्य) जयतु, जयतु ('जेदु जेदु'—)

राक्षसः—'अतिसन्धातुं शक्यः स्यात्—'

दौवारिकः—अमात्यः (अमच्चो)

राक्षसः—(वामाक्षिस्पन्दं सूचयित्वाऽऽत्मगतम्) 'दुरात्मा चाणक्यवटुर्जयतु, अभिसन्धातुं शक्यः स्यादमात्यः' इति वागीश्वरी वामाक्षिस्पन्दनेन प्रस्तावगता प्रतिपादयति । तथापि नोद्यमस्त्याज्यः । (प्रकाशम्) भद्र ! किमसि वक्तुकामः ?

परामृशति-'इममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वे'ति तदुत्तरमेव च स्मरति-'नाटकानां कर्ता वे'ति । ततश्च राक्षस-नाटककृतोः परस्परौपम्यं राजनयप्रयोग-नाटकनिर्माणयोर्वा साधर्म्यपारस्पर्यं प्रसभमुन्मीलितं व्यङ्ग्यरूपमिति । शब्दशक्तिमूलो ध्वनिरत्रेति वाच्यशोभाकरा अलंकाररूपा धर्मास्तमेवालङ्कार्यं बलितवदना विभावयन्तो दृश्यन्त इत्यलं बहुविकल्पायासेनेति ।

अतिसन्धातुमिति—प्रतारयितुमित्यर्थः । विवशीकर्तुं वा यथा कौटिलीयार्थशास्त्रस्यामूदृशि प्रयोगजाते—'भिक्षुकी वा दूष्यभार्यां सांवनिकीभिरोषधीभिः संवास्य रसेनातिसंदध्यात् ।' इत्यत्र यथा वा 'परोपजापातिसंधानोपाधिभ्यश्च रक्षेत्' इत्यत्र ।

'कस्मिन् प्रयोजने मयाऽयं प्रहित' इत्यादि राक्षसचिन्तोपनिबन्धेनाऽत्र भागुरायणमलयकेतुप्रवेशावसरो गर्भाङ्क उपनिबध्यते कविना । गर्भाङ्कस्तु—

अङ्कान्तरेव चाङ्को निपतति यस्मिन् प्रयोगमासाद्य ।
बीजार्थयुक्तियुक्तो गर्भाङ्को नाम विज्ञेय ॥' इति ।

इतना सब होने पर भी यदि कहीं यह दुष्ट चाणक्य······

दौवारिक—(पास पहुंचकर) जय हो, जय हो !

राक्षस—वश में आ जाता !

दौवारिक—हां, अमात्य ! आप !

राक्षस—(बाई आंख का फड़कना देख-स्वगत) अरे ! यह क्या 'दुष्ट चाणक्य की जय हो और अमात्य वश में आ जाता, इस प्रकार की यह अद्भुत वाणी क्या मेरी बांई आंख फड़क उठने से इस प्रकार की होनी की सूचना देने लगी ! अब जो कुछ भी हो-जब कार्य प्रारम्भ हो गया तब इसे छोड़ना कैसा ! (सुनाकर) क्यों भाई ! क्या कुछ कहना चाहते हो ?

दौवारिकः—अमात्य ! एष खलु करभकः पाटलिपुत्रादागतः, इच्छति अमात्यं प्रेक्षितुम्। (अमच्च ! एसो क्खु करहओ पाडलिपुत्तादो आअदो, इच्छदि अमच्चं पेक्खिदुं)

राक्षसः—अवारितं प्रवेशयैनम्।

दौवारिकः—यदमात्य आज्ञापयति। (इति निष्क्रम्य पुरुषमुपसृत्य) भद्र ! एष खलु अमात्यस्तिष्ठति, तदुपसर्प एनम् (जं अमच्चो आणवेदि। भद्द ! एसो क्खु अमच्चो चिट्ठदि, ता उपसप्प णं)

(इति निष्क्रान्तो दौवारिकः)

करभकः—(राक्षसमुपसृत्य) जयतु जयत्वमात्यः (जेदु जेदु अमच्चो)

राक्षसः—(नाट्येनावलोक्य) भद्र करभक ! स्वागतम्। उपविश्यताम्।

करभकः—यदमात्य आज्ञापयति (इति भूमावुपविशति) (जं अमच्चो आणवेदि)

राक्षसः—(आत्मगतम्) अथ कतमस्मिन् प्रयोजने मयाऽयं प्रणिधिः

तथा ह्यङ्कान्तरेण वर्ण्यमानस्य भागुरायणकर्तृकमलयकेतुप्रतारणादेरत्र पूर्वाङ्कवर्णितचाणक्यचिन्तितराक्षसमलयकेतुविषयकभेदानुषङ्गिनोऽर्थजातस्य समूढावतरणमिति सुश्लिष्टं गर्भाङ्कलक्षणमिति।

दौवारिक—हां, अमात्य ! पाटलिपुत्र से करभक आया हुआ है। अमात्य से मिलना चाहता है।

राक्षस—बिना रोकटोक के उसे भीतर आने दो।

दौवारिक—जैसी आज्ञा हो अमात्य ! (बाहर जा उस पुरुष के पास पहुंच कर) अरे भाई ! अमात्य विराज रहे हैं उनके पास चलो।

(द्वारपाल चला जाता है)

करभक—(राक्षस के पास पहुंचते हुये) जय हो अमात्य ! जय हो।

राक्षस—(उसे देखने का अभिनय करते हुये) अरे करभक ! आओ, अच्छे आये तुम तो। आओ बैठो।

करभक—जो आज्ञा अमात्य ! (नीचे बैठ जाता है)

राक्षस—(आत्मगत) काम इतने हैं कि किस के लिये इसे नियुक्त किया था

प्रहित इति प्रभूतत्वात् प्रयोजनानां न खल्ववधारयामि। (इति चिन्तां नाटयति)

(ततः प्रविशति वेत्रपाणिरपरः पुरुषः)

पुरुषः—अपसरत आर्याः! अपसरत। अपेत मान्याः! अपेत। किं न पश्यथ-(ओसलध अज्जा! ओसलध। अवेध माणहे! अवेध। किं ण पेक्खह?)

दूरे प्रत्यासत्तिर्दर्शनमपि दुर्लभमधन्यैः।
कल्याणकुलधराणां देवानाञ्च मनुष्यदेवानाम् ॥ ४ ॥
(दूले पच्चासत्ती दंसणमवि दुल्लहं अधण्णेहिं।
कल्लाणकुलहराणं देवाणं अ मनुस्सदेवाणं ॥ ४ ॥)

(आकाशे) आर्याः! किं भणथ, किं निमित्तमेषाऽपसारणा क्रियते? आर्याः! एष खलु कुमारो मलयकेतुः समुत्पन्नशीर्षवेदनममात्यराक्षसं श्रुत्वा प्रेक्षितुमिहैवागच्छति। एतेन कारणेनापसारणा क्रियते (अज्जा! किं भणध, किं णिमित्तं एसा ओसालणा करीअदि? अज्जा! एसो क्खु कुमालो मलयकेदू समुप्पण्णसीसवेअणं अमच्चरक्खसं सुणिअ पेक्खिदुं इह ज्जेब आअच्छदि। एदिणा कालणेण ओसालणा करीअदि)

मलयकेतुसमागमनं सूचयतः पुरुषस्योक्तिरियम्—दूर इत्यादिरूपा। कल्याणकुलधराणां स्वहस्तधृतसकललोकमङ्गलानां कृतमेरुवासानां वा देवानामिव महोदाराजवंशप्रभवाणां मनुष्यदेवानां राज्ञां कुमारमलयकेतुसदृशानामिति शेषः, अधन्यैः पामरैर्जनैः प्रत्यासत्तिस्सामीप्याप्तिस्तु दूरे दर्शनमपि साक्षात्करणमपि दुर्लभं दुष्प्राप्यमिति भावः ॥ ४ ॥

आकाश इत्यादि—अत्राकाशभाषितेन मलयकेतु-समागमोऽवतार्यते।

ठीक २ पता नहीं चल पाता! (सोचने का अभिनय करते हुये)

(बेंत हाथ में लिये दूसरे पुरुष का प्रवेश)

पुरुष--हटो लोगो, हटो। क्या तुम्हें पता नहीं कि 'सुमेरु के मङ्गलमय देवों के समान बड़े २ राजवंशों के मानव-देवों-राजाओं-का सांनिध्य-लाभ तो दूर रहे, दर्शन भी भाग्यहीनों के लिये दुर्लभ ही है' ॥ ४ ॥

(आकाश की ओर) अरे लोगो! क्या यह जानना चाहते हो कि क्यों तुम्हें हटाया-भगाया जा रहा है? भाइयो! कुमार मलयकेतु आ रहे हैं। शिरोव्यथा से अमात्य राक्षस पड़े हैं जिन्हें देखने पधार रहे हैं। तुम्हें हटाया न जाय तो क्या किया जाय!

(इति निष्क्रान्तः पुरुषः)

(ततः प्रविशति भागुरायणेन कञ्चुकिना चाऽनुगम्यमानो मलयकेतुः)

मलयकेतुः—(निःश्वस्यात्मगतम्) अद्य दशमो मासस्तातस्योपरतस्य। न चास्माभिर्वृथा पुरुषकारमुद्वहद्भिस्तमुद्दिश्य तोयाञ्जलिरप्यावर्जितः। अथवा, प्रतिज्ञातमेतत् पुरस्तात्—

वक्षस्ताडनभिन्नरत्नवलयं भ्रष्टोत्तरीयांशुकं
हाहेत्युच्चरितार्त्तनादकरुणं भूरेणुरूक्षालकम्।
तादृङ्मातृजनस्य शोकजनितं सम्प्रत्यवस्थान्तरं
शत्रुस्त्रीषु मया विधाय गुरवे देयो निवापाञ्जलिः॥ ५॥

मलयकेतुस्सखेदं प्रतिज्ञातमपि पितृबधनिकारप्रतिशोधमसम्पादितं चिन्तयन् पुनः प्रतिजानीत इति—वक्षस्ताडनेति। हन्त! न फलितमद्यावधि मनःसमीहितेन मम, किन्तु प्रतिज्ञेयं मम यन्मया तत्तत्कृत्वा गुरवे पित्रे पर्वतेश्वराय निवापाञ्जलिश्श्रद्धाञ्जलिर्देयस्समर्प्य इति। किं किं कृत्वेति—संप्रति वर्तमाने खलु काले समग्रबलसंभारसंभृते सति मयि तादृङ्मातृजनस्य मदीयस्यैवाम्बाजनस्य तथाविधमातृस्नेहमयस्य वक्षस्ताडनभिन्नरत्नवलय वैधव्यदुःखाऽसहिष्णुतया वक्षस उरसो यानि ताडनानि तैर्भिन्नानि त्रुटितानि खण्डितानि वा रत्नवलयानि यस्मिन्नेवंभूतमवस्थान्तरं दशाविपरिवर्तनं शोकजनितं निकामकरुणं शत्रुस्त्रीषु रिपुनारीषु

(पुरुष निकल जाता है)

(कुमार मलयकेतु और साथ २ भागुरायण तथा कञ्चुकी का प्रवेश)

मलयकेतु—(सांस खींच कर–स्वगत) आज पिता के निधन का दसवां महीना बीत रहा है। व्यर्थ के लिये यह सब हमारा अपने बल-पौरुष का अभिमान रहा! अभी तक उनकी श्रद्धाञ्जलि भी न अर्पित की जासकी! कोई बात नहीं, प्रतिज्ञा तो हमारी वही पहले की अटल है कि—

जब पितृनिधन के कारण अपने स्नेहमय मातृजन की वह शोकजनित दुरवस्था, वह वक्षःस्थल के पीटने से से टूट २ गिरने वाले रत्न-वलयों, अस्तव्यस्त गिरे-पड़े उत्तरीय के क्षौम-परिधानों, 'हाय' 'हाय' के निकलते करुण-विलापों के चीत्कारों और धूलि-धूसरित केशपाशों के रूखेपन की दुर्दशा वैरियों की नारियों के भाग्य में बदल डालूंगा तभी-और वह समय आ ही पहुंचा–पूज्य पितृदेव का श्राद्ध-तर्पण करूंगा!' ॥ ५ ॥

तत् किमिह बहुना ?—

उद्यच्छता धुरमकापुरुषानुरूपां
गन्तव्यमाजिनिधनेन पितुः पथा वा
आच्छिद्य वा स्वजननीजनलोचनेभ्यो
नेयो मया रिपुवधूनयनानि बाष्पः ॥ ६ ॥

(प्रकाशम्) आर्य जाजले ! उच्यन्तामस्मद्वचनादनुयायिनो राजा-

विधाय सम्पाद्य कृत्वेति वेति, पुनश्च किं कृत्वेति भ्रष्टोत्तरीयांशुकं भ्रष्टानि स्वस्थाने-भ्यो दुःखभारेण च्युतानि पतितानि वोत्तरीयांशुकानि क्षौममयाण्युत्तरीयवस्त्रादीनि यस्मिन्नेवंभूतमवस्थान्तरं शत्रुस्त्रीषु कृत्वेति, पुनश्च किं कृत्वेति–हाहेत्युच्चरितार्त्त-नादकरुणमवस्थान्तरं शत्रुस्त्रीषु विधायेति हा हेतिरूपा उच्चरिता उद्गता–य आर्त्तनादाः करुणप्रलापास्तैः करुणं शोकमयं रिपुवनितानां दशापरिवर्त्तनं कृत्वेति, पुनश्च शत्रुस्त्रीणां किंविधमवस्थान्तरं विधायेति–भूरेणुरूक्षालकमिति भूरेणुभिर्धूलि-कणैः रूक्षाः धूसरिताः मलिनीकृता वा अलकाश्चूर्णकुन्तलाः सन्ति यस्मिन्निति तथाविधमित्यभिप्राय इति ॥ ५ ॥

भूयोऽपि कुमारमलयकेतुर्वैरप्रतिशोधमेव प्रतिजानानो वक्ति—उद्यच्छतेत्यादि । अलमधिकचिन्तया ! मया हि शीघ्रमेवाऽकापुरुषानुरूपां वीरपुरुषोचितां धुरं शत्रुप्रणाशादिकार्यभारमुद्यच्छतोद्वहता (यद्यपि 'समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थ' इत्यात्मने-पदेनात्र भाव्यं तथापि 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इति सूत्रानुसारं क्रियाफलस्योद्यमनस्य परगामित्वादर्थाद्रिपुवधूनयनगामित्वात्परस्मैपदं साभिप्रायं प्रयुक्तं नाटककृतेति विभावनीयम्) स्वजननीजनलोचनेभ्यस्स्वस्य यो जननीजनः मातृवर्गस्तस्य लोचनेभ्यश्शोकाश्रुलुलितनेत्रेभ्यः, आच्छिद्य दूरीकृत्यापनीय वा बाष्पश्शोकाश्रुपूरः रिपुवधूनयनानि रिपूणामरीणां या वध्वोऽवरोधनार्यस्तासां नय-नानि नेत्राणि वा नेयः प्रापयितव्यो वाऽथवाऽऽजिनिधनेन संग्रामे वीरगतिगमनेन पितुः पथा स्वर्गमार्गेण गन्तव्यं मरणं कामयितव्यमित्यर्थ इति ॥ ६ ॥

अब बहुत कुछ कहना-सुनना क्या !

'वीर पुरुषों की भांति इस महान् कार्यभार को उठाते हुये या तो मुझे अपने मातृजन की आंखों के आंसुओं को शत्रु-वनिताओं की आंखों में बहा छोड़ना है या समर भूमि में वीर गति पाकर पितृदेव का अनुगमन करना है' ॥ ६ ॥

(प्रकट रूप से) आर्य जाजले ! अनुयायी राजगण से जाकर मेरी ओर से

नः—'एक एवाहममात्यराक्षसस्यातर्कितागमनेन प्रीतिमुत्पादयितुमिच्छामि, अतः कृतमनुगमनक्लेशेने'ति ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति कुमारः । (परिक्रम्याकाशे) भो भो राजानः ! कुमारः समाज्ञापयति-'न खल्वहं केनचिदनुगन्तव्यः' इति । (विलोक्य सहर्षम्) कुमार ! कुमार !! एते भवदाज्ञासमनन्तरमेव प्रतिनिवृत्ताः सर्व एव राजानः । पश्यतु कुमारः—

सोत्सेधैः स्कन्धदेशैः खरतरकविकाकर्षणात्यर्थभुग्नै-
रश्वाः कैश्चिन्निरुद्धाः खमिव खुरपुटैः खण्डयन्तः पुरस्तात् ।
केचिन्मातङ्गमुख्यैर्विहतजवतया मूकघण्टैर्निवृत्ता
मर्यादां भूमिपाला जलधय इव ते देव ! नोल्लङ्घयन्ति ॥ ७ ॥

कञ्चुकी मलयकेतुं तच्छासनस्य दुरुल्लङ्घ्यतां निवेदयन्नाह—सोत्सेधैरित्यादि । देव ! महाराज ! जलधय इव भूमिपालाः जलैरिव सैन्यैस्संभृतारसंक्षुभिता वा समुद्रा इव सर्वेऽपि भवत्सेनापतयो नरपतयस्ते इव मर्यादां वेलामिवाज्ञां नोल्लङ्घयन्ति तथा हि कैश्चिदश्वारोहिबलाधिपतिभिः खरतरकविकाकर्षणात्यर्थभुग्नैः खरतराः लोह—कण्टककीलितास्तीक्ष्णदन्ताः याः कविकाः खलीनास्तदाकर्षणैरत्यर्थं समधिकं

कहो—'मुझे इसी में प्रसन्नता है कि एकाकी अमात्य राक्षस के पास, (बिना उनके जाने हुये, पहुंचूं मेरे पीछे आने का कोई भी कष्ट न करे ।

कञ्चुकी—कुमार ! जो आज्ञा, कुमार ! (घूम फिर कर आकाश की ओर) सुनिये राजगण ! कुमार की आज्ञा है कि कोई उनके पीछे न आवे । (देखकर-हर्ष के साथ) कुमार ! यह देखिये कुमार की आज्ञा सुनने के साथ ही समस्त राजगण लौट चले !

'कुमार ! जैसे समुद्र तीर-सीमा का उल्लङ्घन नहीं करते वैसे ही ये राजगण आपकी शासन-मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं कर रहे हैं ! कतिपय राजगणों ने तो लौह-कण्टकाकीर्ण कविकाओं (लगामों) के खींचने से अत्यधिक नीचे झुके और इसीलिये समुन्नत हो उठने वाले स्कन्ध पीठों से विभूषित अपने २ अश्वों को, जो (वेग के विहत हो जाने से) आकाश को ही अपने खुरपुटों से खण्ड २ करते प्रतीत हो रहे हैं, सहसा रोक लिया ! और कतिपय राजगण अपने २ महामातङ्गों के साथ जिनके, गति-वेग के रुकते ही, घण्टों का निनाद मूक हो उठा, सहसा लौट पड़े !' ॥ ७ ॥

मलयकेतुः—आर्य जाजले ! त्वमपि सपरिजनो निवर्तस्व। भागुरायण एको मामनुगच्छतु।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति कुमारः। (इति सपरिजनो निष्क्रान्तः)

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! विज्ञापितोऽहमिहागच्छद्भिर्भद्रभटप्रभृतिभिः, यथा—'न वयममात्यराक्षसद्वारेण कुमारमाश्रयणीयमाश्रयामहे, किन्तु कुमारस्य सेनापतिं शिखरसेनमूरीकृत्य, दुष्टामात्यपरिगृहीताच्चन्द्रगुप्तादपरक्ताः सन्तः कुमारमाभिगामिकगुणयोगादाश्रयणीयमाश्रयामह' इति। तन्मया सुचिरमपि विचारयता तेषां न वाक्यार्थोऽधिगतः।

भुग्नैर्नमितैरत एव हेतोस्सोत्सेधैस्समुन्नतीकृतमध्यभागैः स्कन्धदेशैर्ग्रीवाभागैरुपलक्षिताः (उपलक्षणे तृतीया) अथ च खुरपुटैः शफकोटिभिः पुरस्तात् पुरोभागे खमिव खण्डयन्तो वेगनिरोधाऽसहतयाऽऽकाशाभोगमेव कुट्टयन्तोऽश्वास्सैन्यहयाः निरुद्धाः नियमिता इति तथा च केचिद् गजसेनामहाबला राजानो विहतजवतया निरुद्धवेगतया मूकघण्टैर्निःशब्दघण्टैर्मातङ्गमुख्यैर्महागजैस्सहेति शेषः, निवृत्ताः प्रतिगता इत्यर्थः ॥ ७ ॥

टिप्पणी—अत्र स्वभावोक्त्याऽश्वानां मातङ्गानाञ्च वर्णनया सेनासंनाहं कुमारमलयकेतोस्सूचयति कविः।

आभिगामिकगुणयोगादिति—यद्यपि तेषु तेषु नाटकस्यास्य प्रकाशितेषु ग्रन्थेषु 'आभिरामिकगुणयोगादि'ति पाठस्तथापि वस्तुतोऽत्राभिगामिकगुणयोगादित्येव पाठः साधुः, राज्ञां खलु द्विविधाः गुणाः भवन्ति, अथ पूर्वे ये ह्यात्मसंपत्संज्ञका अथ चाप-

---

मलयकेतु—आर्य जाजले ! अब तुम भी परिजनों के साथ लौट जाओ। केवल भागुरायण मेरे साथ चले।

कञ्चुकी—कुमार की जैसी आज्ञा। (अनुचरों के साथ चला जाता है)

मलयकेतु—क्यों भाई भागुरायण ! एक बात तो बताओ कि भद्रभट प्रभृति जब मेरे पास आये तब उन्हों ने मुझ से यह क्यों कहा—'हम लोग अमात्य राक्षस के सहारे अपने शरण्य कुमार की शरण में नहीं आ रहे हैं, अपितु कुमार के सेनापति शिखरसेन के सहारे और हम सब उस महादुष्ट चाणक्य के वशीभूत चन्द्रगुप्त से अपना नाता तोड़ इस लिये अपने आश्रय कुमार का आश्रय ले रहे क्योंकि कुमार ही एक मात्र एक राजा के 'आभिगामिक-गुणों की खान ठहरे।' मैंने तो बहुत कुछ इस पर सोचा किन्तु ठीक-ठीक इसका तात्पर्य पता न चल पाया।

भागुरायणः—कुमार ! नायमत्यन्तदुर्बोधोऽर्थः। पश्य–'विजिगीषुमात्मगुणसम्पन्नं प्रियहितद्वारेणाश्रयणीयमाश्रयेदि'ति ननु न्याय्य एवायम्।

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! नन्वस्माकममात्यराक्षसः प्रियतमो हिततमश्च।

भागुरायणः—कुमार ! एवमेतत्, किन्तु अमात्यराक्षसश्चाणक्ये बद्धवैरो न तु चन्द्रगुप्ते, तद्यदि कदाचिच्चन्द्रगुप्तश्चाणक्यमतिजितकाशिनमसहमानः साचिव्यादवरोपयेत, ततो नन्दकुलभक्त्या 'नन्दान्वय

रे ये ह्याभिगामिका इत्युच्यन्ते। तथोक्तमर्थशास्त्रमण्डलयोन्यधिकरणे प्रथमाध्याये—

'महाकुलीनो दैवबुद्धिः सत्त्वसंपन्नो वृद्धदर्शी धार्मिकः सत्यवागविसंवादकः कृतज्ञः स्थूललक्षी महोत्साहोऽदीर्घसूत्रः शक्यसामन्तो दृढबुद्धिरक्षुद्रपरिषत्को विनयकाम इत्याभिगामिकाः गुणा' इति।

विजिगीषुमित्यारभ्य ननु न्याय्य एवायमित्यन्तं यद्वचस्तत्तु सुतरामनुहरति कौटिलीयार्थशास्त्रवचनम्। तथा हि तत्र—

'लोकयात्राविद्राजानमात्मद्रव्यप्रकृतिसंपन्नं प्रियहितद्वारेणाश्रयेत। यं वा मन्येत यथाऽहमाश्रयेप्सुरेवमसौ विनयेप्सुराभिगामिकगुणयुक्त इति'। यदुक्तं योगवृत्ताधिकरणे चतुर्थाध्याये तस्यैवात्र विनियोग इति।

अमात्यराक्षसश्चन्द्रगुप्तेन सह संदधीतेत्यादि यद् भागुरायणवचनं मलयकेत्वतिसंधानपरं तद्धि चाणक्यनीतिबीजस्य निपुणमवमर्शनमिति प्राप्त्याशामेव चाणक्यस्य सुतरां प्रकारान्तरेणाभिव्यनक्तीति।

भागुरायण—कुमार ! तात्पर्य तो इसका कोई बहुत कठिन नहीं। देखिये—राजनीति शास्त्र का वचन है–'उसी विजिगीषु राजा का आश्रय लो जो आत्मसंपत् और आभिगामिक गुण से युक्त हो और उसी को बीच में डाल कर आश्रय लो जो प्रिय और हितचिन्तक हो। इन्हों ने जो किया वह तो सर्वथा ठीक ही किया !

मलयकेतु—भाई भागुरायण ! तो क्या इसका यह अभिप्राय कि अमात्यराक्षस इन लोगों के लिये न तो प्रिय ठहरे और न हितकर !

भागुरायण—कुमार ! ऐसा ही समझिये। इन लोगों का अभिप्राय यह है कि (अमात्यराक्षस को बीच में डालकर यदि ये कुमार के आश्रय में आवें तो कहीं इन पर भी कुमार का विश्वास न उठ जाय क्योंकि बात यह है कि) अमात्यराक्षस की तो चाणक्य से शत्रुता ठहरी न कि चन्द्रगुप्त से, कभी यदि ऐसा हुआ कि चन्द्रगुप्त ने चाणक्य को उसके भयङ्कर गर्व से ऊब कर, मन्त्रि-पद से

एवायमि'ति कृत्वा, सुहृज्जनापेक्षया च, अमात्यराक्षसश्चन्द्रगुप्तेन सह सन्दधीत। चन्द्रगुप्तोऽपि 'पितृपारम्पर्यागत एवायमि'ति कृत्वा सन्धिमनुमन्येत। एवं सत्यस्मास्वपि कुमारो न विश्वसेदित्ययमेषां वाक्यार्थः।

मलयकेतुः—युज्यते। सखे भागुरायण! अमात्यराक्षसस्य गृहमार्गमादेशय।

भागुरायणः—इत इतः कुमारः (इत्युभौ परिक्रामतः) कुमार! इदममात्यराक्षसस्य गृहं, प्रविशतु कुमारः।

मलयकेतुः—एष प्रविशामि (इत्युभौ प्रवेशनं नाटयतः)

राक्षसः—(आत्मगतम्) आः! स्मृतम् (प्रकाशम्) भद्र! अपि दृष्टस्त्वया कुसुमपुरे वैतालिकः स्तनकलशः।

करभकः—अमात्य! अथ किम् (अमच्च! अध इं)

मलयकेतुः—सखे! भागुरायण! कुसुमपुरवृत्तान्तः प्रस्तूयते, तन्नो-

---

च्युत कर दे तो संभव है अमात्यराक्षस अपनी नन्दवंश-भक्ति के कारण और अपने मित्रजन की रक्षा के लिये यह सोचकर चन्द्रगुप्त से जा मिले कि वह भी तो नन्द के ही वंश का ठहरा और चन्द्रगुप्त भी उससे यह जान कर मिल जाय कि वह भी तो उसकी पितृ-परम्परा से आया हुआ अमात्य ही ठहरा। कहीं यह सब यदि हो जाय तो कुमार इन पर भी विश्वास क्यों करने लगे!

मलयकेतु—हो सकता है भागुरायण! चलो अमात्य राक्षस के गृह का मार्ग बताओ।

भागुरायण—इधर आइये कुमार! इस ओर! (दोनों चलते हुये) कुमार! यह रहा अमात्य राक्षस का घर, चलिये भीतर चला जाय।

मलयकेतु—अच्छी बात है चलो भीतर चल रहा हूं। (दोनों भीतर प्रवेश करने का अभिनय करते हुये)

राक्षस—(मन ही मन) ओह! अब स्मरण आया! (प्रकट) अरे भाई! यह तो बताओ-क्या पाटलिपुत्र में वैतालिक स्तनकलश से मिले या नहीं?

करभक—हां अमात्य! अवश्य मिला।

मलयकेतु—अरे भाई भागुरायण! यहां तो पाटलिपुत्र का वृत्तान्त चल

पसर्पावः, शृणुवस्तावत्—

सत्त्वभङ्गभयाद्राज्ञां कथयन्त्यन्यथा पुरः।
अन्यथा विवृतार्थेषु स्वैरालापेषु मन्त्रिणः ॥ ८ ॥

भागुरायणः—यदाज्ञापयति कुमारः।

राक्षसः—भद्र ! अपि तत् कार्यं सिद्धम् ?

करभकः—अमात्यस्य प्रसादेन सिद्धम्। (अमच्चस्स प्पसाएण सिद्धम्)

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! किं तत् कार्यम् ?

भागुरायणः—कुमार ! गहनः खलु सचिववृत्तान्तो नैतावता परिच्छेत्तुं शक्यते, अवहितस्तावच्छृणु।

मयलकेतुः राक्षस-गुप्तचरयोः पाटलिपुत्रवृत्तान्तप्रस्तावमाकर्णयन्निभृतं तच्छ्रवणोन्मुखो भागुरायणं संज्ञापयितुकाम आह—सत्त्वभङ्गभयादिति। भागुरायण ! निभृतं पाटलिपुत्रवृत्तान्तजातं शृणुवो यतो हि मन्त्रिणोऽमात्यादयः राज्ञां सत्त्वभङ्गभयात् राज्ञां सत्त्वस्य मनसः मनोहर्षस्य वा भङ्गो विनाशो माभूदिति भिया तेषां पुरोऽग्रे—किमपि वृत्तमित्यध्याहारः—अन्यथा भिन्नेनैव प्रकारेण कथयन्ति वर्णयन्तीत्यर्थः। किन्तु विवृतार्थेषु विवृताः विस्पष्टं प्रकटीकृता अर्थास्तत्तद्विवक्षितविषयाः येषु तथाभूतेषु स्वैरालापेषु सुहृद्भिस्सह निभृतं कृतासु संभाष्यसु तदेवान्यथाऽन्येनैव प्रकारेण कथयन्ति भाषन्त इत्यभिप्रायः ॥ ८ ॥

रहा है भीतर जाना ठीक नहीं, यहीं से सब कुछ सुना जाय, क्योंकि

'ये जो मन्त्री लोग हैं वे राजा लोगों के सामने तो बातों को इसलिये कुछ दूसरी ढंग से बनाकर कहा करते हैं जिसमें उनके मन में कोई खलबली न होने पाय, किन्तु, अपने इष्ट-मित्रों के साथ किये जानेवाले आलाप-संलाप में इन्हीं को दूसरे ढंग से बताया करते हैं क्योंकि वहां तो सब कुछ हृदय खोल कर कहना पड़ता है !' ॥ ८ ॥

भागुरायण—कुमार की जैसी आज्ञा।

राक्षस—क्यों भाई करभक ! तो क्या काम बन गया ?

करभक—हां अमात्य की कृपा से सब कुछ बन गया।

मलयकेतु—अरे भाई भागुरायण ! यह कैसा काम बनना है ?

भागुरायण—कुमार ! ध्यान से सुनिये, इतना ही सुन कर कुछ नहीं पता चल सकता। यह सचिव-वृत्तान्त बहुत गूढ़ लग रहा है।

राक्षसः—भद्र ! विस्तरेण श्रोतुमिच्छामि ।

करभकः—शृणोत्वमात्यः, अस्ति तावदहममात्येनाज्ञप्तो यथा—'करभक ! कुसुमपुरं गत्वा मम वचनेन त्वया भणितव्यो वैतालिकः स्तनकलशः, यथा—'चाणक्यहतकेन तेषु तेषु आज्ञाभङ्गेषु अनुष्ठीयमानेषु चन्द्रगुप्तः समुत्तेजनसमर्थैः श्लोकैरुपश्लोकयितव्यः' इति (सुणादु अमच्चो, अत्थि दाव अहं अमच्चेणाणत्तो, जधा—'करभअ ! कुसुमपुरे गच्छिअ भणिदव्वो मम वअरोण तुए वैआलिओ त्थणकलसो, जधा—'चाणक्कहदएण तेसुं तेसुं अण्णाभङ्गेसु अणुचिट्ठीअमाणेसुं चन्दउत्तो समुत्तेअणसमत्थेहिं सिलोएहिं उवसिलोअइदव्वो'त्ति)

राक्षसः—ततस्ततः ?

करभकः—ततो मया पाटलिपुत्रं गत्वा श्रावितोऽमात्यस्य सन्देशं वैतालिकः स्तनकलशः (तदो मए पाडलिउत्तं गच्छिअ सुणाविदो अमच्चस्स संन्देसं वैआलिओ त्थणकलसो)

राक्षसः—ततस्ततः ?

करभकः—अत्रान्तरे नन्दकुलविनाशदुर्मनसः पौरजनस्य परितोषं समुत्पादयता चन्द्रगुप्तेनाघोषितः कुसुमपुरे कौमुदीमहोत्सवः । सोऽपि

राक्षस—तो भाई ! विस्तार से कुछ सुनने की इच्छा है ।

करभक—सुनें अमात्य ! आप की आज्ञा हुई थी–'करभक ! पाटलिपुत्र जाओ, वहां वैतालिक स्तनकलश से मेरी ओर से जाकर कहो कि जब २ दुष्ट चाणक्य चन्द्रगुप्त की आज्ञाओं का उल्लंघन करे ऐसी प्रशस्तियों से चन्द्रगुप्त की स्तुति की जाय कि वह उत्तजित हो उठे ।

राक्षस—हां, इसके बाद

करभक—इसके बाद यह हुआ कि मैं पाटलिपुत्र पहुंचा, वैतालिक स्तनकलश से मिला और अमात्य का सन्देश उसे सुना दिया गया ।

राक्षस—आगे कहो ।

करभक—आगे यह हुआ कि नन्दवंश के विनाश से शोकाकुल नागरिकों को प्रसन्न करने की इच्छा से चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र में कौमुदी महोत्सव के मनाये

चिरकालप्रवर्त्तमानो जनितपरितोषः अभिमतबन्धुजनसमागम इव सस्नेहं बहुमानितो नगरजनेन (एत्थन्तरे णन्दकुलविणासदुम्मणस्स पोरजणस्स परिओसं सम्मुप्पाअन्तेण चन्दउत्तेण आघोसिदो कुसुमउरे कौमुदीमहोस्सवो। सोवि चिरआलपवत्तमाणो जणिदपरिओसो अहिमदबन्धुजणसमागमो विअ ससिणेहं बहुमाणिदो णअरजणेण)

राक्षसः—(सबाष्पम्) हा देव ! नन्द !—

कौमुदी कुसुमानन्दे जगदानन्दहेतुना।
कीदृशी सति चन्द्रेऽपि नृपचन्द्र ! त्वया विना ॥ ६ ॥

भद्र ! ततस्ततः ?

अभिमतबन्धुजनसमागम इवेति—अत्र **पाटलिपुत्रीयाणां कृते कौमुदीमहोत्सवस्याभिमतबन्धुजनेन यत्साम्यं तेन कौमुदीमहोत्सवकाल एव राक्षसाभिषेणनकाल इति निपुणमुद्भावयति कविरत्रेति ।**

राक्षसः कौमुदीमहोत्सवस्य नाममात्रं शृण्वन् स्मृततत्तद्गतपूर्ववृत्तो भृशं दूयमानमना आह—कौमुदीत्यादि। हे **नृपचन्द्र ! महाराजनन्द !! (चन्द्रगुप्तस्त्वयं नाम्नैव चन्द्रः किन्तु महाराजोऽसौ नन्दस्सर्वेषामेव नृपाणां कृते वास्तविक एव चन्द्र इति** गूढं ध्वनितम्) **कुमुदानन्दे चन्द्रेऽपि सति कुमुदानां विकासके शारदपूर्णिमामृगाङ्के समुदितेऽपि नभसि जाते (चन्द्रगुप्ते राजनि कियत्तुच्छजनानुरञ्जकेऽत्र पाटलिपुत्रे प्रतिष्ठितराज्येऽपि सतीति निपुणमभिव्यक्तम्) जगदानन्दहेतुना सर्वजनरञ्जनसमर्थेन त्वया नन्देन विना कौमुदी कीदृशी कौमुदीमहोत्सवः किंविधो नानन्दकरः कस्यापि भवितेति भाव इति ॥ ९ ॥**

जाने की घोषणा करवा दी और फिर क्या था ! नागरिकों ने भी बहुत दिनों के विछोह के बाद लौटने वाले, आत्म-सन्तोष के निदान किसी इष्ट मित्र के आगमन के समान बड़े प्रेम से कौमुदी महोत्सव का अभिनन्दन किया।

राक्षस—(आंखों में आंसू भरे) हा देव नन्द !

'हा नृपचन्द्र ! जब आप ही न रहे, जगत् के एकमात्र आनन्द निदान जब आप चल बसे, तब यह कौमुदी-महोत्सव-कुमुदानन्द चन्द्र भला कितना भी क्यों न चमके ! कुछ नहीं सर्वथा व्यर्थ स्वाङ्ग हैं !' ॥ ९ ॥

आगे चलो-क्या हुआ

करभकः—अमात्य ! ततः स लोकलोचनानन्दभूतोऽनिच्छत एव तस्य निवारितश्चाणक्यहतकेन कौमुदीमहोत्सवः। अत्रान्तरे स्तनकलशेन प्रवर्त्तिता चन्द्रगुप्तस्य समुत्तेजनसमर्था श्लोकपरिपाटी (अमच्च ! तदो सो लोअलोअणाणन्दभूदो अणिच्छन्तस्स ज्जेव तस्स णिवारिदो चाणक्कहदकेण कौमुदी-महोस्सवो। एत्थन्तरे त्थणकलसेण पवट्टिदा चन्दउत्तस्स समुत्तेअणसमत्था सिलो-अपरिवाटी)

राक्षसः—कीदृशी सा ?

करभकः—('सत्त्वोत्कर्षस्य' इत्यादि' तृतीयेऽङ्के २३ तमं पूर्वश्लोकं पठति)

राक्षसः—(सहर्षम्) साधु सखे स्तनकलश ! साधु। काले भेदबीज-मुप्तम्, अवश्यमेव फलमुपदर्शयिष्यति। यतः—

सद्यः क्रीडारसच्छेदं प्राकृतोऽपि न मर्षयेत्।
किमु लोकाधिकं धाम बिभ्राणः पृथिवीपतिः ॥ १० ॥

राक्षसश्चाणक्यचन्द्रगुप्तयोर्भेदोऽवश्यंभावीति मनसि कुर्वन्नाह-सद्य : क्रीडारसच्छेद-मित्यादि। अये कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधो यस्य तु नियतमेव चन्द्रगुप्तं समुद्दीपयि-ष्यति। यतो हि प्राकृतोऽपि जनः पामरोऽपि लोकः सद्यः क्रीडारसच्छेदमकस्मा-देवोपनतः यः क्रीडारसच्छेदः मनोविनोदभङ्गस्तं न मर्षयेत् कथमपि न सहेत,

---

करभक—अमात्य ! हुआ क्या ! प्रजाजन के नेत्रों का आनन्द वह कौमुदी-महोत्सव का आयोजन नगरवासिओं की अनिच्छा का कोई भी ध्यान न रखते हुये, उस दुष्ट चाणक्य ने मना करवा दिया। और यह अवसर पाते ही स्तनकलश ने चन्द्रगुप्त को उत्तेजित करने वाली प्रशस्त प्रारम्भ कर दी।

राक्षस—कैसी प्रशस्ति रही !

करभक—('सत्त्वोत्कर्षस्य। इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक सुना देता है।)

राक्षस—(सहर्ष) बहुत अच्छा ! स्तनकलश ! धन्य हो तुम। कैसे अच्छे अवसर पर दोनों में फूट का बीज तुमने बो दिया ! इसका फल तो फलेगा ही भला जब कि !

'साधारण जन भी सहसा अपने मनोरञ्जन का रंग-भंग किया जाना नहीं सह सकते तब उसकी तो बात ही और है जो सम्राट् हो और अमानुषिक राजतेज से जाज्वल्यमान हो' ॥ १० ॥

मलयकेतुः—एवमेतत् ।

राक्षसः—ततस्ततः ?

करभकः—ततश्चन्द्रगुप्तेनाज्ञाभङ्गकलुषितहृदयेन सुचिरममात्यगुणं प्रशस्य प्रभ्रंशितोऽधिकारात् चाणक्यहतकः (तदो चन्दउत्तेण आण्णाभङ्गकलुसिदहिअएण सुइरं अमच्चगुणं प्पसंसिअ प्पब्भंसिदो अहिआरादो चाणक्कहदओ)

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! गुणप्रशंसया दर्शितश्चन्द्रगुप्तेन राक्षसे भक्तिपक्षपातः ।

भागुरायणः—कुमार ! न तथा गुणप्रशंसया, यथा चाणक्यवटोर्निराकरणेन ।

राक्षसः—भद्र ! किमयमेवैकः कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधश्चन्द्रगुप्तस्य चाणक्यं प्रति कोपकारणमुतान्यदप्यस्ति ?

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! चन्द्रगुप्तस्य अपरकोपकारणान्वेषणे किं फलमेष पश्यति ?

लोकाधिकं धाम बिभ्राणः लोकोत्तरं राजतेजो धारयन् पृथिवीपतिस्सम्राट् किमु मर्षयेदिति शेषः, कथङ्कारं सोढुं प्रभवेन्नैव मर्षयिष्यतीति भावः ॥ १० ॥

मलयकेतु—बात तो ठीक ही कह रहे हैं ।

राक्षस—तब क्या हुआ ?

करभक—हुआ यह कि चन्द्रगुप्त जैसे ही अपनी आज्ञा के उल्लंघन से विक्षुभित चित्त बना कि वह दुष्ट चाणक्य अपने अधिकार से पृथक् कर दिया गया और अमात्य की होने लगी भूरि भूरि प्रशंसा !

मलयकेतु—क्यों भाई भागुरायण ! ऐसा लगता है कि राक्षस की प्रशंसा करके चन्द्रगुप्त ने उसे अपना मान लिया !

भागुरायण—कुमार ! प्रशंसा करके उतना नहीं माना जितना उस दुष्ट चाणक्य को पदच्युत करके ।

राक्षस—करभक ! क्या केवल कौमुदी-महोत्सव का प्रतिषेध ही चन्द्रगुप्त के चाणक्य पर बिगड़ खड़े होने का कारण है याऔर भी कुछ ?

मलयकेतु—भागुरायण ! चन्द्रगुप्त के क्रोध के और किसी कारण के अन्वेषण से राक्षस का क्या अभिप्राय ?

भागुरायणः—कुमार ! एतत् फलं पश्यति–'अतिमतिमान् चाणक्यो निष्प्रयोजनमेव किमिति चन्द्रगुप्तं कोपयिष्यति । न च कृतवेदी चन्द्रगुप्त एतावता गौरवमुल्लङ्घयिष्यति । सर्वथा चाणक्य-चन्द्रगुप्तयोः पुष्कलात् कारणाद् यो विश्लेष उत्पद्येत, स आत्यन्तिको भविष्यति' इति ।

करभकः—अमात्य ! अस्त्यन्यदपि चन्द्रगुप्तस्य कोपकारणं चाणक्ये (अमच्च ! अत्थि अण्णदपि चन्दउत्तस्स कोवकारणं चाणक्के)

राक्षसः—किं किम् ?

करभकः—यथा प्रथमं तावदुपेक्षितोऽनेन–अपक्रामन् कुमारो मलयकेतुः अमात्यराक्षसश्च (जधा पढ़मं दाव उवेक्खिदो अणेण अवक्कमन्तो कुमारो मलयकेदू अमच्चरक्खसो अ)

राक्षसः—(सहर्षम्) सखे ! शकटदास !! हस्ततलगतो मे चन्द्रगुप्तो भविष्यति । इदानीं चन्दनदासस्य बन्धनान्मोक्षः, तव च पुत्रदारैः सह समागमः, जीवसिद्धिप्रभृतीनां क्लेशच्छेदः ।

भागुरायणः—(आत्मगतम्) जातः सत्यं जीवसिद्धेः क्लेशच्छेदः ।

भागुरायण—कुमार ! अभिप्राय यह है कि चाणक्य तो ठहरा महाचतुर ! विना किसी प्रयोजन के चन्द्रगुप्त को क्यों कुपित होने देने लगा ! और चन्द्रगुप्त ठहरा महाकृतज्ञ ! केवल इतने से ही (अर्थात् कौमुदी-महोत्सव के प्रतिषेध से ही) चाणक्य का गौरव कैसे उल्लंघन करते ! चन्द्रगुप्त का चाणक्य से साथ छूटना तभी अन्ततक रहने वाला माना जायगा जब इसके प्रचुर कारण हों ।

करभक—अमात्य ! चन्द्रगुप्त के चाणक्य पर क्रुद्ध होने के और भी कारण हैं ।

राक्षस—कौन २ से ?

करभक—यह कि चाणक्य ने कुमार मलयकेतु और अमात्य राक्षस को क्यों भाग जाने दिया ।

राक्षस—(सहर्ष) अरे भाई शकटदास ! अब तो चन्द्रगुप्त को इस मुट्ठी में समझो ! अब क्या है–चन्दनदास का छुटकारा, तुम्हारा अपने बाल-बच्चों से मिलना, जीवसिद्धि इत्यादि सब के दुःखों का अन्त-सब कुछ सिद्ध हो गया !

भागुरायण—(स्वगत) जीवसिद्धि का कष्ट शमन तो अवश्य ही हो गया !

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! 'हस्ततलगतो मे सम्प्रति चन्द्रगुप्तो भविष्यति' इति व्याहरतः कोऽयमस्याभिप्रायः ?

भागुरायणः—किमन्यत् ? चाणक्यादपकृष्टस्य चन्द्रगुप्तस्योद्धरणान्न किञ्चित्कार्यमवश्यं पश्यति ।

राक्षसः—भद्र ! हृताधिकारः साम्प्रतं कासौ वटुः ?

करभकः—तस्मिन्नेव पाटलिपुत्रे प्रतिवसति (तहिं ज्जेव पाडलिपुत्ते प्पडिवसदि)

राक्षसः—(सावेगम्) भद्र ! तत्रैव प्रतिवसति, न तपोवनं गतः, प्रतिज्ञां वा न पुनः समारूढवान् ?

करभकः—अमात्य ! तपोवनं गमिष्यतीति श्रूयते (अमच्च तपोवणं गमिस्सदि त्ति सुणीअदि)

राक्षसः—(सावेगम्) शकटदास ! नेदमुपपद्यते । पश्य—

देवस्य येन पृथिवीतलवासवस्य
स्वाऽग्रासनापनयजा निकृतिर्न सोढा ।

राक्षसो 'हृताधिकारश्चाणक्यः पाटलिपुत्र एव प्रतिवसती'ति शृण्वन् किमपि मनसि कुर्वन्नाह—देवस्येति । 'अये ! नेदमुपपद्यते यन्निकृतोऽपि चाणक्यो न तपोवनं

मलयकेतु—अरे भाई भागुरायण ! इसका क्या अर्थ कि चन्द्रगुप्त तो अब मुट्ठी में आ गया ।

भागुरायण—यही कि जब चन्द्रगुप्त चाणक्य से पृथक् हो गया तब चन्द्रगुप्त का उन्मूलन करने से क्या लाभ ! (उसे हाथ में कर अपना काम सब बन ही जायगा !)

राक्षस—अरे भाई ! यह तो बताओ कि पदच्युत चाणक्य अब है कहां ?

करभक—वह तो पाटलिपुत्र में ही पड़ा है ।

राक्षस—(उद्विग्नता के साथ) क्या कहा ! वहीं पड़ा है ? क्या तपोवन भी नहीं गया और न कोई दूसरी प्रतिज्ञा ही की !

करभक—सुना है कि तपोवन जाने वाला है ।

राक्षस—(उद्वेग के साथ) भाई शकटदास ! तब तो कुछ नहीं हुआ । भला सोचो तो—

'कि जो मनस्वी चाणक्य ने भूलोक के महेन्द्र महाराज नन्द के राजकीय

सोऽयं स्वय ्कृतनराधिपतेर्मनस्वी
मौर्यात्कथं नु परिभूतिमिमां सहेत ? ॥ ११ ॥

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! चाणक्यस्य तपोवनगमने पुनः प्रतिज्ञारोहणे वा काऽस्य स्वार्थसिद्धिः ?

भागुरायणः—कुमार नात्यन्तदुर्बोधोऽयमर्थः, यावद्यावत् चाणक्यहतकश्चन्द्रगुप्ताद् दूरीभवति तावत्तावदस्य स्वार्थसिद्धिः।

शकटदासः—अमात्य ! अलमत्यन्तविकल्पितेन, एतदुपपद्यत एव। कुतः ? पश्यत्वमात्यः—

राज्ञां चूडामणीन्दुद्युतिखचितशिखे मूर्ध्नि विन्यस्तपादः

गच्छति न वा प्रतिज्ञामारोहति। तथा हि येन मनस्विना—महामनस्केन मानशीलेन चाणक्येन पृथिवीतलवासवस्य भूलोकमहेन्द्रस्य देवस्य महाराजनन्दस्य स्वाग्रासनापनयजा स्वीयमेव न परस्य कस्यापि चाणक्यस्यैवेति यदासनं ततोऽपि योऽपनय उत्थापनं तज्जा तज्जनिता निकृतिस्तिरस्कृतिरवमानना वा न सोढा न मर्षिता, सोऽयं प्रतिकृतनन्दापकारः मनस्वी तथाविधस्वाभिमानी चाणक्यः स्वयङ्कृतनराधिपतेः स्वयमात्मना कृतश्चासौ नराधिपतिश्च तस्माद् मौर्यचन्द्रगुप्तादिमां परिभूतिं निकृतिमवमाननां वाऽधिकारहरणरूपां कथं नु सहेत ? न कथमपि सहेत मर्षयेदिति वा भावः ॥ ११ ॥

शकटदासः 'चाणक्यः हृताधिकारोऽपि प्रतिज्ञां न करोति, पाटलिपुत्रे च निवसन्नास्त' इत्याद्युपपादयितुमाह—राज्ञां चूडामणीन्दुद्युतिखचितशिख इत्यादि। अमात्य !

आसन से हटाये जाने के कारण हो सकने वाले अपने अपमान का सहन नहीं किया वही भला इस मौर्य से, जिसे उसने स्वयं महाराज बनाया है, ऐसे तिरस्कार को क्यों कर सह लेगा !' ॥ ११ ॥

मलयकेतु—क्यों भाई भागुरायण ! भला राक्षस का इसमें क्या स्वार्थ कि चाणक्य तपोवन चला जाय या कोई और ही प्रतिज्ञा कर बैठे ?

भागुरायण—कुमार ! यह तो सीधी सी बात है कि चन्द्रगुप्त से चाणक्य जितनी दूर चला जाय उतना ही राक्षस का काम बनता चला जाय।

शकटदास—अमात्य ! इस पर अमात्य को इतना संकल्प-विकल्प करने की कोई आवश्यकता नहीं इसमें कोई सन्देह नहीं। आप ऐसा क्यों नहीं सोचते कि—

'चन्द्रगुप्त तो अब, जब कि उसके चरण राजा-महाराजाओं के चूडामणिओं को

स्वैरेवोत्पाद्यमानं किमिति विषहते मौर्य आज्ञाविघातम् ? ।
कौटिल्यः कोपनोऽपि स्वयमभिचरणज्ञातदुःखः प्रतिज्ञां
दैवात् पूर्णप्रतिज्ञः पुनरपि न करोत्यायतिज्यानिभीतः ॥ १२ ॥

राक्षसः—**सखे शकटदास ! एवमेतत्, तद्गच्छ, विश्रामय करभकम् ।**

शकटदासः—**यदाज्ञापयत्यमात्यः** (इति करभकेण सह निष्क्रान्तः)

अलमत्यन्तविकल्पितेन, ननूपपन्नमेव चाणक्यस्याऽधुना प्रतिज्ञाऽनारोहणमथ च चन्द्रगुप्तस्य चाणक्यावमाननम् । तथा हि राज्ञां सामन्तभूपतीनां चूणामणीन्दुद्युतिखचितशिखे चूडायां मौलिमुकुटादिषु प्रयुक्ता ये मणयस्त एवेन्दवश्चन्द्रकलास्तद्द्युतिभिः कान्तिभिः खचिता चर्चिता शिखा यस्य तथाभूते मूर्ध्नि मस्तकपीठे विन्यस्तपादः प्रतिष्ठितचरणोऽशेषनरपतिशिरस्समभ्यर्चितशासन इति वा मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्तस्स्वैरेवात्मीयैरेव जनैरनुचरैरुत्पाद्यमानं क्रियमाणमाज्ञाविघातं शासनभङ्गं किमिति विषहते कथं सोढुं शक्नुयात् । अतः खलु चाणक्यस्याधिकारोल्लुण्ठनं सर्वथोपपन्नमेवेति । तथैव च कोपनोऽपि प्रकृत्या क्रोधी सन्नपि कौटिल्यश्चाणक्यस्स्वयमभिचरणज्ञातदुःखस्स्वयमेवाभिचरणे कृत्यादिविधानकर्मणि ज्ञातमनुभूतं तत्र दुःखं येन तथाभूतः सन्नेकदा दैवाद् भाग्यसम्पदैव पूर्णप्रतिज्ञोऽधुना आयतिज्यानिभीत आयत्याः भाविकालफलस्य या ज्यानिर्हानिस्ततो भीतो बिभ्यत् पुनरपि प्रतिज्ञां न करोति चन्द्रगुप्तं नाशयितुं न प्रतिज्ञामारोहेदिति । अतः खलु चाणक्यस्यापि सर्वथाऽधुनाऽकिञ्चित्करत्वमुपपन्नमेव नानुपपन्नमिति भाव इति ॥१२॥

चन्द्रोपम कान्तियों से खचित केशों वाले मस्तकों पर पड़ने लग गये हैं, तब अपने ही अनुचर-परिचरों के द्वारा किये गये अपनी आज्ञा के उल्लंघन क्यों कर सहने लगा ! और भला चाणक्य ही जो स्वभाव से कितना भी क्रोधी क्यों न हो, यह जानते हुये कि शत्रु-संहार के लिये अभिचार कर्म कितना दुःखद हुआ करता है और यह भी साथ २ समझते हुये कि एक बार की प्रतिज्ञा तो भाग्य से किसी प्रकार पूरी हो गयी, अब इस भय से कि कहीं पुनः प्रतिज्ञा पूरी न हो पाय, क्यों कर कोई और प्रतिज्ञा करने लगा !' ॥ १२ ॥

राक्षस—अच्छा भाई शकटदास ! ऐसा ही सही । जाओ करभक को विश्राम करने का प्रबन्ध कर आओ ।

शकटदास—अमात्य की जो आज्ञा । (करभक के साथ बाहर चला जाता है)

राक्षसः—अहमपि कुमारं द्रष्टुमिच्छामि ।

मलयकेतुः—(उपसृत्य) अहमेवार्यं द्रष्टुमागतः ।

राक्षसः—(नाट्येनावलोक्य) अये ! कुमार एवागतः । (आसनादुत्थाय) इदमासनमुपवेष्टुमर्हति कुमारः ।

मलयकेतुः—अहमुपविशामि । उपविशत्वार्यः (इत्युभौ यथासनमुपविष्टौ) आर्य ! अपि सह्या शिरोवेदना ?

राक्षसः--कुमारस्याधिराजशब्देनातिरस्कृते कुमारशब्दे कुतः शिरोवेदनायाः सह्यता ?

मलयकेतुः--स्वयमूरीकृतमेतदार्येण, न दुष्प्रापं भविष्यति । तत् कियन्तं कालमस्माभिरेवं सम्भृतबलैरपि शत्रुव्यसनमवेक्षमाणैरुदासितव्यम् ।

राक्षसः--कुमार ! कुतोऽद्यापि कालहरणस्यावकाशः ? प्रतिष्ठस्व रिपुजयाय ।

कुमारस्याधिराजशब्देनेति—यावत्कुमारो न भवत्यधिराजस्तावदित्यर्थः ।

राक्षस--मुझे भी अब कुमार से मिलना है ।

मलयकेतु—आर्य ! आप के दर्शनार्थ मैं ही उपस्थित हूँ ।

राक्षस—(देखने का अभिनय करते हुये) ओह ! क्या कुमार ही आ पहुंचे ! (आसन से उठते हुये) विराजिये कुमार ! आसन पर विराजिये ।

मलयकेतु—मैं बैठ रहा हूं आप विराजें।

(दोनों अपने २ आसनों पर बैठते हुये) तो क्या कुछ सिर दर्द में कमी हुई !

राक्षस—कुमार ! इस सिर का दर्द तब तक नहीं छूट सकता जब तक कुमार का नाम 'महाराजकुमार' पद से सुशोभित न हो !

मलयकेतु—जब आप स्वयं ऐसा कह रहे हैं तब तो मैं इसे हुआ ही समझ रहा हूं । अब यह बताइये कि कब तक हम लोग अपनी इन सजी-धजी सेनाओं के साथ शत्रु-व्यसन की प्रतीक्षा में पड़े २ बैठा रहेंगे ?

राक्षस—कुमार ! अब विलम्ब की क्या आवश्यकता शत्रु-विजय के लिये प्रस्थान प्रारम्भ हो जाय !

मलयकेतुः--अमात्य ! अपि किञ्चिच्छत्रुव्यसनमुपलब्धम् ?

राक्षसः--बाढमुपलब्धम् ?

मलयकेतुः-- कीदृशम् ?

राक्षसः--सचिवव्यसनं, किमन्यत् ? अपकृष्टश्चाणक्याच्चन्द्रगुप्तः ।

मलयकेतुः—अमात्य ! सचिवव्यसनमेव ?

राक्षसः--कुमार ! अन्येषां भूपतीनां कदाचिदमात्यव्यसनमव्यसनमपि स्यात् , न पुनश्चन्द्रगुप्तस्य ।

मलयकेतुः—आर्य ! ननु विशेषतश्चन्द्रगुप्तस्येति ।

राक्षसः--किं कारणं यदस्यामात्यव्यसनमव्यसनम् ?

मलयकेतुः—चन्द्रगुप्तप्रकृतीनां हि चाणक्यदोषा एव विरागहेतवः ।

सचिवव्यसनमिति—व्यसनमिति तु व्यस्यत्येनं श्रेयस इति व्युत्पत्तेः । तद्धि 'गुणप्रातिलोम्यमभावः प्रदोषः प्रसङ्गः पीडा वेति रूपम् । स्वाम्यमात्यव्यसनयोरमात्यव्यसनं गरीयो यतो हि 'मन्त्रो मन्त्रफलावाप्तिः कर्मानुष्ठानमायव्ययकर्म दण्डप्रणयनममित्राटवीप्रतिषेधो राज्यरक्षणं व्यसनप्रतीकारश्चायत्तं सर्वममात्य एव । सचिवमूलास्सर्वारम्भा इति कृत्वा सचिवव्यसनमेव महाव्यसनमिति भावः ।

मलयकेतु--अमात्य ! तो क्या किसी शत्रु-व्यसन (विपत्ति) की कोई सूचना मिली ?

राक्षस—हां २ मिल चुकी ।

मलयकेतु--क्या ! कैसी !

राक्षस--और क्या सचिवव्यसन समझो। चन्द्रगुप्त चाणक्य से पृथक् कर दिया गया।

मलयकेतु—तो क्या केवल सचिव-व्यसन ही रहा !

राक्षस—कुमार ! और राजाओं के लिये सचिव-व्यसन कभी व्यसन (विपत्ति) न भी हो किन्तु ऐसा नहीं हो सकता कि चन्द्रगुप्त के लिये भी न हो !

मलयकेतु--आर्य ! यह कहिये कि विशेषतः चन्द्रगुप्त के ही लिये यह (विपत्ति) कुछ नहीं ।

राक्षस--क्यों यह कैसे कि चन्द्रगुप्त के लिये अमात्य-व्यवसन कुछ भी नहीं ?

मलयकेतु--बात यह है कि चन्द्रगुप्त की प्रजाओं के उससे विरक्त होने में

तस्मिन्निराकृते प्रथममपि चन्द्रगुप्तानुरक्ताः प्रकृतयः । इदानीं पुनः सुतरामेव तत्रानुरागं दर्शयिष्यन्ति ।

राक्षसः—कुमार ! नैतदेवं, इह द्विप्रकाराः प्रकृतयः—चन्द्रगुप्तसहोत्थायिन्यो नन्दकुलानुरक्ताश्च । तत्र चन्द्रगुप्तसहोत्थायिनीनां प्रकृतीनां चाणक्यदोषा एव विरागहेतवः, न नन्दकुलानुरक्तानाम् तास्तु खलु नन्दकुलमनेन पितृकुलभूतं कृत्स्नं कृतघ्नेन घातितमित्यपरागामर्षाभ्यां विप्रकृताः सत्यः स्वाश्रयमलभमानाश्चन्द्रगुप्तमेवानुवर्त्तन्ते । त्वादृशं पुनः प्रतिपक्षोद्धरणे सम्भावितशक्तिमभियोक्तारमासाद्य क्षिप्रमेनं परित्यज्य त्वामेवाश्रयिष्यन्ते इति । अत्र कुमारस्य वयमेव निदर्शनम् ।

मलयकेतुः—अमात्य ! किमेतदेवैकं सचिवव्यसनमभियोगकारणं चन्द्रगुप्तस्य ? आहोस्विदन्यदप्यस्ति ?

राक्षसः—कुमार ! किमन्यैः बहुभिरपि ? एतद्धि तत्र प्रधानतमम् ।

तो चाणक्य के दोष ही कारण हुये, अब जब कि चाणक्य हटा दिया तब तो प्रजायें, जो पहले ही से चन्द्रगुप्त में अनुरक्त रहती आई हैं, और भी विशेषरूप से उस पर अनुराग रखने लग जायगीं ।

राक्षस—कुमार ! बात ऐसी नहीं ! बात यह है कि प्रजायें यहां दो प्रकार की हैं-पहली चन्द्रगुप्त को चाहने वाली और दूसरी जो नन्द-वंश के प्रेम में पगी । अब चन्द्रगुप्त को चाहने वाली प्रजाओं के चन्द्रगुप्त से विरक्त होने में चाणक्य के अपराध तो कारण हो सकते हैं किन्तु नन्द-वंश में अनुरक्त प्रजाओं के लिये ऐसी बात संभव नहीं क्योंकि ये तो यह सोचकर कि चन्द्रगुप्त के पितृवंश रूप नन्दवंश का समूलोन्मूलनकर्ता चाणक्य ही है चाणक्य के प्रति क्रोध और द्वेष से विक्षुभित बनीं अपना कोई सहारा न पा चन्द्रगुप्त को ही सब कुज मान बैठी हैं । किन्तु इन्हें जब तुम्हारे समान आक्रमणकारी मिल गया जो कि शत्रुपक्ष का संहार कर डाले तब तो यह निश्चित ही है कि ये चन्द्रगुप्त को छोड़ कर तुम में आ मिलेंगी । इस में यदि प्रमाण चाहते हो तो सर्वप्रथम प्रमाण मुझे ही समझ लो ।

मलयकेतु—अमात्य ! क्या चन्द्रगुप्त पर हमारे आक्रमण करने का उस पर पड़ी सचिव-व्यसन रूप विपत्ति ही कारण हुई या और भी कुछ ?

राक्षस—कुमार ! और कारण के होने या न होने से क्या ! प्रधानतम कारण यही है ।

मलयकेतुः—अमात्य ! कथं प्रधानतमं नाम ? किमिदानीं चन्द्रगुप्तः स्वराज्यकार्यधुरामन्यत्र मन्त्रिणि आत्मनि वा समासज्य प्रतिविधातुमसमर्थः स्यात् ?

राक्षसः—बाढम् , असमर्थ एव ।

मलयकेतुः—किं कारणम् ?

राक्षसः—स्वायत्तसिद्धिषु, उभयायत्तसिद्धिषु वा भूमिपालेषु कदाचिदेतत् सम्भवति, न तु चन्द्रगुप्ते । चन्द्रगुप्तस्तु दुरात्मा, नित्यसचिवायत्तसिद्धावेवावस्थितश्चक्षुर्विकल इवाप्रत्यक्षसर्व्वलोकव्यवहारः कथमिव स्वयं प्रतिविधातुं समर्थः स्यात् ? कुतः ?— ।

अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः ।
सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति ॥ १३ ॥

राक्षसः 'चन्द्रगुप्तश्चाणक्यादपरक्तस्स्वयं तत्तत् प्रतिविधातुमसमर्थ' इति सिद्धान्तयन्नाह—अत्युच्छ्रित इत्यादि । **पार्थिवे नृपे मन्त्रिणि सचिवे चात्युच्छ्रिते समभ्युन्नते**

मलयकेतु—अमात्य ! इसे प्रधानतम क्यों मान लिया जाय ! क्या इस समय चन्द्रगुप्त के लिये समस्त राज्यतन्त्रभार अपने ऊपर ही उठा लेना या अन्य किसी मन्त्री पर डाल देना और हमसे भिड़ने को तैयार हो जाना संभव नहीं ?

राक्षस--नहीं, यह कभी संभव नही ।

मलयकेतु—क्यों ! ऐसी क्या बात !

राक्षस--बात यह है कि यब सब तो उस प्रकार का राजा कर सकता है जो स्वायत्त-सिद्धि हो या उभयायत्त-सिद्धि हो । चन्द्रगुप्त के लिये ऐसी बात कहां ! यह दुष्ट चन्द्रगुप्त सदा का ही सचिवायत्त-सिद्धि, किसी अन्धे के समान समस्त लोक-व्यवहार से अनभिज्ञ, भला स्वयं कैसे सब प्रकार का प्रतीकार कर सकता है ! यह तो स्पष्ट ही है कि—

'राजलक्ष्मी राजा और अमात्य दोनों के परस्पर एक मत और महोन्नत बने रहने पर ही अपने दोनों पैर जमाकर खड़ी हो उनकी एक साथ अभ्यर्थना किया करती है किन्तु जब दोनों परस्पर भिन्नमत के बन बैठें तब भला चपल स्त्री-स्वभाव के कारण इस प्रकार की अभ्यर्थना के बोझ से थकी-मांदी उसके लिये दोनों में से किसी एक से मुंह फेर लेने में लगा ही क्या है !' ॥ १३ ॥

अपि च—

नृपोऽपकृष्टः सचिवात्तदर्पणः स्तनन्धयोऽत्यन्तशिशुः स्तनादिव ।
अदृष्टलोकव्यवहारमन्दधीर्मुहूर्त्तमप्युत्सहते न वर्त्तितुम् ॥ १४ ॥

प्रभुशक्तिमन्त्रशक्तिपारस्पर्येण राज्यतन्त्रे जाग्रति सति सदैकमते सतीति वा श्रीराजलक्ष्मीः पादौ प्रभुशक्ति-मन्त्रशक्तिरूपौ स्वचरणौ विष्टभ्येतस्ततो विसंष्ठुलतामपहाय स्थिरं स्थापयित्वेत्यर्थं उपतिष्ठते तयोस्सङ्गता विराजत एवेति । (उपाद्देवपूजासंगतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यमिति वार्तिकबलादत्रात्मनेपदम्) किन्तु साश्रीस्तयोर्नृपसचिवयोर्द्वयोर्विमतयोः कलहायमानयोर्वा सतोर्द्वधीभूतयोस्तिष्ठतोरित्यर्थः, स्त्रीस्वभावात् प्रकृत्या चञ्चलत्वाद् भरस्योपस्थानरूपस्य नृपामात्ययोरथवा समीकृतचरणावस्थितिरूपस्य स्वभारस्यासहाऽसमर्था सती नूनमेवैकतरं तयोरन्यतरं जहाति परित्यजतीति । अर्थादेकमत्यं विहाय वैमत्येन वर्तमानयोश्चन्द्रगुप्तचाणक्ययोरवश्यमेवास्माकं कार्यसिद्धिरित्यभिप्राय इति ॥ १३ ॥

टिप्पणी—अत्र 'यथा काचन नर्तकी उच्छ्रितौ समौ वंशस्तम्भौ पादाभ्यां दृढमवष्टभ्य सुस्थिरा तिष्ठति तयोर्वैषम्ये विसंष्ठुलपदतया देहभारं वोढुमसहा एकं हित्वाऽन्यतरमवलम्बमाना तेन सह स्वयमपि पतति तद्वत् । अत्र प्रस्तुतेनाऽप्रस्तुतस्य स्फोरणात्समासोक्तिरलङ्कार' इत्यादि यद् ढुण्ढिराजव्याख्यानं तदनुकरणं वाऽन्येषामर्वाचीनव्याख्यानानां न तत्सर्वं साधु । अत्र हि गायनी यथा कौचिदेकमतौ सुहृदौ समपादावस्थिता तयोः पुरतस्तौ सममेवानुरञ्जयति तयोश्च परस्परं स्पर्द्धमानयोस्सतोः कमप्यन्यतरमेव सेवमाना दृश्यते तथात्वे च सपद्येव समाप्यते च तया सर्वमेव गीतादि-हावभावादिरूपं मनोरञ्जनं तथैव श्रियाप्यत्र क्रियते करिष्यते वेत्युन्नेयमप्रस्तुतमर्थवस्त्विति ।

राक्षस'श्चन्द्रगुप्तस्सचिवायत्तसिद्धिः किङ्कर्त्तव्यविमूढश्चाणक्ये च्युताधिकार' इति निश्चिन्वानो वक्ति—नृपोऽपकृष्ट इति । तदर्पणरतस्मिन्नेव सचिवे चाणक्ये राज्यतन्त्रं सर्वमर्पयतीति तथाविधस्सचिवायत्तसिद्धिरयं नृपश्चन्द्रगुप्तोऽधुना स्तनन्धयः स्तनपायी ('नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोरि'तिसूत्रेण खशि 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमि च रूपम्) अत एव चात्यन्तशिशुरतिबालः स्तनादिव स्वैकमात्राधारात् जननीस्तनादिव सचिवादपकृष्टः पृथक्स्थितः पृथक्स्थापितो वाऽदृष्टलोकव्यवहारमन्द-

---

साथ ही साथ, 'यह राजा (चन्द्रगुप्त) अपने मन्त्री पर ही निरन्तर निर्भर रहने वाला, उसी से सर्वथा वियुक्त, समस्त लोक व्यवहार से अनभिज्ञ और स्वयं मन्द बुद्धि जो एक नितान्त अबोध स्तनपायी और मां के स्तन से बिछुड़े शिशु के समान है एक क्षण भर भी भला अब कैसे ठहर सकता है !' ॥ १४ ॥

मलयकेतुः—(आत्मगतम्) दिष्ट्या न सचिवायत्ततन्त्रोऽस्मि (प्रकाशम्) अमात्य ! यद्यप्येवं तथापि खलु बहुष्वभियोगकारणेषु सत्सु सचिवव्यसनमभियुञ्जानस्य शत्रुमभियोक्तुः नैकान्तिकी सिद्धिर्भवति ।

राक्षसः—ऐकान्तिकीमेव सिद्धिमवमन्तुमर्हति कुमारः । कुतः ?—

त्वय्युत्कृष्टबलेऽभियोक्तरि नृपे, नन्दानुरक्ते पुरे,
चाणक्ये चलिताधिकारविमुखे, मौर्ये नवे राजनि ।
स्वाधीने मयि—" (इत्यर्द्धोक्ते लज्जां नाटयन्)
"—मार्गमात्रकथनव्यापारयोगोद्यमे,
त्वद्वाञ्छान्तरितानि सम्प्रति विभो ! तिष्ठन्ति साध्यानि नः ॥१५॥

धीर्न दृष्टो लोकव्यवहारो येन सोऽत एव मन्दा किञ्चित् प्रतिविधातुमसमर्था धीर्बुद्धिर्यस्य तथाभूतस्सन् मुहूर्त्तमपि क्षणमात्रमपि वर्तितुं नोत्सहते स्थातुं राज्ये न क्षमत इत्यभिप्राय इति ॥ १४ ॥

राक्षस ऐकान्तिकीं स्वपक्षविजयस्थितिं विज्ञापयन्नाह मलयकेतुं—त्वय्युत्कृष्टबल इत्यादि । अयि विभो ! विशेषतोऽधुना विजिगीषो ! कुमारमलयकेतो ! संप्रति कालेऽस्मिन् नृपे नरपतौ त्वय्युत्कृष्टबले सन्नद्धसर्वप्रकारसैन्येऽभियोक्तरि समभिषेणनपरे स्थिते सति, पुरे पाटलिपुत्रे च नन्दानुरक्ते नन्दभक्ते तिष्ठति सति, चाणक्ये

मलयकेतु—(मन ही मन) अच्छा हुआ मैं सचिवायत्त सिद्धि नहीं रहा । (प्रकट) अमात्य ! यद्यपि आपका कहना ठीक है किन्तु उस विजिगीषु आक्रमणकारी के लिये जो शत्रु पर आक्रमण के प्रचुर कारणों के हो सकने पर भी केवल सचिव विषयक व्यसन (विपत्ति) को ही देखकर आक्रमण करे, क्या यह सम्भव है कि फल सिद्धि निश्चयात्मक ही होगी ?

राक्षस—कुमार ! सर्वथा निश्चयात्मक फलसिद्धि होगी । देखो महाराजकुमार !

'तुम सरीखे महाशक्तिशाली आक्रान्ता अधिराज, नन्दवंश भक्त पाटलिपुत्र के नागरिक, पदच्युत किंवा उदासीन चाणक्य, नये और अनुभव रहित मौर्य-राज और साथ ही साथ सर्व स्वतन्त्र तथा मार्गदर्शन और कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्देश में सतत उद्युक्त मेरे समान व्यक्ति के रहते हुये हमारी उद्देश्य सिद्धि में यदि तुम्हारी इच्छा का विलम्ब नहीं तो और कैसा विलम्ब है !' ॥ १५ ॥

मलयकेतुः—अमात्य ! यद्येवमभियोगकालममात्यः पश्यति, तत्किमास्यते ? पश्य—

उत्तुङ्गास्तुङ्गकूलं स्रुतमदसलिलाः प्रस्यन्दिसलिलं
श्यामाः श्यामोपकण्ठद्रुममलिमुखराः कल्लोलमुखरम् ।
स्रोतःखातावसीदत्तटमुरुदशनैरुत्सादिततटाः
शोणं सिन्दूरशोणा मम गजपतयः पास्यन्तु शतशः ॥ १६ ॥

कुटिलनयप्रयोक्तरि मौर्यसचिवे चलिताधिकारविमुखे चलिताधिकारश्च्युतपदश्चासावत एव विमुखो निरपेक्षश्चेति तथाविधे संजायमाने संजाते वा, मौर्ये चन्द्रगुप्ते च नवेऽज्ञातराज्यतन्त्रसञ्चालने राजनि नृपमात्रे विद्यमाने सति, मयि भवदमात्यप्रवरे च स्वाधीने स्वतन्त्रेऽथ च मार्गमात्रकथनव्यापारयोगोद्यमे मार्गमात्रस्य प्रस्थातव्यं पुरस्तादित्यादिमात्रस्य यः कथनव्यापारयोगः निर्देशनकार्यभरः स एवोद्यमो निर्वाहो यस्य तथाभूते विराजमाने सति नः साध्यानि शत्रुप्रणाशराज्यावाप्तिरूप फलसमीहितानि त्वद्वाञ्छान्तरितानि त्वदिच्छामात्रव्यवहितानि तिष्ठन्ति वर्तन्त इति भावः । सैन्यानि त्वदाज्ञां प्रतीक्षन्ते, यदैवाज्ञापयसि तदैव सिद्धं सर्वमित्यभिप्राय इति ॥ १५ ॥

मलयकेतुस्सैन्यप्रस्थानं राक्षसाय विज्ञापयन्नाह—उत्तुङ्गा इत्यादि । अये ! यद्यभियोगकालस्समुपस्थितः प्रस्थातव्यमेव मामकीनैर्बलैः । इमे मम महाबलस्य विजिगीषोरुत्तुङ्गा अत्युत्सेधवन्तः, स्रुतमदसलिलाः प्रक्षरद्दानजलाः, श्यामाः कालवर्णाः, अतिमुखराः प्रवृद्धगर्जातर्जाः, उरुदशनैरुत्सादिततटाः विशालदन्तैरुत्खातविदारिततीरास्सिन्दूरशोणास्सज्जितरणसज्जाः गजपतयो हस्तिसेनामहागजाश्शतशोऽगणितगणनास्सन्त इमं पुरोवर्तिनं तुङ्गकूलमुन्नततटं, प्रस्यन्दिसलिलं प्रखर-

---

मलयकेतु—अमात्य ! यदि आपकी दृष्टि में आक्रमण का ऐसा सुनहला अवसर आ पहुंचा है तो अब देर कैसी । अभी देखिये—

'हमारी हस्तिसेना के गजराज-ऊँचे २ मदजल की धार बहाते, काले २ गूंजते भौंरो से भरे, लम्बे २ दांतों से तटों को तोड़ते-फोड़ते और लाल २ सिन्दूर से सजे-धजे झुण्ड के झुण्ड महामतंग अभी २ इस महातट, प्रखर प्रवाह, तटवर्ती वृक्षों से श्यामलकूल, कल्लोलित जल प्रबल धार के कटाव से गिरते-पड़ते किनारों वाले, रक्तवर्ण शोण महानद (सोन नदी) को कैसे पीकर सुखा देते हैं ! ॥ १६ ॥

अपि च—

गम्भीरगर्जितरवाः स्वमदाम्बुमिश्रमासारवर्षमिव शीकरमुद्गिरन्त्यः।
विन्ध्यं विकीर्णसलिला इव मेघमाला रुन्धन्तु वारणघटा नगरं मदीयाः॥

(इति भागुरायणेन सह निष्क्रान्तो मलयकेतुः)

राक्षसः—कः कोऽत्र भोः ?

पुरुषः—(प्रविश्य) आज्ञापयत्वमात्यः (आणवेदु अमच्चो)

जलं, श्यामोपकण्ठद्रुमं श्यामायमानतटवृक्षमालं, कल्लोलमुखरं तरङ्गध्वनिवाचालं, स्रोतःखातावसीदत्तटं प्रवाहवेगावसन्नकूलं शोणं शोणनामानं महानदं पायन्तु पायं पायं शोषयन्त्विति भावः ॥ १६ ॥

टिप्पणी—(१) अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुरूपेणार्थेन पाटलिपुत्रमुपरुन्धन्तु गजबलानीति व्यङ्ग्यार्थः प्रत्याय्यते ।

(२) अत्र स्रग्धरावृत्तस्यैव न्यूनाक्षररूपेणप्रस्तारविशेषेण सुवदनावृत्ताभिधानेन यन्मलयकेतुवचोबन्धस्तस्याऽस्ति किमपि स्वारस्यं यद्धि मलयकेतोरौद्धत्यप्रकाशनरूपं विचारविलम्बासहत्वरूपं वेति ।

मलयकेतुः पाटलिपुत्रोपरोधमेव राक्षसं प्रति समर्थयते—गम्भीरगर्जितेत्यादिना। अमात्य ! मदीयाः मामकीनाः गम्भीरगर्जितरवाः गम्भीराः गर्जितरवाः गर्जाध्वनयो येषां तथाविधाः वारणघटाः हस्तिसेनाः विकीर्णसलिलाः विक्षिप्तजलाः मेघमालाः इव घनघटाः इव स्वमदाम्बुमिश्रं शीकरं निजमदजलमिश्रितं जलकणौघमासारवर्षमिव धारासम्पातमिवोद्गिरन्त्य उद्वमन्त्यो नगरं पाटलिपुत्रं विन्ध्यमिव रुन्धन्तु समन्तात् परिवृत्योपरोधवैशसेन पीडयन्त्वित्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

और भी देखिये,

अभी आज्ञा देता हूँ—ऐ मेरी गज सेनाओं ? गंभीर गर्जन करो, मदजल से भरे जलकण राशि की निरन्तर वर्षा प्रारम्भ कर दो और देखो गरजती, मूसलाधार पानी बरसाती, जलाप्लावन करती घन-घटाओं से घिरे विन्ध्य की भांति चारों ओर से पाटलिपुत्र घेर लिया जाय !' ॥ १७ ॥

(भागुरायण के साथ मलयकेतु का बाहर चला जाना)

राक्षस—अरे कोई है यहां ?

पुरुष—(भीतर आकर) आज्ञा, अमात्य !

राक्षसः—प्रियंवदक ! ज्ञायतां, सांवत्सरिकाणां द्वारि कस्तिष्ठति ?

प्रियंवदकः—यदमात्य आज्ञापयति (इति निष्क्रम्य क्षपणकं दृष्ट्वा पुनः प्रविश्य च) अमात्य ! एष खलु सांवत्सरिकः क्षपणकः—(जं अमच्चो आणवेदि । अमच्च ! एसो क्खु संवत्सरिओ क्खवणओ—)

राक्षसः—(स्वगतमनिमित्तं सूचयित्वा) कथं प्रथममेव क्षपणकदर्शनम् ?

प्रियंवदकः—'—जीवसिद्धी (जीवसिद्धिः)

राक्षसः—(प्रकाशम्) अबीभत्सदर्शनं कृत्वा प्रवेशय ।

प्रियंवदकः—यदमात्य आज्ञापयति (जं अमच्चो आणवेदि)

(इति निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशति क्षपणकः)

क्षपणकः—

शासनमर्हतां प्रतिपद्यध्वं मोहव्याधिवैद्यानाम् ।
ये प्रथममात्रकटुकं पश्चात् पथ्यमुपदिशन्ति ॥ १८ ॥
(सासणमलिहन्ताणं प्पड़िवज्जह मोहवाहिवेज्जाणं ।
जे पढ़ममेत्तकडुअं पच्छा पत्थं उबदिसन्ति ॥ १८ ॥

क्षपणको जीवसिद्धिस्स्वागमनं सूचयन्नाह—शासनमित्यादि । श्रावकाः ! मोहव्याधिवैद्यानां मोह एव व्याधिस्तस्य चिकित्सकानामर्हतामार्हतानां शासनं देशनं

राक्षस—प्रियंवदक ! पता लगाओ बाहर द्वार पर ज्योतिषिओं में से कौन उपस्थित है ?

प्रियंवदक—अमात्य की जो आज्ञा ! (बाहर जाकर क्षपणक को देख पुनः भीतर आते हुये) अमात्य ! बाहर तो एक क्षपणक से ज्योतिषी विराजमान हैं ।

राक्षस—(मन ही मन-अपशकुन समझ कर) अरे पहले ही पहल क्षपणक का दर्शन हुआ !

प्रियंवदक—नाम तो जीवसिद्धि है !

राक्षस—(प्रकट) भीतर ले आओ किन्तु देखो बीभत्स रूप में न आने पावे।

प्रियंवदक—जैसी आज्ञा, अमात्य ! (बाहर निकल जाता हैं)

(क्षपणक का प्रवेश)

क्षपणक—'अरे लोगो ! उन माया मोह के महावैद्यों-अर्हन्तों के शासन की की शरण लो जो पहले भले ही कुछ कड़ुआ कहें किन्तु अन्त में मीठे और हितकर फल की ही बात बतावेंगे' ॥ १८ ॥

(उपसृत्य) धर्मलाभ उपासक ! भवतु (धम्मलाहो सावका ! भोदु)

राक्षसः—भदन्त ! निरूप्यतां तावदस्मत्प्रस्थानयोग्यदिवसः।

क्षपणकः—(नाट्येन चिन्तयित्वा) उपासक ! निरूपितो मुहूर्त्तः। आमध्याह्नात् निवृत्तसप्तशकला शोभना तिथिः सम्पूर्णचन्द्रा पौर्णमासी, युष्माकमुत्तरस्या दिशो दक्षिणां दिशं प्रस्थितानां दक्षिणद्वारिकं नक्षत्रम् ! (सावका ! णिलूविदे मुहुत्ते। आमज्झणादो णिव्वुत्तसत्तसकला सोहणा तिही संपुण्णचन्दा पुण्णमासी तुह्माणं उत्तलाए दिसाए दक्खिणां दिसं प्पत्थिदाणं दक्षिणदुवालिओ णक्खत्तओ)

अपि च (अवि अ)—

अस्ताभिमखे शूरे उदिते सम्पूर्णमण्डले चन्द्रे।

प्रतिपद्यध्वं परिपालयत। यतो हीमेऽर्हन्तो यदुपदिशन्ति तन्मुहूर्तमात्रकटुकं केवलमापात एव विरसं किन्तु पश्चात् पथ्यं पर्यन्ते हितकरमेवोपदिशन्तीत्यर्थः॥ १८॥

क्षपणकः प्रस्थानदिवसादि गणयन् वक्ति निपुणं राक्षसम्—अस्ताभिमुख इत्यादि। सूरे सूर्येऽस्ताभिमुखेऽस्ताचलावलम्बिनि सति (प्रस्थानसमयस्य संकेतः) चन्द्रे चन्द्रमसि च सम्पूर्णमण्डले पूर्णकल उदिते गगनमवभासयति सति (लग्नप्रदर्शनम्)

(समीप पहुंच कर) उपासक का धर्म बढ़े !

राक्षस— ओह ! भदन्त ! कृपया हमारे प्रयाण योग्य दिन तो बतावें ?

क्षपणक—(सोचने का अभिनय करते हुये) उपासक ! मुहूर्त तो ठीक बैठ गया ! मध्याह्न काल से सम्पूर्णचन्द्र वाली पूर्णिमा तिथि हो रही है, बड़ी शोभन (बस्तुतः अशोभन) और सप्तमी के अंश से सर्वथा निर्मुक्त (और साथ ही साथ अमङ्गल कारी) और उत्तर की ओर से दक्षिण प्रस्थान करते हुये तुम्हारा नक्षत्र भी जो दक्षिणवर्ती ही है वह तो और भी सुन्दर !

[ज्योतिषशास्त्र के अनुसार ऐसी तिथि में प्रमाण निषिद्धै—न गच्छेद् विष्टि भद्रायाम्। षष्ठयष्टमी द्वादशीषु न गच्छेत्त्रिदिनस्पृशि। पूर्णिमाप्रतिपद्दर्शरिक्तावमदिनेषु च॥]

और देखो, प्रमाण वही प्रशस्त है जो सूर्य के अस्ताचलाभिमुख, (राक्षस की महत्वाकांक्षा के अन्त होने) चन्द्र के सम्पूर्णमण्डल के साथ उदय, (चन्द्रगुप्त

गमनं बुधस्य लग्ने उदितास्तमिते च केतौ ॥ १९ ॥
(अत्थाहिमुहे सूले, उदिदे संपुण्णमण्डले चन्दे ।
गमणं बुहस्स लग्गे, उदिदत्थमिदे अ केदुम्मि ॥ १९ ॥)

राक्षसः—भदन्त ! तिथिरेव तावन्न शुध्यति ।

क्षपणकः—स्रावकाः !—

एकगुणा भवति तिथिश्चतुर्गुणं भवति नक्षत्रम् ।
चतुःषष्टिगुणं लग्नमेतद् दृश्यते ज्यौतिषतन्त्रसिद्धान्ते ॥ २० ॥
(उपासक ! एक्कगुणा होइ तिही चउग्गुणो होइ णक्खत्ते ।
चउसत्तिगुणो लग्गे एसे जोइसतन्तसिद्धंते ॥ २० ॥)

बुधस्य लग्ने कन्यालग्न इति भावः (लग्नविशेषवर्णनम्) केतौ चोदितास्तमिते केतुग्रहे चोदितात्लग्नादस्तमिते सप्तमस्थानगते च सति गमनं पाटलिपुत्रं प्रति सेनायाः प्रस्थानं प्रशस्तमित्यर्थः। शब्दशक्तिमूलो व्यङ्ग्यार्थस्तु—शूरे भवति राक्षसे 'अत्थाहिमुहे' अर्थाभिमुखे मौर्यसाचिव्यस्वयंग्राहस्वरे संभूते सति, चन्द्रे चन्द्रगुप्ते च राजनि वशीकृतसर्वराजमण्डले विराजमाने सति, बुधस्य कौटिल्यस्य लग्ने सम्बन्धे समवस्थिते च केतावुदितास्तमिते मलयकेतुमुदितमपि सुतरामस्तंगतप्रायं कर्तुं गमनं प्रस्थानं प्रशस्तमेव भवतामिति ॥ १९ ॥

क्षपणको गूढाभिसन्धिना राक्षसं प्रति तिथिशुद्धिं वर्णयन्नाह—एकगुणेति। तिथिशुद्धौ गमने यदि कश्चनलाभस्ततश्चतुर्गुणो लाभो नक्षत्रशुद्धौ गमने, किञ्च नक्षत्रशुद्धौ गमनं यदि चतुर्गुणलाभकरं तर्हि लग्नशुद्धौ गमनं सावत्सरिकाणां सिद्धान्ते चतुःषष्टिगुणकमिति निःशङ्कं शुद्धायामशुद्धायां वातिथौ प्रस्थातव्यमेव भवतेति भावः ॥ २० ॥

के समस्त राजमण्डल पर आधिपत्य) बुध के शुभ लग्न के लगने (चाणक्य की शुभाशंसा) और केतु के उदयलग्न से अस्तलग्न पर चल पड़ने (मलयकेतु के अन्त होने) के साथ सम्पन्न हो । ॥ १९ ॥

राक्षस—भदन्त ! तिथि तो ठीक नहीं पड़ती ?

क्षपणक—उपासक ।

'ज्योतिष का सिद्धान्त है-तिथि को प्रमाण मान कर प्रमाण में यदि एक गुना फल तो नक्षत्र कौ प्रमाण मान कर चौगुना और यदि कहीं लग्न का प्रमाण बैठ गया तो चौसठ गुना !' ॥ २० ॥

तस्मात्—

लग्नं भवति सुलग्नं क्रूरग्रहं परिहर आशु ।
प्राप्नुहि दीर्घं लाभं चन्द्रस्य बलेन गच्छन् ॥ २१ ॥

(तस्मात् । लग्गे होइ सुलग्गे कूलग्गहं पलिहलिज्जासु ।
पाविहि दीहं लाहं चन्दस्स वलेण गच्छन्ते ॥ २१ ॥)

राक्षसः—भदन्त ! अपरैः सांवत्सरिकैस्सार्द्धं संवाद्यताम् ।

क्षपणकः—संवादयतु उपासकः । अहं निजं गेहं गमिष्यामि (संवादेदु सावके । अहं णिअं गेहं गमिस्सं)

राक्षसः—न खलु कुपितो भदन्तः ?

क्षपणकः—न कुपितो युष्माकं भदन्तः (ण कुविदे तुह्माणं भदन्ते)

राक्षसः—कस्तर्हि ?

क्षपणकः—भगवान् कृतान्तः । येन आत्मनः पक्षमुज्झित्वा परपक्षं

पूर्वोक्तमेव द्रढयति क्षपणकः—लग्नमित्यादिना । अमात्यबृहस्पते ! आशु शीघ्रं यथा स्यात्तथा क्रूरग्रहं नीचग्रहसम्बन्धं परिहर परित्यज । तथा च चन्द्रस्य बलेन गच्छन् सन् चन्द्रसम्बन्धेन प्रस्थातुकामस्त्वं दीर्घं लाभं प्राप्नुहि लभस्व, अलं लग्नादिचिन्तया सर्वमेव लग्नं चन्द्रबलेन गच्छतस्सुलग्नमेव भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

टिप्पणी—मलयकेतुर्निराकरणीयः, चन्द्रगुप्तस्सेवितव्यः, स्वामात्यपदगौरवं पुनरपि प्राप्तव्यम् , चाणक्योऽपि न विघ्नमुत्पादयिष्यतीति गूढाभिसन्धिरत्र जीवसिद्धिवचनस्य विज्ञेयः ।

अत एव 'क्रूर ग्रह केतु जब वर्जित हो गया, लग्न तुम्हारा कल्याणकर हो गया । चन्द्र के सम्बन्ध से प्रस्थानारम्भ करो, मुंहमांगा फल प्राप्त होगा' ॥ २१ ॥

राक्षस—भदन्त ! कृपया और ज्योतिषिओं से इस पर परामर्श कर लें ।

क्षपणक—उपासक ! मैं चला, करता रह तू परामर्श ।

राक्षस—तो क्या भदन्त क्रुद्ध हो गये !

क्षपणक—भदन्त क्यों क्रुद्ध हों !

राक्षस—तब कौन ?

क्षपणक—भगवन् वृत्तान्त समझो और नहीं तो अपना पक्ष छोड़ परपक्ष

प्रमाणीकरोषि (भअवं कअन्तो । जेण अत्तणो पक्खं उज्झिअ परपक्खं प्पमाणीकलोसि)

(इति निष्क्रान्तः क्षपणकः)

राक्षसः—प्रियंवदक ! ज्ञायतां का वेला वर्त्तत ? इति ।

प्रियंवदकः--यदमात्य आज्ञापयति । (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य च) अस्ताभिलाषी भगवान् सूर्यः । (जं अमच्चो आणवेदि । अत्थाहिलासी भअवं सुले)

राक्षसः--(आसनादुत्थाय विलोक्य च) अये । अस्ताभिलाषी भगवान् सहस्रदीधितिः । तथाहि,—

आविर्भूतानुरागाः क्षणमुदयगिरेरुज्जिहानस्य भानोः
पत्रच्छायैः पुरस्तादुपवनतरवो दूरमाश्वेव गत्वा ।

राक्षसोऽस्ताभिमुखं सूर्यं पश्यन् प्रस्थानवेला समायातेति चिन्तयन् कयापि चिन्तया नष्टचेताः किमपि साशङ्कं भावि वस्तु मनसि कुर्वन्नाह—आविर्भूतानुरागा इत्यादि । अये ! को जानाति भाविनि महायुद्धे के के स्थास्यन्ति जना अस्मत्पक्षमवलम्बमानाः ! के के वा शत्रूपजप्ता अवसर एवोपनते परित्यक्ष्यन्ति पक्षमस्माकम् । यतो हि सूर्योदयास्तमययोरुपवनतरव इव राजसेवका नृपोद्भव-पराभवयोः क्रमशो रक्तापरक्तीभवन्त एव दृश्यन्ते । तथाहि यथा एत उपवनतरव आरामपादपाः उदयगिरेरुदयाचलादुज्जिहानस्योदयमानस्य भानोस्सतः क्षणं यथा स्यात्तथा आविर्भूतानुरागाः प्रीतरक्तास्सन्तः पुरस्तात्सूर्याभिमुखं पत्रच्छायैश्छायाबाहुल्येन

पर क्यों कर आस्था होती है ! (क्षपणक चला जाता है)

राक्षस—प्रियंवदक ! पता लगाओ-क्या समय है ।

प्रियंवदक--जो आज्ञा अमात्य ! (बाहर जाकर पुनः प्रवेश करते हुये) भगवान् सूर्य अब अस्ताभिलाषी होचले ! (अर्थात् राक्षस का अब अन्त आ पहुंचा !)

राक्षस—(आसन से उठकर देखते हुये) ओह ! सहस्रांशु भगवान् सूर्य अस्ताभिलाषी हो पड़े !

ओह ! 'भगवान् भानु के उदय लेते हुये क्षणभर में जो उपवन के पेड़-पौधे बालातप से सर्वाङ्ग रंजित (स्नेह-सने) अपने पत्रों की प्रभूत छाया से समन्वित कितनी शीघ्र, दूर तक आगे, मानो स्वागत के लिये बढ़े खड़े दिखाई ही दिया किये

एते तस्मिन् निवृत्ताः पुनरपरककुप्प्रान्तपर्यस्तबिम्बे
प्रायो भृत्यास्त्यजन्ति प्रचलितविभवं स्वामिनं सेवमानाः ॥२२॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति मुद्राराक्षसे चतुर्थोऽङ्कः ॥



कृत्वा आऽशु शीघ्रमेव दूरं गत्वा सूर्याभिनन्दनाय पुरश्छायां प्रसारयन्तस्स्थिता इत्यर्थः । तस्मिन्नेव भानौ पुनरपरककुप्प्रान्तपर्यस्तबिम्बे पश्चिमाशावलम्बिनि सत्यस्तोन्मुखे संभूते त एवारामवृक्षा निवृत्ताः निघृत्तारुण्याः संकोचितपत्रच्छायाश्च विभाव्यन्ते ततस्तु निश्चप्रचमेवेदं यत्सेवमानाः भृत्याः प्रायः प्रचलितविभवं प्रणष्टैश्वर्यं स्वामिनं त्यजन्ति रहयन्तीति भावः ॥ २२ ॥

टिप्पणी—(१) अत्र राक्षसस्येदं भाविवस्तुविकल्पनं चाणक्यस्य प्राप्त्याशा एव भङ्ग्या कयाचन स्थिरीकरणमिति सुतरामङ्कोऽयं गर्भसन्धिपरिकर्मित इत्यङ्कत्रयपरिच्छिन्नो बीजस्यौन्मुख्यवान् लाभाऽलाभगवेषणादिस्वभागे गर्भसन्धिरवसित इति । अस्य सन्धेरवश्यनिबन्धनीयान्याक्षेपाधिबलमार्गतोटकाऽसत्याहरणरूपाण्यङ्गानि तत्र तत्र सुनिपुणं निबद्धानीति स्वयमूह्यानि सुधीभिरिति ।

(२) राक्षसोद्योगोऽत्र वाच्यायमानतयाऽवस्थितः ततश्च निपुणमपश्यतां कृते राक्षसस्य नियताप्तेः राक्षसचरसंवादरूपया प्रकर्या संयोजनमेव नाट्यशास्त्राक्षरनिरीक्षणस्य फलम् । किन्तु राक्षसोद्योगअंश एव तत्र तत्राऽभिव्यङ्ग्य इति चाणक्यनायकस्य प्राप्त्याशैव गूढमभिव्यक्ता सहृदयावर्जनकरी नाटककृद्धृदयानुमता च विभावनीया सर्वैः खल्वेतन्नाटकानुरागिभिरित्यलं समधिकप्रकल्पनेनेति ।

इति राक्षसोद्योगो नाम चतुर्थोऽङ्कः ।



वे अब सूर्यविम्व के पश्चिमदिक् प्रान्त में लटक चलने पर मुंह मोड़े पड़े हैं ! कहीं ऐसा तो नहीं कि स्वामी के विगतवैभव होने के साथ सेवकजन ऐसे ही मुंह मोड़ लिया करें !' ॥ २२ ॥

(सभी पात्र रंगमच से निकल जाते हैं ।)

चतुर्थ अंक-समाप्त



पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति लेखमलङ्करणस्थगिकाञ्च मुद्रितामादाय सिद्धार्थकः)

सिद्धार्थकः—आश्चर्यम् ! आश्चर्यम् !! (ही हीमाणहे ! हीमाणहे)—

बुद्धिजलनिर्झरैः सिच्यमाना देशकालकलशैः ।
दर्शयिष्यति कार्यफलं गुरुकं चाणक्यनीतिलता ॥ १ ॥
(बुद्धि जलणिज्झरेहिं सिञ्चन्ती देशकालकलसेहिं ।
दंसइस्सदि कज्जफलं गुरुअं चाणक्कणीदिलदा ॥ १ ॥)

अलङ्करणस्थगिकामिति—भूषणपेटिकामित्यर्थः ।

सिद्धार्थकश्चाणक्यनीत्युद्यानस्य कोऽपि कर्मकरः कपटलेखनिष्पादनरूपस्य कूट-नयक्षेत्रस्य कुशलो वाहीकः महीयस्यै फलसिद्धयै स्पृहयन् सर्वं यथाचिन्तितं यथा-निश्चितं च परिणममानं निध्यायन् प्रसन्नस्वान्तो वक्ति—बुद्धिजलनिर्झरैरित्यादि । अहो ! धन्यासि चाणक्यनीतिलते ! यस्याः खलु शत्रुसंघभेदनप्रयोजनं कूटलेख-प्रयोगरूपं महासारं बीजं वप्तुं त्वरायितस्य मे मनसि कोऽपि समुल्लासः सा खलु भवती चाणक्यनीतिलता कौटिल्यनयकल्पवल्ली गुरुकं महनीयं लोकोत्तरं समभ्य-धिकं वा कार्यफलं कार्यस्य राक्षसकर्तृकचन्द्रगुप्तसाचिव्यस्वयंग्राहस्य फलं मौर्यसा-म्राज्यश्रेयःप्रेयोरूपं सुतरामेव सत्वरं दर्शयिष्यति लोकेभ्यः प्रकटीकरिष्यतीति । तथाहि बुद्धिजलनिर्झरैर्बुद्धयो जलानीव तेषां निर्झराः प्रवाहाः येभ्यस्तैस्तथाभूतैर्देश-कालकलशैः देशश्च कालश्च देशकालौ तावेव कलशास्सेचनघटास्तैः सिच्यमाना विराजते भवती । ततश्च मलयकेतुकर्तृकाभिषेणनकाले तत्सैन्यशिविरदेश एव संघ-भेदरूपेणाङ्कुरिता बलाधिपवर्गविनाशरूपेण द्विपत्रिता राक्षसनिराकरणरूपेण पल्ल-विता मलयकेतुबन्धनरूपेण पुष्पिता क्रमशः चमत्करिष्यत्येव समस्तं प्राणिवर्ग-मित्यभिप्राय इति ॥ १ ॥

(सिद्धार्थक का राक्षस की मुद्रा से मुद्रित लेख तथा आभूषण वाली पेटी के साथ रंगमंच पर आगमन)

सिद्धार्थक—आश्चर्य महान् आश्चर्य !

'अब तो आर्य चाणक्य की नीति-लता अपने ऐसे २ फलों को दिखलाया करेगी जिनकी महिमा कुछ पूछो नहीं ! और क्यों न हो ! देश काल का विचार जिस नीति-लता के सींचने का झञ्झर हो, कूट बुद्धि जिस नीति लता के पटाने का जल-छिड़काव बने, उसके लिये सब कुछ संभव ही है' ॥ १ ॥

गृहीतो मयाऽऽर्यचाणक्येन प्रथमलेखितो लेखः अमात्यराक्षसस्य मुद्रालाञ्छितः। तस्यैव मुद्रालाञ्छितेयमाभरणपेटिका। चलितोऽस्मि किल पाटलिपुत्रं, तद्यावत् गच्छामि। (परिक्रम्य अवलोक्य च) कथं क्षपणक आगच्छति? यावन्मेऽशकुनभूतमस्य दर्शनं, तस्मादादित्यदर्शनेन प्रतिहन्मि (गहिदो मए अज्जचाणक्केण पढमलेहिदो लेहो अमच्चरक्खसस्स मुद्दालंच्छिदो तस्स ज्जेव मुद्दालंच्छिदा इअं आहरणपेडिया। चलिदेह्मि किल पाडलिउत्तं, ता जाव गच्छह्मि। कहं क्खवणओ आअच्छदि? जाव मे असउणभूदं इमस्स दंसणं, ता आदित्तदंसणेण पडिहणामि)

(ततः प्रविशति क्षपणकः)

क्षपणकः—

अर्हतां प्रणमामो ये ते गम्भीरतया बुद्धेः।
लोकोत्तरैर्लोके सिद्धिं मार्गैर्मार्गयन्ति ॥ २ ॥
(अलिहन्ताणं प्पणमामो जे दे गम्भीलदाए बुद्धीए।
लोउत्तलेहिं लोए सिद्धिं मग्गेहिं मग्गन्ति ॥ २ ॥)

क्षपणकव्यञ्जनश्चाणक्यप्रणिधिर्मित्रीकृतामात्यराक्षसो जीवसिद्धिस्सिद्धार्थकरूपो राक्षसपक्षदवदहनस्य सन्धुक्षकः पवन इव शब्दं करोति—अर्हतामित्यादीति। अर्हतां प्रणमामो नमस्सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्रमहनीयेभ्यः क्षीण-

---

अब तो मैंने आर्य चाणक्य द्वारा पहले ही लिखवाया गया वह (कूट) लेख ले ही रखा है जिस पर अमात्य राक्षस की मुद्रा की छाप पड़ ही चुकी है और यही क्यों! यह आभरण पेटी भी तो साथ ही रही। राक्षस की ही मुद्रा से मुद्रित! अब चलो, पाटलिपुत्र चलूं। अब चल ही दिया जाय। (चलते-फिरते देख कर) अरे! सामने ही यह क्षपणक कहां से आ निकला! अरे! इसका दर्शन तो बड़ा भारी अपशकुन (असगुन) हुआ! कोई बात नहीं! भगवान् सूर्य का दर्शन करलूं-सब ग्रह कट जायेंगे!

(क्षपणक का प्रवेश)

क्षपणक--'प्रणाम! उन सभी महान् अर्हतों को प्रणाम! उन धीर-बुद्धि वाले जिन देवों को प्रणाम, जिन के साधना-मार्ग भी दिव्य और जिन की सिद्धि भी दिव्य!' ॥ २ ॥

सिद्धार्थकः—भदन्त ! प्रणमामि (भदन्त ! पणमामि)

क्षपणकः—उपासक ! धर्मलाभस्ते भवतु। (सिद्धार्थकं निर्वर्ण्य) उपासक ! प्रस्थानसमुद्वहने कृतव्यवसायमिव ते हृदयं पश्यामि (सावका ! धम्मलाहो दे होदु। सावका ! पत्थाणसमुव्वहणे किदव्ववसाअं विअ दे हिअअं पेक्खामि)

सिद्धार्थकः—कथं भदन्तो जानाति ? (कहं भदन्तो जाणादि ?)

क्षपणकः—उपासक ! किमत्र ज्ञातव्यम् ? एष ते मार्गादेशकुशलः शकुनः करगतो लेखश्च सूचयति (सावका ! किं एत्थ जाणिदव्वं ? एसो दे मग्गादेसकुसलो सउणो करगदो लेहो अ सूचेदि)

सिद्धार्थकः—ज्ञातं भदन्तेन देशान्तरं चलितोऽस्मि। तत् कथयतु भदन्तः कीदृशोऽद्य दिवसः ? (जाणिदं भदन्तेण देसन्तलं चलिदोह्मि ! ता कधेदु

कषायेभ्यो महादेशिकेभ्योऽर्हद्भ्यो ये हि ते बुद्धेर्गम्भीरतया केवलज्ञानस्य महाप्राणतया करणभूतया लोके लोकोत्तरैर्मार्गैरसाधारणैः षोडशभावनामहारथ्याभिस्तथाहि दर्शनविशुद्धि-विनयसंपन्नता-शीलव्रता-तिचाराभीक्ष्णज्ञानोपयोगाभीक्ष्णसंवेगत्यागतपस्समाधि-वैयावृत्यकरणार्हद्भक्त्याचार्यभक्ति-बहुश्रुतभक्ति-प्रवचनभक्त्यावश्यकाऽपरिहाणि-मार्गप्रभावना-प्रवचनवत्सलत्वरूपाभिस्सिद्धिम्मार्गयन्ति महाकल्याणमन्वेषयन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

टिप्पणी--अत्रार्हत्प्रणामकरणेन चाणक्यप्रणतिस्सूक्ष्मं ध्वनिता। चाणक्य एव सर्वलोकैकदेशिक उपासनीयस्समीहितसिद्धिमभिलषद्भिस्स एव महासिद्धोऽन्येभ्योऽपि सिद्धिप्रदातेति चेति सर्वं सूपपन्नम्।

प्रस्थानसमुद्वहन इति—प्रस्थानकर्मणि यात्राकरणे वेति।

सिद्धार्थक--प्रणाम स्वीकार हो भदन्त !

क्षपणक--धर्मलाभ ! सावक (श्रावक) ! धर्मलाभ ! (सिद्धार्थक को देख भाल कर) तुम तो ऐसे लग रहे हो जैसे कहीं यात्रा पर उतारू हो !

सिद्धार्थक--ओह ! भदन्त ने क्यों कर जाना ?

क्षपणक—अरे इस में क्या जानना ! तुम्हारा यात्रा-सूचक यह शकुन (सगुन) और हाथ में लिया लेख और भला क्या बता सकते हैं !

सिद्धार्थक—आपने तो अब जान ही लिया कि मैं परदेश चल पड़ा हूं।

भदन्तो कीदिसो अज्ज दिअसो ?)

क्षपणकः—(विहस्य) उपासक ! मुण्डितमुण्डस्त्वं नक्षत्राणि पृच्छसि ? (सावका ! मुण्डिअमुण्डो तुमं णक्खत्ताइ पुच्छसि ?)

सिद्धार्थकः—भदन्त ! साम्प्रतमपि किं जातम् ? तत् कथय, यद्यात्मनोऽनुकूलं भवेत्, तदा गमिष्यामि, अन्यथा निवर्त्तिष्ये (भदन्त ! सम्पदं पि किं जादं ? ता कधेहि, जइ अत्तणो अणुऊलं भविस्सदि, ता गमिस्स, अण्णधा णिवत्तिस्सं)

क्षपणकः—उपासकानां साम्प्रतमेतस्मिन् मलयकेतुकटके अनुकूलेनाऽननुकूलेन वा किम् ? अगृहीतमुद्रेण न गम्यते (सावकाणं सम्पदं एदस्सिं मलयकेदुकडए अणुऊलेण अणणुऊलेण बा किं ?। अगहीदमुद्देण ण गच्छीअदि)

सिद्धार्थकः—भदन्त ! कथय, कुतः खल्वयम् ? (भदन्त ! कहेहि कुदो क्खु अअं)

क्षपणकः—उपासक ! निशामय, प्रथमं तावदत्र मलयकेतुकटके लोकस्यानिवारितनिष्क्रमणप्रवेशावास्ताम। इदानीमितः प्रत्यासन्ने कुसुमपुरे,

---

अनुगृहीतमुद्रेणेति। गमनागमनाद्याज्ञापनचिह्नमनवाप्यैवेति।

मुद्रां प्रतीच्छामीति। मुद्रां गृह्णामीत्यर्थः। निगूढाभिप्रायस्तु भागुरायणेन सह संगत्य चाणक्यसमीहितं साधयामीति मुद्रा खलु जनपदप्रवेश-निष्क्रामयोर्मुद्राध्यक्षप्रदत्तस्य राज्याधिकारिनामाद्यङ्कितस्याज्ञापनपट्टिकादेर्नाम।

कृपया यह तो बता ही दें कि आज दिन कैसा है ?

क्षपणक—(हंसते हुये) सावक ! तुमने भी क्या पूछा ! सिर मुड़ा कर पूछने चले कि मुण्डन का नक्षत्र कैसा है !

सिद्धार्थक—अभी क्या बिगड़ा, भदन्त ! आप बतादें यदि ठीक होगा जाना तो जाऊंगा ही, नहीं तो रुक जाऊंगा।

क्षपणक--अरे भाई मलयकेतु की सेना के पड़ाव में मुहूर्त्त ठीक होने या न होने से क्या, बिना मुद्रा के कहीं आना-जाना किसी का नहीं हो सकता।

सिद्धार्थक--यह सब क्यों कर भदन्त !

क्षपणक--अरे सावक ! पहले तो लोग बिना किसी रोक-टोक के शिविर से आ-जा सकते रहे, किन्तु अब तो जब पाटलिपुत्र समीप आ पहुंचा है, बिना

न कोऽप्यमुद्रालाञ्छितो निष्क्रमितुं प्रवेष्टुं वाऽनुमोद्यते । तद् यदि भागुरायणस्य मुद्रालाञ्छितोऽसि, तदा गच्छ विश्वस्तः, अन्यथा निवृत्य निरुत्कण्ठं तिष्ठ । मा त्वं गुल्मस्थानाधिपैः संयमितकरचरणो राजकुलं प्रवेश्यसे (सावका ! णिसामेहि, पढमं दाव एत्थ मलअकेदुकडए लोअस्स अणिवालिअणिक्कमणप्पवेसो आसी । दाणीं इदो पच्चासपरो कुसुमउरे, ण कोबि अमुद्दालंच्छिदो णिक्कमिदुं प्पविसिदुं वा अणुमोदीअदि । ता जइ भाउराअणस्स मुद्दालंच्छिदोसि, तदो गच्छ बीसत्थो, अण्णधा णिबत्तिअ णिउक्कण्ठं चिट्ठ । मा तुमं गुम्मट्ठाणाधिवेहि संजमिदकलचलणो राअउलं प्पबेसीअसि)

सिद्धार्थकः—**किं न जानाति भदन्तः यथा अमात्यराक्षसस्य केलिकरोऽन्तिकः सिद्धार्थकोऽहमिति ? तद् अमुद्रालाञ्छितमपि मां निष्क्रामन्तं कस्य शक्तिर्निवारयितुम् ?** (किं ण जाणादि भदन्तो, जधा अमच्चरक्खसस्स केलिअरो अन्तिओ सिद्धत्थओ अहं त्ति ? ता अमुद्दालंच्छिदं पि मं णिक्कमन्तं कस्स सत्ती णिबारेदु ?)

क्षपणकः—**उपासक ! राक्षसस्य पिशाचस्य वा केलिकरो भव । नास्ति पुनस्ते अमुद्रालाञ्छितस्य निष्क्रमणोपायः** (सावका ! रक्खसस्स पिसाचस्स वा केलिअतो होहि । णत्थि उण दे अमुद्दालंच्छिदस्स इदो णिक्कमणोबाओ)

सिद्धार्थकः—**भदन्त ! न कुप्य, भण, 'मे कार्यसिद्धिर्भवतु' इति** (भदन्त ! ण कुप्य, भण मे कज्जसिद्धी होदु त्ति)

मुद्रा लिये आना-जाना सबका बंद कर दिया गया है तुम्हारे पास यदि भागुरायण का मुद्राचिह्न हो तब बेखटके चले जाओ और यदि न हो तो लौट जाओ और तब आने-जाने का विचार ही मत करना नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि महाप्रहरीगण तुम्हें हाथ-पैर बांध कर राजकुल (कारागार) में ही छोड़ आवें ।

सिद्धार्थक—भदन्त ! क्या आप को पता नहीं कि मैं अमात्यराक्षस का परम विश्वासपात्र विनोदी सेवक सिद्धार्थक हूं ! देख लूंगा, मुद्रा हो या न हो, कौन है जो मुझे रोक सके !

क्षपणक—सावक ! तुम चाहे राक्षस के केलिकर रहो या पिशाच के, बिना मुद्रा के यहां से बाहर नहीं निकल पाओगे ।

सिद्धार्थक—आप कृपा रखें भदन्त ! आशीर्वाद दें कि मेरा कार्य सिद्ध हो ।

क्षपणकः—उपासक ! गच्छ, भवतु ते कार्यसिद्धिः। अहमपि भागुरायणात् पाटलिपुत्रं गन्तुं मुद्रां प्रतीच्छामि (सावका ! गच्छ, होदु दे कज्जसिद्धी। अहंपि भागुराअणादो पाडलिउत्तं गन्तुं मुद्दं पडिच्छेमि)

(इत्युभौ निष्क्रान्तौ)

(इति प्रवेशकः)

(ततः प्रविशति पुरुषेणानुगम्यमानो भागुरायणः)

भागुरायणः—(आत्मगतम्) अहो ! विचित्रताऽऽर्यचाणक्यनीतेः। कुतः ?—

मुहुर्लक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावगहना
मुहुः सम्पूर्णाङ्गी, मुहुरतिकृशा कार्यवशतः।

इति प्रवेशक इति। प्रवेशकस्त्वङ्कसन्धायकश्शक्यसन्धानातीतकालवानङ्कानर्हस्याऽश्रकस्य रक्षकस्यापि वाऽशक्याभिनयस्य वृत्तस्य वर्णनप्रकारः 'प्रवेशयति सामाजिकहृदयेऽप्रत्यक्षानर्थानिति प्रवेशक इति व्युत्पत्तेरिति। तथोक्तं नाट्यवेदिभिः—

'वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
प्रवेशकस्तु नाट्येऽङ्के नीचपात्रप्रयोजितः॥ इति।

अत्र नाटके कौटिल्यलिखितकूटलेखादेर्वृत्तस्य वृत्तभागस्य तदुपयोगरूपस्य शत्रुसंघभेदनमहाफलस्य वर्त्तिष्यमाणस्य च वृत्तान्तस्य सिद्धार्थक-क्षपणकाभ्यामसंस्कृतेन वाग्व्यवहारेण संसूचनात्संगतं प्रवेशकलक्षणमिति।

भागुरायणः कौटिल्यकूटनीतिं फलोन्मुखीं विमृशन् निभृतस्वहृदयनिहितकौटिल्यनयस्सप्रहर्षं तस्या एव स्मारं स्मारं वदति—मुहुर्लक्ष्योद्भेदेति। अहो ! आश्चर्य

क्षपणक—जाओ, सावक ! जाओ, तुम्हारा काम सिद्ध हो। मुझे भी पाटलिपुत्र जाना है, चलूं, भागुरायण से, चलकर मुद्रा तो मांगूं।

(दोनों चले जाते हैं)

(प्रवेशक समाप्त होता है)

(भागुरायण का प्रवेश—एक अनुचर के साथ)

भागुरायण—(स्वगत) ओह ! कैसी विचित्र ! आर्य-चाणक्य की नीति ऐसी विचित्र !

'कभी तो ऐसा प्रतीत हो कि इसकी गूढ़ चालें प्रकाश में आने लगीं, कभी इतनी गहन बन जाय कि किसी की बुद्धि में ही न आ सके ! कभी ऐसा लगे जैसे अपनी समस्त रूप-रेखा में प्रत्यक्ष खड़ी हो, कभी ऐसा मानो किसी विशेष कारण से

मुहुर्भ्रश्यद्बीजा, मुहुरपि बहुप्रापितफले-
त्यहो ! चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः ॥ ३ ॥

महाश्चर्यं यन्नयविदो नयज्ञाननिधेरार्यचाणक्यस्य नीतिः कूटराजनीतिर्नियतिरिव प्रकृतिशक्तिवैचित्री यथा चित्राकारा विस्मयजननी बहुप्रकारा दुरधिगततत्तद्व्यवहारा वेति। तथा हि यथा नियतिः प्रकृतिशक्तिर्मुहुर्लंघ्योद्भेदास्थिरत्रसादिजगत्कार्यजातसाक्षात्कारादिना मुहुर्वारं वारं लक्ष्योऽनुमेयस्तर्कणीयो वोद्भेदो भूतभौतिकादिरूपेणाविर्भावो यस्यास्तथाभूता तथैव चाणक्यनीतिरपि राक्षसाशाविघातादिरूपपर्वतकवध–तीक्ष्णरसदादिप्रतिविधानादिभिस्तत्तत्सकलव्यापारैस्सर्वानुमेयस्वरूपप्रभावा, यथा खलु नियतिः प्रकृतिशक्तिर्मुहुरधिगमाभावगहना पुनरपि तदधिगमस्य तत्सत्त्वासत्त्वस्य 'नासदासीन्नो सत्तदानीमिति श्रुतिप्रपञ्चितस्य तद्भावाऽभावादेर्विज्ञानस्य योऽभावस्तेन गहना दुर्ल्लंघ्यस्वरूपा तथा खलु कौटिल्यनीतिरपि मुहुरधिगमाभावगहना भूयोऽपि राक्षसप्रज्ञा–विक्रमादिकृततत्तत्प्रतिविधानैस्तस्या योऽधिगमः किं करिष्यतीतिरूपान्तरस्याऽवगतिस्तदभावेन गहना दुर्बोधस्वरूपेति, यथा वा नियतिः प्रकृतिशक्तिर्मुहुः सम्पूर्णाङ्गी परिणतैस्तत्तद्भावजातैः कृत्वा सकलावयवा संदर्शितवैश्वरूप्या तथा हि कौटिल्यनीतिरपि मुहुः संपूर्णाङ्गी समुचितदेशकालाद्यवाप्तौ संप्रति कूटलेखोपयोगादौ करिष्यमाणशत्रुभेद–प्रणाशादिप्रयोजनसाकल्ये समुपचितसर्वविभवेति, यथा च नियतिः प्रकृतिशक्तिः कार्यवशतः पुरुषप्रयोजनकविवेकज्ञानादिपारवश्यात् मुहुरतिकृशा संहृतसमस्तविक्षेपा पुरुषकृतकैवल्यविज्ञानाद्विज्ञातप्रातिस्विकस्वरूपाऽकिञ्चित्करी वा तथा चाणक्यनयबुद्धिरपि कार्यवशतः मौर्यसाम्राज्ययोगक्षेमदशा मुहुरतिकृशा राक्षसाद्यपक्रमणोपेक्षादिना नितरां सौक्ष्म्यमधिजग्मुषीति, यथा हन्त ! नियतिः प्रकृतिशक्तिर्मुहुर्भ्रंश्यद्बीजा प्रतिसर्गादौ प्रतिसृष्टतत्तद्भूतभौतिकवस्तुजाता तथैव नीतिरपि स्वयंकृतामात्यव्यसनादिरूपेण नश्यन्मूलेति तथा च यथा नियतिः प्रकृतिशक्तिर्मुहुरपि बहुप्रापितफला पुरुषप्रयोजनकभोगमोक्षादिरूपोद्देश्यप्रणालिकया प्रदत्तपुरुषकैवल्या संपूरितपुरुषाशा च तथैव चाणक्यनीतिरपि शत्रुसंघभेद–प्रणाशादिप्रणालिकया सुतरां मौर्यसाम्राज्ययोगक्षेमफलस्यैकान्तिकी किं वाऽऽत्यन्तिकी सिद्धिरेव काचनेति ॥ ३ ॥

एक धुंधली छाया सी बन गयी ! कभी ऐसी दीखे जैसे बिलकुल कहीं कुछ नहीं, कभी सहसा अपने विविध फलों को सबको देती चल पड़े ! नीति की विविधरूपता, कैसी विचित्रता है ! जैसी नियति की चाल बहुरंगी वैसी चाणक्य की कूटचाल बहुरंगी !' ॥ ३ ॥

(प्रकाशम्) भद्र भासुरक ! न मां दूरीभवन्तमिच्छति कुमारः। अतोऽस्मिन्नेवास्थानमण्डपे विन्यस्यतामासनम् ।

पुरुषः—एतदासनम् , उपविशत्वार्यः (एद आसनं, उपबिसदु अज्जो)

भागुरायणः—(उपविश्य) भद्र भासुरक ! यः कश्चिन्मुद्रार्थी द्रष्टुमिच्छति, स त्वया प्रवेशयितव्यः ।

पुरुषः—यदार्य आज्ञापयति (जं अज्जो आणवेदि) (इति निष्क्रान्तः)

भागुरायणः—(स्वगतम्) कष्टमेवमप्यस्मासु स्नेहवान् कुमारो मलयकेतुरतिसन्धातव्य इत्यहो दुष्करम् । अथवा—

कुले लज्जायाञ्च, स्वयशसि च, माने च, विमुखः
शरीरं विक्रीय क्षणिकधनलाभाद्धनवति ।

भागुरायणस्स्मृतमलयकेतुस्नेहो निश्चितस्वकार्यनिर्वहणश्चैकतस्सौहार्दभावेनाऽपरतश्च कर्त्तव्यधियाऽऽकृष्टचेता वक्ति—कुले लज्जायामित्यादि । हन्त ! यः कोऽपि परतन्त्रः पराधीनः मादृशो जनस्स खलु किमिति विमृशति कथङ्कारं कर्त्तव्याऽकर्त्तव्यविचारमपि कर्त्तुं शक्नोतीति । तथा च न मया स्नेहवान् कुमारो मलयकेतुरतिसन्धातव्यो न वाऽतिसंधातव्य इति विचारोऽप्यधुना तन्त्रणीयो भवेत् ।

(सुनाकर) अरे भासुरक ! तुम तो जानते ही हो कि कुमार मुझे अपने पास से दूर नहीं हटने देना चाहते तो ऐसा करो कि इस आस्थान-मण्डप में ही मेरा भी कहीं आसन लगा दो ।

पुरुष—बैठें महाराज ! आसन यहां लगा है ।

भागुरायण—(बैठते हुये) भासुरक ! अब जिसे भी मुद्रा लेनी हो, उसे मेरे पास भेजते जाओ ।

पुरुष—आर्य की जो आज्ञा ! (बाहर चला जाता है)

भागुरायण—(मन ही मन) कितने दुःख की बात है कि कुमार का तो हम पर इतना स्नेह हो और हमें उन्हें ठगने का काम करना पड़े ! किन्तु कोई चारा भी तो नहीं, क्योंकि—

'जो व्यक्ति, क्षणिक धन की आशा से, किसी धनी-मानी के हाथ अपने आप को बेंच दे जिसे एकमात्र उसी के संकेतों पर नाचना पड़े जिसे जैसे अपनी कुल-मर्यादा से निरपेक्ष हो जाना पड़े, वैसे ही अपनी शालीनता से, जिसे जैसे

तदाज्ञां कुर्वाणो हितमहितमित्येतदधुना,
विचारातिक्रान्तः, किमिति परतन्त्रो विमृशति ॥ ४ ॥

(ततः प्रविशति प्रतीहार्यनुगतो मलयकेतुः)

मलयकेतुः—(स्वगतम्) अहो राक्षसं प्रति मे विकल्पबाहुल्यादाकुला बुद्धिर्न निश्चयमधिगच्छति । कुतः ?—

भक्त्या नन्दकुलानुरागदृढया नन्दान्वयालम्बिना
किं चाणक्यनिराकृतेन कृतिना मौर्येण सन्धास्यते ? ।

तथाहि परवान् जनः कुले स्ववंशे, लज्जायां कस्माच्चनापि कर्मणोऽपत्रपणे, स्वयशसि स्वात्मकीर्तौ माने स्वाभिमानादौ च विमुखो विरक्तीकृतोऽथ च क्षणिकधनलाभादस्थिरसुखसम्पदाशया धनवति प्रभौ शरीरं विक्रीय स्वदेहं तत्सामर्थ्यं च तदायत्तीकृत्य केवलं तदाज्ञां कुर्वाणस्स्वामिनो नियोगमेव निकामं परिपालयन् विचारातिक्रान्तो विरहितसदसद्विवेकः परिमुषितकृत्याकृत्यविमर्शोऽधुनाऽवश्यकरणीये प्रभुकृत्ये हितमहितमिति किमिति विमृशति किमपीदं हितकरमन्यच्चाहितकरमिति कथं विवेक्तुमपि समर्थ इति भाव इति ॥ ४ ॥

मलयकेतुः किमपि राक्षसविषयकं मुहुर्मुहुर्विचारयन्ननासततन्निर्णयो वदति—भक्त्येत्यादि । हन्त ! मे चेतो मम मन आरूढकुलालचक्रमिवारूढं कुलालचक्रं येन तथाभूतमिव सचिरं भ्राम्यति घूर्णत एव कुत्रापि स्थिरां स्थितिमजानतो मम मनसः को वा संस्तम्भयिता पर्यवष्टम्भयिता वेति न ज्ञायते तथाहि न जाने किमयं राक्षसो नन्दकुलानुरागदृढया नन्दकुले नन्दवंशे योऽनुरागस्स्नेहप्राग्भारस्तेन दृढा स्थिरा तया भक्त्या स्वराजसेवया हेतुभूतया नन्दान्वयालम्बिना नन्दवंशपुच्छभूतेन नन्दकुलवर्तिना चाणक्यनिराकृतेन चाणक्यस्य निराकृतं तिरस्करणं येन तेन निरा-

---

अपनी प्रतिष्ठा से हाथ धो लेना पड़े वैसे ही अपने स्वाभिमान से और जो वस्तुतः कर्त्तव्याऽकर्तव्य विचार के अधिकार से भी वंचित कर दिया जाय उसके लिये जो परतन्त्र–पराधीन जीव के लिये 'अब यह करूं या न करूं' की चिन्ता कैसी !' ॥४॥

(मलयकेतु और साथ २ प्रतीहारी का प्रवेश)

मलयकेतु—(स्वगत) ओह ! राक्षस के सम्बन्ध में इतने संशय मन में उठ खड़े हुये हैं कि कुछ पता नहीं चलता क्या होगा ! क्योंकि—

'क्या ऐसा तो नहीं होगा कि अन्त में वह नन्दवंश के प्रति अपनी प्रेम–पगी राजभक्ति के कारण, नन्द-वंशी यशस्वी चन्द्रगुप्त के साथ जा मिलेगा और यह सब इसलिये कि उसने चाणक्य को पद–च्युत कर दिया ? क्या ऐसा भी

स्थैर्यं भक्तिगुणस्य वाऽधिगणयन् किं सत्यसन्धो भवे-
दित्यारूढकुलालचक्रमिव मे चेतश्चिरं भ्राम्यति ॥ ५ ॥

(प्रकाशम्) विजये ! क्व भागुरायणः ?

प्रतीहारी—कुमार ! एष खलु कटकान्निष्क्रमितुकामानां मुद्रासम्प्रदानमधितिष्ठति (कुमार ! एसो क्खु कडआदो णिच्चमिदुकामाणं मुद्दासंपदाणं अणुचिट्ठदि)

मलयकेतुः—विजये ! मुहूर्त्तं निभृतपदसञ्चारा भव, यावदस्य पराङ्-

---

कृतकौटिल्येन कृतिना यशस्विना मौर्येण चन्द्रगुप्तेन सन्धास्यते सन्धिं विधास्यति माञ्च मध्येसमुद्रं परित्यक्ष्यति किमुत भक्तिगुणस्य ममैव तन्महाभक्तस्य स्थैर्यं भक्तिदार्ढ्यमधिगणयन् मनसि कदाचन कुर्वन् सत्यसन्धो वा भवेत् मद्विषयककार्यनिर्वहणे सत्यप्रतिज्ञस्स्यान्न मौर्यं कथमपि सेविष्य इत्यर्थ इति । महदिदं वितर्कचक्रं नितरां भ्रामयत्येव मनो मेऽप्रतीकारमित्यभिप्राय इति ॥ ५ ॥

टिप्पणी—श्रीढुण्ढिराजप्रभृतिभिर्व्याख्यातृभिरत्र भदन्तभागुरायणयोर्जल्पनं निर्वहणसन्धेः परिभाषणरूपमङ्गमिति यदुक्तं न तद्विचारसुस्थिरं विमर्शसन्धेरेवात्रोपक्रान्तत्वात् प्रतिपिपादयिषितदिशाऽस्यैवाऽत्र सन्धिप्रकारस्य सुसङ्गतत्वाच्चेति । निर्वहणसन्धेरसत्त्वेऽप्यत्र परिभाषणस्य सत्त्वं नापलपामोऽपि तु समर्थयामह एव । तथा हि भवतु नाम परिभाषणं निर्वहणसन्धेरङ्गं किन्त्वस्याऽङ्गान्तरस्य वा निर्वहणसन्धौ सन्ध्यन्तरे वा योग्यतया य उपनिबन्धः स एव नाटककवीनां रसनिवेशैकव्यवसायिनां पन्थाः । विशाखदत्तोऽयं महान् नाटककविर्नायं शब्दार्थग्रथनवैचित्र्यमात्रोन्मदिष्णुर्यो हि स्वसन्धावेव सर्वेषामङ्गानां निबन्धं करोति । कविरयमेकमप्यङ्गं रसपोषकत्वात्तत्सन्धौ सन्ध्यन्तरे वा द्विस्त्रिर्वा निबध्नाति तथैव च सहृदयानां हृदयान्यानन्दयतीति किमधिकं विस्तरेणेति ।

संभव है कि मेरा साथ देने में वह अन्त तक वचनबद्ध रहे और विशेषतः इसलिये कि मेरी राक्षस-भक्ति उससे छिपी नहीं ! कुछ नहीं कहा जा सकता-क्या होगा ? मेरा मन तो निरन्तर ऐसे ही चक्कर काट रहा है जैसे कुम्हार के चक्के पर घूमता मिट्टी का घड़ा !' ॥ ५ ॥

(प्रकट) विजये ! भागुरायण कहां गया ?

प्रतीहारी—कुमार ! वे तो शिविर से अन्यत्र जाने वाले लोगों को मुद्रा (पासपोर्ट या विसा आज कल का) देते दिखाई दे रहे हैं ।

मलयकेतु—विजये ! थोड़ी देर अपने पैरों की आवाज बन्द कर जब तक

मुखस्यैव पाणिभ्यां नयने पिदधामि।

प्रतीहारी—यत् कुमार आज्ञापयति (जं कुमारो आणवेदि)

भासुरकः—(प्रविश्य) आर्य! एष खलु क्षपणको मुद्रानिमित्तमार्यं प्रेक्षितुमिच्छति (अज्ज! एसो क्खु क्खवणओ मुद्दाणिमित्तं अज्जं पेक्खिदुमिच्छदि)

भागुरायणः—प्रवेशय।

भासुरकः—यदार्य आज्ञापयति (जं अज्जो आणवेदि) (इति निष्क्रान्तः)

क्षपणकः—(प्रविश्य) उपासकानां धर्मवृद्धिर्भवतु (सावकाणं धम्मविद्धी होदु)

भागुरायणः—(नाट्येनावलोक्य स्वगतम्) अये! राक्षसस्य मित्रं जीवसिद्धिः। (प्रकाशम्) भदन्त! न खलु राक्षसस्य प्रयोजनमेव किञ्चिदुद्दिश्य गम्यते?

क्षपणकः—(कर्णौ पिधाय) शान्तं पापं, शान्तं पापम्। उपासक! तत्रैव गमिष्यामि, यत्र राक्षसस्य पिशाचस्य वा नामापि न श्रूयते (सन्तं पावं, सन्तं पावं। सावका! तहिं ज्जेब्व गमिस्सं, जहिं रक्खसस्स पिसाचस्स वा णामं पि ण सुणीअदि)

मैं इसके बिना जाने इन की आंखें अपने हाथों बंद करूं!

प्रतीहारी—जैसी आज्ञा कुमार!

भासुरक—(भीतर आते हुये) आर्य एक क्षपणक आया है जिसे मुद्रा के लिये आर्य का दर्शन करना है।

भागुरायण—आने दो भीतर।

भासुरक—जो आज्ञा, आर्य। (बाहर चला जाता है)

क्षपणक—धर्म बढ़े, श्रावक! धर्म बढ़े!

भागुरायण—(अभिनयपूर्वक देखकर-स्वगत) अरे! यह तो राक्षस का मित्र जीवसिद्धि ठहरा! (प्रकाश) कहिये भदन्त! क्या राक्षस को किसी कार्य-वश कहीं जाना पड़ा!

क्षपणक—(कान बंद कर) राम राम! ऐसा न कहो श्रावक। अपने राम तो वहां चले जहां न राक्षस का नाम, न पिशाच का!

भागुरायणः—भदन्त ! बलीयांस्ते सुहृदि प्रणयकोपः । तत् किमपराद्धं राक्षसेन भदन्तस्य ?

क्षपणकः—उपासक ! न मे किमपि राक्षसेनापराद्धं, स्वयमेव मन्दभाग्य आत्मनः कर्मसु लज्जे (सावका ! ण मम किं पि रक्खसेण अवलद्धं । सअं ज्जेव्व मन्दभाओ अत्तणो कम्मसु लज्जामि)

भागुरायणः—भदन्त ! वर्द्धयसि मे कुतूहलम् ।

मलयकेतुः—(स्वगतम्) मम च ।

भागुरायणः—श्रोतुमिच्छामि ।

मलयकेतुः—(स्वगतम्) अहमपि ।

क्षपणकः—उपासक ! किमेतेनाश्रोतव्येन श्रुतेन ? (सावका ! किं एदिणा असुणिदव्वेण सुदेण ?)

भागुरायणः—भदन्त ! यदि रहस्यं, तदा तिष्ठतु ।

क्षपणकः—उपासक ! न हि रहस्यम् । (सावका ! न हि रहस्सं)

भागुरायणः—तर्हि कथ्यताम् ।

भागुरायण—क्यों भदन्त ! अपने परममित्र पर इतना अधिक प्रेम-कोप ! क्यों, कहिये राक्षस से कुछ खटक गया क्या ?

क्षपणक—श्रावक ! राक्षस हमारा क्या बिगाड़ेगा । मैं तो ऐसा अभागा ठहरा जिसे स्वयं अपने काम से लज्जित होना पड़ रहा है !

भागुरायण—आप की बातें तो हमारी उत्सुकता को ही बढ़ा रहीं हैं, क्यों भदन्त !

मलयकेतु—(स्वगत) और हमारी भी तो ।

भागुरायण—कुछ कहिये भी-क्या बात है ?

मलयकेतु—(स्वगत) हम भी सुनें-क्या बात है !

क्षपणक—अरे सावक ! जब सुनने की बात हो तब तो कहूँ ।

भागुरायण—भदन्त ! यदि गोपनीय हो तो रहने दीजिये ।

क्षपणक—नहीं, सावक ! गोपनीय कोई बात नहीं ।

भागुरायण—तो सुना डालिये ।

क्षपणकः--उपासक ! नास्तीदं, तथापि न कथयिष्याम्यतिनृशंसम् । (सावका ! णत्थि एदं, तधावि ण कधइस्सं अदिणिसंसं)

भागुरायणः--भदन्त ! अहमपि मुद्रां न दास्यामि ।

क्षपणकः--(स्वगतम्) (युक्तमिदानीमर्थिने कथयितुम् । (प्रकाशम्) का गतिः ? निवेदयामि, शृणोतु उपासकः । अस्ति तावदहमधन्यः प्रथमं पाटलिपुत्रे निवसन् राक्षसस्य मित्रत्वमुपगतः । तस्मिन्नवसरे राक्षसेन गूढं विषकन्याप्रयोगं समुत्पाद्य घातितो देवः पर्वतेश्वरः । का गदी ? एसे णिवेदेमि, सुणादु सावको । अत्थि दाव हगे अधण्णो पढमं पाडलिउत्ते णिवसमाणो रक्खसस्स मित्तत्तणं उवगदे । तहिं अवसले रक्खसेण गूढं बिसकण्णाप्पओअं समुप्पादिअ घादिदे देवे पव्वदीसले)।

मलयकेतुः--(सबाष्पमात्मगतम्) कथं, राक्षसेन घातितस्तातः, न चाणक्येन ?

भागुरायणः--भदन्त ! ततस्ततः ?

क्षपणकः--ततोऽहं राक्षसस्य मित्रं कृत्वा चाणक्यहतकेन सनिकारं नगरान्निर्वासितः । इदानीमपि राक्षसेनानेकाकार्यकुशलेन किमपि तादृशमारभ्यते, येनाहं जीवलोकान्निष्कासिष्ये (तदो हगे रक्खसस्स मित्तं

क्षपणक—नहीं सावक ! नहीं । मैं यह कठोर बात नहीं सुनाता ।

भागुरायण—तो मैं भी भदन्त ! मुद्रा नहीं देता ।

क्षपणक—(स्वगत) इसे तो यह बात बता ही दूं इसी को तो इसकी आवश्यकता है । (सुनाकर) कोई चारा नहीं । सुनो सावक ! सब कुछ सुना देता हूं । बात तो यह है कि यह अभागा जब से पाटलिपुत्र में रहने लगा राक्षस का मित्र बना जिसका परिणाम यह हुआ कि राक्षस के द्वारा तो विष-कन्या के प्रयोग की गूढ़ चाल सोची गयी और मेरे द्वारा उस से महाराज पर्वतेश्वर की हत्या कर दी गयी ।

मलयकेतु—(आंसू गिराते-स्वगत) ओह ! तो क्या पिता हमारे राक्षस के द्वारा मारे गये ? चाणक्य ने उन्हें नहीं मारा !

भागुरायण—कहते चलिये भदन्त ! तब क्या हुआ ?

क्षपणक—हुआ क्या ! उस दुष्ट चाणक्य ने उस समय तो अपमानपूर्वक पाटलिपुत्र से इस घोषणा के साथ मुझे देश-निर्वासन का दण्ड दिया कि मैं राक्षस

कदुअ चाणक्कहदएण सणिकालं णअरादो णिव्वासिदो। दाणीं पि रक्खसेण अणेअकज्जकुसलेण किंपि तादिसं आलहीअदि, जेण हगे जीअलोआदो णिक्कासिज्जेमि)।

भागुरायणः—भदन्त! प्रतिश्रुतराज्यार्द्धमयच्छता चाणक्यहतकेनेदमकार्यमनुष्ठितं न राक्षसेनेति श्रुतमस्माभिः।

क्षपणकः—(कर्णौ पिधाय) शान्तं पापम्। उपासक! चाणक्यो विषकन्याया नामापि न जानाति। तेनैव दुष्टबुद्धिना राक्षसेनैषाऽकार्यसिद्धिः कृता (सन्तं पावं। सावका! चाणक्को विसकण्णाए णामपि ण जाणादि। तेण ज्जेव दुट्ठबुद्धिणा रक्खसेण एसा अकज्जसिद्धी किदा)।

भागुरायणः—भदन्त! कष्टमिदम्, इयं मुद्रा दीयते, एहि कुमारं संश्रावयावः।

मलयकेतुः—

श्रुतं सखे! श्रवणविदारणं वचः
सुहृन्मुखाद्रिपुमधिकृत्य भाषितम्।

मलयकेतुः 'पिता राक्षसेन घातितः' इति श्रुत्वा विक्षिप्तचित्तो विलपति—श्रुतं सखे इत्यादि। **सखे! भागुरायण! सुहृन्मुखात् सुहृदो भदन्तस्य मुखात् रिपुं महाशत्रुं**

का मित्र ठहरा और इस समय यह नाना-प्रकार के कुकर्मों में निपुण राक्षस कुछ ऐसा कर्म करने-करवाने जा रहा है कि मुझे इस दुनिया से ही कूच करना पड़ेगा।

भागुरायण—क्यों भदन्त! हम लोगों ने तो ऐसा सुन रखा था कि पूर्व प्रतिज्ञात राज्य का आधा भाग न देने की इच्छा से यह कुकर्म उस दुष्ट चाणक्य का करवाया है न कि राक्षस का?

क्षपणक—(कान बन्द कर) राम कहो! अरे श्रावक! चाणक्य तो विषकन्या का नाम भी नहीं जानता। अरे! यह कुकर्म तो उस नीचबुद्धि राक्षस का है राक्षस का!

भागुरायण—भदन्त ऐसा अनर्थ! ऐसा पाप!! लीजिये, आप तो मुद्रा ले ही लीजिये। किन्तु कृपया चल कर यह सब कुमार से कह दीजिये।

मलयकेतु—'बस करो भाई! बस करो, सुन लिया, अपने इस सहृद के

पितुर्वधव्यसनमिदं हि येन मे
चिरादपि द्विगुणमिवाद्य वर्द्धते ॥ ६ ॥

क्षपणकः—(स्वगतम्) अये ! श्रुतं मलयकेतुहतकेन !! कृतार्थोऽस्मि।
(इति निष्क्रान्तः)

मलयकेतुः—(प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा) राक्षस ! युक्तमिदम् ।
मित्रं ममायमिति निर्वृतचित्तवृत्ति
विश्रम्भतस्त्वयि निवेशितसर्वकार्यम् ।
तातं निपात्य, सह बन्धुजनाक्षितोयै-

राक्षसमधिकृत्य भाषितमुक्तं श्रवणविदारणं वचः श्रुतं मयेति शेषः। येन 'पिता ते राक्षसेन घातित' इति रूपेण वचसेदं प्रतिविधानाय चिन्त्यमानं मे पितुर्वधव्यसनं पितृवधजनितदुःखं चिरादपि बहोः कालादुपनतमप्यद्य संप्रति द्विगुणमिव वर्द्धते सुतरां द्विगुणितमिव संजायत इत्यभिप्राय इति ॥ ६ ॥

अये श्रुतं मलयकेतुहतकेनेति—'इदं बीजानुगुणकार्यप्रख्यापनं निर्णय' इति यदुक्तं श्रीढुण्ढिराजप्रभृतिभिस्सन्ध्यङ्गनिर्वर्णननदीष्णम्मन्यमानस्तत्तु नाद्रियामहे । वस्तुतस्त्वत्र नाटककृता चाणक्यनायकस्य भङ्ग्या नियताप्तिं निरूपयता बीजसहकारिणः कार्यस्यैवोपनिबन्धः कृतस्तथा हि जीवसिद्धिप्रयुक्तोऽयं भेदोपायवचःक्रमः कार्यते फलं (राक्षसविघटनादिरूपम्) इति कार्यमिति व्युत्पत्तेः कार्यरूप एवेति ।

मलयकेतुः पुनरपि राक्षसमेव निर्घृणं बुद्धिस्थमाक्षिपति—मित्रं ममायमिति। राक्षस ! ननु न नाम्नैव राक्षसोऽस्यपि स्वन्वर्थत एव वस्तुत एव राक्षसोऽसि। तथाहि तातं मत्पितरं महाराजपर्वतेश्वरं ममायं मित्रमिति निवृतचित्तवृत्तिं राक्षस एव मम परमोपकारी सुहृदिति धिया निवृता शान्ता निश्चिन्ता वा चित्तवृत्तिर्मनो-

---

मुंह से उस महाशत्रु के सम्बन्ध में कहा गया यह कर्ण-कटु सब कुछ सुन लिया। अब तो बस पिता के निधन का पुराना दुःख दूना हो चला !' ॥ ६ ॥

क्षपणक—(स्वगत) ओह ! तो क्या इस अभागे मलयकेतु ने भी यह सब सुन लिया ! मेरा तो काम बन गया ! (बाहर चला जाता है)

मलयकेतु—(शून्य की ओर देखते हुये-मानों राक्षस पर टकटकी लगाये) राक्षस ! ऐसी नीचता ! 'कि मेरे बन्धु-बान्धवों की आसुओं के साथ तुम्हारे हाथों मेरे वे पिता धराशायी कर दिये जांय जो 'राक्षस ही मेरा मित्र है' इस अटूट संकल्प के साथ समस्त श्रद्धा-विश्वास लिये, अपने सभी काम तुम्हारे ही ऊपर

रन्वर्थतोऽपि ननु राक्षस ! राक्षसोऽसि ॥ ७ ॥

भागुरायणः—(स्वगतम्) 'रक्षणीया राक्षसस्य प्राणा' इत्यार्यादेशः। भवत्वेवं तावत् (प्रकाशम्) कुमार ! अलमावेगेन। आसनस्थं कुमारं किञ्चिद्विज्ञापयितुमिच्छामि)

मलयकेतुः—(उपविश्य) सखे ! किमसि वक्तुकामः ?

भागुरायणः—कुमार ! खल्वर्थशास्त्रव्यवहारिणामर्थवशादरिमित्रोदासीनव्यवस्था, न लौकिकानामिव स्वेच्छावशात्। यतस्तस्मिन् सर्वार्थसिद्धिं राजानमिच्छतो राक्षसस्य चन्द्रगुप्तादपि बलीयस्तया सुगृहीतनामा

व्यापृतिर्यस्यैवंभूतं निश्चिन्तचित्तमित्यभिप्रायः। अत एव च हेतोर्विश्रम्भतः विश्वासात्त्वयि निवेशितसर्वकार्यं समर्पितसर्वभरमपि बन्धुजनाक्षितोयैस्सह निपात्य सुहृद्वर्गाश्रुसलिलैस्समं पातयित्वा विनाश्येत्यर्थो वस्तुतस्सर्वथा क्रूराचारतया निर्घृणव्यापारतया च राक्षसाभ एवेति भाव इति ॥ ७ ॥

अर्थवशादरिमित्रोदासीनव्यवस्थेति—विजिगीषू राजा न स्वभावतः प्राकृतजनवत्कस्यापि मित्रं कस्याप्यरिरुदासीनो वा, अपि तु प्रयोजनवशादेव यथोक्तम्—'नीतिशास्त्रानुगो राजा, हेतुतश्शत्रुमित्रे भविष्यत' इत्यादौ चाणक्यसूत्रे।

अर्थपरिपन्थी महानरातिरिति—अत्रेदं कौटिलीयार्थशास्त्रवचनं सर्वथा संवादि:—

'अथवा शमयेदेनमायत्यर्थमुपांशुना।
आयत्यां च वधप्रेप्सुं दृष्ट्वा हन्याद् गतागतम् ॥ इति।

छोड़ कर निश्चिन्त हो गये हो ? ओह ! तुम नाम के ही राक्षस नहीं, सचमुच काम के भी राक्षस हो !' ॥ ७ ॥

भागुरायण—(स्वगत) अरे ! आर्य चाणक्य का तो आदेश यह था कि राक्षस के प्राणोंपर संकट न आने पावे। अच्छा, ठीक है। (प्रकट रूप से) क्रोध में न आवें कुमार ! आसन पर विराजें, हमें कुछ निवेदन करना है।

मलयकेतु—(बैठते हुये) क्यों भाई ! क्या कहना चाहते हो।

भागुरायण—कुमार ! बात यह है कि जो लोग राजनीति-कर्मठ हुआ करते हैं वे साधारण जनों की भांति किसी को अपना मित्र अथवा शत्रु अथवा तटस्थ नहीं बनाया करते। देखिये, जिस समय राक्षस ने यह कार्य (पर्वतक का वध) किया उस समय को देखले तो उसका कोई बहुत बड़ा पाप इस में नहीं दिखाई देता क्योंकि उस समय तो उसे सर्वार्थसिद्धि को राजा बनाना था और इसलिये चन्द्रगुप्त

देवः पर्वतेश्वर एवार्थपरिपन्थी महानरातिरासीत्। तस्मिंश्च काले राक्षसेनेदमनुष्ठितमिति नातिदोषमत्र पश्यामि। पश्यतु कुमारः—

मित्राणि शत्रुत्वमुपानयन्तो मित्रत्वमर्थस्य वशाच्च शत्रून्।
नीतिर्नयत्यस्मृतपूर्ववृत्तं जन्मान्तरं जीवत एव पुंसः॥ ८॥

तदत्र वस्तुनि नोपालभ्यो राक्षसः, आ नन्दराज्यलाभादनुग्राह्यश्च।

भागुरायणः पर्वतकवधरूपं राक्षसापचारं मलयकेतवे समादधानो वक्ति—मित्राणीति। नीतिः राजनीतिरेव विजयते या ह्यर्थस्य वशात्तत्तत्कार्यानुरोधेन मित्राणि शत्रुत्वमुपानयन्ती सुहृदोऽपि शत्रून् कुर्वाणा शत्रूंश्च मित्रत्वमुपानयन्ती महतः आरातीन् परमोपकारिणो विदधाना अस्मृतपूर्ववृत्तं न स्मृतं पूर्ववृत्तं पूर्वकृततत्तत्कार्यं यत्रैवम्भूतमनवबुद्धपूर्ववृत्तान्तमित्यर्थोऽथवा पूर्वं स्मृतं स्मृतपूर्वं न स्मृतपूर्वं वृत्तं तत्तत्करिष्यमाणकर्मादि वा यस्मिन्नेवम्भूतमपूर्वध्याततत्तद्व्यवहारमित्यभिप्रायः। जन्मान्तरमन्यदेव जन्म भूतं वा भावि वा जन्मेति भावो जीवत एव पुंसोऽमृतानेव राजनयव्यवहारिणो जनान्नयति प्रापयतीत्यर्थः। अस्मिन्नेव जन्मनि वर्तमानाः राजनयव्यवहारिणो जनाः कदाचनैकदा भूतजन्मवर्तिनोऽन्यदा वा कदाचिद् भाविजन्मस्था इव तत्तत्कुर्वन्ति कार्यन्ते वा राजनीत्येति कः पर्यनुयोक्तुं प्रभवेद्राजनीतिं महेश्वरीमित्यभिप्राय इति॥ ८॥

टिप्पणी—अत्र विमर्शसन्धेश्शक्तयाख्यमङ्गमुपनिबद्धम्। 'क्रुद्धप्रसादिनी शक्ति' रिति शक्तिलक्षणम्। क्रुद्धस्य राक्षसं प्रति कोपाविष्टस्य मलयकेतोः प्रसादनं भागुरायणेन स्वबुद्धिविभवादिना यत् कृतं तद्वर्णनापरैव वाचोयुक्तिर्नाटककृतोऽत्रेति सुश्लिष्टं शक्तिलक्षणमिति।

से भी बढ़ कर उसके रास्ते में रोड़ा अटकाने वाले और वस्तुतः उसके महाशत्रु प्रातः स्मरणीय महाराज पर्वतेश्वर ही लग रहे थे। यह बात कुछ ऐसी ही है क्योंकि—

'यह तो राजनीति की ही महिमा है जो कि किसी कारणवश मित्रों को शत्रु बनाया करती है और शत्रुओं को मित्र। राजनीतिज्ञ लोगों को तो अपने वर्तमान जन्म में ही अपने ऐसे भूत अथवा भावी जन्मों में कभी २ पहुंच जाना पड़ता है जिसकी न तो उन्हें कभी कोई स्मृति रहा करती है (जैसे भूत जन्म की) और न कभी कोई ध्यान (जैसे भावी जन्म का)' ॥ ८ ॥

अब जब बात ऐसी है तो राक्षस को भला-बुरा क्यों कहा जाय। कम से कम नन्द-साम्राज्य जब तक हाथ में न आ जाय तब तक तो उसे मिलाकर

परतस्तस्य परिग्रहे परित्यागे वा कुमारः प्रमाणम् ।

मलयकेतुः—एवं भवतु । सखे ! सम्यक् दृष्टवानसि । अमात्यस्य वधे प्रकृतिक्षोभः स्यात् । एवञ्च सन्दिग्धो विजयः स्यात् ।

पुरुषः—(प्रविश्य) जयतु जयतु कुमारः । अयमार्यस्य गुल्मस्थानाधिकृतो दीर्घचक्षुरार्यं विज्ञापयति—'एष खल्वस्माभिः कटकान्निष्क्रामन्नगृहीतमुद्रः सलेखः पुरुषो गृहीतस्तत् प्रत्यक्षीकरोत्वेनमार्य इति (जेदु कुमारो । अअं अज्जस्स गुम्मट्ठाणाधिकिदो दीहचक्खू अज्जं विण्णवेदि—एसो क्खु अह्मेहिं कडआदो णिक्कमन्तो अगहीदमुद्दो सलेहो पुलिसो गहीदो, ता पच्चक्खीकरेदु णं अज्जो त्ति)

भागुरायणः—भद्र ! प्रवेशय ।

पुरुषः—यदार्य आज्ञापयति (जं अज्जो आणवेदि) (इति निष्क्रान्तः)

(प्रविशति पुरुषेणाऽनुगम्यमानः संयतः सिद्धार्थकः)

सिद्धार्थकः—(स्वगतम्)—

तृष्यन्त्यै गुणेषु, दोषेषु पराङ्मुखं कुर्वन्त्यै ।

सिद्धार्थकस्संयतदेहस्स्वकार्यानुष्ठानं मनसि कुर्वन्नाह—तृष्यन्त्या इति । स्वामि-

---

ही रखना उचित है और इसके बाद तो उसे रखना या निकालना कुमार की अपनी इच्छा पर निर्भर है ।

मलयकेतु—ऐसा ही रहे मित्र ! तुमने अच्छा सोचा । अमात्य राक्षस के बध से तो प्रकृति-विद्रोह उठ खड़ा होगा ! और हमारी विजय ! वह तो खटाई में पड़ जायगी ।

पुरुष—(प्रवेश करके) जय हो कुमार ! जय हो । प्रधान शिविरपाल दीर्घचक्षु का कुमार से यह निवेदन है कि एक व्यक्ति जो कि विना मुद्रा लिये एक लेख पत्र के साथ शिविर से बाहर निकलते हुये पकड़ा गया है कुमार के निरीक्षणार्थ भेजा जा रहा है ।

भागुरायण—लाओ भाई भीतर लाओ उसे ।

पुरुष--आर्य की जैसी आज्ञा । (बाहर चला जाता है)

(हाथ-पैर बंधे सिद्धार्थक और पीछे २ एक पुरुष का प्रवेश)

सिद्धार्थक--(स्वगत) 'स्वामिभक्ति को प्रणाम ! हम सेवकों की जननी

अस्मादृशजनन्यै प्रणमामः स्वामिभक्त्यै ॥ ९ ॥

(तिप्पन्तीए गुणेसुं दोसेसुं परं मुहं करन्तीए।

अह्मारिसजणणीए प्पणमामो सामिभत्तीए ॥ ९ ॥)

पुरुषः—(उपसृत्य) आर्य ! अयं स पुरुषः (अज्ज ! अअं सो पुलिसो)

भागुरायणः—(नाट्येनावलोक्य) भद्र ! किमयमागन्तुकः, आहोस्विदिहैव कस्यचित्परिग्रहः ?

सिद्धार्थकः—आर्य ! अहं खल्वमात्यराक्षसस्य सेवकः (अज्ज ! अहं क्खु अमच्चरक्खसस्स सेवओ)

भागुरायणः—भद्र ! तत् किमर्थमगृहीतमुद्रः कटकान्निष्क्रामसि ?

सिद्धार्थकः—आर्य ! कार्यगौरवेण त्वरायितोऽस्मि (अज्ज ! कज्जगोरवेण तुवराविदोह्मि)

भागुरायणः—कीदृशं तत्कार्यगौरवं, यद्राजशासनमुल्लङ्घयसि ?

भक्त्यै प्रणमामः प्रणतिं कुर्महे। कीदृश्यै स्वामिभक्त्यै ? अस्मादृशजनन्यै याह्यस्मादृशानां गूढप्रणिधीनां सर्वविधसाहसिककृत्येषु हस्तधृतप्राणानां जननी मातेव परिरक्षिका तस्यै। पुनश्च कथंभूतायै ? गुणेषु तृप्यन्त्यै प्रेषण-सन्धिपालत्व-मित्रसंग्रहण-सुहृद्भेद-गूढदण्डातिसारणोपजाय-बन्धुरत्नापहरणादितत्तत्कर्मसु कृतेषु प्रसन्नायै कृतज्ञाया इति। पुनश्च कथंभूताया इति ? दोषेषु पराङ्मुखं कुर्वन्त्यै अस्माकमेव प्रमादेषु कर्मभङ्गणेषु परकृतातिसन्धानेषु वा तत्तदपचारेषु मुखं स्वाननमेव पराक् लज्जया तिरश्चीनं वहन्त्यै इति साधितं मया स्वामिभक्तिकार्यम्, मम यद्भवतु तद्भवतु, प्रीयतां राजसेवैव जननी ममेत्यभिप्राय इति ॥ ९ ॥

को प्रणाम। हमारी सफलताओं में अपने आप को कृतार्थ मानने वाली किंवा विफलताओं में स्वयं लज्जित होने वाली उस मां को प्रणाम !' ॥ ९ ॥

पुरुष—(पास पहुंचकर) आर्य ! यह रहा वह व्यक्ति !

भागुरायण—(अभिनय के साथ देखते हुये) कौन हो तुम ? क्या यहां के किसी के सेवक हो या अजनबी टपक पड़े ?

सिद्धार्थक—आर्य ! अमात्य राक्षस का सेवक ठहरा।

भागुरायण—तो विना मुद्रा लिये शिविर से क्यों बाहर चल पड़े ?

सिद्धार्थक—आर्य ! काम कुछ ऐसा पड़ गया था कि शीघ्रतावश······

भागुरायण—ऐसा भी क्या काम कि राजशासन का उल्लंघन करते फिरो !

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! लेखमुपानय ।

सिद्धार्थकः—(भागुरायणाय लेखमर्पयति) !

भागुरायणः—(सिद्धार्थकहस्ताल्लेखं गृहीत्वा मुद्रां दृष्ट्वा) कुमार ! अयं लेखः, राक्षसनामाङ्कितेयं मुद्रा ।

मलयकेतुः—मुद्रां परिपालयन्नुद्घाटय दर्शय ।

भागुरायणः—(तथा कृत्वा दर्शयति) ।

मलयकेतुः—(गृहीत्वा वाचयति) 'स्वस्ति, यथास्थानं कुतोऽपि, कोऽपि किमपि, पुरुषविशेषमवगमयति । अस्मद्विपक्षं निराकृत्य, दर्शिता कापि

स्वस्ति, यथास्थानमित्यादि—लेखोऽयं कौटिलीयार्थशास्त्रवर्णितं शासनं सर्वथाऽनुसरति । तथाहि 'देशैश्वर्यवंशनामधेयोपचारमीश्वरस्य, देशनामधेयोपचारमनीश्वरस्येति' सङ्केतितदिशा कपटलेखेऽत्र देशादिस्थाने कुतोऽप्यादेर्निर्देशः कृतः, एवमेव च 'लेखपरिसंहरणार्थं इति शब्दो वाचिकमस्येति चे'ति निर्देशानुसारं वाचिकञ्चास्तमात् सिद्धार्थकाच्छ्रोतव्यमिति समुट्टङ्कितम् । कौटिलीये यद्यपि चोक्तम्—

'निन्दा प्रशंसा पृच्छा च तथाख्यानमथार्थना ।
प्रत्याख्यानमुपालम्भः प्रतिषेधोऽथ चोदना ॥
सान्त्वमभ्यवपत्तिश्च भर्त्सनानुनयौ तथा ।
एतेष्वर्थाः प्रवर्त्तन्ते त्रयोदशसु लेखजाः ॥ इति ।

तदनुहार्येवात्र लेखशरीरं प्रशंसार्थनाचोदनाभ्यवपत्तिरूपावयवोपेतं समुल्लसतीति ।

मलयकेतु—अरे भाई भागुरायण ! लेख-पत्र तो लाओ ।

सिद्धार्थक—भागुरायण के हाथ में लेख दे देता है)

भागुरायण—सिद्धार्थक के हाथ से लेख लेकर और उस पर मुद्राचिह्न (छाप देख कर) कुमार ! यह रहा लेख और यह रही राक्षस के नाम की इस पर मुद्रा (छाप) ।

मलयकेतु—खोल कर दिखाओ, किन्तु, देखो मुद्रा जैसी की तैसी पड़ी रहे ।

भागुरायण—ऐसा ही करते हुये लेख दिखला देता है । मलयकेतु लेख को पढ़ता है) ।

मलयकेतु—'स्वस्ति, अमुकस्थान पर विराजमान, अमुक व्यक्ति विशेष को, अमुक स्थान से अमुक व्यक्ति का निवेदन है कि हमारे प्रतिपक्ष को हटाकर आप

सत्यता सत्यवादिना। साम्प्रतमेषामपि प्रथममुपन्यस्तसन्धीनामस्मत्सुहृदां पूर्वप्रतिज्ञातसन्धिपरिपणवस्तुप्रतिपादनप्रोत्साहनेन सत्यसन्धः प्रीतिमुत्पादयितुमर्हति। एते ह्येवमुपगृहीताः सन्तः स्वाश्रयविनाशेनैवोपकारिणमाराधयिष्यन्ति। अविस्मृतमप्येतत्—सत्यवतः स्मारयामः। एतेषां मध्ये केचिदरेः कोषदन्तिभ्यामर्थिनः, केचिद् विषयेणेति। अस्मान् प्रत्यलङ्कारत्रयञ्च यत् सत्यवताऽनुप्रेषितं तदुपगतम्। अस्माभिरपि लेखस्याशून्यार्थं किञ्चिदनुप्रेषितं तदुपगमनीयं, वाचिकञ्चाप्ततमात् सिद्धार्थकाच्छ्रोतव्यम् इति।

मलयकेतुः—भागुरायण! कीदृशो लेखः।

भागुरायणः--भद्र सिद्धार्थक! कस्यायं लेखः?

सिद्धार्थकः--आर्य! न जानामि (अज्ज! ण आणामि)।

भागुरायणः--हे धूर्त्त! लेखो नीयते, न च ज्ञायते, कस्यायमिति।

परम सत्यप्रतिज्ञ ने अपनी सत्यता प्रकट करके बड़ा उत्तम किया। किन्तु इस समय हम लोगों से मिले हुये, हमारे कतिपय मित्रों को भी पूर्वकृत सन्धिपण (सुलह की शर्त) के अनुसार जो भी वस्तु निश्चित हो उसके द्वारा विश्वस्त एवं उत्साहित करते हुये, प्रसन्न रखना आप सत्यप्रतिज्ञ के लिये सर्वथा उचित है यदि इस प्रकार इन्हें अपने पक्ष में कर लिया गया तो यह निश्चित है कि, अपने पूर्वाश्रित पक्ष का नाश करके भी, आप के उपकारों का स्मरण करते हुये, ये आपके ही सेवा-परायण हो जायेंगे। यद्यपि आप जैसे सत्यप्रतिज्ञ को स्मरण भी होगा तथापि यह पुनः स्मरण करवा देना ठींक जंचा कि इन में से कुछ लोगों की तो शत्रु के कोष और हस्ति-सैन्य पर आंख गड़ी है और कुछ की उसके राज्य पर। सत्यसंध आपके द्वारा हमारे लिये भेजे गये तीनों आभूषण सकुशल प्राप्त हुये। लेख के साथ सेवक द्वारा प्रेषित कुछ पत्र-पुष्प स्वीकार किया जाय और परम विश्वासपाव सिद्धार्थक द्वारा मौखिक भी सुन लिया जाय।

मलयकेतु—भागुरायण! यह लेख कैसा है?

भागुरायण—क्यों सिद्धार्थक! किसका पत्र है?

सिद्धार्थक—मुझे पता नहीं महाराज!

भागुरायण—अरे धूर्त! पत्र-ग्राहक तुम और पता नहीं पत्र किसका?

सर्वं तावत्तिष्ठतु वाचिकं त्वत्तः केन श्रोतव्यम् !

सिद्धार्थकः--(भयं नाटयन्) युष्माभिः (तुह्मेहिं)

भागुरायणः--किमस्माभिः ?

सिद्धार्थकः--मिश्रैर्गृहीतो न जानामि किं भणामीति (मिस्सेहिं गहीदो, ण आणामि, किं भणामि त्ति)।

भागुरायणः—(सक्रोधम्) एष ज्ञास्यसि। भद्र भासुरक ! बहिर्नीत्वा ताड्यतां तावत्, यावत् सर्वमनेन कथितं भवेत्।

भासुरकः--यदार्य आज्ञापयति (जं अज्जो आणवेदि)।

(इति सिद्धार्थकेन सह निष्क्रान्तः)।

(पुनः प्रविश्य)। आर्य ! इयं तस्य ताड्यमानस्य कक्षातः नाममुद्रालाञ्छिताऽऽभरणपेटिका निपतिता (अज्ज ! इअं तस्स ताडीअमाणस्स कक्खादो णाममुद्दालंच्छिदा आहरणपेड़िआ णिवड़िदा)।

भागुरायणः—(विलोक्य) कुमार ! इयमपि राक्षसमुद्राङ्कितैव।

मलयकेतुः—अयं लेखस्याशून्यार्थो भविष्यति। इमामपि मुद्रां परिपालयन्नुद्घाटय दर्शय।

छोड़ो ये बातें, यह बताओ किसे मौखिक सन्देश देने जारहे थे ?

सिद्धार्थक—(भय का अभिनय करते हुये) आपको ही।

भागुरायण—क्या हमें ?

सिद्धार्थक—महाराज ! डर के मारे पता नहीं चलता क्या कहूं क्या न कहूं।

भागुरायण—(क्रुद्ध होकर) अभी चल जायगा पता। भासुरक ! बाहर ले जाकर इसे ऐसा बनाकर पीटो कि सब बक दे।

भासुरक—जो आज्ञा महाराज !

(सिद्धार्थक के साथ बाहर निकल कर और पुनः भीतर आकर)

महाराज ! जैसे ही इस पर मार पड़ी, इसकी कांख से यह गहनों की पेटी नीचे आ गिरी !

भागुरायण—(देखते हुये) कुमार ! यह देखिये इस पर भी अमात्य राक्षस की मुद्रा की छाप !

मलयकेतु—यही होगा इस लेख के साथ भेजा गया 'पत्र-पुष्प'। इसे भी इस पर पड़ी मुद्रा बचाते हुये खोल दिखाओ।

भागुरायणः—(तथा कृत्वा दर्शयति)।

मलयकेतुः—(विलोक्य) अये ! तदिदमाभरणं, यन्मया स्वशरीरादवतार्य राक्षसाय प्रेषितम्। व्यक्तं चन्द्रगुप्तस्यायं लेखः।

भागुरायणः--कुमार ! एष निर्णीयते संशयः। भद्र ! पुनरपि ताड्यताम्।

पुरुषः—यदार्य आज्ञापयति। (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य च) आर्य ! एष खलु ताड्यमानो विज्ञापयति—'कुमारस्य स्वयमेव निवेदयामी'ति (जं अज्जो आणवेदि। अज्ज ! एसो क्खु ताडीअमाणो विण्णवेदि--कुमारस्स स्सअं ज्जेव णिवेदेमि त्ति)

मलयकेतुः--प्रवेशय।

पुरुषः--यत् कुमार आज्ञापयति (जं कुमालो आणवेदि)

(इति निष्क्रम्य सिद्धार्थकेन सह प्रविशति)

सिद्धार्थकः--(पादयोर्निपत्य) अभयेन मे कुमारः प्रसादं करोतु (अभएण मे कुमालो प्पसादं करेदु)

मलयकेतुः--भद्र ! भद्र !! अभयमेव परायत्तजनस्य, तन्निवेद्यतां यथाऽवस्थितम्।

भागुरायण—(वैसा करके दिखा देता है)

मलयकेतु—(देखकर) अरे ! यह तो वही आभरण है जिसे मैंने अपनी देह से उतार राक्षस को भेजा ! पता चल गया चन्द्रगुप्त के लिये यह पत्र है।

भागुरायण—कुमार ! अभी सब सन्देह दूर हुआ जाता है। अरे ! देख, जाओ फिर मारो इसे।

पुरुष—जो आज्ञा महाराज ! (बाहर जाकर फिर भीतर आ) महाराज ! मारने-पीटने पर इसने कहा-कुमार को ही सब कुछ बताऊंगा।

मलयकेतु—लाओ भीतर।

पुरुष—जैसी आज्ञा कुमाराधिराज !

(बाहर जाकर सिद्धार्थक के साथ पुनः प्रवेश करते हुये)

सिद्धार्थक—(पैरों पर गिरकर) क्षमा कुमाराधिराज ! क्षमा।

मलयकेतु—क्षमा किया, तुम तो सेवक ठहरे, ठीक बताओ-क्या बात है ?

सिद्धार्थकः—**निशामयतु कुमारः, अहं खल्वमात्यराक्षसेनेमं लेखं दत्त्वा चन्द्रगुप्तसकाशं प्रेषितोऽस्मि** (णिसामेदु कुमालो, अहं क्खु अमच्चरक्खसेण इमं लेहं देइअ चन्दउत्तसआसं प्पेसिदोह्मि)

मलयकेतुः—**भद्र ! वाचिकमिदानीं श्रोतुमिच्छामि ।**

सिद्धार्थकः—**कुमार ! संदिष्टोऽस्म्यमात्यराक्षसेन, यथा—'एते मम प्रियवयस्याः पञ्च राजानस्त्वया सह प्रथमसमुत्पन्नसन्धानाः । यथा—'कुलूताधिपश्चित्रवर्मा, मलयजनपदाधिपः सिंहनादः काश्मीरदेशाधिपः पुष्कराक्षः, सिन्धुराजः सिन्धुसेनः, पारसीकाधिपतिर्मेघाक्षः' इति । अत्रैव प्रथमभणितास्त्रयो राजानो मलयकेतोर्विषयमभिलषन्ति इतरौ द्वौ कोषं हस्तिबलञ्चेति । तद्यथा चाणक्यं निराकृत्य महाराजेन मम प्रीतिरुत्पादिता, तथैषामपि प्रथमभणितोऽर्थः संपादयितव्यः' इत्येतावान् वाक्संदेश इति** (कुमाल ! संदिट्ठोह्मि अमच्चरक्खसेण, जहा–'एदे मम प्पिअवअस्सा पञ्चराआणो तुए सह प्पढमसमुप्पण्णसन्धाणा । जदा—'कुलूदाहिवो चित्तवम्मा, मलअजणवदाहिवो सिंहणादो, कस्सीरदेसणाहो पुक्खरक्खो, सिन्धुराओ सिन्धूसेणो पारसीआधिवदी मेहक्खो'त्ति । एत्थ ज्जेव पढमभणिदा तिणि राआणो मलअकेदुणो बिसअं अहिलसन्ति, इदरे दुवे कोसं हत्थिबलं अ त्ति । ता जहा चाणक्कं णिराकरिअ महाराएण मम प्पीदी उप्पादिआ, तहा एदाणं पि पढमभणिदो अत्थो संपादइदव्वो'त्ति । एत्तिओ बाआसन्देसो त्ति)

सिद्धार्थक—सुना जाय, कुमाराधिराज ! मुझे चन्द्रगुप्त के पास, अमात्य-राक्षस द्वारा, इस पत्र के साथ, भेजा जा रहा है ।

मलयकेतु—अच्छी बात है । सुनाओ–तुम्हें वहां मौखिक सन्देश क्या देना है ?

सिद्धार्थक—कुमार ! अमात्यराक्षस ने यह कहने को कहा रहा—'हमारे परमस्नेही पांच राजे जो कि आपके साथ पहले से ही सन्धि कर चुके हैं, ये रहे–कुलूताधिप–चित्रवर्मा, मलयनरेश–सिंहनाद, कश्मीराधिराज–पुष्कराक्ष, सिन्धु-राजेश्वर–सिन्धुसेन तथा पारसीकाधिपति–मेघाक्ष । इनमें पूर्वनिर्दिष्ट तो तीन राजे मलयकेतु के राज्य पर लोभ किये हैं और अन्य दो उसके कोष और गजसैन्य पर अब जैसे महाराज ने चाणक्य को हटाकर मेरी प्रसन्नता बढ़ाई वैसे ही इन्हें भी इनकी पूर्वकथित वस्तु मिल जाय तो अत्युत्तम रहे ।' बस, यही मौखिक संदेश रहा !

मलयकेतुः--(स्वगतम्) कथं चित्रवर्मादयोऽपि मामभिद्रुह्यन्ति, अत एवैतेषां राक्षसे निरतिशया प्रीतिः। (प्रकाशम्) विजये ! अमात्यराक्षसं द्रष्टुमिच्छामि।

प्रतीहारी--यत् कुमार आज्ञापयति। (जं कुमालो आणवेदि)

(इति निष्क्रान्ता)

(ततः प्रविशत्यासनस्थः स्वभवनगतः पुरुषेणानुगम्यमानः सचिन्तो राक्षसः)

राक्षसः--(स्वगतम्) सम्पूर्णमस्मद्बलं चन्द्रगुप्तबलैरिति यत् सत्यं न मे मनसः शुद्धिरस्ति। कुतः ?

साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत् सपक्षे स्थितिं
व्यावृत्तञ्च विपक्षतो भवति यत्, तत् साधनं सिद्धये।

राक्षसस्स्वबलं शत्रुबलैस्सम्पूर्णं ध्यायं ध्यायं स्वपक्षपराजयमाशंसमानो वक्ति—साध्ये निश्चितमित्यादि। हन्त ! चन्द्रगुप्तविषयकमन्तरमात्यकोपं प्रमाणीकुर्वता मया व्यसनाभियानं यदारभ्यते तत्तु ममैव निग्रहाय परिणममानमिव प्रतिभाति। तथाहि यदिदं साधनं सैन्यादिसाध्ये शत्रुविजयकृत्ये निश्चितं निर्णीतपरसैन्यनिवारणशक्ति-निर्धारितविभवं वेति, यदिदं साधनमन्वयेन घटितं संभृतमौलबलं, यदिदं साधनं सपक्षे स्थितिं बिभ्रत् श्रेणीवला-टवीबल-मित्रबलादिरूपबलसमुदानाऽविरोधि, यदिदञ्च साधनं विपक्षतो व्यावृत्तञ्च भवति परबलस्य प्रतिबलतया परोपजापा-सहिष्णुतया च व्याप्रियते तदेव साधनं सिद्धयेऽभियानकर्मणो निर्विघ्ननिष्पत्तये विजयप्राप्त्यै च भवति सञ्जायते वेति शेषः। किन्तु यत्खलु साधनं चतुरङ्गमपि

मलयकेतु—(स्वगत) ओह ! तो क्या चित्रवर्मा प्रभृति भी हमारे प्राण के गाहक निकले ! तभी तो राक्षस पर इनका अधिक प्रेम बढ़ रहा है ! (प्रकट रूप से) विजये ! अमात्यराक्षस को बुलाओ ?

प्रतीहारी—जैसी आज्ञा कुमार ! (निकल जाती है)

(अपने भवन में आसन पर विराजमान चिन्ता-मग्न राक्षस और एक राजपुरुष की रंग मंच पर उपस्थिति)

राक्षस—(स्वगत) हमारे मन में तो संदेह भर रहा है-हमारी सेनायें चन्द्रगुप्त के सैनिकों से भर चुकी हैं ! अब क्या हो !

'संग्राम में सेना तो वह जीते जो ठीक शास्त्रार्थ में वादी के हेतु-तर्क के समान हो-सर्वथा अपने पक्ष का भरपूर समर्थन करने के लिये संनद्ध, प्रत्येक अवस्था

यत् साध्यं स्वयमेव तुल्यमुभयोः पक्षे विरुद्धश्च यत्
तस्याङ्गीकरणेन वादिन इव स्यात् स्वामिनो निग्रहः ॥ १० ॥

बलं स्वयमेव साध्यं क्रुद्ध-लुब्ध-भीत-मानिवर्गबाहुल्यात्तदा तदा सर्वदा वा साम-दानाभ्यां भेद-दण्डाभ्यां वा वशीकार्यं लभ्यं संयोज्यं वा, यद्धि वस्तुत उभयोरभियोक्त्रभियुक्तयोस्तुल्यं समानमुभयत्र स्थितिमदभियोक्त्रा भृतमपि कदाचनाभियुक्तेनाप्यभिहार्यं, यत्खलु च पक्षे विरुद्धं स्वपक्षाऽप्रवणं स्वपक्षविघातकमेव वा भवति तस्यैवंभूतस्य साधनस्य बलसमुदानस्याङ्गीकरणेनाऽभियानार्थं स्वीकरणेन स्वामिनो राजविजिगीषोर्वादिन इव वादविजिगीषोरिव निग्रहः पराभवः (निग्रहस्थानबन्धरूपो वादिपक्षे सङ्ग्रामदेशवधबन्धादिरूपो वा राजपक्षे) स्यादवश्यमेव भवेदित्यर्थः। तात्पर्यं तु यथा वादी कश्चन कञ्चन प्रतिज्ञातमर्थं साधयितुकामः पक्षव्यापकत्व-सपक्षसत्व-विपक्षवृत्तिरहितत्वावाधितविषयत्वादिधर्मयुक्तं हेतुमुपाददानस्सिद्धप्रतिज्ञस्सिद्धाभिलाषो वा भवति तथैव विजिगीषुरपि परोपजापादिविरहितं परबलस्य प्रत्यासेधं बलं प्रयुञ्जानो निश्चितविजयो भवति। किन्तु यथा व्याप्तिपक्षवृत्तिनिश्चयरहितरूपस्यासिद्धस्य साध्यविपरीतव्याप्तरूपस्य विरुद्धस्यानैकान्तिकस्य सव्यभिचारस्य वा हेतुभूतस्य हेत्वाभासस्यावलम्बनेन वादी प्रतिवादिना हेतुहानिरूपनिग्रहस्थानोद्भावनायां कृतायां निगृहीतो भवेत्तथैव विजिगीषुरपि बलाभासेन स्वबलेनैव पराभूतो भवेदिति ॥ १० ॥

टिप्पणी—(१) अत्र 'एतादृशबलाभासाङ्गीकारेण स्वामिनो राक्षसमलयकेत्वोर्निग्रहोऽवश्यं भावीति दार्ष्टान्तिकेऽवश्यं योजनीय'मिति यच्छ्रीढुण्ढिराजव्याख्यानं तत्तु न बहु मन्यामहे। तथाहि साध्ये निश्चितमित्यादि सर्वमेव स्वतः प्रकरणावगाहि प्रथमं बुद्ध्युपारूढं पश्चादप्राकरणिकेनोपश्लिष्यमाणं कस्मैचन महते स्वारस्याय सम्पद्यते। अन्यच्चात्र कुतस्तरां स्वामिनो निग्रहो वादिनो निग्रहेण सधर्मा वर्णित इत्यस्यापि समाधानं सुकरम्। राक्षसचिन्तितं व्यसनाभिषेणमत्र शत्रोर्न बहिर्युद्धभूमौ किन्तु स्वमनोमहारङ्ग एवेति सुप्रयुक्तं वादिनिग्रहस्योपमानत्वादिति।

(२) अत्र प्रसङ्गे श्रीमति कौटिलीयेऽर्थशास्त्रे व्यसनाधिकारिके प्रकरणे यदुक्तम्—
'मित्रोपघातत्रस्तं वा शङ्कितं वाऽरिसंहितात्।

में समन्वित और अनुकूल, अपने समान-पक्ष में भी अवस्थित और साथ ही साथ विपक्ष से सर्वथा प्रतिकूल ? ऐसी सेना से तो हमारे जैसे विजयाकांक्षी की हार ही अवश्यंभावी है जो कि किसी वादी के ठीक उस हेतु-तर्क जैसी है जिसे बार बार संभालना पड़े, जिसे अपने और पराये-दोनों पक्षों में लागू होता देखा जाय और सच बात तो यह है कि जो अपने पक्ष से ही सर्वथा विरुद्ध पड़ा करे' ॥ १० ॥

अथवा तैस्तैर्विज्ञातापरागहेतुभिः प्राक्परिगृहीतोपजापैरापूर्णमिति न विकल्पयितुमर्हामि। (प्रकाशम्) प्रियंवदक ! उच्यन्तामस्मद्वचनात् कुमारानुयायिनो राजानः—'सम्प्रति दिने दिने प्रत्यासीदति कुसुमपुरम्। अतः परिकल्पितविभागैर्भवद्भिः प्रयाणे प्रस्थातव्यम्। कथमिति ?—

प्रस्थातव्यं पुरस्तात् खसमगधगणैर्मामनुव्यूह्य सैन्यै-
र्गान्धारैर्मध्ययाने सयवनपतिभिः संविधेयः प्रयत्नः।
पश्चाद् गच्छन्तु वीराः शकनरपतयः संवृताश्चेदिहूणैः
कौलूताद्यश्च शिष्टः पथि परिवृणुयाद्राजलोकः कुमारम् ॥ ११ ॥

दूष्यैर्वा भेदितं मित्रं साध्यं सिद्धञ्च तिष्ठती'ति तत्सर्वथा नाटककवेरपि राजनयव्यवहारनिपुणस्य संमतमेवेति।

राक्षसोऽभियोगप्रयाणमाज्ञापयन् वक्ति-प्रस्थातव्यमित्यादि। खसमगधगणैस्सैन्यैः पुरस्तात् प्रस्थातव्यम्, खसाश्च मगधाश्च तेषां गणाः खसमगधगणाः ते येषां सैन्यानां तैस्सैन्यैर्बलैः सारबलैरिति भावः पुरोयानं करणीयमित्यर्थः। किं कृत्वा ? मामनुव्यूह्य 'पुरस्तान्नायक' इति कौटिलीयार्थशास्त्रदिशा मामेवानुव्यूह्य मम पश्चात् दुर्जयाख्यं व्यूहं व्यूह्येति भाव इति। अथ च सयवनपतिभिर्यवनसेनानायकैस्समं गान्धारैर्मित्रबलैर्मध्ययाने प्रयत्नः संविधेयो व्यामिश्रव्यूहं विधाय योद्धव्यमितिबाहूत्सारबलैर्भाव्यमित्यर्थः। अथापि शकनरपतयो वीराश्चेदिहूणैस्संवृताः पश्चाद् गच्छन्तु 'चक्रान्तेषु हस्तिन' इति नियमानुसारं हस्तिसेनाधिपा हस्तिबलै-

---

किन्तु संदेह भी क्यों किया जाय ! संभव है हमारी सेनाओं के सैनिक सचमुच ऐसे निकलें जो, जैसा कि शत्रु-पक्ष से उनके सम्बन्ध-विच्छेद के कारणों से स्पष्ट है हमारी भेद-नीति से सर्वथा हमारे ही बने रहें। (सुनाकर) प्रियंवदक ! जाओ और हमारी ओर से कुमाराधिराज के अनुयायी राजगण से जाकर कहो-पाटलिपुत्र अब दिनोंदिन समीप आता जा रहा है, व्यूह-रचना प्रारम्भ हो जाय और सेनाओं को प्रयाण का यह आदेश दे दिया जायः—

'सेना के अग्रभाग में अवस्थित मेरे पीछे खस और मगध-गण के सैनिक प्रयाण करें, मध्यभाग में विराजमान गान्धार-सैनिक अपने २ यवन सेनानियों के साथ शत्रु से मोर्चा लेने को तैयार रहें, चेदिओं और हूणों से सुरक्षित शक राजगण सेना का पिछला भाग संभालें और जितने भी कुलूताधिप सरीखे अवशिष्ट राजवृन्द हैं वे कुमाराधिराज को चारों ओर से घेर कर बचाते हुये बढ़ चलें' ॥११॥

प्रियंवदकः--यदमात्य आज्ञापयति। (इति निष्क्रान्तः) (जं अमच्चो आणवेदि)

प्रतीहारी--(प्रविश्य) जयतु जयत्वमात्यः। अमात्य! इच्छति त्वां कुमारः प्रेक्षितुम् (जेदु जेदु अमच्चो। अमच्च ! इच्छदि तुमं कुमालो प्पेक्खिदुं)

राक्षसः--भद्रे मुहूर्त्तं तिष्ठ। कः कोऽत्र भोः ?

पुरुषः--(प्रविश्य) आज्ञापयत्वमात्यः (आणवेदु अमच्चो)

राक्षसः--भद्र ! उच्यतां शकटदासः, यथा—'परिधापिता वयमाभरणं कुमारेण, तन्न युक्तमिदानीमस्माभिरनलंकृतैः कुमारदर्शनमनुभवितुम्, अतो यदलङ्करणत्रयं क्रीतं तन्मध्यादेकं दीयतामि'ति।

पुरुषः--यदमात्य आज्ञापयति। (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य च) अमात्य ! इदं तदलङ्करणम्। (जं अमच्चो आणवेदि। अमच्च ! इदं तं अलङ्करणं)

राक्षसः--(नाट्येनावलोक्यात्मानमलङ्कृत्योत्थाय च) भद्रे ! राजकुलगामिनं मार्गमादेशय।

समं योद्धुं सन्नद्धा भवेयुरित्यभिप्रायः। किञ्च शिष्टः कौलूताद्यश्च राजलोकः पथि कुमारं परिवृणुयात् चित्रवर्मप्रभृतिराजवर्गः कुमारमलयकेतुं परितो रक्षणार्थं संव्यूह्य यायादित्यर्थ इति ॥ ११ ॥

प्रियवदक—जो आज्ञा अमात्य ! (बाहर चला जाता है)

प्रतीहारी—(भीतर आकर) जय हो अमात्य ! जय हो। अमात्य ! कुमार का बुलावा है।

राक्षस—प्रतीहारी ! क्षणभर रुक जा। अरे कोई है यहां ?

पुरुष—(भीतर आकर) आज्ञा हो अमात्य !

राक्षस— अरे ! शकटदास से कह आओ-कुमार ने जो हमें आभूषण पहना दिये हैं, अब बिना इन्हें पहने कुमार का दर्शन कैसे किया जाय, इस लिये खरीदे गये आभूषणों में से एक हमारे पास भेजवा दे

पुरुष—जैसी आज्ञा, अमात्य ! (बाहर जाकर, फिर भीतर आते हुये) अमात्य ! यह रहा आभूषण !

राक्षस—(अभिनय पूर्वक देखते हुये और सजधज कर) प्रतीहारी ! चलो, राजभवन की ओर चला जाय।

प्रतीहारी--एतु एत्वमात्यः। (एदु एदु अमच्चो)

राक्षसः--(प्रविश्य) अधिकारपदं नाम निर्दोषस्यापि पुरुषस्य महदाशङ्कास्थानम्। कुतः ?—

भयं तावत् सेव्यादभिनिविशते सेवकजनं
ततः प्रत्यासन्नाद् भवति हृदयेष्वेव निहितम्।
अतोऽध्यारूढानां पदमसुजनद्वेषजननं
मतिः सोच्छ्रायाणां पतनमनुकूलं कलयति ॥ १२ ॥

प्रतीहारी--(परिक्रम्य) अमात्य ! अयं कुमारस्तिष्ठति तदुपसर्पत्वेनममात्यः। (अमच्च ! अअं कुमालो चिट्ठदि, ता उपसप्पदु णं अमच्चो)

कुमारमलयकेतुनाऽऽहूतोऽमात्यराक्षसस्सन्देहाविष्टचित्तो वदति—भयं तावदिति। तावत् सर्वप्रथमं सेव्यात् स्वामिनो भयं साध्वसं सेवकजनमभिनिविशते (नेर्विश इत्यात्मनेपदे संजातेऽत्र 'अभिनिविशश्चेति कर्मत्वमधिकरणस्येति) समन्तात् हृदयमभिव्याप्य स्थितिं करोति सेवक इति ततस्तदुत्तरं प्रत्यासन्नात् स्वामिसहोत्थायिनो जनात्तदेव भयं हृदयेष्वेव निहितं भवति निरन्तरमधिष्ठितहृदयमेव विभाव्यत इति ततस्तस्मादेव कारणादध्यारूढानां महाधिकारवतां समुच्चैः पदमधितस्थुषां राजपुरुषाणां पदमसुजनद्वेषजननं यो वाऽधिकारस्स दुर्जनासूयितो दुष्टजनक्रोधोद्दीपक एव भवतीति शेषः। अतश्च हन्त ! सोच्छ्रायाणां समुच्चैः पदस्थानां महतां वा राज्याधिकारिणामस्मादृशामिति निगूढोऽर्थः, मतिर्मनः पतनमधिकाराच्च्यवनमेवानुकूलमेतर्हि विषमे दशापरिणाम औचित्येन सदा संभाव्यमानं कलयति विचिकित्सत इत्यभिप्राय इति ॥ १२ ॥

प्रतीहारी--चला जाय अमात्य !

राक्षस—(स्वगत) चाहे कोई कितना भी निर्दोष हो, किन्तु उच्चपद पर अधिकृत होना सर्वथा शंका का ही कारण है। क्योंकि—

'सर्व प्रथम तो सेवक के हृदय में स्वामी का भय स्थान पा जाता है, और बाद में पिछलगुओं के द्वारा वहीं बैठा दिखाई देता है। उच्चपद पर अधिकृत होना क्या है ? दुष्टों के हृदय में द्वेष उत्पन्न करना है नहीं तो भला ऊंचे पदाधिकारी क्यों कर 'अब गये, तब गये' की चिन्ता में पड़े रहें !' ॥ १२ ॥

प्रतीहारी—(घूम फिर कर) अमात्य ! कुमार विराज रहे हैं समीप चला जाय।

राक्षसः--(नाट्येनावलोक्य) अये । अयं कुमारस्तिष्ठति । य एषः—
पादाग्रे दृशमवधाय निश्चलन्तीं शून्यत्वादपरिगृहीततद्विशेषाम् ।
वक्त्रेन्दुं वहति करेण दुर्वहाणां कार्याणां कृतमिव गौरवेण न म् ॥१३॥

(उपसृत्य) विजयतां विजयतां कुमारः ।

मलयकेतुः—आर्य ! अभिवादये । इदमासनमास्यताम् ।

राक्षसः--(उपविशति)

मलयकेतुः--अमात्य ! चिरदर्शनेनार्यस्य वयमुद्विग्नाः ।

राक्षसः—कुमार ! प्रयाणे प्रतिविधानमनुतिष्ठता मया कुमारादयमुपालम्भोऽधिगतः ।

राक्षसः मलयकेतुं दृष्ट्वा तद्विषयकं किञ्चिद् विमृशन् व्याहरति—पादाग्र इत्यादि। अये ! कुमारोऽयं मलयकेतुश्चिन्ताविष्ट इव लक्ष्यते । तथाहि निश्चलन्तीं विषयान्तरग्रहणविमुखामथ च शून्यत्वादपरिगृहीततद्विशेषां शून्यत्वात्स्वगोचरीभूतेऽपि विषये मनसोऽभिनिवेशवैरस्यात् चित्तस्यानवधानतया वा न परिगृहो तो न साक्षात्कृतो न वा साक्षात्कर्तुमिष्टस्तस्य स्वगोचरीभूतस्यापि विशेष इदमित्थंतादिरूपो ययेति तादृशीं दृशं स्वदृष्टिं पादाग्रेऽवधाय चरणाङ्गुलिषु नखेषु वा दौमनस्यात् संस्थाप्य करेणैकेन दक्षिणेन वामेन वा हस्तेन वक्त्रेन्दुं स्वस्य चन्द्रवन्मुखं किमपि वहति धारयन् तिष्ठति । कथंभूतमिदमिति ? दुर्वहाणां वोढुमशक्यानां महाभाराणां कार्याणां विजिगीषुव्यवहाराणां गौरवेण भारप्राग्भारेण नम्रं कृतमिव चिन्ताव्यग्रतया नतीकृतमिवेत्यर्थं इति ॥ १३ ॥

राक्षस—(देखने का अभिनय करते हुये) ओह ! ये रहे हमारे कुमार !

'अपने पैरों के आगे अपनी निश्चल किंवा मन के सूनेपन से सभी दृष्टिगोचर वस्तुओं से विमुख आंखें गड़ाये ! बड़े २ सैनिक उद्योगों के बड़े गंभीर विचारों से झुके मुख चन्द्र को हाथ का सहारा दिये !' ॥ १३ ॥

(समीप पहुंच कर) विजय हो कुमार ! विजय हो ।

मलयकेतु—प्रणाम स्वीकार करें आर्य ! आसन पर विराजें ।

राक्षस—(आसन पर बैठ जाता है)

मलयकेतु—अमात्य ! बहुत देर के बाद दर्शन हुआ, मन में बड़ी बेचैनी हो रही थी ।

राक्षस—कुमार ! सेना के प्रयाण तय कर रहा था नहीं तो यह उपालंभ न सुनने को मिलता ।

मलयकेतुः—अमात्य ! प्रयाणे कथं प्रतिविहितमिति श्रोतमिच्छामि।

राक्षसः—कुमार ! एवमादिष्टाः कुमारस्यानुयायिनो राजानः—

('प्रस्थातव्य'मित्यादि (५ अं० श्लो० ११) श्लोकं पुनः पठति)

मलयकेतुः—(स्वगतम्) विज्ञायते, कथं य एव मद्विनाशेन चन्द्रगुप्तमाराधयितुमुद्यताः, त एव मां परिवृण्वन्ति। (प्रकाशम्) आर्य ! अस्ति कश्चिद् यः कुसुमपुरं प्रति गच्छति, तत आगच्छति वा ?

राक्षसः—कुमार ! अवसितमिदानीं गतागतप्रयोजनम्। ननु पञ्चषैरहोभिर्वयमेव तत्र गन्तास्मः।

मलयकेतुः—(स्वगतम्) विज्ञायते, (प्रकाशम्) यद्येवं तत् किमयमार्येण सलेखः पुरुषः कुसुमपुरं प्रस्थापितः ?

राक्षसः—(विलोक्य) अये ! सिद्धार्थकः। भद्र ! किमिदम् ?

सिद्धार्थकः—(सबाष्पं लज्जां नाटयन्) प्रसीदतु प्रसीदत्वमात्यः। अमात्य ! अतिताड्यमानेन मया न पारितममात्यस्य रहस्यं धारयितुम् (प्पसीददु प्पसीददु अमच्चो। अमच्च ! अतिताड़ीअन्तेण मए ण पारिदं अमच्चस्स रहस्सं धारिदुं)।

मलयकेतु—अमात्य ! सुनाइये तो कैसा प्रयाण तय हुआ।

राक्षस—कुमार ! कुमार के अनुयायी राजगण को यह आदेश दिया गया है—(प्रस्थातव्यम् इत्यादि पुनः पढ़ते हुये)

मलयकेतु—(मन ही मन) सब पता है जो २ लोग मेरे विनाश पर तुले हुये चन्द्रगुप्त से जा मिलने वाले हैं वे ही मुझे घेरे पड़े रहेंगे। (सुनाकर) आर्य आप किसी ऐसे को तो नहीं जानते जो पाटलिपुत्र जा रहा हो या वहां से आ रहा हो ?

राक्षस—कुमार ! अब पाटलिपुत्र के आवागमन में क्या रखा है ! अरे, अब पांच छः दिनों में हम लोग ही वहां चढ़ पड़ेंगे।

मलयकेतु—(स्वगत) अच्छा कहा आपने। (सुनाकर) यदि ऐसी बात है तो इस व्यक्ति को पत्र के साथ पाटलिपुत्र भेजने की क्या आवश्यकता !

राक्षस—(देखते हुये) अरे सिद्धार्थक ! यह क्या !

सिद्धार्थक—(आंसू बहाते लज्जित होने का अभिनय करते) कृपा हो अमात्य ! कृपा। मार-पीट के कारण अमात्य का रहस्य नहीं छिपा सका।

राक्षसः—भद्र ! कीदृशं तत् रहस्यं, न खल्ववगच्छामि ।

सिद्धार्थकः—ननु विज्ञापयामि ताड्यमानेन मया……………(ननु विण्णवेमि, ताड़ीअन्तेण मए……)

(इत्यर्द्धोक्ते सभयमधोमुखस्तिष्ठति)

मलयकेतुः—भागुरायण ! स्वामिनः पुरस्ताद् भीतो लज्जितश्च नैष कथयिष्यति । अतः स्वयमेवार्याय कथय ।

भागुरायणः—यदाज्ञापयति कुमारः । अमात्य ! एष कथयति, यथा—अहममात्यराक्षसेन लेखं दत्त्वा वाचिकञ्च सन्दिश्य चन्द्रगुप्तसकाशं प्रेषितः' इति ।

राक्षसः—भद्र सिद्धार्थक ! अपि सत्यम् ?

सिद्धार्थकः—(लज्जां नाटयन्)"………एवमतिताड्यमानेन मया निवेदितम् । ("………एव्वं अतिताड़ीअन्तेण मए णिवेदिदं)

राक्षसः—कुमार ! अनृतमेतत् । ताड्यमानः किं न ब्रूयात् ?

मलयकेतुः—भागुरायण ! दर्शय लेखं, वाचिकञ्चायमस्मै स्वभृत्यः कथयिष्यति ।

राक्षस—अरे भाई ! मेरा क्या रहस्य ! कैसा रहस्य !! कुछ बोलो तो ?

सिद्धार्थक—अभी कहता हूँ, मारे पीटे जाने से मैंने………

(इतना कह कर ही डरे हुये मुंह नीचे लटकाये खड़ा हो जाता है)

मलयकेतु—भागुरायण ! अपने स्वामी के आगे भयभीत और लज्जित यह क्यों कर सब कहने लगा ! अपने आप कह सुनाओ ।

भागुरायण—जैसी आज्ञा कुमार ! इसने यह कहा अमात्य ! 'मुझे अमात्य राक्षस इस पत्र के साथ, मौखिक संदेश लेकर, चन्द्रगुप्त के पास भेज रहे हैं ।'

राक्षस—सिद्धार्थक ! क्या यह सब सच है ?

सिद्धार्थक—(लज्जा का अभिनय करते हुए) बहुत अधिक मारे-पीटे जाने पर मुझ से निकल गया कि……

राक्षस—कुमार ! यह सब बिलकुल झूठ है । मारने-पीटने पर तो कोई कुछ भी कह दे !

मलयकेतु—भागुरायण ! पत्र दिखाओ, मौखिक तो संदेश इनका सेवक ही इन्हें निवेदन कर देगा ।

भागुरायणः—(लेखमवलोकयन्) 'स्वस्ति यथास्थाने कुतोऽपि पुरुषविशेषमवगमयति' इति वाचयति)

राक्षसः—कुमार ! शत्रोः प्रयोग एषः ।

मलयकेतुः—लेखस्याशून्यार्थमार्येणेदमाभरणमनुप्रेषितमिति तत् कथं शत्रोः प्रयोग एष स्यात् ? (इत्याभरणं दर्शयति)

राक्षसः—(आभरणं निर्वर्ण्य) कुमार ! नैतन्मयाऽनुप्रेषितम्, एतद्धि कुमारेण मह्यं दत्तं; मया च परितोषस्थाने सिद्धार्थकाय दत्तम् ।

भागुरायणः—भो अमात्य ! ईदृशस्याभरणविशेषस्य, विशेषतः कुमारेण स्वगात्रादवतार्य दत्तस्येयं परित्यागभूमिः ?

मलयकेतुः—'वाचिकमप्याप्ततमात्सिद्धार्थकाच्छ्रोतव्यमि'ति लिखितमार्येण ।

राक्षसः—कुतो वाचिकम् ? कस्य वा लेखः ? अयमेवास्मदीयो न भवति ।

मलयकेतुः—इयं तर्हि कस्य मुद्रा ?

भागुरायण—(पत्र देखते हुये) स्वस्ति यथा स्थानम्' इत्यादि पढ़ कर सुना देता है ।

राक्षस—कुमार ! यह सब शत्रु की चालें हैं ।

मलयकेतु—क्या यह भी शत्रु की ही चाल ठहरी जो इस पत्र के साथ भेंट के रूप में आभूषण भेजे जा रहे थे ? (आभूषणों को दिखा देता है)

राक्षस—(आभूषणों को ध्यान से देखकर) कुमार ! ये मेरे भेजे नहीं। इन्हें तो कुमार ने मुझे दिया और पारितोषिक के रूप में मैंने सिद्धार्थक को ।

भागुरायण—कहिये अमात्य ! भला ऐसे विशिष्ट आभूषणों को और जब कि इन्हें कुमार ने अपने शरीर से उतार कर आपको भेंट किये, ऐसे ही किसी को देना उचित रहा ?

मलयकेतु—अमात्य ! आप तो इस में यह भी लिखे हुये हैं कि हमारे परम विश्वासभाजन सिद्धार्थक से मौखिक निवेदन भी सुन लिया जाय !

राक्षस—भला किसका संदेश ! किसका पत्र ! मुझ से इसका क्या सम्बन्ध !

मलयकेतु—तो यह मुद्रा इस पर किसकी !

राक्षसः—कुमार ! कपटमुद्राभप्युत्पादयितुं शक्नुवन्ति धूर्त्ताः ।

भागुरायणः—कुमार ! सत्यममात्यो विज्ञापयति । सिद्धार्थक ! केनायं लिखितो लेखः ?

सिद्धार्थकः—(राक्षसमुखमवलोक्य तूष्णीमधोमुखस्तिष्ठति)

भागुरायणः—अलं पुनरात्मानं ताडयित्वा । कथय ।

सिद्धार्थकः—आर्य ! शकटदासेन (अज्ज ! सअटदासेण)

राक्षसः—कुमार ! यदि शकटदासेन लिखितस्तर्हि मयैव लिखितः ।

मलयकेतुः—विजये ! शकटदासं द्रष्टुमिच्छामि ।

प्रतीहारी—यत् कुमार आज्ञापयति (जं कुमालो आणवेदि)

भागुरायणः—(स्वगतम्) न खल्वनिश्चितार्थमार्यचाणक्यप्रणिधयोऽभिधास्यन्ति । आगत्य शकटदासो वा, 'सोयं लेखः' इति प्रत्यभिज्ञाय पूर्ववृत्तं प्रकाशयेत् । एवं सति सन्दिहानो मलयकेतुरस्मिन् प्रयोगे शलथादरो भवेत । (प्रकाशम्) कुमार ! न कदाचिदपि शकटदासोऽमात्य-

---

राक्षस—कुमार ! धूर्तों के लिये बनावटी मुद्रा बना देना कोई असंभव नहीं ?

भागुरायण—कुमार ! अमात्य ही का कहना ठीक ! सिद्धार्थक ! बताओ-यह किसका लिखा है ?

सिद्धार्थक—(राक्षस का मुंह देखते हुये चुप चाप मुंह लटकाये खड़ा रहता है) ।

भागुरायण—बोलो ! क्यों मार खाने पर उतारू हो ।

सिद्धार्थक—महाराज ! शकटदास का ।

राक्षस—कुमार ! यदि शकटदास का तब तो मेरा ही लिखा हुआ !

मलयकेतु—विजये ! बुलाओ शकटदास को ।

प्रतीहारी—जो आज्ञा कुमार !

भागुरायण—(स्वगत) आर्य चाणक्य के प्रणिधि तो बिना सोचे-समझे कुछ कहेंगे नहीं । कहीं ऐसा न हो कि शकटदास आवे और इसे 'यह तो वही लेख है' ऐसा पहचान सभी बीती बातें खोल दे तब तो इस चाल का मलयकेतु पर प्रभाव ही नष्ट हो जाय । (प्रकट रूप से) कुमार भला अमात्यराक्षस के आगे

राक्षसस्याग्रतो 'मया लिखितः' इति प्रतिपत्स्यते, अतोऽन्यलिखितमप्यानीयतां, यतो वर्णसंवाद एवैतत् सर्वं विभावयिष्यति।

मलयकेतुः--विजये ! एवं क्रियताम्।

भागुरायणः--कुमार ! मुद्रामप्यानयत्वियम्।

मलयकेतुः--उभयमप्यानीयताम्।

प्रतीहारी--यत् कुमार आज्ञापयति। (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) कुमार ! इदं खलु तत् शकटदासेन स्वहस्तलिखितं पत्रं, मुद्रा च (जं कुमालो आणवेदि कुमाल ! इदं क्खु तं सअडदासेण स्सहत्थलिहिदं पत्तअं मुद्दा अ)

मलयकेतुः--(उभयमपि नाट्येनावलोक्य) आर्य ! संवदन्त्यक्षराणि।

राक्षसः--(स्वगतम्) संवदन्त्यक्षराणि, 'शकटदासस्तु मम मित्र-' मिति च विसंवदन्त्यक्षराणि तत् किं शकटदासेन लिखितम् ?--

स्मृतं स्यात् पुत्रदाराणां विस्मृताः स्वामिभक्तयः।

मलयकेतुना प्रश्नप्रतिप्रश्नाभ्यां निगृहीतः राक्षसश्शकटदासाय बुद्धिस्थाय कुप्यन् वदति—स्मृतमित्यादि। हन्त ! शकटदासेनैव पत्रमिदं लिखितमिति कः

शकटदास क्यों कर कहने लगा–'यह मेरा ही लिखा रहा' ! इसकी दूसरी लिखावट का मिल जाना ही सब बातें खोल देगा।

मलयकेतु—विजये ! ऐसा ही कर तू।

भागुरायण--कुमार ! इससे मुद्रा भी मंगा ली जाय।

मलयकेतु--विजये ! जाओ दोनों चीजें लाओ।

प्रतीहारी--जैसी आज्ञा, कुमार ! (बाहर जाकर फिर प्रवेश करके) कुमार ! यह रहा शकटदास का हस्तलिखित पत्र और यह रही मुद्रा !

मलयकेतु--(दोनों को अभिनय के साथ देख भाल कर) लिखावट तो बिलकुल एक जैसी है, अमात्य ?

राक्षस--(स्वगत) लिखावट तो मिल रही है किन्तु यह सोचते ही कि शकटदास अपना मित्र ठहरा, भला कैसे मिल-सकती है ! तब क्या यह सचमुच शकटदास का ही लिखा रहा ?

'अरे क्षणिक लाभ के लोभी ! चिरस्थायी यश को खो देने वाले ! क्या

चलेष्वर्थेषु लुब्धेन न यशःस्वनपायिषु ॥ १४ ॥

अथवा, कः सन्देहः ?—

मुद्रा तस्य कराङ्गुलिप्रणयिनी, सिद्धार्थकस्तत्सुहृत्
तस्यैवापरलेख्यसूचितमिदं पत्रं प्रयोगाश्रयम् ।
सुव्यक्तं शकटेन भेदपटुभिः सन्धाय सार्द्धं परै-
र्भर्तृस्नेहपराङ्मुखेन कृपणं प्राणार्थिना चेष्टितम् ॥ १५ ॥

संदेहो यतो हि चलेष्वर्थेषु लुब्धेन विनाशस्वभावेषु पुत्र-कलत्र-वित्तादिष्वर्थनीयेषु वस्तुषु गर्धावता यशःस्वनपायिषु चिरस्थायिषु राजभक्तिमहाफलेषु कीर्तिलाभेषु न लुब्धेन कामपि स्पृहां कामनां वा न बध्नता शकटदासेन राजद्रोहिणा पुत्रदाराणां स्मृतं स्यात् स्वसुतकलत्रादिमोक्षोऽवश्यंभावीति निर्धारितं भवेत्ततो सुतरामुपपद्यते तल्लिखितमेव पत्रमिदमिति, अथवा तत एव हेतोस्स्वामिभक्तयस्सर्वाः सर्वविधा वा राजभक्तयो तेन विस्मृतास्स्युरिति शेष इति सूपपन्नं तल्लिखितमेव कूटलेखपत्रमिदमित्यर्थं इति ॥ १४ ॥

राक्षसस्स्वमुद्रामुद्रणया शकटदासेनैव लिखितं पत्रमिति निश्चिन्वानस्स्वगतं वक्ति—मुद्रेत्यादि । मुद्रा यया हि पत्रमिदं मुद्रितं सा खलु तस्य शकटदासस्यैव कराङ्गुलिप्रणयिनी राज्यकार्यकरणाय मदर्पितत्वात्सदा तदङ्गुलिवर्तिन्येवेति कः सन्देहः । सिद्धार्थकस्तत्सुहृत् तस्यैव शकटदासस्य सौहार्दपात्रमित्यत्राऽपि कः संदेहः ! तथा चाऽपरलेख्यसूचितं तल्लिखितलेखान्तरवर्णविरचनया सर्वथा संवाद्येतद्वर्णविरचनमिदं प्रत्यक्षदृश्यमानं प्रयोगाश्रयं शत्रोरस्मत्संघभेदनौपयिककूटनयव्यवहारनिदानं पत्रं लेखपत्रं तस्य शकटदासस्यैवेति कः सन्देहः ! हन्त ! सुव्यक्तमिदं स्पष्टं निश्चितमेवैतद् यद् भेदपटुभिस्संघभेदननिपुणैः परैरस्मत्प्रतिपक्षिभि-

---

बाल-बच्चों की स्मृति तुझे हो आयी ! क्या सहसा सारी स्वाभि-भक्ति भूल पड़ी !' ॥ १४ ॥

किन्तु, अब संदेह भी क्या रहा !

'यह अंगुलीयक-मुद्रा-निरन्तर उसकी अंगुलियों के साथ रहने वाली ! यह सिद्धार्थक-उसका परममित्र ! यह कपट पत्र उसकी लिखावट से मिलती लिखावट वाला ! संदेह अब कहां ! अरे ! यह तो हमारे भेद-पटु शत्रुओं से सर्वथा मिले, स्वामिभक्ति से विमुख, अपने और अपने बाल-बच्चों के प्राणों के ही एक मात्र मोही इस नीच शकटदास का ही काम है !' ॥ १५ ॥

मलयकेतुः—आर्य ! 'अलङ्कारत्रयं श्रीमता यदनुप्रेषितं, तदुपगतम्' इत्यार्येण परिलिखितं, तन्मध्यादेकं किमिदम् ? (निर्वर्ण्यात्मगतम्) कथं तातेन धृतपूर्वमिदमाभरणम् ? (प्रकाशम्) आर्य ! कुतोऽयमलङ्कारः ?

राक्षसः—वणिग्भ्यः क्रयादधिगतः ।

मलयकेतुः—विजये ! अपि प्रत्यभिजानाति भवती भूषणमिदम् ?

प्रतीहारी—(निर्वर्ण्य सबाष्पम्) कुमार ! कथं न प्रत्यभिज्ञास्यामि ? इदं खलु सुगृहीतनामधेयेन देवेन पर्वतेश्वरेण धारितपूर्वम् (कुमाल ! कहं ण पच्चभिआणिस्सं ? इमं क्खु सुगिहीदणामधेएण देएण पब्बदीसरेण धारिदपुब्वं) ।

मलयकेतुः—(सबाष्पम्) हा तात !—

एतानि तानि तव भूषणवल्लभस्य
गात्रोचितानि कुलभूषण ! भूषणानि ।

रसार्द्धं समं सन्धाय मिलित्वा भर्तृस्नेहपराङ्मुखेन भर्तृस्नेहान्नन्दानुरागादस्मत्सौहार्दाद्वा पराङ्मुखेन विमुखीभूतेन प्राणार्थिना स्वपुत्रकलत्रादिजीवनैकरक्षणाभिलाषुकेण शकटेन शकटदासेन लेखाध्यक्षेण कृपणं महाकदर्यं चेष्टितमाचरितमित्यभिप्राय इति ॥ १९ ॥

मलयकेतुरलङ्करणानि निर्वर्णयन् स्मृतस्वपितृवियोगस्तप्यमानमना वदति—एतानीत्यादि । आः ! एतानि पुरोदृश्यमानानि राक्षसाचारेण राक्षसेनाऽपात्रप्रसादी·

मलयकेतु—आर्य ! यह तो बताइये कि उन तीन आभूषणों में, जिनके विषय में आपने लिखा कि 'आपके भेजे मिल गये', क्या एक यह भी नहीं रहा ? (ध्यान पूर्वक देखकर-मन ही मन) ओह ! ये ही रहे आभूषण ! पिताके द्वारा पहले पहने गये ! (सुनाकर) आर्य ! यह आभूषण कहां पा गये ?

राक्षस—विक्रेताओं से खरीदे रहे ।

मलयकेतु—विजये ! क्या तुम इस आभूषण को पहचान रही हो ?

प्रतीहारी—(ध्यान से देखकर आंसू उमड़ आने पर) कुमार ! भला मैं क्यों न पहचानूंगी ! यह तो वही आभूषण ठहरा जिसे प्रातः स्मरणीय महाराज पर्वतेश्वर धारण किया करते थे !

मलयकेतु—(आंसू भरी आंखों से) हा तात ! 'हा कुलभूषण ! ये रहे आभूषणों के प्रेमी आपके शरीर पर कभी शोभित होने वाले वे आभूषण जिनके

यैः शोभितोऽसि मुखचन्द्रकृतावभासो
नक्षत्रवानिव शरत्समयप्रदोषः ॥ १६ ॥

राक्षसः--(स्वगतम्) कथं 'पर्वतेश्वरधृतपूर्वाणी'त्याह ? (प्रकाशम्) व्यक्तमेतान्यपि तेन चाणक्यप्रयुक्तेन वणिग्जनेनास्मासु विक्रीतानि ।

मलयकेतुः--आर्य ! तातेन धृतपूर्वाणामाभरणविशेषाणां विशेषतश्चन्द्रगुप्तहस्तगतानां वणिग्भ्यः क्रयादधिगम इति न युज्यते, अथवा युज्यत एवैतत्--

चन्द्रगुप्तस्य विक्रेतुरधिकं लाभमिच्छतः ।

कृतानि तानि महार्घाणि, अयि कुलभूषण ! अस्मद्राजवंशमहाविभूषण ! अस्मत् पूज्यपितृदेव ! तव महाराजस्य भूषणवल्लभस्य प्रियभूषणस्य धृतभूषणनिधानस्य भूषणानि महान्त्यलङ्करणानि यैस्त्वमिति शेषः । राज्ञां पुरतः मुखचन्द्रकृतावभासस्स्वमुखचन्द्रविभूषितो विद्योतितस्वमुखेन्दुस्तथाभूतो नक्षत्रवान् शरत्समयप्रदोष इव सतारकशारदीयसांध्यसमय इव शोभितोऽसि किमप्यद्भुतं रामणीयकं प्रकाशितवानसीति भाव इति ॥ १६ ॥

टिप्पणी—अत्र नाटककृता करुणो रसस्सामाजिकहृदये समुद्वेल्लित इव प्रकाशीकृतः ।

मलयकेतुरमात्यराक्षसं सामर्षमभिभाषते—चन्द्रगुप्तस्येति । अये राक्षस ! वणिग्भ्यः क्रयादधिगता आभरणविशेषा इमे भवतेति सर्वथा समुपपन्नं भवदुत्तरम् । अये ! क्रूरेण क्रूरहृदयेन दारुणाचारेण भवताऽधिकं लाभमिच्छतो विशिष्टलाभा-

---

द्वारा अपने मुखचन्द्र से प्रकाशमान ताराखचित शरत्कालीन सांध्य समय की भांति कभी आप चमक उठते रहे !' ॥ १६ ॥

राक्षस--(स्वगत) अरे ! क्या इसने यह कहा कि पर्वतेश्वर के पहने ये गहने रहे ! (सुनाकर) अब तो स्पष्ट हो गया कि चाणक्य की चाल में पड़े विक्रेताओं ने ही हमें यह बेचा रहा !

मलयकेतु--आर्य ! भला यह क्या स्पष्ट हुआ कि आभूषण हों हमारे पिता के पहने हुये, हाथ में आ जांय और के नहीं किन्तु केवल चन्द्रगुप्त के ही और खरीदे जांय आपके द्वारा और विक्रेताओं से ! और ऐसा भी क्यों, यह तो अब स्पष्ट ही हो गया कि--

'आप सरीखे महानृशंस ने इन आभूषणों के मूल्य-रूप में हमें ही अपने

कल्पिता मू[illegible]तेषां क्रूरेण भवता वयम् ॥ १७ ॥

राक्षसः—(आत्मगतम्) अ[illegible]श्लिष्टोऽयमभूच्छत्रुप्रयोगः । कुतः?—

लेखोऽयं न ममेति, नोत्तरम[illegible]द्रा मदीया यतः
सौहार्दं शकटेन खण्डितमिति श्रद्धेय[illegible]कथम्?
मौर्ये भूषणविक्रयं नरपतौ को नाम सम्भाव[illegible]
तस्मात् सम्प्रतिपत्तिरेव हि वरं, न ग्राम्यमत्रोत्तरम् ॥ [illegible] ॥

भिलाषुकस्य चन्द्रगुप्तस्य विक्रेतुः वणिजो मौर्यस्य कृत इति शेषः वयमेव भवद्भक्तोऽहमेव (अस्मदोर्द्वयोश्चेति बहुवचनानुशासनम्) एतेषामलङ्काराणां मूल्यं कल्पिताः मूल्यत्वेन निश्चिताः प्रदत्ताश्चेति भाव इति ॥ १७ ॥

राक्षसश्शत्रुप्रयोगस्य सुसंश्लिष्टतां मुहुर्मुहुर्विचारयन् स्वगतं वक्ति—लेखोऽयमिति । हन्त ! निरुत्तरीकृतोऽस्मि सर्वतो निगृहीतोऽस्मि । यदप्युत्तरं दीयते तत्सर्वं ग्राम्यमेव भवेत् नितरामसमीचीनमेव प्रतिभायादिति । तस्मात्तो हेतोस्संप्रतिपत्तिरेव स्वीकृतिरेव सर्वेषामाक्षेपाणां वरं श्लाघनीयं संभवति । तथा हि लेखोऽयं न ममेति नोत्तरमिदं यतो हि मुद्रा मदीया, यया मुद्रांकृतोऽयं नीयमानो विवीताध्यक्षेण निरीक्षितो मयाऽपि च निरीक्ष्यत एवेति । किन्तु शकटेन मन्मित्रेण नन्दराज्यलेखाध्यक्षेण शकटदासेन सौहार्दं सुहृत्स्वभावयोः खण्डितं विनाशितमित्येतत् कथं श्रद्धेयम् ? नात्र विषये विश्वसिमि किंतु तदपरलेखवर्णसंवादविभावितत्तल्लेख्यमिदं पत्रमिति सर्वप्रकाशोऽयमर्थ इति विश्वसिम्येव, नात्र किमप्युत्तरम् । मौर्ये नरपतौ भूषणविक्रयं को नाम संभावयेत् ? न कस्यापि जनस्य शङ्कोदियाद् यन्महाराजश्चन्द्रगुप्तो भूषणानि विक्रीणीते राक्षसो यानि क्रीणाति चेति सर्वेषामियमेव संप्रतिपत्तिर्यद्राक्षस एव कृतघ्नः कुमारप्रदत्तानि भूषणानि लेखस्याशून्यीकरणार्थं मौर्याय प्रेषयतीति । तद्वरं दोषस्वीकरणं निर्दोषताऽघोषणादिति भाव इति ॥ १८ ॥

और अधिक से अधिक लाभ के लोभी उस चन्द्रगुप्त के हाथ में सौंप डाला !' ॥ १७ ॥

राक्षस—(स्वगत) ओह ! शत्रुओं की चाल कैसी चल गयी ! अब तो—

'यह उत्तर कहां कि यह मेरा पत्र नहीं । भला मुद्रा तो मेरी ही पड़ी रही ! किन्तु यह विश्वास कैसे हो कि शकटदास ने विश्वासघात किया ! भला कोई भी तो ऐसा न होगा जो मान ले कि मौर्यसम्राट् आभूषण बेचता होगा ! अब तो दोष का स्वीकार ही करना ठीक रहा ! इधर-उधर के उत्तरों से कुछ नहीं बनता !' ॥ १८ ॥

मलयकेतुः--एतदार्यं पृच्छामि ।

राक्षसः--(सबाष्पम्) कुमार ! य आर्यस्तं पृच्छ, वयमिदानीमनार्याः संवृत्ताः ।

मलयकेतुः--

मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः, परिचरणपरो मित्रपुत्रस्तवाहं,
दाता सोऽर्थस्य तुभ्यं, स्वमतमनुगतस्त्वन्तु मह्यं ददासि ।
दास्यं सत्कारपूर्वं ननु सचिवपदं तत्र ते, स्वाम्यमत्र,
स्वार्थे कस्मिन् समीहा पुनरधिकपरे त्वामनार्यं करोति ? ॥ १९ ॥

मलयकेतुस्सोल्लुण्ठं राक्षसमाह—मौर्योऽसाविति । अरे अनार्य ! अन्वर्थीकृतनाम ! राक्षस ! कस्मिन् पुनरधिकतरे स्वार्थे समीहा त्वामनार्यं करोति ? केन प्रबलतरेण स्वार्थेन प्रेरित इत्थं मौर्याय सालङ्करणप्रेषणं गुप्तसन्धिपत्रं प्रेषितवानसीति न ज्ञायते ! यतो हि भवतो या खलु समीहितसिद्धिस्सा तु मत्त एव न मौर्यात् ! तथाहि—मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः स्वामिनो नन्दस्य कुमार इति न भवदाज्ञाविधेय इत्यभिप्रायः, अहं तु मित्रपुत्रो भवन्मित्रस्य पर्वतेश्वरमहाराजस्य पुत्रस्तवपरिचरणपरस्त्वन्निदेशवशंवद एव सर्वदेति भवच्छन्दानुवर्तनमेव मम कार्यमित्यर्थः । स मौर्यस्तुभ्यमर्थस्य दाता स्वेच्छानुसारं यद्दास्यति तद् दास्यति किन्तु मह्यं भवद्भक्ताय स्वमतमनुगतस्स्वच्छन्दानुसारं त्वमेव तु ददासि यद् वाञ्छसि तत् प्रयच्छसि यन्नेच्छसि न तद् ददासीति । अन्यच्च तत्र मौर्ये ते तव सचिवपदं साचिव्याधिकारग्रहणं ननु सत्कारपूर्वं दास्यं संमानितभृत्यकर्मैव केवलं

मलयकेतु—आर्य ! एक बात पूछनी है ।

राक्षस--(आंसू गिराते) कुमार ! उससे पूछो जो आर्य हो । हम तो अब अनार्य बन गये !

मलयकेतु--'भला वह कौन सा महान् स्वार्थ रहा जिसके लिये आप को भी अनार्य बन जाना पड़ा ! वहां तो वह चन्द्रगुप्त,-नन्द-वंश का राजकुमार और यहां मैं आपका सेवा-परायण, आपके मित्र का पुत्र ! वहां तो देने वाला वह और मांगने वाले आप और यहां जो चाहें सो देने, जो न चाहें सो न देने वाले आप और याचक मैं ! इतना ही क्यों ! वहां आपका महासचिव पद, एक प्रकार की दासता और यहां मेरे ऊपर आप का ही प्रभुत्व ! कुछ समझ नहीं आता क्या हो गया !' ॥ १९ ॥

राक्षसः—कुमार ! एवमयुक्तव्याहारिणा भवतैव मे निर्णयो दत्तः । कुतः ?—('मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः' इति युष्मदस्मदोर्व्यत्ययेन पठति)

मलयकेतुः—(लेखमलङ्करणस्थगिकाञ्च विनिर्दिश्य) इदमिदानीं किम् ?

राक्षसः—(सबाष्पम्) विधेर्विलसितमिदं, कुतः ?—

भृत्यत्वे परिभावधामनि सति स्नेहात् प्रभूणां सतां

किन्त्वत्र मयि भवन्मुखप्रेक्षिणि जने ते स्वाम्यं सर्वविधमाधिकारिकत्वमेव सर्वप्राकाम्यं वेत्यभिप्रायः । भूयो विचार्याऽपि तव मनः पारं नैव प्राप्तुं शक्नोमीति महाकृतघ्नस्त्वमिति शेष इति ॥ १९ ॥

मौर्योऽसौ स्वामिपुत्र इति—युष्मदस्मदोर्व्यत्ययेन पठतीति व्यत्ययप्रकारस्त्वयम्–

'मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः ! परिचरणपरो मित्रपुत्रो मम त्वं
दाता सोऽर्थस्य मह्यं ! स्वमतमनुमतोऽहं तु तुभ्यं ददामि ।
दास्यं सत्कारपूर्वं ननु सचिवपदं तत्र मे ! स्वाम्यमत्र
स्वार्थे कस्मिन् समीहा पुनरधिकतरे मामनार्यं करोति ?

राक्षसो मलयकेतुनाऽधिक्षिप्तस्त्वदुर्भाग्यमेवापवदति—भृत्यत्व इत्यादि । हन्त ! येन पापेन निर्घृणेन विधिना ते महान्तो लोकस्य परीक्षकाः जनचारित्रदर्शिनो गुणावगुणविमर्शकाः क्षितिभृतः महाराजाः नन्दनृपतय इति शेषः, क्षताः क्षयं प्रापिताः

राक्षस—कुमार ! ऐसा अनर्गल बोलते हुये भी आपने निर्णय तो मेरा कर ही दिया ! क्योंकि–(मौर्योऽसौ-इस श्लोक में 'युष्मत्' और 'अस्मत्' शब्दों को एक दूसरे से बदल कर)

[वहां तो रहा मौर्य, हमारे महाराज (नंद) का वंशज, और यहां रहे तुम हमारे मित्र के पुत्र, हमारे भक्त ; वहां तो रहा वह मुझे सब कुछ देने वाला और यहां रहे तुम, मुझ से ही मेरा मुंह देख, कुछ मांगने वाले ; वहां तो रहा मेरा सचिवपद, दासता कहे जाने पर भी, महामहिम और यहां रही मेरी प्रभुता और वह भी तुम पर इस से बढ़ कर भला और कौन स्वार्थ हो सकता है जो मुझे भी अनार्य न बना दे !]

मलयकेतु—(पत्र और आभूषणों की पेटी दिखलाते हुये) बताइये–क्या है यह सब !

राक्षस—(आंसू भरी आंखों से) भाग्य का पलटा है–'यह तो उस भाग्य का फेर है जो मनुष्य के पुरुषार्थ का शत्रु है ! अरे ! यदि यह न होता तो वे

पुत्रेभ्यः कृतवेदिनां कृतधियां येषामभिन्ना वयम् ।
ते लोकस्य परीक्षकाः क्षितिभृतः पापेन येन क्षताः
तस्येदं विपुलं विधेर्विलसितं पुंसां प्रयत्नच्छिदः ॥ २० ॥

मलयकेतुः—(सक्रोधम्) कथमद्यापि निह्नूयते विधेर्विलसितमिदं, न ममेति ? अनार्य !—

कन्यां तीव्रविषप्रयोगविषमां कृत्वा कृतघ्न ! त्वया
विस्रम्भप्रवणः पुरा मम पिता नीतः कथाशेषताम् ।
सम्प्रत्याहितगौरवेण भवता मन्त्राधिकारे रिपोः

विनाशिता वा येषां महतां महनीयचरितानां प्रभूणां सर्वप्रकारप्रभुत्वशालिनां कृतधियां मनस्विनां कृतात्मनां वा कृतवेदिनां कृतज्ञानां सतां सर्वं जगत्तन्त्रं तन्त्रयतां विराजमानानां कृते वयं राजसेवकाः खलु भृत्यत्वे परिभावधामनि सति राजसेवायां तिरस्क्रियास्पदीभूतायामपि सत्यां स्नेहात् सेव्यस्य सेवकानुरागादेव हेतोः पुत्रेभ्योऽभिन्ना सुतनिर्विशेषा एव संजाताः, तस्य तथानृशंसस्य पुंसां प्रयत्नच्छिदो जनानां पौरुषविघातकस्य विधेर्भाग्यस्येदं लेखालङ्कारादिरूपदुर्घटनं विपुलं किमपि विकटं विलसितं विक्रमणमिति किमधिकमत इति भाव इति ॥ २० ॥

मलयकेतुरमात्यराक्षसं भर्त्सयन् वक्ति—कन्यामित्यादि । अरे कृतघ्न ! महापकार । महापचार ! राक्षस ! त्वया, न कदापि चाणक्येनेति शेषः, तीव्रविषप्रयोगविषमां तीक्ष्णरसदानेन जीवहन्त्रीं कन्यां विषकन्यां कृत्वा संपाद्य विस्रम्भप्रवणः कृतभवद्विश्वासः मम पिता महाराजपर्वतकः पुरा प्रथमं कथाशेषतां नीतो घातित इत्यर्थः । अथ च सम्प्रत्यधुना रिपोर्मच्छत्रोर्मौर्यस्य मन्त्राधिकारे महामन्त्रिपदे आहित-

---

न्याय-परायण राज राजेश्वर क्यों कर नष्ट हो जाते जिनके लिये, जिन प्रभुत्व शालिओं के लिये, जिन परोपकार परायणों के लिये और जिन सदसद्विवेक कर्त्ताओं के लिये, सेवक होने से अपमानास्पद हो सकने पर भी, केवल उनके स्नेहवश, हम पुत्रवत् ही निरन्तर रहते आये !' ॥ २० ॥

मलयकेतु—(क्रुद्ध होकर) क्यों अभी भी छिपा रहे हो कि तुम्हारा किया-कराया कुछ नहीं और जो कुछ हुआ, भाग्य का फेर हुआ ? नीच !

'कृतघ्न ! वह तुम्हीं थे जिसने तुम पर महाविश्वास करने वाले हमारे पिता को, उस प्राणनाशक विषकन्या के द्वारा उस समय मौत के घाट उतार दिया ! ओह ! और अब, तो हमारे शत्रु के महासचिव पद पर अपनी आंखें गड़ाये तुम

प्रारब्धाः प्रणयाय मांसवदहो ! विक्रेतुमेते वयम् ॥ २१ ॥

राक्षसः—(स्वगतम्) अयमपरो गण्डस्योपरि विस्फोटः (प्रकाशं कर्णौ पिधाय) शान्तं पापं, शान्तं पापम् । नाहं विषकन्यामारोपितवानपापोऽहं पर्वतेश्वरे ।

मलयकेतुः—केन तर्हि व्यापादितस्तातः ?

राक्षसः—दैवमत्र प्रष्टव्यम् ।

मलयकेतुः—(सक्रोधम्) दैवमत्र प्रष्टव्यं न क्षपणको जीवसिद्धिः ।

राक्षसः—(स्वगतम्) कथं जीवसिद्धिरपि चाणक्यप्रणिधिः ? हन्त ! हृदयमपि मे रिपुभिः स्वीकृतम् ।

मलयकेतुः—(सक्रोधम्) भासुरक ! आज्ञाप्यतां शिखरसेनः सेनापतिः-'ये एतेन राक्षसेन सह सौहार्दमुत्पाद्यास्मच्छरीरद्रोहेण चन्द्रगुप्तमाराधयितुकामाः पञ्च राजानः, तद्यथा—'कौलूतः चित्रवर्मा, मलय-

---

गौरवेण कृतमनस्कारेण प्राप्तमाहात्म्येन वा भवता वयमेते भवद्वशंवदाः प्रणयाय मौर्यं प्रसादयितुं मांसवद्विक्रेतुं प्रारब्धाः इत्यहो ! महदाश्चर्यम् ! किं ब्रूमोऽधिकं भवतो मौर्यप्रणयमूल्यपरिग्राहिणोऽस्मत्पण्यवणिजश्चेति भाव इति ॥ २१ ॥

यही चाह रहे होगे कि हम तो मांस के टुकड़े के समान बिक जांय और तुम्हें मिल जाय उसकी कृपा का प्रसाद !' ॥ २१ ॥

राक्षस—(स्वगत) विपत्ति पर विपत्ति ! (सुनाकर-कान पर हाथ रखे) राम राम ! मैं विषकन्या को क्यों लगाने लगा ! महाराज पर्वतकका मैं अपराधी नहीं !

मलयकेतु—बताओ हमारे पिता की हत्या किसने की ?

राक्षस—दैव से पूछो ।

मलयकेतु—(क्रोधपूर्वक) दैव से पूछूं ? और इस क्षपणक जीवसिद्धि से नहीं ?

राक्षस—(मन ही मन) ओह तो क्या जीवसिद्धि भी चाणक्य का ही गुप्तचर निकला ! ओह ! तब तो हमारे शत्रुओं ने हमाये हृदय को ही धर दबाया !

मलयकेतु—(क्रुद्ध होकर) भासुरक ! सेनापति शिखरसेन से जाकर कहो-[इस राक्षस के साथ देने वाले और हमारा प्राण लेकर चन्द्रगुप्त की प्रसन्नता के इच्छुक, पांचों राजाओं जैसे कि कूलूत के चित्रवर्मा, मलय के सिंहनाद, कश्मीर

नरपतिः सिंहनादः, काश्मीरः पुष्कराक्षः, सिन्धुराजः सुषेणः, पारसीकाधिराजो मेघाक्ष' इति। तेषु त्रयः प्रथमा मदीयां भूमिं कामयन्ते, ते गभीरश्वभ्रमुपनीय पांशुभिः पूर्यन्ताम् , इतरौ तु द्वौ हस्तिबलकामौ हस्तिनैव घात्येतामि'ति।

पुरुषः—यत् कुमार आज्ञापयति (जं कुमारो आणवेदि) (इति निष्क्रान्तः)

मलयकेतुः—(सक्रोधम्) राक्षस ! राक्षस !! नाहं विस्रम्भघाती राक्षसो, मलयकेतुः खल्वहं, तद् गच्छ, समाश्रीयतां सर्वात्मना चन्द्रगुप्त इति—

विष्णुगुप्तश्च मौर्यश्च सममप्यागतौ त्वया।
उन्मूलयितुमीशोऽहं त्रिवर्गमिव दुर्नयः॥ २२॥

भागुरायणः—कुमार ! कृतं कालहरणेन, शीघ्रमेव कुसुमपुरोपरोधाय प्रतिष्ठाप्यन्तामस्मद्बलानि—

मलयकेतुरमात्यराक्षसं तर्जयन्नाह—विष्णुगुप्तमित्यादि। राक्षस ! गम्यतां यत्र गच्छसि, समाश्रय मौर्यं सर्वात्मना। किन्तु शृणु—पाटलिपुत्रमभिषेणयिताऽस्म्येवाहम्। तथा च दुर्नयो दुराचार एकाकी त्रिवर्गं धर्मार्थकामानां संवबलमिवाहमेकाकी सन्नपि त्वया सममप्यागतौ विष्णुगुप्तञ्च मौर्यञ्च मौर्य-राक्षस-कौटिल्यसंघमित्यर्थः, उन्मूलयितुमीशो विनाशयितुं सर्वदा सर्वथा च समर्थ एवेत्यभिप्राय इति॥ २२॥

के पुष्कराक्ष, सिन्धु के सुषेण और पारसीक के मेघाक्ष इन में, पहले जो तीन हैं, हमारे राज्य पर आंख गड़ाये, उन्हें तो एक गहरे गड्ढे में गाड़ कर मिट्टी से तोप दिया जाय और बाद के जो दो बचे–हमारी गजसेना के लोभी, उन्हें हाथिओं के पैरों तले रौंदवा कर मार डाला जाय।

पुरुष—जैसी आज्ञा कुमार ! (बाहर चला जाता)

मलयकेतु—(क्रोधपूर्वक) राक्षस ! राक्षस !! मैं मलयकेतु हूं, विश्वासघाती राक्षस नहीं। जाओ–छोड़ दिया ! जाओ चन्द्रगुप्त के पास, जैसे चाहो उसे सेवो, किन्तु ध्यान रखना—'यदि तुम्हारे साथ हिले-मिले साक्षात् चाणक्य और चन्द्रगुप्त भी हमारे सामने आजाय तो तुम सब का वैसे ही सर्वनाश कर दिखाऊं जैसे दुर्नय त्रिवर्ग (धर्म–अर्थ–काम) का किया करता है !' ॥ २२॥

भागुरायण—कुमार ! अब विलम्ब क्यों ? अभी हमारी सेनायें पाटलिपुत्र का घेरा डालने के लिये प्रयाण कर दें—

गौडीनां लोध्रधूलीपरिमलबहलान् धूम्रयन्तः कपोलान्
क्लिश्नन्तः कृष्णिमानं भ्रमरकुलरुचः कुञ्चितस्यालकस्य।
पांशुव्यूहा बलानां तुरगखुरपुटक्षोदलब्धात्मलाभाः
शत्रूणामुत्तमाङ्गे गजमदसलिलच्छिन्नमूलाः पतन्तु॥ २३॥

(इति सपरिजनो निर्गतो मलयकेतुः)

राक्षसः—(सावेगम्) हा धिक् कष्टम्! तेऽपि हतास्तपस्विनश्चित्रवर्मादयः!! तत् कथं सुहृन्नाशाय राक्षसश्चेष्टते, न रिपुविनाशाय?

भागुरायणस्साधितस्वकृत्यः परं प्रहृष्टोऽमात्यराक्षसोचितां बलेभ्य आज्ञां स्वयमेवाघोषयन् व्याहरति—गौडीनामिति। बलानामस्मच्चतुरङ्गसेनासंघातस्य तुरगखुरपुटक्षोदलब्धात्मलाभास्तुरगाणामश्वसेनावर्तिनामश्वानां खुरपुटास्तैः कृतास्समराङ्गणस्येति शेषो येच्छोदाश्चूर्णनव्यापारास्तैर्लब्धा आत्मलाभाः जन्मानि यैस्तथाभूताः पांशुव्यूहाः धूलिराशयो गौडीनां मगधवर्त्तिनीनां गौडनारीणां लोध्रधूलीपरिमलबहलान् लोध्ररजोविलेपनसुरभीन् कपोलान् गण्डभागान् धूम्रयन्तो धूसरितीकुर्वन्तो मलिनीकुर्वन्तो वा तथा च तासामेव भ्रमरकुलरुचः भ्रमरश्यामकान्तेः कुञ्चितस्यालकस्य कुटिलस्य केशपाशस्य कृष्णिमानं कृष्णरागं क्लिश्नन्तो विनाशयन्तस्सन्तो गजमदसलिलच्छिन्नमूलाः गजानामस्मत्सेनागजानां यानि मदसलिलानि मदजलानि तैश्छिन्नमूलास्संजायमानाश्शत्रूणामस्मत्प्रतिबलानामुत्तमाङ्गे शिरसि पतन्तु स्थितिं कुर्वन्त्विति सत्वरमारभ्यतां बलैश्शत्रूणामभिषेणनमिति भाव इति॥ २३॥

'हमारी सेनायें ऐसी धूम उड़ा दें—हमारे घोड़ों के खुर पुटों से, निरन्तर चूर्ण-विचूर्ण रणाङ्गण से उठती हुई, मगधवासिनी गौडनारियों के लोध्र धूलि चर्चित अति सुरभित कपोल फलकों को धूमिल बनाती हुई, उनके घुंघुराले, भौरों के समान काले केशों की कमनीयता को मिट्टी में मिलाती हुई और हमारे हाथियों के मदजल की बौधार से कीचड़ उछालती हुई—जो सीधे हमारे शत्रुओं के गर्वोन्नत मस्तक पर टूट पड़े!' ॥ २३ ॥

(मलयकेतु अपने परिजनों समेत चला जाता है।)

राक्षस—(उद्विग्नता के साथ) ओह! ऐसा अनर्थ! ऐसा संकट! अब तो बेचारे चित्रवर्मा इत्यादि भी मारे गये! ऐसा लगता है जैसे राक्षस कहलाने वाले

तत् किमिदानीं करवाणि मन्दभाग्यः ?—

किं गच्छामि तपोवनम् ? न तपसा शाम्येत् सवैरं मनः
किं भर्तृननुयामि जीवति रिपौ स्त्रीणामियं योग्यता ।
किं वा खड्गसखः पताम्यरिबले ? नेदं न युक्तं भवेत् ?
चेतश्चन्दनदासमोक्षरभसं रुन्ध्यात् कृतघ्नं न चेत् ॥ २४ ॥

भृशं दूनहृदयो वक्ति राक्षसः—किं गच्छामीति । किं तपोवनं गच्छामि ? किमधुना विनष्टसर्वाशातन्तुना संन्यासस्स्वीकर्त्तव्यो मया ? किं तु तपसा सवैरं मनः न शाम्येत् तपश्चरणेन सामर्षस्य मनसो नैवोपशमश्शक्य इति नायमुपायोऽपि कथमप्यौपयिको ममेति, तर्हि किं भर्तृननुयामि किं स्वामिनो यथामृतास्तथैव मृत्यवे परिददाम्यात्मानम् ? किं तु रिपौ जीवति शत्रुवर्गे धरमाणे स्त्रीणामियं योग्यता स्त्रीणामेवायं स्वाम्यनुमरणव्यापार इति नायमपि कदाप्युचितो ममेति, तदा किं खड्गसखः खड्गद्वितीय एकाकी एवारिबले शत्रुसैन्ये पतामि ? किन्तु न नैवेदं कर्त्तव्यं सम्प्रति मम यतो हि न युक्तं भवेन्नोचितं कथमपि, यतः खलु चन्दनदासमोक्षरभसं चन्दनदासः परममित्रं मुच्यतु शत्रुसंक्लेशादिति किमपि संरब्धं समुत्सुकं चेतो हृदयं रुन्ध्यान्मां निवारयेदस्माद् व्यापारादिति, न चेद् यदि न रुन्ध्यात् तर्हि कृतघ्नं महाऽकृतज्ञ भवेत्तथा च का निष्कृतिः कृतघ्नतायाः ! इति न कोऽप्युपायः, किं क्रियताम् किं वा न क्रियतामिति महामोहान्धतमसे पतितोऽहं नष्टकल्प एव वर्ते इति भाव इति । अथवा नेदं न युक्तं भवेत्……कृतघ्नं न चेदित्यस्यायमभिप्रायः इदं शत्रुमध्ये खड्गसहायस्य मम पतनं युक्तं न भवेदिति न सर्वथैव समुचितं भवेत्, चेत् यदि चन्दनदासमोक्षरभसमत एव कृतघ्नं चेतो न रुन्ध्यात् न वारयितुं मां प्रवर्तेतेति भाव इति ॥ २४ ॥

टिप्पणी—अत्राङ्के विमर्शसन्धिसंदब्ध सर्व एव नाटकार्थराशिरिति न निर्वहणाशङ्का कापि मनसि कार्या । विमर्शसन्धेर्लक्षणन्तु—

मुझ से मित्र ही मारे जा रहे हैं शत्रु नहीं ।

'अब मुझ सा अभागा करे तो क्या करे ? 'क्या तपोवन चला जाय ? किन्तु भला प्रतिशोध और प्रतिहिंसा से भरे मन की तपस्या से कैसी शान्ति ! क्या अपने दिवंगत महाराज का अनुगमन करे ? किन्तु शत्रु के जीते-जागते ऐसा अब लोचित कर्म और वह भी मेरा ! तब क्या हाथ में तलवार लेकर शत्रु-दल में कूद पड़े ? ठीक तो यही ठहरा ! किन्तु हो कैसे ? चन्दनदास के छुटकारे के लिये लालायित मेरा यह महाकृतघ्न हृदय भला यह होने कैसे दे !' ॥ २४ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

(इति 'मुद्राराक्षसे' पञ्चमोऽङ्कः ॥ ५ ॥

'उद्भिन्नसाध्यविघ्नात्मा विमर्शो व्यसनादिभि'रिति। अत्र चाणक्यनायकस्यैव नियताप्तिरूपावस्थाया उद्भवो वर्ण्यते। नियताप्तिस्तु—

'नियताप्तिरुपायानां साकल्यात्कार्यनिर्णय' इति सुतरामन्वर्थाभिधाना। कथं राक्षसनिकारे वर्ण्यमाने चाणक्यनायकस्य नियताप्तिरिति चेत्? भङ्ग्येति ब्रूमः। निकृतमेव राक्षसं भूयोऽपि कूटनीतिबलेनार्त्तपुरुषादिसंभाषणादिरूपावसरप्रदापनेन वशीकर्तुं चेष्टतेऽग्रे चाणक्य इति नातितिरोहितं सामाजिकानामिति। अत्र खलु वस्तुतः प्रतिनायकोऽमात्यराक्षसः प्रत्यासन्नमपि स्वसाध्यं प्रति सर्वथा सन्दिग्ध इति प्रकारान्तरेण चाणक्यस्य नियताप्तिरेव समुल्लसति। राक्षसस्य निकार एकतः चाणक्यस्य कृते साध्यरूपः किन्त्वपरतः 'निकृतोऽमात्यराक्षसः किं करिष्यती'ति निश्चयाभावात् साध्यविघ्नसम्पातोऽपि ततश्च सुनिपुणं संदृब्धोऽयं विमर्शसन्ध्युद्भव इति तदङ्गानि तत्र तत्र स्वयमेवान्वेष्टव्यानि सुधीभिरित्यलमधिकप्रपञ्चनक्लेशेनेति।

इति राक्षसनिकारो नाम पञ्चमोऽङ्कः।

(सभी पात्र रंग मंच से बाहर चले जाते हैं)

पञ्चम अङ्क-समाप्त

षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यलङ्कृतः सहर्षः सिद्धार्थकः)

सिद्धार्थकः—

जयति जलदनीलः केशवः केशिघाती
जयति सुजनदृष्टिश्चन्द्रमाश्चन्द्रगुप्तः ।
जयति जयनसज्जं या अकृत्वा च सैन्यं
प्रतिहतप्रतिपक्षा आर्यचाणक्यनीतिः ॥ १ ॥

(जअदि जलदणीणो केसवो केसिघादी
जअदि अ जणदिट्ठी चन्दमा चन्दउत्तो !
जअदि जअणसज्जं जा अकाऊण सेण्णं
पडिहदपडिपक्खा अज्जचाणक्कणीदी ॥ १ ॥)

मलयकेतुप्रभृतिषु रङ्गान्निष्क्रान्तेषु पिनद्धाभरणस्सप्रहर्षं प्रविशन् सिद्धार्थकः आर्यचाणक्यमतिक्रान्तकेशवपराक्रमं स्तुवन्नाटकस्य निर्वहणोन्मुखतामिव सूचयन्नाह—जयतीति । केशवो भगवान् कृष्णावतारो विष्णुर्जयति सर्वोत्कर्षेण विराजताम् यो हि भूभारोद्धरणाय कृतावतरणः केशिनं तन्नामानं हयरूपं महादानवं हन्तुं शीलमस्येति केशिनिषूदनोऽथ च स्वदिव्यमङ्गलविग्रहे जलदो मेघस्तद्वन्नीलश्श्यामलस्सर्वसन्तापनिर्वापणसमर्थश्च चकास्ति । चन्द्रगुप्तश्चाधिकृतसाम्राज्यो जयति सर्वानधिराजानतिशेताम् यः खलु जनानां प्रजाजनस्य भूतमात्रस्य वा याः दृष्टयो नेत्राणि तत्कृते चन्द्रमाश्चन्द्र इव स्निग्धमधुरशीतलो विभाति । सा आचार्यचाणक्यनीतिर्जयति सर्वातिशायिनी समेधताम् या हि सैन्यं चतुरङ्गबलं जयनसज्जं जीयते-

---

(अलङ्कृत सहर्ष सिद्धार्थक का प्रवेश)

सिद्धार्थक—'जय हो घनश्याम भगवान् कृष्ण की जिन्हों ने (महादानव) केशी का संहार किया, जय हो (सम्राट्) चन्द्रगुप्त की जो प्रजाजन की आंखों के लिये चन्द्रमा के समान (स्निग्ध और शीतल) हैं और जय हो जय हो आर्य चाणक्य की उस राजनीति की* जिसने विजय के लिये सेना-संनाह किये विना ही शत्रुपक्ष का सर्वनाश कर दिया !' ॥ १ ॥

---

* इस नाटककार की दृष्टि में राज्य की स्थिति और सुरक्षा के लिये प्रभुशक्ति से भी अधिक मन्त्रशक्ति का ही महत्त्व दिखाई देता है। इसी दृष्टि

तद्यावच्चिरस्य कालस्य प्रियवयस्यं सुसिद्धार्थकं पश्यामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) अयं पुनः प्रियवयस्यः सुसिद्धार्थक इत एवागच्छति, तद्यावदुपसर्पामि (ता जाव चिरस्स कालस्स पिअवअस्सं सुसिद्धत्थअं पेक्खामि। अअं उणं पिअवअस्सओ सुसिद्धत्थओ इदो ज्जेव आअच्छदि, ता जाव उवसप्पामि)

(ततः प्रविशति सुसिद्धार्थकः)

ऽनेनेति जयनं (करणे ल्युट्) युद्धसंभारस्तस्य सज्जा संनाहो यस्य तथाविधमकृत्वैव—विना युद्धं विना रक्तपातमिति शेषः प्रतिहतो विनाशितः प्रतिपक्षः शत्रुवर्गो ययेति विजितशात्रवा विराजते ॥ १ ॥

टिप्पणी—(१) विष्णोर्जयोद्घोषणे यः प्रहर्षस्सिद्धार्थकस्य ततोऽप्यधिकः विष्णुगुप्तस्य जयोद्घोषणे। करचरणादिप्रहरणैः केशवः केशिघाती यथोक्तं श्रीमद्भागवतमहापुराणे दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे सप्तविंशत्तमेऽध्याये—

'समेधमानेन स कृष्णबाहुना निरुद्धवायुश्चरणांश्च विक्षिपन्।
प्रस्विन्नगात्रः परिवृत्तलोचनः पपात लेण्डं विसृजन् क्षितौ व्यसुः ॥'

चाणक्यनीतिस्तु वस्तुतोऽनन्यसाधना प्रतिहतप्रतिपक्षेति का तुलना पूर्वापरयोः।

केशवस्तु भगवान् विष्णुः कृष्णावतार उच्यते यथोक्तं श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये (२–५४) श्री मदानन्दतीर्थपादैः 'कं ब्रह्माणम् ईशं रुद्रञ्च वर्तयतीति केशवः'। हरिवंशेष्वपि तथैव निरुक्तिः—

'हिरण्यगर्भः कः प्रोक्त ईशः शङ्कर एव च।
सृष्ट्यादिना वर्तयति तौ यतः केशवो भवान् ॥'

बहुत दिनों के बाद आज कहीं प्रियमित्र सुसिद्धार्थक से भेंट होनी है। (घूमते हुये इधर-उधर देख कर) अरे! मेरा प्रिय मित्र सुसिद्धार्थक तो इधर ही आ रहा है! अच्छा! चलूं, मैं ही चलकर इससे मिलूं।

(सुसिद्धार्थक का प्रवेश)

से इस नाटक में चाणक्य को नायक और उसकी राजनीति को एक प्रकार से नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है यद्यपि यह नायिका रंग मंच पर दिखाई नहीं देती, किन्तु चाणक्य की उपस्थिति में इसकी उपस्थिति की कल्पना और उसके नय-चिन्तन में इसकी दिव्य मूर्ति की भावना स्वाभाविक प्रतीत होती है।

सुसिद्धार्थकः—

सन्तापयन्तः आपानेषु महोत्सवेषु रुजायन्तः ।
हृदयस्थिता अपि विभवा विरहे मित्राणां दुर्मनायन्ते ॥ २ ॥
(सन्तावेन्ता आवाणेसुं महूसवेसुं रुआवेन्ता ।
हिअअच्छिआ अवि विहवा विरहे मित्ताणं दुम्मणाअन्ते ॥ २ ॥)

श्रुतञ्च मया यथा-'मलयकेतुकटकात् प्रियवयस्यः सिद्धार्थक आगत'

सिद्धार्थकमनुरङ्गं प्रविशन् सुसिद्धार्थकनामा नाटकपुरुषश्चन्द्रगुप्तस्य साम्राज्या-रोहणमहोत्सवे करिष्यमाणे प्रियवयस्यं साधितराजकार्यं सिद्धार्थकमसंनिहितं पश्यन् क्लिश्यमानमना वक्ति—सन्तापयन्त इति । हृदयस्थिता अपि विभवाः चन्द्रगुप्ते राजनि सति महोदयाशंसिनस्ते ते संरम्भास्सुखोत्सवानां करिष्यन्ते, संभुक्तयः संपीतयश्च तास्ताः प्रचलिष्यन्तीत्येवं बहोः कालादाशंसापरिकल्पिताः उत्सवाभ्युदयाः मित्राणां यस्सर्वोऽयमाशंसितस्संपूरितस्तेषां सुहृदां विरहे वियोगे दैवदुर्विपाकादसन्निधाने संभाव्यमाने, आपानेषु पानगोष्ठीषु सन्तापयन्तो नितरामरुचिं जनयन्तोऽथ च महोत्सवेषु नृत्यगीतादिषु समारम्भेषु रुजायन्तः मनोरोगं समुत्पादयन्तस्सन्तः केवलं दुर्मनायन्ते (भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हल इति दुर्मनश्शब्दाद् भवत्यर्थे क्यङ्) निरानन्दवन्त एव सम्पत्स्यन्त इति भावः ॥ २ ॥

टिप्पणी—(१) सुसिद्धार्थकस्य हृदयात् समुच्छलन्ती शोककणिका सामाजिकानां मनांसि द्रावयन्ती निकामं प्रधानमेव रसभावं पोषयति । अयमेव पन्थाः रसभाव-विदः कवेर्यत् विरोधिभावानां परस्परमुपमर्द्योपमर्दकतया वर्णनादिष्टरसाभिव्य-ञ्जनमिति ।

(२) अप्राणवतामपि महोत्सवविभवानां प्राणवतामिव सौमनस्यं दौर्मनस्यं वा सर्वमसम्भावि तथात्वेऽपि तेषां तत्तत्सम्भावनमुत्प्रेक्षणमत्र वस्तुतः रसानुस्यूतमेव सम्भवत्कवेः कौसलमुद्भावयति ।

सुसिद्धार्थक—'(चन्द्रगुप्त की साम्राज्य-प्रतिष्ठा के उपलक्ष्य में किये जाने वाले) हमारे सभी के सभी मनोवांछित आमोद-प्रमोद हमारे इष्ट मित्रों के (उन मित्रों के, जिनके सतत अध्यवसाय से यह महान् कार्य संपन्न हो सका !) न रहने से मन में एक टीस उत्पन्न कर रहे हैं क्योंकि पान-गोष्ठियां तो होंगी, किन्तु उन में हमारी रुचि न हो सकेगी ! महोत्सव मनाये जायेंगे, किन्तु ये हृदय में व्यथा ही उत्पन्न करेंगे' ॥ २ ॥

सुना तो कुछ ऐसा ही है कि मेरा प्रिय मित्र सिद्धार्थक मलयकेतु के सैन्य-

इति। तद्यावदेनमन्विष्यामि। (परिक्रम्योपसृत्य) एष सिद्धार्थकः (सुदक्ख मए जधा—'मलअकेदुकडआदो प्पिअवअस्सओ सिद्धत्थओ आअदो' त्ति। ता जाव णं अण्णेसामि। एसो सिद्धत्थओ)

सिद्धार्थकः—(विलोक्य) कथमित एव प्रियवयस्यः सुसिद्धार्थकः। (उपगम्य) अपि सुखं प्रियवयस्यस्य? (कधं इदो ज्जेव प्पिअवअस्सओ सुसिद्धत्थओ!। अवि सुहं प्पिअवअस्सस्स?)

(उभावन्योन्यमालिङ्गतः)

सुसिद्धार्थकः—अहो वयस्य! कुतो मे सुखम् यस्य त्वं चिरकालप्रवासप्रत्यागतोऽप्यज्ञापयित्वा वृत्तान्तमन्यतो गतोऽसीति (अह वअस्स! कुदो मे सुहं जस्स तुमं चिरआलप्पवासपच्चागदोवि, अआणिअ वुत्तन्तं अण्णदो गदोसि? त्ति)

सिद्धार्थकः—प्रसीदतु प्रियवयस्यः। अहं खलु दृष्टमात्र एवार्यचाणक्येनाज्ञप्तो यथा—'सिद्धार्थक! गच्छ, इमं प्रियं वृत्तान्तं प्रियदर्शनस्य देवस्य चन्द्रश्रियो निवेदये'ति। ततस्तस्य तन्निवेद्य एवमनुभूतपार्थिवप्रसादोऽहं प्रियवयस्यं प्रेक्षितुं तव गेहं चलितोऽस्मि (पसीददु पिअवअस्सो। अहं क्खु

अनुभूतपार्थिवप्रसाद इति। सम्राजश्चन्द्रगुप्ताच्छ्रुतविजयवृत्तान्तात् पारितोषिकरूपेण प्रदापितालङ्करण इति भावः।

शिविर से लौट आया है। देखूं तो वह कहां है! (घूमते हुये समीप पहुंच कर) अरे! सिद्धार्थक तो यह रहा!

सिद्धार्थक—(देखकर) अरे! प्रियमित्र सुसिद्धार्थक तो इधर ही आ निकला! (समीप पहुंच कर) कहो भाई कुशल-मङ्गल कहो।

(दोनों परस्पर आलिङ्गन करते हुये)

सुसिद्धार्थक—वाह भाई वाह! तुमने भी अच्छा कुशल पूछा! इतने दिनों तक बाहर रह कर तो लौटे, किन्तु बिना किसी समाचार के कहे सुने ही कहीं और ही निकल पड़े!

सिद्धार्थक—अरे भाई! रुष्ट न हो। मुझे तो—जैसे ही आर्य चाणक्य ने देखा, वैसे ही—आज्ञा दे दी 'सिद्धार्थक! जाओ और इस सुखद समाचार से प्रियदर्शी सम्राट् चन्द्रगुप्त को अवगत करा दो।' मैं कर ही क्या सकता था!

दिट्टमेत्तो ज्जेव्व अज्जचाणक्केण आणत्तो, जधा—'सिद्धत्थअ गच्छ, एदं प्पिअं वुत्तन्तं प्पिअदंसणस्स देअस्स चन्दसिरिणो णिवेदेहि'त्ति। तदा तस्स तं णिवेदिअ, एव्वं अणुभूदपात्थिवप्पसादो अहं प्पिअवअस्सं प्पेक्खिदुं तुह गेहं चलिदोह्मि)

सुसिद्धार्थकः—वयस्य ! यदि मयेदं श्रोतव्यं भवति, तन्मामपि श्रावय, किं तत् प्रियं प्रियदर्शनस्य चन्द्रश्रियो निवेदितमिति (वअस्स ! जदि मए एदं सुणिदव्वं भोदि, ता मं पि सुणावेहि, किं ते प्पिअदंसणस्स चन्दसिरिणो णिवेदिदं त्ति)

सिद्धार्थकः—प्रियवयस्य ! तवापि किमश्रोतव्यमस्ति ? तन्निशामय—अस्ति तावदार्यचाणक्यनीतिमोहितमतिना मलयकेतुहतकेन निराकृत्य राक्षसं, हताश्चित्रवर्मप्रमुखाः प्रधानाः पञ्च पार्थिवाः। ततो'ऽसमीक्ष्यकारी एष दुराचार' इत्युज्झित्वा मलयकेतुकटकभूमिं, निजभूमिकुशलतया

मलयकेतुहतकेनेति। मलयकेतुश्चासौ हतकश्चेति तेन (कुत्सितानि कुत्सितैरिति समासः)। राक्षसपक्षस्थानां कृते आर्यचाणक्यश्चाणक्यहतकश्चाणक्यपक्षीयानां कृते चामात्यराक्षसः राक्षसहतकः कुमारमलयकेतुश्च मलयकेतुहतक इति पक्षयोर्द्वयोर्विरोधसाम्यं कुत्सनार्थकहतकशब्दप्रयोगादुभयत्र निर्व्यूढं नाटककृतेति विभावनीयम्।

निजभूमिकुशलतयेति—निजभूमिषु स्वीयस्वीयराज्यसीमसु न तु पाटलिपुत्रोपकण्ठभूमिषु कुशलास्सुरक्षिताः सुरक्षितम्मन्या वा तेषां भावस्तत्ता तया तद्धेतोरिति स्वकं स्वकं विषयमभिप्रस्थितेष्वित्यनेनान्वयः।

जाकर सब कुछ निवेदन कर आया और महाराज से पारितोषिक पाकर तुम्हारे घर ही की ओर तुम से मिलने के लिये चल निकला।

सुसिद्धार्थक—क्यों भाई ! क्या यह सब मुझे सुनाने योग्य नहीं ! मुझे भी तो सुनाओ कि प्रियदर्शी सम्राट् चन्द्रगुप्त से तुमने क्या २ कहा !

सिद्धार्थक—अरे भाई ! क्या कोई ऐसी भी बात हो सकती है जिसे तुम्हें न सुनाऊं ! सुनो, बात यह है कि आर्य चाणक्य की नीति से किंकर्त्तव्य-विमूढ़ मलयकेतु ने एक ओर तो राक्षस को निकाल बाहर किया और दूसरी ओर चित्रवर्मा आदि पांचो राजाओं को मरवा डाला। इसके बाद तो ऐसा हुआ कि मलयकेतु को विचारहीन और अत्याचारी समझ कर जब कि अन्य अनेक राजगण मलयकेतु

भयविलोलसैन्यतनूकृतशेषपरिवारेषु स्वकं स्वकं विषयमभिप्रस्थितेषु पार्थिवेषु, भद्रभटपुरुषदत्त-हिङ्गुरात-बलगुप्त-राजसेन-भागुरायण-रोहिताक्ष-विजयवर्मप्रमुखैः संयमितो मलयकेतुः (प्पिअवअस्स ! तुह वि किं असुणिदव्वं अत्थि ? ता णिसामेहि। अस्थि दाव अज्जचाणक्कणीदिमोहिदमदिणा मलअकेदुहदएण णिराकरिअ रक्खसं हदा चित्तवम्मप्पमुहा प्पहाणा पञ्च पात्थिवा, तदो 'असमिक्खकारी ऐसो दुराआरो'त्ति कदुअ, उज्झिअ मलअकेदुकडअभूमिं, णिअभूमिकुसलदाए भअविलोलसेण्णतनूकिदसेसपरिवारेसुं सकं सकं बिसअं अभिप्पत्थिदेसु पात्थिवेसु, भद्दभट्ट-पुरुदत्त-हिङ्गुरात-बलउत्त-राअसेण-भागुराअण—रोहिदक्ख-बिजअवम्मप्पमुहेहिं संजमिदो मलअकेदू)

सुसिद्धार्थकः—वयस्य ! 'भद्रभटप्रमुखाः किल देवस्य चन्द्रश्रियोऽपरक्ता मलयकेतुं समाश्रिता'इति लोके मन्त्र्यते। तत् किं निमित्तमेतत् कुकविनाटकस्येवान्यद् मुखेऽन्यन्निर्वहण इति ? (वअस्स ! भद्दभटप्पमुहा किल देअस्स चन्दसिरिणो अवरत्ता मलअकेदुं समास्सिदा त्ति लोए मन्तीअदि। ता किं णिमित्तं एदं कुकबिणाडअस्स बिअ अण्णं मुहे अण्णं णिव्वहणे त्ति)

भयविलोलसैन्यतनूकृतशेषपरिवारेष्विति। **भयविलोलानि भयात्प्रद्रुतानि प्रद्रावितानि वा सैन्यानि चतुरङ्गबलानि येषामथ च तनूकृताः क्षीणक्षीणाः शेषाः कियन्त एव परिवाराः रक्षकसैनिकाः येषां तेष्विति।**

कुकविनाटकस्येवान्यद्मुखेऽन्यन्निर्वहण इति। **आमुखोपसंहारयोः वस्तुनेतृरसवर्णनायां सामरस्यमेव नाटकेष्वभिप्रेतं व्यतिक्रमश्च परिवर्जनीय इत्येव सम्प्रदायो**

के सैन्य शिविर को छोड़ २ कर चलने लगे और अपनी २ सेनाओं के भयभीत होकर भाग खड़े होने के कारण अपने २ अङ्गरक्षक दल के भी अल्पसंख्यक दिखाई देने से अपने २ राज्यों की ओर इसीलिये चल पड़े क्योंकि वहां पहुंचे विना उनकी कुशल नहीं थी, तब भद्रभट, पुरुषदत्त, हिङ्गुरात, बलगुप्त, राजसेन, भागुरायण, रोहिताक्ष और विजयवर्मा इत्यादि ने मलयकेतु को पकड़ लिया।

सुसिद्धार्थक—क्यों भाई ! लोग तो ऐसा समझते रहे हैं कि भद्रभट इत्यादि सम्राट् चन्द्रगुप्त से रुष्ट होकर मलयकेतु से जा मिले हैं। कुछ पता नहीं चलता कि यह सब क्या है जो कि किसी कुकवि के नाटक की भांति आरम्भ में कुछ और अन्त में कुछ का कुछ होता जा रहा है।

सिद्धार्थकः—वयस्य ! शृणु तावत्, दैवगत्यै इवाश्रुतगत्यै नम आर्यचाणक्यनीत्यै (वअस्स ! सुणु दाव, दैवगदीए विअ असुणिदगदीए णमो अज्जचाणक्कणीदीए)

सुसिद्धार्थकः—वयस्य ! ततस्ततः ? (वअस्स ! तदो तदो ?)

सिद्धार्थकः—वयस्य ! ततः प्रभृति सारसाधनसमुदयेनेतो निष्क्रम्य आर्यचाणक्येन प्रतिपन्नमराजलोकमशेषराजबलम् (वअस्स ! तदो प्पहुदि सारसाहणसमुदएण इदो णिक्कमिअ अज्जचाणक्केण पडिवण्णं अराअलोअं असेसराअबलं)

महतां नाटककृताम् । अत्र कथावस्तु सूत्रमनुशीलयतां मुखसन्धावन्यन्निर्वहणसन्धौ चान्यदिव किमप्याभाति यतो हि पूर्वं भद्रभटादयश्चन्द्रगुप्तादपरक्ताः मलयकेतुमाश्रितास्संवर्णिता अत्र च मलयकेतुसंयमने समुद्युक्ताः प्रदर्शिताः किन्तु नेदं कुकविनाटकं सुकविनाटकमेतत् । आपाते यद्वा तद्वा प्रतिभायात् पर्यन्ते तु सर्वमेव समञ्जसमेव नाटककृता करिष्यत इति निपुणमत्रैतन्नाटककविस्सामाजिकान् विस्मापयन्स्वीयनाटकनैपुणीमभिव्यनक्ति ।

दैवगत्यै इवाश्रुतगत्यै नम आर्यचाणक्यनीत्यै इति । नार्यचाणक्यनीतिरेव दैवगतिरिवाश्रुतगतिरपि तु तन्नीतिमुपजीव्य कृतैतन्नाटकगतिरपि तथैवाश्रुतगमनिकाऽपूर्वप्रस्थानेति द्वयोरपि सामाजिकानां प्रह्वीभाव एव सूक्ष्ममुद्भावितस्स्वयमेव कविना ।

सारसाधनसमुदयेनेति । शत्रुविजयसमर्थचतुरङ्गबलसन्नाहेनेति । अत्र जयनसज्जसैन्येनेत्यादिपदमनादृत्य सारसाधनसमुदयेनेति पदं निबध्नता नाटककविना सकारस्यावृत्त्या चाणक्यपक्षविजये कश्चनानन्दसान्द्रो मनोलयस्सभ्यानां सूचितः ।

प्रतिपन्नमिति । वशीकृतम् ।

सिद्धार्थक—अरे मित्र सुनते जाओ ! यह सब तो आर्य चाणक्य की नीति की बलिहारी है जिसकी गति-विधि विधाता की गति-विधि की ही भांति अगम्य है।

सुसिद्धार्थक—अच्छा ! कहो, आगे कहो !

सिद्धार्थक—उसके बाद प्रबल सैन्य और साधन के साथ आर्यचाणक्य पाटलिपुत्र से चल निकले और समस्त शत्रु दल को, जिसके सेनापति राजगण का कहीं पता न था, अपने बश में कर लिया।

सुसिद्धार्थकः—वयस्य ! कुत्र ? (वअस्स ! कहिं ?)
सिद्धार्थकः—वयस्य ! यत्रैते—(वअस्स ! जहिं एदे)—

अतिशयगुरुकेण दानदर्पेण दन्तिनः
सजलजलदलीलामुद्वहन्तो नदन्ति ।
कशाप्रहारभयेन जातकम्पास्त्वरयन्तो
गृहीतजयनसज्जाः सम्पद्यन्ते तुरङ्गाः ॥ ३ ॥

(अदिसअगुरुएणं दाणदप्पेण दन्ती
सजलजलदलीलं उव्वहन्तो णदन्ति ।
कसपहरभएणं जादकम्पा तुरन्तो
गहिदजअणसज्जा संपदन्ते तुलंगा ॥ ३ ॥)

सैन्यसज्जां वर्णयन् सिद्धार्थको विना युद्धं प्रतिहतप्रतिपक्षां चाणक्यनीतिं पुनरपि प्रस्तौति—अतिशयेति । यत्राऽतिशयगुरुकेण भृशं प्रवृद्धेन दानदर्पेण दानं मदजलं तज्जनितेन दर्पेणोद्दामेन वीर्याभिमानेनोपलक्षिता इति शेषः, दन्तिनो दन्तवन्तस्सैन्यगजास्सजलजलदलीलां सजलाः जलभरिताः ये जलदाः मेघास्तेषां लीलामिव लीलां विलासरसमुद्वहन्तो धारयन्तो नदन्ति गर्जाभिर्विजयप्रहर्षमन्तरमान्तमुद्घोषयन्ति । अथ च गृहीतजयनसज्जाः गृहीताः विजयाशंसया स्वयमेव परिधृता जयनसज्जाः समरसन्नाहाः यैस्ते तथाभूतास्तुरङ्गास्स्वलवेगा अश्वाः कशाप्रहारभयेन कशानां ताडिनीनां प्रहारा आघातास्तेभ्यो भयं तेन हेतुना जातकम्पाः प्रत्यङ्गं त्वरमाणाः किञ्च त्वरयन्त आरोहसैनिकानपि त्वरावतो विदधानाः सम्पद्यन्ते सन्नद्धास्सन्तीति भावस्तत्र रणाङ्गणे इति शेषः ॥ ३ ॥

टिप्पणी—रणाङ्गण इति वक्तव्ये काचनोदात्तवर्णना युद्धक्षेत्रस्य कृता कविना । कुत इति चेत् ? नात्र युद्धवीरता विवक्षिता, विवक्षास्पदं तु नीतिवीरत्वमेव । नाटकेऽत्र चाणक्यनीतिरेव शत्रून् पराजयते मौर्यसैन्यं तु साम्राज्योपस्काराय अत एव न साधकतमत्वेन गजाश्वसंकुलस्य मौर्यबलस्य वर्णनमपि तु योधनाधिकरणभूतायाः

सुसिद्धार्थक—अरे ! कहां कहां !
सिद्धार्थक—अरे भाई ! वहीं, जहां—

'(हस्ति-सेना के) बड़े २ हाथी अपने मदजल की बाढ़ से सजल मेघों की भांति लीला करते हुये गर्जन-तर्जन करते सुनाई पड़ रहे हैं और (अश्व-सैन्य के) युद्धभूषा से सजे-धजे घोड़े (अपने आरोहिओं के) कोड़ों की चोट के डर से चञ्चल-चपल दिखाई पड़ रहे हैं' ॥ ३ ॥

सुसिद्धार्थकः—वयस्य ! एतत् सर्वं तावत् तिष्ठतु। तथा सर्वलोकप्रत्यक्षमुज्झिताधिकारो भूत्वा कथमार्यचाणक्यः पुनरपि तदेव मन्त्रिपदमारूढः ? (वअस्स ! एदं सव्वं दावं चिट्ठदु, तहा सव्वलोअप्पच्चक्खं उज्झिआहिआरो भविअ कहं अज्जचाणक्को पुणो वि तं ज्जेव मन्तिपदं आरूढो ?)

सिद्धार्थकः—वयस्य ! अतिमुग्ध इदानीमसि त्वं, योऽमात्यराक्षसेनानवगृहीतपूर्वामार्यचाणक्यबुद्धिमवगाहितुमिच्छसि (वअस्स ! अदिमुद्धो दाणीं सि तुमं, जो अमच्चरक्खसेण अणवगाहिदपुव्वं अज्जचाणक्कबुद्धिं अवगाहिदुं इच्छसि ?)

सुसिद्धार्थकः—वयस्य ! अथाऽमात्यराक्षस इदानीं कुत्र ? (वअस्स ! अध अमच्चरक्खसो दाणीं कहिं ?)

सिद्धार्थकः—वयस्य ! स खलु तस्मिन् प्रलयकोलाहले वर्द्धमाने मलयकेतुकटकात् निष्क्रम्योन्दुरनामधेयेन चरणानुस्रियमाण इदमेव कुसुमपुरमागत इत्यार्यचाणक्यस्य निवेदितम् (वअस्स ! सो क्खु तस्सिं प्पलअकोलाहले बढ्ढमाणे मलअकेदुकड़आदो णिक्कमिअ उन्दुरणामहेएण अणुसरन्तो इमं ज्जेव कुसुमउरं आगदो त्ति अज्जचाणक्कस्स णिवेदिदं).

रणभूमेरुपलक्षकत्वेनेति महन्नैपुण्यमाविष्कृतं राजनयोरत्साहमङ्गिरसभावरूपेण निबध्नता नाटककविनेति सर्वं समञ्जसम्।

सुसिद्धार्थक—मित्र ! जो हुआ सो हुआ। यह तो बताओ कि जब कि आर्य चाणक्य ने सब के सामने अपने पद का परित्याग कर दिया तब फिर क्यों कर उसी मन्त्रिपद-पर जा विराजे !

सिद्धार्थक—अरे भाई ! तुम इन बातों को क्या जानो। और चले हो आर्य चाणक्य की उस नीति का पार पाने जिसे अमात्य राक्षस भी अभी तक न पा सके !

सुसिद्धार्थक—क्यों मित्र ! कुछ अमात्यराक्षस का भी पता है कि कहां हैं।

सिद्धार्थक—हां भाई ! आर्य चाणक्य को तो 'इस बात का पता लग चुका है कि जब चारों ओर प्रलय का सा कोलाहल मचा तब मलयकेतु के सैन्य-शिविर से अमात्यराक्षस बाहर निकल आये हैं और इसी पाटलिपुत्र में आ विराजे हैं जहां उन्दुर नाम का गुप्तचर उनका पीछा करता रहा है'।

सुसिद्धार्थकः—वयस्य ! तथा नाम अमात्यराक्षसो नन्दराज्यप्रत्यानयने कृतव्यवसायो निष्क्रम्य साम्प्रतमकृतार्थः पुनरपि कथमिदमेव कुसुमपुरमागतः ? (वअस्स ! तहा णाम अमच्चरक्खसो णन्दरज्जप्पच्चणअणे किदव्वसाओ णिक्कमिअ सम्पदं अकिदत्थो पुणो वि कहं इमं ज्जेव कुसुमउरं आअदो ?)।

सिद्धार्थकः—वयस्य ! तर्कयामि—'चन्दनदासस्य स्नेहेने'ति (वअस्स ! तक्कमि 'चन्दनदासस्स सिणेहेण' त्ति)।

सुसिद्धार्थकः—वयस्य ! सत्यं चन्दनदासस्य स्नेहेनेति ? अथ चन्दनदासस्य मोक्षं प्रेक्षसे ? (वअस्स ! सच्चं चन्दणदासस्स सिणेहेण त्ति ? अध चन्दनदासस्स मोक्खं प्पेक्खसि ?)।

सिद्धार्थकः—वयस्य ? कुतोऽस्याधन्यस्य मोक्षः ? स खलु साम्प्रतमार्यचाणक्यस्याऽऽज्ञप्त्या द्वाभ्यामप्यावाभ्यां वध्यस्थानं प्रवेश्य व्यापादयितव्यः (वअस्स ! कुदो से अधण्णस्स मोक्खो ? सो क्खु सम्पदं अज्जचाणक्कस्स आणत्तीए दुवेहिं पि अह्मेहिं वज्झट्ठाणां प्पदेसिअ वावादइदव्वो)।

सुसिद्धार्थकः—(सक्रोधम्) वयस्य ! किमार्यचाणक्यस्य घातकजनोऽन्यो

सुसिद्धार्थक—मित्र ! यह भला कैसे हो सकता है कि जो अमात्य राक्षस नन्द-राज्य की पुनः प्रतिष्ठा में इतने प्रयत्न-शील रहे हैं वे निष्फल-प्रयत्न हो जाने पर इसी पाटलिपुत्र में फिर लौट कर चले आवेंगे जिसे उन्होंने कब का छोड़ रखा है।

सिद्धार्थक—अरे भाई ! मुझे तो कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि चन्दनदास का स्नेह उन्हें यहां खींच लाया है।

सुसिद्धार्थक—मित्र ! तो क्या यह सच है कि चन्दनदास का स्नेह उन्हें यहां खींच लाया है ! किन्तु क्या तुम्हें ऐसा प्रतीत होता है कि चन्दनदास का छुटकारा हो भी सकता है !

सिद्धार्थक—अरे भाई ! उस अभागे का छुटकारा कहां ! उसके लिये तो आर्य चाणक्य की आज्ञा निकल चुकी है कि वध्यभूमि में वह ले जाया जाय और हम्हीं दोनों के द्वारा मार डाला जाय !

सुसिद्धार्थक—(क्रोध के साथ) क्यों मित्र ! क्या आर्य चाणक्य को कोई

नास्ति, येनावामीदृशे नृशंसे कर्मणि नियुज्यावहे ? (वअस्स ! किं अज्जचाणक्कस्स घादअअणो अणो णत्थि, जेण अह्मे ईदिसे णिसंसे कम्मे णिजुज्जीअदि ?)।

सिद्धार्थकः—**वयस्य ! को जीवलोके जीवितुकामः आर्यचाणक्यस्याज्ञप्तिं प्रतिकूलयति ? तदेहि, चाण्डालवेषधारिणौ भूत्वा चन्दनदासं वध्यस्थानं नयावः** (इत्युभौ निष्क्रान्तौ) (वअस्स ! को जीवलोए जीविदुकामो अज्जचाणक्कस्स आणत्तिं पड़िऊलेदि ? ता एहि, चण्डालवेसधारिणो भविअ चन्दणदासं वज्झट्ठाणं णेह्म)

प्रवेशकः ।

(ततः प्रविशति रज्जुहस्तः पुरुषः)

पुरुषः—

षड्गुणसंयोगदृढा उपायपरिपाटीघटितपाशमुखी ।
चाणक्यनीतिरज्जूरिपुसंयमनऋजुका जयति ॥ ४ ॥

वशीकृतेऽप्यशेषराजबले राक्षसवशीकारमन्तराऽस्थैर्यं मौर्यराज्यश्रियः मन्वानस्यार्यचाणक्यस्य राक्षसं वशयितुमप्यस्ति कश्चानतिक्रमणीयो वीर्योद्दामः कूटनय इति मनसि प्रहृष्यन् चाणक्यनयमनुवर्त्तमानस्तच्चरो वक्ति—षड्गुणसंयोगदृढेत्यादि । चाणक्यस्य नीतिः कूटनीतिरेव रज्जुर्जयति केनाप्यप्रधृष्येणोत्कर्षेण विराजते कथमिति चेत् ? सा हि खलु षड्गुणसंयोगदृढा षट् च ते 'सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रय' (अमरकोषे) इति सन्ध्यादयो गुणास्तेषामुपकार्योपकारकतया संग्रथनमिवाऽवस्थापनं तेन दृढा त्रोटनासमर्थैवाऽशक्यविनिपाता, अथ चोपायपरिपाटीघटितपाशमुखी–उपायानां ग्रथनाध्यवसायानामिव सामदामदण्डभेदानां चतु-

---

और हत्यारा नहीं मिलता कि हम लोगों को ही इस क्रूर-कर्म में लगा दिया !

सिद्धार्थक—अरे भाई ! इस संसार में ऐसा तो कोई दिखाई देता जो जीना तो चाहता हो किन्तु आर्य चाणक्य की आज्ञा का भी विरोध करता हो । बस, चले चलो अब तो वधिक का बाना पहनकर चन्दनदास को वध्यभूमि पर पहुंचाना ही पड़ेगा । (दोनों चले जाते हैं)

(प्रवेशक का अन्त)

(हाथ में रस्सी लिये एक पुरुष का प्रवेश)

पुरुष—'बलिहारी है चाणक्य की राजनीति की जो कि सन्धि-विग्रहादि षाड्गुण्य के संयोग से सुदृढ़ और साम-दामादि उपाय-चतुष्टय से सर्वथा संगठित

(छग्गुणसंजोअदिढ़ा उवाअपरिवाडिदपासमुही ।
चाणक्कणीदिरज्जू रिउसंजमणउज्जुआ जअदि ॥ ४ ॥)

(परिक्रम्यावलोक्य च) एष स आर्यचाणक्यस्योन्दुरकेण चरेण कथितः प्रदेशः, यत्र मयाऽऽर्यचाणक्याज्ञप्त्याऽमात्यराक्षसः प्रेक्षितव्यः। (विलोक्य) कथमेष खल्वमात्यराक्षसः कृतशीर्षावगुण्ठन इत एवागच्छति, तद्यावदे-भिर्जीर्णोद्यानपादपैरपवारितशरीरः प्रेक्षे, कुत्रासनपरिग्रहं करोतीति ? (इति परिक्रम्य तथा स्थितः) (एसो सो अज्जचाणक्कस्स उन्दुरएण चरेण कधिदो

र्णां राज्ययोगक्षेमङ्कराणामुपायानां या परिपाटी भूयोऽनुशीलनपरम्परा तया घटितं पाशमुखमिव मुखं प्रतिद्वन्द्विदृष्टं साम्मुख्यं यस्यास्तथाविधाऽत एव हन्त ! रिपुसंय-मनऋजुका रिपोरेकशत्रोः परमप्रतिस्पर्द्धिनः राक्षसस्य संयमने सर्वतो बन्ध्यप्रयत्न-ताऽपादनरूपे बन्धने ऋजुका विना प्रयासं समर्था ननु ॥ ४ ॥

टिप्पणी – नाटककविरयं चाणक्यनीतिं रज्जूपमानेन बहुशो वर्णयन् बहुविधाः भावभङ्गीः प्रस्फोटयन् दृश्यते। पूर्वमपि यथा प्रथमाङ्कावसाने सेनाशतेभ्योऽप्यधिक-समर्थां चाणक्यबुद्धिमुपमित्समानेन कविना 'बुद्धया विगृह्य वृषलस्य कृते क्रिया-यामारण्यकं गजमिव प्रगुणीकरोमी'त्यादौ रज्जुरेव कयाचन भङ्ग्या स्मर्यते। अत्रापि तादृश्येव सरणिः। कोऽर्थो ननु सिषाधयिषितः कवेः ?

किं 'चाणक्यस्स्वनीतेरपि तथैवागम्यमहिमा यथा कश्चन रज्जुनिर्माणनिपुणः स्वकृतरज्जुकौशलादप्यपरिच्छिन्नकौशलः' उत 'चाणक्यात् कुटिलनीतेस्तथैव बिभेति राक्षसो यथा रज्जुहस्तात् पुरुषात् कश्चन गवादिरथवा कूटनीतिविशारदस्य चाण-क्यस्य पुरतोऽमात्यराक्षसो गज इव स्थूलबुद्धिः कायसारस्सम्पनीपद्यते, अन्यद्वा किमपि। सर्वमिदं यावच्चिन्त्यमानं वेति ब्रूमः। अतिदक्षिणोऽयं नाटककविः महता संयमेन वाचि रमते, वागेव च वश्या तमनुवर्तते।

उस रस्सी के समान अपने शत्रुओं के बन्धन और वशीकरण में समर्थ हैं जो ६ गुनी बटी होने के कारण टूटना नहीं जानती और जिसका फन्दा ऐसा है जो, न जाने, किन २ उपायों से बनाया गया हो !' ॥ ४ ॥

(इधर-उधर घूमते हुये, देख कर)

अरे ! यह तो वही स्थान है जिसके सम्बन्ध में गुप्तचर उन्दुरक ने आर्य चाणक्य को बताया है और जहां मुझे आर्यचाणक्य की आज्ञा से अमात्यराक्षस का पता लगाना है । (देखते हुये) तो क्या यही तो अमात्यराक्षस नहीं है जो

प्पदेसो, जहिं मए अज्जचाणक्काणत्तीए अमच्चरक्खसो प्पेक्खिदव्वो। कहं एसो क्खु अमच्चरक्खसो किदसीसावगुण्ठणो इदो ज्जेव आअच्छदि। ता जाव इमेहिं जिण्णुज्जाणपादवेहिं अववारिदसरीरो प्पेक्खामि, कहिं आसणपरिग्गहं करेदि)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टः सशस्त्रो राक्षसः)

राक्षसः—(सबाष्पम्) कष्टं ! भोः कष्टम् !!

उत्सन्नाश्रयकातरेव कुलटा गोत्रान्तरं श्रीर्गता
तामेवानुगता गतानुगतिकास्त्यक्तानुरागाः प्रजाः।
आप्तैरप्यनवाप्तपौरुषफलैः कार्यस्य धूरुज्झिता

उत्सन्नेति। मलयकेतुना चाणक्यनयविमूढेन निराकृतः नैराश्याविष्टमानसः राक्षसः यद्भूतं यच्च भावि तत्सर्वमेकपद एव स्वनीतिनैष्फल्यं निध्यायन् प्रथमं राजलक्ष्मीमेव कुत्सयते—श्री राजलक्ष्मीः कुलटेव कुलात्कुलमटतीति बन्धकी पुंश्चलीवोत्सन्नाश्रयकातरा उत्सन्नो नष्टः आश्रयोऽवलम्बो नन्दः पतिरिव यस्यास्सा चाऽसौ कातरा किंकर्त्तव्यविमूढा चेति तथाभूता सती गोत्रान्तरं नन्दभिन्नराजवंशम् अन्यद्गोत्रमिव कुलीनमकुलीनंवा मौर्यं गता प्रसृता। अथ च त्यक्तानुरागास्त्यक्तोऽनुरागः पितृवंशस्नेह इव नन्दराजभक्तिर्याभिस्ताः प्रजाः अपत्योपमाः प्रकृतयो गतानुगतिकाः गतायाः कुलटायाः लक्ष्म्या अनुगतिरनुसृतिर्यासां तथा सत्योऽविचारिण्य इति भावः, तामेव लक्ष्मीमनुगता अनुसृताः। अन्यच्चाप्तैरपि विश्वासपात्रै-

---

अपना सिर ढके हुये इधर ही चला आ रहा है ! अच्छा ! इस जीर्णोद्यान के पेड़ों की झुरमुट से छिपकर देखूं तो कि यह कहां बैठता है। (इधर-उधर घूम घाम कर पेड़ों की झुरमुट में खड़े हुये)

(हाथ में शस्त्र लिये सिर ढके राक्षस का प्रवेश)

राक्षस—(आंखों में आंसू भरे) कितने दुःख की बात है। 'एक ओर तो राजलक्ष्मी अपने एक मात्र अवलम्ब—महाराज नन्द—के विनष्ट हो जाने से विह्वल बनी हुई किसी पुंश्चली की भांति एक नीच कुल—मौर्यवंश—में जाकर बस गयी और दूसरी ओर उसकी सन्तान की भांति प्रजायें भी, पितृ—प्रेम की कुछ भी चिन्ता न कर उसी के पीछे, विना कुछ सोचे—समझे, वहीं निकल गयीं ! जो भी कुछ विश्वसनीय लोग बचे—खुचे रह गये थे, वे भी अपने आपको (मर्यादा—रक्षा में) निष्फल—प्रयत्न देख २ हाथ पर हाथ रख कर बैठ ही चुके हैं ! और करते भी तो क्या कर लेते ! जब सिर ही कट चुका हो तब धड़ लेकर हाथी

किं कुर्वन्त्वथवोत्तमाङ्गरहितैर्नागैरिव स्थीयते ॥ ५ ॥

अपि च—

पतिं त्यक्त्वा देवं भुवनपतिमुच्चैरभिजनं
गता च्छिद्रेण श्रीर्वृषलमविनीतेव वृषली ।
स्थिरीभूता चास्मिन् किमिह करवाम स्थिरमपि
प्रयत्नं नो येषां विफलयति दैवं द्विषदिव ॥ ६ ॥

रपि सम्बन्धिभिरिव प्रधानराजपुरुषैरस्माभिरिवेति भावः, अनवाप्तपौरुषफलैरनवाप्तमप्राप्तं पौरुषस्य कुलटाया उद्धारस्येव राजलक्ष्म्यास्समुद्धारस्य फलं यैस्तथाभूतैस्सद्भिः कार्यस्य धूरुज्झिता पौनःपुन्येन प्रयत्यमानस्य कर्त्तव्यस्य भारः परित्यक्तः। अथवा किमन्यद् बहु विलप्य को लाभः। सत्यन्त्विदं यदाप्ता अपि किं कुर्वन्तु, किं कार्यविमूढैस्तैरपि वस्तुत उत्तमाङ्गरहितैश्छिन्नशिरस्कैर्नागैः गजैस्सर्पैरिव वा स्थीयते भूयत इति भावः।

छिन्नमस्तकानां गजानामहीनां वा यथा कथमपि वर्त्तनं बन्ध्यमेव तथैवास्माकं विनष्टनन्दराजानां किमपि कृत्यं निष्फलमेवेति तात्पर्यम् ॥ ५ ॥

पतिमिति। नैराश्यावेगेन निरुध्यमानेनाऽपि प्रसर्पता निर्मथ्यमानमना राक्षसो दैवं द्वेष्टि–श्री राजलक्ष्मीः अविनीता पातिव्रत्यभ्रष्टाऽत एव वृषली घटदासी शूद्रीव देवं द्योतमानं भुवनपतिं सम्राजमुच्चैरभिजनं प्रसिद्धराजवंशं पतिं नन्दं छिद्रेण सहताच्छलेन त्यक्त्वा विहाय वृषलं चन्द्रगुप्तं शूद्रमिव कञ्चन गता समाश्रिताऽथ चास्मिन् नीचैरभिजने मौर्ये स्थिरीभूता सर्वं चापल्यं विहाय तद्वशवर्तिनी संजातेति भावः। इहास्मिन् प्रयतितेऽप्यप्रतीकार्ये विषये किं करवाम वयमिति शेषः। न किमपि कर्त्तुं शक्नुम इति भावः। के वयमिति? हन्त! येषां नोऽस्माकं स्थिरमपि सुतरां दृढमपि प्रयत्नं क्रियमाणमुद्योगजातं द्विषदिव द्वेषं विदधदिव दैवं दुर्भाग्यं विफलयति निष्फलमापादयदेव सततं वर्त्तते ॥ ६ ॥

(अथवा सांप) की भांति करें भी तो क्या करें !' ॥ ५ ॥

इतना ही क्यों, 'हम कुछ करें भी तो क्या कर सकते हैं! हमारे बड़े २ प्रयत्नों को तो, ऐसा प्रतीत होता है, हमारा दुर्भाग्य ही एक शत्रु बन कर व्यर्थ करता जा रहा है! नहीं तो भला यह कैसे हो सकता था कि राजलक्ष्मी उस महाकुलीन सम्राट् नन्द जैसे पति को छोड़ कर, किसी एक दुश्चरित्र नीच स्त्री की भांति छल-बल कर के, इस नीच चन्द्रगुप्त के पास चली जाती और ऐसे जा मिलती जैसे वहां से कभी अलग ही नहीं होगी!' ॥ ६ ॥

मया हि—

देवे गते दिवमतद्विधमृत्युयोग्ये
शैलेश्वरं तमधिकृत्य कृतः प्रयत्नः ।
तस्मिन् हते तनयमस्य, तथाप्यसिद्धि-
र्दैवं हि नन्दकुलशत्रुरसौ न विप्रः ॥ ७ ॥

अहो ! विवेकशून्यता म्लेच्छस्य मलयकेतोः । कुतः ?—

यो नष्टानपि जीवनाशमधुना शुश्रूषते स्वामिन-

देवे गते इति । सर्वतो निष्फलप्रयत्नोऽपि राक्षसश्चाणक्यं तृणायैव मनुते—अतद्विधमृत्युयोग्ये तद्विधस्तादृशः पामरजनसुलभो यः मृत्युस्तस्य योग्यो यो न भवति तस्मिन् महावीरवद् महापुरुषवद् वा मर्तुं योग्येऽपि किंपुरुषवत् तृणवद्वा मृत्युयोग्ये तस्मिन् देवे महाराजे नन्दे दिवं गते स्वर्गाभिमुखं प्रस्थिते मया हि खलु तं महाबलं शैलेश्वरं पर्वतेश्वरमधिकृत्य समाश्रित्य प्रयत्नशत्रुपराभवरूपो नन्दराज्यपुनरुद्धरणरूपो वा कृतो यथाशक्ति संपादित एव । अथ च तस्मिन् पर्वतेश्वरेऽपि हते चाणक्यप्रयुक्ताद्विषकन्यासंप्रयोगरूपाद्विनाशमुपगते सत्यस्य तनयं कुमारमलयकेतुमधिकृत्य महानुद्योगः कृत इति शेषः। तथापि भूयो भूयः महत्याऽऽशंसया महता चाऽऽयोजनेन कृतेऽपि यथासामर्थ्यं तत्तदायोगेऽसिद्धिरसफलतैव केवलं फलतीत्यभिप्रायः । किं क्रियताम् ? दैवं हि वस्तुतो नन्दकुलशत्रुर्नन्दपक्षप्रतिपक्षः, असौ मत्साम्मुख्ये तृणवद् गणनीयो विप्रश्चाणक्याभिधानो ब्राह्मणो न कथमपि नन्दकुलं द्वेष्टुं प्रभवेदिति भावः ॥ ७ ॥

यो नष्टानिति—मलयकेतुकर्तृकं स्वनिकारं मनसि विमृशन् पुनरपि दुर्दैवमेव दुरालोचयन्नाह राक्षसः—वस्तुविवेकमूढमतिना वस्तुनः यथावस्थितस्य तत्तद्विष-

---

मैंने तो (सब कुछ किया !)

'उस समय जब कि सम्राट् नन्द ऐसी मृत्यु से मरे जैसी उन्हें कभी न होनी चाहिये थी, उस पर्वतेश्वर को लेकर जो कुछ हो सकता था किया उसके भी मार डाले जाने पर उसके पुत्र (मलयकेतु) को लेकर क्या नहीं किया ! किन्तु बातें क्या बनीं ! और बने भी क्यों कर ! नन्द-वंश का शत्रु तो उसका भाग्य है न कि वह (दरिद्र) ब्राह्मण चाणक्य !' ॥ ७ ॥

ओह ! यह मलयकेतु भी कितना विवेकहीन निकला !

'अरे इस विचारशून्य दुर्बुद्धि म्लेच्छ ने इतना भी नहीं सोचा कि जो राक्षस

स्तेषां वैरिभिरक्षतः कथमसौ सन्धास्यते राक्षसः ?
इत्थं वस्तुविवेकमूढमतिना म्लेच्छेन नालोचितं
दैवेनोपहतस्य बुद्धिरथवा पूर्वं विपर्यस्यति ॥ ८ ॥

तदिदानीमपि तावदरातिहस्तगतो विनश्येद्राक्षसो न तु चन्द्रगुप्तेन

यस्य यो विवेको विमर्शस्तत्र मूढा मोहमुपगता मतिर्बुद्धिर्यस्य तेन म्लेच्छेन मलयकेतुना इत्थमेवंप्रकारं नालोचितं न समीक्षितं यद् यः राक्षसोजीवनाशं नष्टानपि समूलघातं घातितानपि स्वामिनो नन्दनृपतीन् अधुनाऽपि शुश्रूषते न केवलं सेवते किन्तु सेवितुमिच्छति प्रयतते च सोऽसौ राक्षसोऽक्षतस्स्वस्थगात्रः आप्राणान्तमिति भावः, तेषामेव नन्दमहाराजानां वैरिभिश्शत्रुभिः कथं किमुद्दिश्य किं वा कारणं सन्धास्यते सन्धिं करिष्यति ? अथवा कथं विमृशतु स वराक इति भावः, दैवेन दुर्भाग्येणोपहतस्य विनाशितस्य, महतोऽपि, का कथा क्षुद्रस्येति शेषः, बुद्धिर्विवेकिता पूर्वमेवाऽसमीक्ष्यकारितायाः प्रागेव विपर्यस्यति विपर्यासमुपगच्छतीत्यभिप्रायः ॥ ८ ॥

टिप्पणी—'उत्सन्नाश्रयकातरे'त्याद्यारभ्य 'बुद्धिरथवा पूर्वं विपर्यस्यती'त्यन्तो यस्सन्दर्भस्तत्र राक्षसचित्रं चाणक्यचरितप्रतिपक्षभूतं भृशमुन्मीलयति नाटककविरयम्। राक्षसः राज्यश्रियं कामयतेऽत एवाऽप्रणयिन्यां तस्यां नैराश्यमुपगच्छति। न चाणक्यस्स्वार्थसिद्ध्यै तां प्रार्थयते, निरीहो हि सः, निरीहाणां लक्ष्मीस्तृणमिव तिरस्कारविषया। राक्षसो दैवे विश्वसिति, प्रतिकूले च तस्मिन् खिद्यति। न चाणक्यस्तादृशः, पौरुषं प्रमाणयन् स खलु दैवमपि योद्धुं समुत्सहते राक्षसो नष्टतेजस्को निराशामालिङ्गति। चाणक्यस्तु का निराशा किंरूपा चेत्यपि न जानीते। राक्षसस्स्वपक्षस्थानां साहाय्यं-स्वसाफल्ये प्रमाणयति; चाणक्यस्तु केवलमेकां स्वबुद्धिमेवाघटितघटनापटीयसीं सर्वत्र प्रमाणयति। द्वे चित्रे चित्रिते कविना। एकं प्रत्यक्षीकुरुतामत्र सामाजिकानामपरं तदन्तरा सुतरामभिव्यज्यत इति सर्वं समञ्जसम्।

अपने महाराज की, उनके सवंश नष्ट हो जाने पर भी, अभी भी सेवा करता आ रहा है, वही भला, जब तक उसके शरीर में प्राण है, क्योंकर उन्हीं के शत्रुओं से जा मिलेगा। और सोचता भी क्यों कर! बात तो ऐसी है कि दुर्भाग्य से पाला तो बाद में पड़ता है, पहले तो बुद्धि ही भ्रष्ट हुआ करती है!' ॥ ८ ॥

और राक्षस! राक्षस तो यदि अभी भी शत्रुओं के हाथ में पड़ जाय तो अपना प्राण दे देगा न कि चन्द्रगुप्त के साथ जा मिलेगा! मुझ राक्षस के लिये

सह सन्धिं कुर्यादिति, अथवा मम काममसत्यसन्ध इति वरमयशः, न पुनः शत्रुवञ्चनपरिभूतिः। (समन्तादवलोक्य सास्रम्) एतास्ता देवस्य पादक्रमणपरिचयपवित्रीकृतरथ्याः कुसुमपुरोपकण्ठभूमयः ! इह हि—

शार्ङ्गज्याकृष्टमुक्तप्रशिथिलकविकाप्रग्रहेणात्र देशे
देवेनाकारि चित्रं प्रजवितुरगं बाणमोक्षस्खलेषु।

अथवा मम काममसत्यसन्ध इति वरमयशः। न पुनः शत्रुवञ्चनपरिभूतिः—राक्षसोऽपूर्णप्रतिज्ञ इति जना यन्मन्त्रयिष्यन्ते न तत्र कापि हानिः। सत्यपि कियत्येव सा किन्तु राक्षसश्चाणक्यकृताभिः प्रतारणाभिस्तथा जातो यथाऽऽत्मैव समर्प्यते तेनेति यदयशस्तत्तु परमसह्यम्।

देवस्येत्यादि—सम्राजो नन्दस्य पादक्रमणानि चरणसञ्चरणानि तेषां यः परिचयो भूयोऽनुभूतस्स्नेहसंस्तवस्तेन पवित्रीकृताः धन्यम्मन्याः रथ्याः राजप्रतोल्यो यासां तथाभूता इति भावः।

शार्ङ्गेति—बहोः कालात्पाटलिपुत्रे प्रविष्टोऽमात्यराक्षसो भावसञ्चितान् तांस्तान् विषयान्मुहुर्मुहुः पश्यन् नन्दमहाराजे स्मृतिपथमायाते दुःख्यन्नाह अहो ! पाटलिपुत्रोपकण्ठभूमय एताः यतो ह्यत्र देशोऽयं स भूभागो यत्र देवेन महाराजेन नन्देन शार्ङ्गज्याकृष्टिमुक्तप्रशिथिलकविकाप्रग्रहेण शार्ङ्गस्य धनुषो या ज्या प्रत्यञ्चा तस्याः या आकृष्टिर्बाणमोक्षाय बलादाकर्षणं तत्र मुक्तोऽत एव प्रशिथिलः कविकाप्रग्रहोऽश्वरशनाकर्षो यस्य तेन तथाभूतेन सता चलेषु द्रुतगतिष्वपि लक्ष्येषु शरव्येषु प्रजवितो द्रुतगतिगामी तुरगोऽश्वो यस्मिन् कर्मण्यथ च चित्रं महदाश्चर्यकारि यथा स्यात्तथा बाणमोक्षशरप्रहारोऽकारि कृत इति भावः। इयं सा उद्यानराजिः प्रत्यन्तोपवनपङ्क्तिर्यत्र देवेन स्थितं मृगयाश्रमापनोदाय विश्रान्तम्। अयं स देशो यत्र देवेन राजभिरनुयायिराजलोकैः कथितं किमपि किमप्यालपितम्। हन्त, तैर्विना

अपनी प्रतिज्ञा का मिथ्या सिद्ध हो जाना उतना बड़ा अपयश नहीं जितना कि शत्रु के छल-बल से अपमानित होना ! (चारों ओर देखते हुये-आंखों में आंसू भरे) ओह ! पाटलिपुत्र के ये ही वे प्रान्तभाग हैं जिनके रास्ते कभी महाराज नन्द के चरण-संचरण से अनेकों बार पवित्र किये जा चुके हैं ! यही वह भूमि है-

'जहां पर कभी महाराज नन्द, धनुष की प्रत्यञ्चा में फंसे हुये हाथ, ढीली वागडोर, दौड़ते हुये घोड़े पर सवार, भागते हुये निशाने पर आश्चर्यजनक ढंग से बाण मारा करते थे ! यही वह उपवन श्रेणी है जहां पर कभी वे बैठा करते थे।

अस्यामुद्यानराजौ स्थितमिह कथितं राजभिस्तैर्विनेत्थं
सम्प्रत्यालोक्यमानाः कुसुमपुरभुवो भूयसा दुःखयन्ति ॥६॥

तत् क खलु गच्छामि मन्दभाग्यः ? (विलोक्य) भवतु दृष्टमेतज्जीर्णोद्यानम्, अत्र प्रविश्य कुतश्चिच्चन्दनदासस्य वृतान्तमुपलप्स्ये। (परिक्रम्य स्वगतम्) अहो ! अलक्षितोपनिपाताः पुरुषाणां समविषमदशाविभागपरिणतयो भवन्ति । कुतः ?—

पूर्वानुभूता य इमे विषयाः कामपि प्रीतिमुत्पादितवन्तस्तानन्तरा सम्प्रति सर्वविपर्यये संघटमाने इत्थमालोक्यमानाः शून्यशून्यत्वेन परिदृश्यमानास्ता इमाः कुसुमपुरभुवः पाटलिपुत्रप्रत्यन्तभागाः भूयसा भृशं दुःखयन्ति खेदयन्तीत्यभिप्रायः ॥ ९ ॥

टिप्पणी—अत्र हि राक्षसहृदि निमग्नोन्मग्नास्ते तेऽसूयानिर्वेदादिभावाः कविना सुनिपुणं वर्ण्यमानास्सामाजिकहृदि कामपि प्रीतिमुत्पादयन्तो विभाव्यन्ते। शार्ङ्ग्ज्येत्यादौ समासभूयस्त्वेन या गौडी रीतिराश्रीयतेऽथ च यदोजःप्रकाशकवर्णवन्ति पदानि संघट्यन्ते तत्त्वतीव हृदयहारि यतो हि गतेषु दिवसेषु यो वा वैभवोत्कर्षस्तस्य प्रत्यक्षायमाणतामिव पश्यतो राक्षसस्य वाचोयुक्तिरियं कमपि संरम्भमेवाविश्चिकीर्षति ।

अलक्षितोपनिपाता इत्यादि । पुरुषाणां न तेषां ये केवलं जायन्ते प्राणन्ति जीवन्ति वाऽपि तु पौरुषाधिकरणानां मानवानां समविषमदशाविभागपरिणतयः समाश्च ताः विषयाश्च समविषमा अनुकूलप्रतिकूला या दशा अवस्थास्तासां याः विभागपरिणतयः विभक्ततया पूर्वापरीभावतया संघटमानाः परिणामास्ते खलु अलक्षितोपनिपाताः न लक्षिताः नावधारिताः उपनिपाताः आगमाः इतीत्थंभूताः भवन्ति । अद्य यदि कस्यचित् पुरुषस्य सुखदशा श्वोऽकस्मादेव दुःखीभवन् स दृश्यते । एवमेव ह्यो

यही वह भूमि है जहाँ पर कभी वे राजाओं के साथ बैठे बातें किया करते थे ! किन्तु अब ! अब तो पाटलिपुत्र की ये प्रत्यन्त-भूमियां, उनके बिना आंखों के सामने आते ही हृदय में एक हूक भर कर रह जाती है !' ॥ ९ ॥

अब मुझ सा अभागा जाय तो कहां जाय ! (देखकर) अच्छा ! ठीक है, यह जीर्णोद्यान ही सही, इसी के भीतर चलूं, देखूं तो चन्दनदास के समाचार का किसी प्रकार पता चलता है या नहीं ! (टहलते हुये, मन ही मन) ओह ! कौन जान सकता है कि सुख-दुःख की अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ कब किस पर आया-जाया करती हैं !

पौरैरङ्गुलिभिर्नवेन्दुवदहं निर्दिश्यमानः शनै-
र्यो राजेव पुरा पुरान्निरगमं राज्ञां सहस्रैर्वृतः।
भूयः सम्प्रति सोऽहमेव नगरे तत्रैव बन्ध्यश्रमो
जीर्णोद्यानकमेष तस्कर इव त्रासाद् विशामि द्रुतम् ॥ १० ॥

अथवा, येषां प्रसादादिदमासीत् ते एव न सन्ति (नाट्येन प्रविश्य

यदि विषमपतितोऽद्य सुखमेधते। जीवनमिदमतर्क्यमाणोदयास्तमयं किमपि विचित्रमेव वस्त्विति भावः।

पौरैरिति। जीर्णोद्यानं पश्यतस्तदिवात्मानञ्चानुपश्यतो गतगौरवस्य स्मृतपूर्वैश्वर्यस्य राक्षसस्योक्तिरियम्—योऽहं राक्षसः पुरा नन्दराज्यं, तन्नयति सति मयीति शेषः, पौरैः पाटलिपुत्रीयैः प्रजाजनैरङ्गुलिभिः संकेतकारिणीभिर्नवेन्दुवत् नवोदितचन्द्र इव निर्दिश्यमानः—'अयमसौ महामात्य' इतिरूपेण संकेतविषयीकृतः शनैः प्रजाकृतसंवर्द्धनादीनां स्वीकारे मन्दीकृतपात्राडम्बरः राजेव महैश्वर्यमाहाभाग्यादिना सर्वतस्संघुष्टापदान इति शेषः। राज्ञामनुयायिनां पुरोयायिनामुभयतोयायिनां वा नृपतीनां सहस्रैर्वृतः परितो वेष्टितस्सन् पुरादस्मादेव कुसुमपुरान्निरगमं गतागतमकरवम्। स एवैषोऽहं तत्रैव नगरे पूर्वानुभूतानां मदैश्वर्याणां साक्षिभूते पाटलिपुत्रे बन्ध्यश्रमः बन्ध्यः विफलीकृतो विफलीभूतो वा नन्दराज्यप्रतिष्ठापनरूपः प्रयत्नो यस्यैवंभूतस्सन् सम्प्रति कालेऽस्मिन् विषमदशासंकुले भूयः पुनरपि तस्कर इव चौरवद् जीर्णोद्यानकम् अनुकम्पाविषयीभूतमिदं परिदृश्यमानं पुराणोपवनं त्रासात् कश्चन पश्येदिति भयाद् द्रुतं झटिति धावमानो विशामि प्रविशामीति किमधिकं भाविनी भवितव्यतेति भावः॥ १०॥

टिप्पणी—परस्वापहारकेण तस्करेणाऽमात्यराक्षसं पूर्वानुभूतैश्वर्यं प्रसक्तानुप्रसक्तयोपमित्समानोऽयं कविरत्र रसभावौपयिकीं कामपि महतीमुपमासम्पत्तिं निदधाति यया खलु बहवो हि कवयो विरहिताः सहितास्तु द्वित्राः उत पञ्चषाः केवलम्।

'अरे! कभी मैं भी ऐसा था जिसे, सैकड़ों राजाओं से घिरे एक राजाधिराज की भांति इसी नगर में आते-जाते देख कर नागरिक गण अपनी अंगुलियों से नवोदित चन्द्रमा के समान एक दूसरे को दिखाया-सुझाया करते थे! किन्तु अब वही मैं हूं जिसे, निष्फल प्रयत्न हो जाने के कारण इसी नगर के इस जीर्णोद्यान में ही एक चोर की भांति डरते-डरते घुसना पड़ रहा है!' ॥ १० ॥

कोई बात नहीं। जब वे ही नहीं रहे जिनकी कृपा से यह सब कुछ था तो दुःख भी किस बात का! (भीतर प्रवेश करने का अभिनय करते हुये—देखकर)

विलोक्य च) अहो ! जीर्णोद्यानस्य नाभिरमणीयता । अत्र हि—

विपर्यस्तं सौधं कुलमिव महारम्भरचनं
सरः शुष्कं साधोर्हृदयमिव नाशेन सुहृदः ।
फलैर्हीना वृक्षा विगुणविधियोगादिव नया-
स्तृणैश्छन्ना भूमिर्गतिरिव कुनीत्या ह्यविदुषः ॥ ११ ॥

विपर्यय इति । जीर्णोद्याने प्रविशन् राक्षसस्तदीयं भूतपूर्वं रामणीयकं नष्टप्रायं पश्यन् किमपि दुःखमनुभवन्नाह–अहो ! तदिदमुद्यानं यदीयं महारम्भरचनं महाप्रासावारम्भः महारम्भः महत्याऽऽशसंया महता वस्तुसंभारेण महता च वास्तुकर्मविधानेन वा यः निर्माणोद्योगस्तेनोपलक्षिता रचना निर्मितिर्यस्यैवंभूतं सौधं सुधालि ' गृहं किंचन महारम्भरचनं कुलमिव वस्तुतः प्रथितापदानं कृतविपुलकृत्यं नन्दकुलमिव सम्प्रति विपर्यस्तं नष्टभ्रष्टमेव संजातम् । तदीयं सरः यद्धि पुरा साधोर्हृदयमिव निर्मलं सरसं सुरुचिरञ्च तदपि सुहृदः मित्रस्य नाशेन विरहेण तस्यैव साधोर्महात्मनः हृदयमिव शुष्कं नीरसमेव संभूतम् । वस्तुतस्तु पुरा सरसेन राक्षसहृदयेन स्पर्द्धमानं सर इदमद्यत्वे शुष्कं संत् सुहृद्विनाशविरसेन राक्षसहृदयेन विडम्ब्यमानमिव दृश्यत इति भावः । अन्यच्च वृक्षा अपि तथैव फलैर्हीनाः विरहिताः स्थूणायमानाः स्थिता यथा विगुणविधियोगाद् विगुणः प्रतिकूलो यो विधिर्दैवदुर्विपाकस्तस्य योगात् सम्बन्धात् नयाः अस्मत्प्रयुक्ताः नीतिविधयो यथा निष्फलाः वर्तेरन् । हन्त ! भूमिरुपवनस्थली अपि तथा खलु तृणैर्विरूढैः कुशकाशादिभिश्छन्ना सर्वतस्संकुला यथा हि कस्यचनाविदुषोऽविवेकिनः मलयकेतोर्यथा मतिर्बुद्धिः कुनीत्या दुर्नीत्या नितरामन्धकारिता स्यात् ॥ ११ ॥

टिप्पणी—राक्षसोऽयं जीर्णोद्याने स्थितः कामपि निर्वण्णतामनुभवति । मनो·

अरे ! इस जीर्णोद्यान में सुन्दरता कहां ? यहां तो,

'वास्तु–कला का कभी का आदर्शभूत यह भवन उसी प्रकार नष्ट–भ्रष्ट दिखाई दे रहा है जिस प्रकार कभी का समृद्ध किन्तु अब बिगड़ा हुआ (हमारा ही) राज–वंश ! कभी का जलपूर्ण सरोवर भी उसी प्रकार सूखा–रूखा लग रहा है जिस प्रकार कभी का सरस किन्तु मित्र के विनाश में सूखा मेरा ही हृदय ! कभी के फलों से लदे पेड़ अब सफल हो उठने वाले किन्तु आज दुर्भाग्यवश विफल हमारे ही राजनीतिक उपाय ! और इतना ही नहीं, कभी की हरी–भरी भूमि अब घास-पात से ऐसी ढक सी गई है जैसे किसी की (अर्थात् मलयकेतु की) कभी की सद्भावना पूर्ण बुद्धि जो आज किसी की दुष्ट नीति से भ्रष्ट हो रही है' ॥ ११ ॥

अपि चात्र—

क्षताङ्गानां तीक्ष्णैः परशुभिरुदग्रैः क्षितिरुहां
रुजा कूजन्तीनामविरतकपोतोपरुदितैः।
स्वनिर्मोकच्छेदैः परिचितपरिक्लेशकृपया
श्वसन्तः शाखानां व्रणमिव निबध्नन्ति फणिनः॥ १२॥

लयोऽयं खिन्नस्य राक्षसस्यात्र तथा काष्ठाप्राप्तो यत्सर्वमेव जीर्णोद्यानायमानमेव विभाव्यते। कविरयं जीर्णोद्यानवर्णने नाटकौपयिकीमुपमां निबध्नाति न काव्यौपयिकीम्। अत्रैव सौरस्यं सहृदयानाम्। इयमेव च सरणिरलङ्कारयोजनायाः सुकवीनाम्।

क्षताङ्गानामिति। निर्वेदस्य परस्मिन् धामनि स्थितः राक्षसः स्वमेवैकमसहायं न केनाप्याश्वास्यमानं च पश्यन्नाह—अये! मय्येव दारुणमाचर्यते दैवेन। न कोऽपि तादृशो यः मन्मर्मव्रणं भिषज्यति। हन्त! जीर्णारण्येऽत्र चेतनवदेव परदुःखदुःखितानि दृश्यन्तेऽचेतनकल्पानि तत्तद्वस्तुजातानि। तथा हि—तीक्ष्णैर्निशितनिशितैरुदग्रैर्महता बलेनोत्तोलितैः परशुभिः कुठारादिभिः क्षताङ्गानां क्षतान्यङ्गानि यासां तथाविधानां क्षितिरुहां शाखानामुपवनवृक्षसम्बन्धिनीनां शाखानां—या हि खलु अविरतकपोतोपरुदितैः अविरतं यथा स्यात्तथा कपोतानां पारावतानां यान्युपरुदितानि रोदनानीव कूजितानि तैः कृत्वा तद्व्याजेन वा रुजा पीडोत्पीडनया कूजन्ति विरुवन्ति तासां शाखानां व्रणं क्षतं फणिनः फणावन्तो भीषणास्सर्पाः परिचितपरिक्लेशकृपया परिचितानां जातसंस्तवानां सहवासिनां यः परिक्लेशः कष्टपातस्तत्र या कृपाऽनुकम्पा तया हेतुभूतया सत्या श्वसन्तो निःश्वासं कुर्वन्तस्सन्तः स्वनिर्मोकच्छेदैः स्वस्य ये निर्मोकच्छेदाः कञ्चुकखण्डास्तैर्व्रणबन्धपटैरिव सद्भिर्निबध्नन्तीव विरोपणाय वेष्टयन्तीवेति॥ १२॥

यहां का करुण दृश्य!

'यहां तो इधर-उधर अपने फन फैलाये सांप फुफकारते दीख रहे हैं जिनकी केंचुलों के टुकड़े पेड़-पौधों की डालियों में लटके हुये ऐसे लग रहे हैं मानो लोगों के द्वारा, सर्वथा उपेक्षित देख कर, बड़ी २ तीक्ष्ण धार वाली कुल्हाड़ियों से कटे-पिटे पेड़ों की निरन्तर कपोतों की करुण कूजित-ध्वनि के बहाने करुण-क्रन्दन करने वाली कटी-पिटी टहनियों और डालियों के घावों पर इन सांपों ने ही संकट में पड़े अपने पूर्व परिचित इन पेड़-पौधों की दयनीय दशा में समवेदना दिखाते और आह खींचते मरहम-पट्टी कर रखी हो!'॥ १२॥

एते च तपस्विनः—

> अन्तःशरीरपरिशोषमुपाश्रयन्तः
> कीटक्षतिस्रुतिभिरस्रमिवोद्वमन्तः।
> छायावियोगमलिना व्यसने निमग्ना
> वृक्षाः श्मशानमुपगन्तुमिव प्रवृत्ताः ॥ १३ ॥

टिप्पणी—कुठारच्छिन्नासु शाखासु यत्र तत्राऽवलम्बिनां सर्पनिर्मोकखण्डानां दर्शनेन राक्षसस्य हृदि काऽपि रसमयी काव्यसंभावना स्फुरति जीर्णेऽस्मिन्नुपवने निवसन्ति तत्तज्जीवजातानि परस्परं दुःखं संवेदयन्ते। राक्षसोऽपि दुःखी तथाऽर्थयते च कञ्चन स्वदुःखं सह्यवेदनीकर्त्तुम्। सुहृत्संविभक्तं हि दुःखं सोढुमलं नान्यथेति भूयसीर्ध्वनिभङ्गीराविष्करोति वाचोयुक्तिरियम्।

अन्तःशरीरेति। निर्वेदसागरे निरुद्धारं पतितः राक्षसः भूयोऽपि स्वगतं चिन्तयते— अये जीर्णोद्यानेऽस्मिन् निःसंवेदनेष्वपि काचन समदुःखता परिस्फुरति। तथा हि— छायावियोगमलिनाः छायायाः प्रियतमाया इव स्वकान्तेरनातपरूपायाः यो वियोगो विरहस्तेन मलिनाः दीनदीनतयोपलक्ष्यमाणाः वृक्षाः उपवनवर्तिनस्तरवोऽन्तःशरीरपरिशोषमुपाश्रयन्तश्शरीरस्यान्तरित्यन्तः शरीरं यः परिशोषः जीर्णतया सेचनाद्यभावेन वा संजायमानं रसहानिरूपं शोषणं तदुपाश्रयन्तः प्राप्नुवन्तः छायाविरहेण प्रियाप्रणाशेनेव शुष्कान्तःशरीरधातव इति भावः, अथ च कीटक्षतिस्रुतिभिरस्रमिवोद्गिरन्तः कीटानां याः क्षतयस्ताभ्यो याः स्रुतयः रसबिन्दुच्युतयस्ताभिः कृत्वाऽस्रमश्रुजलमुद्वमन्तः निकामं मुञ्चन्त इव स्थितास्सुतरां व्यसने दारुणे दुःखे निमग्नाः भृशं दूनदूनास्तथा प्रतीयन्ते यथा श्मशानमुपगन्तुमिव प्रवृत्ताः स्युः प्रियां छायां चितामारूढामन्वारुरुक्षवः वस्तुत आत्मघातायैव समुद्युक्तमानसा भवेयुरित्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

टिप्पणी—अत्र 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितमि'तिवादिनां मतेन किमप्युक्तिवैचित्र्यं विजृम्भते यदुपोद्बलकमत्र संभावनमुत्प्रेक्षणं वा द्वितीयचतुर्थचरणयोः। अथ च 'रस एव काव्यजीवातुरि'तिवादिनामभिप्रायेण करुणरस आभासमानः आस्वाद-

---

ये दुर्दशा ग्रस्त !

'अपनी पत्रच्छाया की शोभा से सर्वथा बिछुड़े, दीन-हीन, अपने शरीर के भीतर ही भीतर सूख कर कांटे बने, अपनी छालों में कीड़ों के किये छेदों से बहने वाले द्रव के रूप में आंसू बहाते महाशोक में डूबते-उतराते, ये पेड़-पौधे, ऐसे हो रहे हैं जैसे श्मशान जाने की तैयारी कर चुके हों !' ॥ १३ ॥

यावदस्मिन् विषमदशापरिणामसुलभे भग्नाग्रशिलातले मुहूर्त्तमुपविशामि (उपविश्याकर्ण्य च) अये ! किमयमाकस्मिकः शङ्खपटहविमिश्रो नान्दीनादः श्रूयते ? य एषः—

प्रकुर्वन् श्रोतॄणां श्रुतिपथमसारं गुरुतया
बहुत्वात् प्रासादः सपदि परिपीतोज्झित इव।

विषयीभवति प्रेक्षकाणामिति यथा तथा वा विचार्यते, किमपि रामणीयकं वशयत्येव सहृदयहृदयानि।

विषमदशापरिणामसुलभ इति। विषमा या दशा प्रतिकूला परिस्थितिस्तस्याः यः परिणामः क्रमशो जनिस्थित्यादिरूपेण पराकाष्ठाप्राप्तिस्तत्र सति यदमृग्यमाणमेव सुलभं सुप्रापं तस्मिन्निति, भग्नाग्रशिलातल इत्यत्रानुषङ्गः। सुखदुःखादिसाधारणशब्देषु प्रयोक्तव्येषु समविषमदशेत्यादिभङ्गीभणितिमुररीकुर्वाणोऽयं कविर्यद्वक्तुकामस्तदिदं-यत् साधारणाः जनाः सुखःखयोस्सुखितदुःखितयोः 'सुखमनुभवामो दुःखं वाऽनुभवाम' इत्यादि प्रयुञ्जन्तां नाम पदानि किन्तु राक्षसवदतिगभीराणां महतां मनस्विनां कृते सुखं काचन समदशा जगद् धातोर्दुःखं च विषमदशा तस्य यत् सुखाऽसुखयोर्लोकातिगं धाम प्रसार्यते सङ्कोच्यते वा न तु पामरवन्नृत्यते सोरस्ताडं रुद्यते वा तैरिति।

प्रकुर्वन्निति। निर्विण्णतां नाशयतेव शत्रुजयाघोषेण जागरितामर्षः राक्षसः पटुपटहनिनादं शृण्वन्नाह-आं श्रूयते कोऽपि नान्दीनादश्शत्रुप्रहर्षसूचको ध्वनिर्योऽसौ पटुपटहशङ्खध्वनिमहान् पटु यथा स्यात्तथा पटहानां रणवाद्यानां शङ्खानां च जयघोषकाणां ये ध्वनयो निनादास्तैर्महानतिप्रवृद्धस्सन् गुरुतया महारावभारतया श्रोतॄणां शृण्वतां जीवानां श्रुतिपथं श्रोत्रमसारं दुर्बलं श्रवणभारवहनाशक्तं प्रकुर्वन् नितरां विदधानोऽथ च प्रासादैः कुसुमपुरवर्तिभिमलावद्धैर्भवनैरचेतनैरपि नादमहासंप्लवे बलादाशीर्षं ब्रुडितैर्बहुत्वान्नादपूरोत्पीडस्य दुर्धर्षत्वात् सपदि द्रुततरमेव परिपीतो-

---

थोड़ी देर बैठ ही जाऊं यहां इस हमारी दुर्गति की अन्तिम अवस्था में हमारे लिये ही बने-पड़े, इस टूटे-फूटे पत्थर के टुकड़े पर ! (बैठते हुये—सुनकर) अरे ! यह शङ्खों और पटहों के महानिनाद से भरा आनन्द का कोलाहल कहां से अकस्मात् सुन पड़ा ! ओह ! यह तो,

'य सुनने वालों के कर्ण-कुहरों को अपनी गंभीरता के कारण तुच्छ बनाता हुआ, राजभवनों के द्वारा एक प्रकार से पीकर आत्मसात् किये जाने पर भी अपनी प्रचुरता के कारण सहसा उगल कर फेंका हुआ और साथ ही साथ बड़े २ रणवाद्यों

असौ नान्दीनादः पटुपटहशङ्खध्वनिमहान्
दिशां दैर्घ्यं द्रष्टुं प्रसरति सकौतूहल इव ॥ १४ ॥

(विचिन्त्य) आं, ज्ञातम् । एष हि मलयकेतुसंयमनसञ्जातो राजकुलस्य (इत्यर्द्धोक्ते सासूयम्) मौर्यकुलस्याऽधिकपरितोषं पिशुनयति । (सबाष्पम्) कष्टं भोः ! कष्टम् !!

आवितोऽस्मि श्रियं शत्रोरभिनीय च दर्शितः ।

ज्झित इव पूर्वं परिपीतः पश्चाच्चोज्झित उद्वान्त इव विभाव्यमानो नादजलराशिरिति शेषः, दिशां दैर्घ्यं द्रष्टुं कियान् दिगाभोगो यः खलु नाक्रान्तः मदनुनिनादबलैरिति दिक्प्रसारं परिमातुं सकौतूहल इव कौतुकाक्रान्तो यथा प्रसरति सर्वतो धावतीति भावः ॥ १४ ॥

टिप्पणी—कापि नितरां नवीनोत्प्रेक्षासंपदत्र कवेः प्रतिभावैभवमक्षयं प्रकाशयति । संस्कृतकाव्यसाहित्ये महद्भिरपि कविवरैर्नं तथोत्प्रेक्षाप्रगल्भनमाचरितं यथाऽचरति कविरत्र । ध्वनेश्श्रवणेन्द्रियविषयस्य कयाचन भङ्ग्या जङ्गालतापादने यथा प्रथमचरणे, तस्यैवाऽपरया विच्छित्त्या रसनेन्द्रियविषयतापादने यथा द्वितीयचरणेऽन्तिमे च सचेतनताचमत्काराधाने यथाऽवधानवान् कविस्तस्य तु निगूढाभिप्रायोऽयमेव यद्राक्षसो विक्षिप्तचित्तः किमपि जनातिगमाचरति ।

आवित इति । शत्रुकर्तृकं स्ववशीकारमुपनिपतिष्यमाणं निध्यायतोऽमात्यराक्षसस्योक्तिरियम् हन्त ! जयाघोषेण कृत्वा शत्रोः प्रतिष्ठापितमौर्यस्य चाणक्यस्य श्रियं वैजयिकीं सम्पदं आवितोऽस्मि अनुपदमेव कर्णगोचरीकारितोऽस्मि, अथ चानन्तरमेव मलयकेतुसंयमनसंजातेन नान्दीनादेन कृत्वाऽभिनीय दृग्गोचरविषयतां

जैसे नगाड़ों और शङ्खों के महाराव से निरन्तर बढ़ता ही जाता हुआ आनन्द-महानाद, ऐसा लग रहा है जैसे, ब्रह्माण्ड के विस्तार को नाप लेने के लिये एक बढ़ती हुई उत्सुकता से भर उठा हो !' ॥ १४ ॥

(कुछ सोचते हुये) पता चल गया ! यह है मलयकेतु के पकड़ लिये जाने का राजकुल का (इतना मुंह से निकलते ही द्वेष से भर कर) नहीं नहीं मौर्यकुल का, उसकी प्रसन्नता की सूचना देने वाला, नान्दीनाद !

(आंखों में आंसू भरे)

ओह ! इतना दुःख ! इतनी दुर्दशा !!

'अब तक तो भाग्य के द्वारा शत्रु की श्री-वृद्धि का हमें श्रवण कराया गया, यहां उपस्थित किये जा कर इसका दर्शन दिलाया गया और अब ! अब तो ऐसा

अनुभावयितुं मन्ये यत्नः सम्प्रति मां विधेः ॥ १५ ॥

पुरुषः—आसीनोऽयम् । तद्यावदार्यचाणक्यस्याज्ञप्तिं सम्पादयामि (आसीणो अअं । ता जाव अज्जचाणक्कस्स आणत्ति संपादेमि) (राक्षसमपश्यन्निव तस्याग्रतो रज्जुपाशेन कण्ठमुद्बध्नाति)

राक्षसः—(विलोक्य स्वगतम्) अये ! कथमयमात्मानमुद्बध्नाति ? नन्वयमहमिव दुःखितस्तपस्वी । भवतु, पृच्छाम्येनम् (उपसृत्य प्रकाशम्) भद्र ! भद्र !! किमिदमनुष्ठीयते ?

पुरुषः—(सवाष्पम्) आर्य ! यत् प्रियवयस्यविनाशदुःखितोऽस्मादृशो मन्दभाग्यो जनोऽनुतिष्ठति (अज्ज ! जं पिअवअस्सविनासदुःखिदो अह्मादिसो मन्दभाओ जणो अणुचिट्ठदि)

राक्षसः—(स्वगतम्) प्रथममेव मया ज्ञातं—'नूनमहमिवायमार्त्तस्तप-

---

प्रापय्य तां श्रियं दर्शितोऽप्यस्मि । सम्प्रति अधुना तु विधेर्दुर्दैवस्य यत्नस्सर्वं आरम्भो मामनुभावयितुं तामेव श्रियं सर्वात्मना स्वीकारयितुं संजाघटीतीति मन्ये सम्भावय इति भावः ॥ १५ ॥

टिप्पणी—निर्वेदे सति जनाः 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य', इत्यौपनिषदिकमेव पन्थानमाश्रयन्ते । किन्तु निर्विण्णस्य राक्षसस्यैतावद्दौर्भाग्यं यच्छ्रवणमनननिदिध्यासनान्यपि विक्रियन्ते । मोक्षस्य यः कोऽपि मार्गोऽवरुद्ध एव स तस्य प्रतिभातीत्यभिप्रायः ।

लगता है जैसे भाग्य इस लिये हाथ धोकर हमारे पीछे पड़ा हो कि शत्रु-विजय का हम हृदय से स्वागत करें !' ॥ १५ ॥

पुरुष—अब यह (राक्षस) तो बैठ गया, अब वैसा ही कर दिखाऊं जैसा आर्य चाणक्य ने कहा रहा ! (राक्षस को देखे-अनदेखे उसके आगे रस्सी का फंदा अपने गले में डाल देता है)

राक्षस—(देखकर-मन ही मन) ओह ! यह तो फांसी लगाना चाह रहा है ! तो क्या मुझ सरीखा ही कोई हतभागा तो नहीं ! अच्छा, इसे पूंछ देखूं । (समीप पहुंच कर-सुनाकर) अरे भाई ! यह क्या करने जा रहे हो ?

पुरुष—(आंसू भरी आंखों से) आर्य ! वही कर रहा हूँ जो अपने प्रिय मित्र के विनाश से संतप्त कोई मुझसा अभागा कर सकता है ।

राक्षस—(स्वगत) अरे ! मैंने तो पहले ही ताड़ लिया रहा कि हो न हो

स्वीति'। भवतु, पृच्छाम्येनम् (प्रकाशम्) भद्र ! व्यसनसब्रह्मचारिन् ! यदि न गुह्यं, नातिभारिकं वा, ततः श्रोतुमिच्छामि किं ते प्राणपरित्याग-कारणम् ?

पुरुषः—(निरूप्य) आर्य ! न रहस्यं, न वाऽतिगुरुकं, किन्तु न शक्नोमि प्रियवयस्यविनाशदुःखितहृदय एतावन्मात्रमपि मरणस्य काल-हरणं कर्त्तुम् (अज्ज ! ण रहस्सं, वा अतिगुरुअं, किन्तु ण सक्कणोमि प्पिअवअस्स-विणासदुक्खिदहिअओ एत्तिअमत्तम्पि मरणस्स कालहरणं काढुं)

राक्षसः—(निःश्वस्याऽऽत्मगतम्) कष्टमेतेषु सुहृद्व्यसनेषु परवदुदासीनाः प्रत्यादिश्यामहे वयमनेन। (प्रकाशम्) भद्र ! यदि न रहस्यं नाऽतिगुरुकं वा, तत् पुनः श्रोतुमिच्छामि। कथ्यतां का गतिः दुःखस्येति ?

पुरुषः—अहो ! निर्बन्ध आर्यस्य, का गतिरेष निवेदयामि। अस्त्यत्र नगरे मणिकारश्रेष्ठी जिष्णुदासो नाम (अहो ! णिब्बन्धो अज्जस्स, का गदी

व्यसनसब्रह्मचारिन्निति—जीवनस्य शालायां दुःखविद्यामेव राक्षसोऽधीते, दुःखाभिधानं ब्रह्मैव चरतीति तत्सधर्मणस्तत्समानस्य जनस्य सम्बुद्धौ स्वारस्यमस्य पदस्य किमपि विराजते। अतिभारिकमिति स्वतिभारवदित्यर्थे मत्वर्थीयष्ठन्।

यह भी मुझ सा कोई दुःखी होगा ! अच्छा, इसे पूछ तो लूं। (सुनाकर) क्यों भाई ! जीवन की इस दुःख की पाठशाला के मेरे एकमात्र साथी ! कुछ बताओ तो, यदि बहुत गोपनीय न हो अथवा बहुत दुःखमय न हो, कि क्यों कर अपने प्राण देने पर उतारू हो उठे ?

पुरुष—(देख-भाल कर) आर्य इसमें न तो कुछ गोपनीय रहा और न दुःखदायी किन्तु अपने प्रिय-मित्र के विनाश से सतप्त-हृदय मेरे लिये कुछ कहने-सुनने का विलम्ब भी असह्य ही समझिये !

राक्षस—(आह भर कर) कितनी निर्घृण बात है कि अपने मित्र पर पड़ी विपदाओं में भी हमारे सरीखे लोग ऐसे निरपेक्ष पड़े रह गये ! ओह ! इसने तो हमें थप्पर मार दिया ! (सुनाकर) अरे भाई ! यदि कोई गोपनीय अथवा दुःखदायी बात न हो तो सुना दो, मैं भी जान लूं कैसा दुःख तुम पर आ पड़ा।

पुरुष—अरे ! आपका ऐसा आग्रह ! क्या करूँ, सुनाना ही पड़ेगा ! सुनिये—

एसो णिवेदेमि, अत्थि एत्थ णअरे मणिआरसेट्ठी जिण्णुदासो णाम)

राक्षसः—(स्वगतम्) अस्ति जिष्णुदासश्चन्दनदासस्य परं मित्रम् । (प्रकाशम्) किं तस्य ?

पुरुषः—स मम प्रियवयस्यः (सो मम प्पिअवअस्सो)

राक्षसः—(सहर्षमात्मगतम्) अये ! प्रियवयस्य इत्याह । अत्यन्तसन्निकृष्टः सम्बन्धः । हन्त !!! ज्ञास्यति चन्दनदासस्य वृत्तान्तम् । (प्रकाशम्) भद्र ! किं तस्य ?

पुरुषः—(सबाष्पम्) साम्प्रतं स दीनजनदत्तविभवो ज्वलनं प्रवेष्टुकामो नगरान्निष्क्रान्तः । तदहमपि यावत्तस्य प्रियवयस्यस्याश्रोतव्यं न शृणोमि, तावदात्मानमुद्बध्य व्यापादयामीतीदं जीर्णोद्यानमागतः (संपदं सो दीणअणदिण्णविहवो ज्वलणं प्पविसिदुकामो णअरादो णिक्कन्तो । ता अहं पि जाव तस्स प्पिअवअस्सस्स असुणिदव्वं ण सुणेमि, ताव अत्ताणं उब्बन्धिअ बावादेमि त्ति इमं जिण्णुज्जाणं आअदो)

राक्षसः—

भद्र ! अथाऽग्निप्रवेशे तव सुहृदः को हेतुः ?

इस नगर के एक सब से बड़े जौहरी रहे–सेठ जिष्णुदास······

राक्षस—(मन ही मन) अरे ! क्या वही जिष्णुदास हमारे चन्दनदास के परम मित्र ! (सुनकर) क्या हो गया उन्हें ?

पुरुष—मेरे प्रिय मित्र थे वे·········

राक्षस—(प्रसन्नता के साथ-मन ही मन) अरे ! इसने तो इन्हें अपना परम प्रिय मित्र कहा ! तब तो हमारा इसका घना सम्बन्ध होता दीख रहा है ! इसे तो चन्दनदास के हाल का पता ही होना चाहिये ! (सुनाकर) क्या हुआ उन्हें ?

पुरुष—(आंसू भरी आंखों से) अब उधर तो वे इस नगर को ही छोड़ चले-दीन-दुखियों को अपना सर्वस्व दान किये, आग में जलकर मर जाने के इच्छुक ! और इधर मैं आ पड़ा इस जीर्णोद्यान में, अपने आप को फांसी लगाकर मार डालना चाहता हुआ क्योंकि अपने प्रियवयस्य की मृत्यु का समाचार कैसे सुनाना चाहूं !

राक्षस—अरे भाई ! क्यों ? क्या बात है कि तुम्हारे मित्र आग में जल

किमौषधपथातिगैरुपहतो महाव्याधिभिः ?

पुरुषः—आर्य ! नहि नहि (अज्ज ! णहि णहि)

राक्षसः—

किमग्निविषकल्पया नरपतेर्निरस्तः क्रुधा ? ।

पुरुषः—आर्य ! शान्तं पापं, शान्तं पापम् । चन्द्रगुप्तस्य जनपदेष्वनृशंसा प्रतिपत्तिः (अज्ज ! सन्तं पावं, सन्तं पावं । चन्दउत्तस्स जणपदेसु अणिसंसा पडिवत्ती)

राक्षसः—

अलभ्यमनुरक्तवान् किमयमन्यनारीजनम् ?

पुरुषः—(कर्णौ पिधाय) आर्य ! शान्तं पापं शान्तं पापम् । अभूमिः खल्वेष विनयनिधानस्य वणिग्जनस्य, विशेषतो जिष्णुदासस्य (अज्ज ! सन्तं पावं, सन्तं पावं । अभूमी क्खु एसो विणअणिधाणस्स सेट्ठिजणस्स, विसेसदो जिण्णुदासस्स ।

किमौषधेति—श्रेष्ठिनो जिष्णुदासस्यात्मघातनिमित्तानि संभावयतो राक्षसस्य वचनमिदम्—औषधपथातिगैः औषधस्य यः पन्थास्तमतिगच्छन्तीति तथाभूतैरचिकित्स्यैः महान्तश्च ये व्याधयस्तैः प्रबलरोगैः क्षयादिभिः कैश्चनोपहत उत्पीडितः

मरना चाहने लगे ? 'क्या ऐसी कोई भयंकर व्याधि तो नहीं लगी, जिसका औषध से उपचार असंभव हो चुका ?,

पुरुष—नहीं महाराज ! ऐसा नहीं ।

राक्षस—'क्या ऐसा तो नहीं कि आग और विष के समान भयंकर राजकोप के भागी हो चले ?,

पुरुष—नहीं महाराज ! राम कहिये ! भला महाराज चन्द्रगुप्त की अपने प्रजाजन पर ऐसी नृशंसबुद्धि कहां !

राक्षस—'तो क्या कहीं किसी ऐसी पराई स्त्री पर तो आसक्त नहीं हुये जो उन्हें कभी मिल न सके ?,

पुरुष—(कान बंद कर) महाराज ! यह क्या कह दिया आपने ? भला स्वभाव से ही सदाचार-सम्पन्न वणिक् जन के और विशेषतः सेठ जिष्णुदास के लिये ऐसी बात तो न कहिये ?

राक्षसः—

किमस्य भवतो यथा सुहृद एव नाशो विषम् ॥ १६ ॥

पुरुषः—**आर्य ! अथ किम् ?** (अज्ज ! अध इं ?)

राक्षसः—(सावेगमात्मगतम्) **चन्दनदासोऽस्य सुहृदः प्रियसुहृत् तस्य प्रियसुहृद्विनाश एवाऽग्निप्रवेशहेतुरिति यत् सत्यं समाकुलित एवाऽस्मि सुहृत्स्नेहपक्षपातिना हृदयेन।** (प्रकाशम्) **भद्र ! तस्यापि तव सुहृदः सुचरितं विस्तरेण श्रोतुमिच्छामि।**

पुरुषः—**आर्य ! अतोऽपरं न शक्नोमि मन्दभाग्यो मरणस्य विघ्नमुत्पादयितुम्** (अज्ज ! अदो अवरं ण सक्कणोमि मन्दभाओ मरणस्स विघ्नमुप्पादेदुं)

राक्षसः—**श्रवणीयां कथां कथयतु भद्रमुखः।**

किम् ? किंवाऽग्निविषकल्पया अग्निश्च विषश्च ताभ्यामीषदूनया बहुशस्तुल्यया नरपतेः क्रुधा-राजकोपेनेति भावः, निरस्तः प्रताडितः ? किमुतायमात्मजिघांसुः अलभ्यमन्यनारीजनमगम्यां काञ्चन परपत्नीमनुरक्तवान् कामितवान् ? अथवा भवतो यथाऽस्यापि सुहृदः एकमित्रस्य कस्यचन नाशो विप्रणाश एवाऽवशोऽप्रतीकार्यस्संजातः किम् ? आत्मघातस्य हेत्वन्तरेण तु नैव भाव्यमित्यभिप्रायः ॥ १६ ॥

राक्षस—'तब ऐसा तो नहीं कि जैसे तुम्हारी मृत्यु तुम्हारे मित्र के लिये अनिवार्य हो चुकी वैसे ही तुम्हारे मित्र की मृत्यु उनके किसी मित्र के ही कारण, विवशतावश रोके नहीं रुक सकती ?,

पुरुष— यही बात है महाराज !

राक्षस—(उद्विग्नता के साथ-स्वगत) ओह ! इसके प्रियमित्र के प्रियमित्र तो चन्दनदास रहे, क्या इसके मित्र अपने प्रियमित्र (चन्दनदास) के लिये तो आग में नहीं जल-मर रहे ! मुझे तो सचमुच ही अपने प्रियमित्र (चन्दनदास) के स्नेहवश व्याकुलता होने लगी ! (सुनाकर) अरे भाई ! क्या विस्तार से अपने प्रियमित्र की बातें न बताओगे ?

पुरुष—महाराज ! अब इस कहा-सुनी से अपनी मृत्यु में विघ्न तो मैं नहीं होने देना चाहता।

राक्षस— अरे भाई ! अपने मित्र की बातें बताओ-सुनने योग्य होंगी वे बातें।

पुरुषः—का गतिः ? एष खलु निवेदयामि, निशामयत्वार्यः (का गदी ? एसो क्खु णिवेदेमि, णिसामेदु अज्जो)

राक्षसः—भद्र ! दत्तावधानोऽस्मि ।

पुरुषः—अस्ति, जानात्यार्यः इह नगरे मणिकारश्रेष्ठी चन्दनदासो नाम ? (अत्थि, जाणादि अज्जो, एत्थट्ठणअरे मणिआरसेट्ठी चन्दणदासो णाम)

राक्षसः—(सविषादमात्मगतम्) एतत्तदपावृतमस्मद्विनाशदीक्षाप्रकाशद्वारं दैवेन । हृदय ! स्थिरमिव किमपि ते कष्टतरमाकर्णनीयम् । (प्रकाशम्) भद्र ! श्रूयते मित्रवत्सलः स साधुः । किं तस्य ?

पुरुषः—स एतस्य जिष्णुदासस्य प्रियवयस्यो भवति (सो एदस्स जिण्णुदासस्य प्पिअवअस्सो होदि ।

एतत्तदपावृतमस्मद्विनाशदीक्षाप्रकाशद्वारं दैवेनेति । दुर्भाग्यमद्यावधिराक्षसं विनाशमेव विधिवदध्यापयाम्बभूव किन्तु सम्प्रति यथाऽऽचरति तत्तु वस्तुतो विनाशदीक्षायाः एवमपुनरुद्धारमात्माऽवसादयितव्य' इत्यादिरूपेण विनाशव्रतादेशस्य सम्प्रदास्यमानस्य यत् प्रकाशद्वारं चन्दनदासाऽनिष्टनिवेदनादिरूपं मुख्यद्वारं तस्य समुद्घाटनमेव नान्यदिति ।

अस्तं गमिष्यमाणस्य राक्षससूर्यस्याऽन्तस्तापं वर्णयतो नाटककवेरस्य मनसि स्फुरति सूक्तिरौपनिषदिकी 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य' इत्यादिरूपा या खलु 'श्रावितोऽस्मि श्रियं शत्रो' रिति रूपेण विपरिणमते प्रसक्तानुप्रसक्त्या । 'विनाशदीक्षाप्रकाशद्वारादि' कल्पनं तु तस्या एव स्फुरणाया विवर्तरूपमिति विभावनीयम् ।

पुरुष—क्या करूं ! सुनिये-सुना ही दूं ।

राक्षस—हां भाई ! मैं बड़े ध्यान से सुनूंगा ।

पुरुष—महाराज ! आप को संभवतः वह पता ही होगा कि इस नगर में चन्दनदास नाम के सब से बड़े जौहरी रहे·········

राक्षस—(दुःख के साथ-मन ही मन) अब क्या हो । अब तो दुर्दैव ने हमारे लिये, हमें विनाश की दीक्षा देने के लिये, अपना मुख्य द्वार खोल ही दिया ! अरे मेरे हृदय ! कड़ा कर अपने आपको अब तो कोई न कोई अत्यन्त दुःखद बात सुननी ही पड़ेगी ! (सुनाकर) क्यों भाई ! वे भले मानुस तो बहुत बड़े मित्रवत्सल रहे न ? क्या हुआ उनका ?

पुरुष—हां वे ही थे इन जिष्णुदास के परममित्र·····

राक्षसः—(स्वगतम्) अयमभ्यर्णः शोकवज्रपातो हृदयस्य । (प्रकाशम्) ततस्ततः ?

पुरुषः—ततो जिष्णुदासेन, प्रियवयस्यस्य स्नेहसदृशमद्य विज्ञप्तश्चन्द्रगुप्तः (तदो जिण्णुदासेण प्पिअवअस्सस्स सिणेहसरिसं अज्जविण्णत्तो चन्दउत्तो)

राक्षसः—कथम् किमिति ?

पुरुषः—'देव ! अस्ति मे गेहे कुटुम्बभरणपर्याप्तोऽर्थः । तस्य विनिमयेन मुच्यतां मे प्रियवयस्यश्चन्दनदास' इति (देव ! अत्थि मे गेहे कुटुम्बभरणपज्जत्तो अत्थो । तस्स विणिमएण मुच्चिज्जदु मे प्पिअवअस्सो चन्दणदासो त्ति)

राक्षसः—(स्वगतम्) साधु जिष्णुदास साधु !! अहो ! दर्शितो मित्रस्नेहः । कुतः ?—

पितॄन् पुत्राः, पुत्रान् परवदभिहिंसन्ति पितरो
यदर्थं सौहार्दं सुहृदि च विमुञ्चन्ति सुहृदः ।

पितॄनीति—जिष्णुदासस्य मित्रस्नेहं मुहुर्मुहुरालोचयतोऽथाऽस्मानं च मित्रद्रोहिणं चिन्तयतः राक्षसस्य हृदयोद्गारोऽयम्—यदर्थं यस्य कस्यचन स्वात्मनः प्रियस्य निमित्तेन पुत्राः पितॄन् , पितरश्च पुत्रान् परवदभिहिंसन्ति परान् शत्रून् यथा घ्नन्ति, यस्य चैतस्य प्रियस्य वस्तुनः प्रयोजनेन सुहृदः सौहार्दवन्तस्सखायः सुहृदि समान-

---

राक्षस—(स्वगत) अब तो हृदय पर बजूपात हुआ ही चाहता है ! (सुनाकर) बताओ, क्या हुआ आगे ?

पुरुष—हुआ यह कि इस जिष्णुदास ने अपने परम प्रियमित्र के प्रति अपने प्रेम के नाते चन्द्रगुप्त से निवेदन किया·····

राक्षस—क्यों ? क्या बात रही ?

पुरुष—यही कि महाराज ! घर में भगवान का दिया सब कुछ है, ले लिया जाय यह सब कुछ किन्तु छोड़ दिया जाय प्रियमित्र चन्दनदास को ।

राक्षस—(स्वगत) धन्य हो जिष्णुदास ! धन्य हो । ऐसी तुम्हारी मित्रता ! क्योंकि—

'वैश्य होने के नाते कृपण कहे जाने पर भी तुम्हीं एक ऐसे वैश्य निकले जिसकी अर्थ-सम्पत्ति सचमुच अर्थ-सम्पत्ति बन गयी ! भला उस धन को उस प्यारी वस्तु को जिसके लिये पिता अपने पुत्रों को और पुत्र अपने पिता को पराया

प्रियं मोक्तुं तद्यो व्यसनमिव सद्यो व्यवसितः
कृतार्थोऽयं सोऽर्थस्तव सति वणिक्त्वेऽपि वणिजः ॥१७॥

(प्रकाशम्) भद्र ! ततस्तथाऽभिहितेन सता किं प्रतिपन्नं मौर्येण ?

पुरुषः—आर्य ! तत एवं भणितेन चन्द्रगुप्तेन प्रतिभणितः श्रेष्ठी जिष्णुदासः—'जिष्णुदास ! न मयाऽर्थस्य कारणेन श्रेष्ठी चन्दनदासः

धर्मणि सख्यावपि सौहार्दं स्नेहबन्धं विमुञ्चन्ति परित्यजन्ति तत्प्रियं प्रेयोभूतं स्वाभीप्सिततमं धनाभिधानं वस्तु वणिक्त्वेऽपि सति लोभकार्पण्यादिसम्भावनाभूमिभूतवणिग्जातीयत्वेऽपि सति यो जिष्णुदासः व्यसनं दारुणं दुःखमिव किंचन मोक्तुं त्यक्तुं व्यवसितो व्यवसायवान् संवृत्तः 'हे जिष्णुदास ! कृतमित्रकार्य !!' वणिजो वणिग्वंशावतंसस्य तवैव न कस्याप्यन्यस्यायं सोऽर्थो यो हि जनैर्जगति प्रियतमत्वेन स्वाभीष्टतमत्वेन वा सदाऽर्थ्यतेऽभिकाम्यत इति तथाभूतः कश्चन प्रेयस्सारः कृतार्थः, मित्रकार्याय विनिमुक्तत्वे सति कृतकार्यस्सफलस्संपन्न इत्यभिप्रायः। लोकेऽर्थ्यते स्वप्रियायेत्येवार्थोऽर्थशब्दस्य, किन्तु जिष्णुदासेऽर्थ्यते मित्रायेति रूपेण चरितार्थाभिधानोऽर्थशब्द इति भावः ॥ १७ ॥

टिप्पणी—अत्र तु टीकाकृतो ढुण्ढिराजस्य 'तदिति सामान्ये नपुंसकम्, तद्यो सद्यो' इति अनुप्रासलोभेन प्रयुक्तमिति यदनुप्रासलोभस्य नाटककर्तरि संभावनं तत्तु न विचारसहम्। नायं नाटककविः कुत्राप्यनुप्रासाय लुब्धः। अस्ति कश्चनाभिप्रायविशेषेऽत्र तदिति नपुंसकं प्रयुञ्जानस्य कवेः। स किं विधि इति विचार्यमाण इत्थमाभाति यदन्तिमे चरणे पुंल्लिगेन निर्दिष्टस्यार्थ इति शब्दस्य लोके योऽभिप्रायः प्रथते तत्र तु किमपि प्रियतमं किमपि स्वस्यै निकाममभीष्टं वस्तु स्फुरति। किन्तु जिष्णुदासो लोकातिगोऽत एव तत्प्रसङ्गे तदेव किमपि प्रियं वस्तु परमार्थरूपेण परोपकारायार्थ्यत इति कृत्वाऽर्थ इति विपरिणमते।

जान मार डाला करें, जिसके लिये मित्र अपने मित्रों के प्रति अपनी मित्रता को तिलाञ्जलि देने पर उतारु हो जांय, तुम अकस्मात् ऐसे छोड़ देने पर कटिवद्ध हो उठे जैसे किसी महासंकट से ही छुटकारा मिल रहा हो !' ॥ १७ ॥

(सुनाकर) क्यों भाई ! मौर्य चन्द्रगुप्त ने क्या कहा जब उससे ऐसा निवेदन किया गया ?

पुरुष—महाराज ! ऐसा निवेदन किये जाने पर चन्द्रगुप्त ने सेठ जिष्णुदास को कहा—'जिष्णुदास ! धन ऐंठने के लिये सेठ चन्दनदास की छान-बांध नहीं

संयमितः, किन्तु प्रच्छादितोऽनेनामात्यराक्षसस्य गृहजनः, बहुशो याचितेनाऽपि न समर्पित' इति। तद्यद्यमात्यराक्षसस्य गृहजनं समर्पयति, ततोऽस्त्यस्य मोक्षः, अन्यथा प्राणहरोऽस्य दण्ड' इति भणित्वा वध्यस्थानमानीतश्चन्दनदासः। ततो 'यावत् प्रियवयस्यस्य चन्दनदासस्याश्रोतव्यं न शृणोमि, तावदेवात्मानं व्यापादयामि' इति ज्वलने प्रवेष्टुकामः श्रेष्ठी जिष्णुदासो नगरान्निर्गतः। अहमपि यावत् प्रियवयस्यस्य जिष्णुदासस्याश्रोतव्यं न शृणोमि, तावदुद्बध्यात्मानं व्यापादयामि, इतीदं जीर्णोद्यानमागतोऽस्मि (अज्ज तदो एवं भणिदेण चन्दउत्तेण प्पडिभणिदो सेट्ठी जिण्णुदासो—'जिण्णुदास! ण मए अत्थस्स कालणेण सेट्ठी चन्दणदासो संजमिदो, किंदु प्पच्छादिदो अणेण अमच्चरक्खसस्स घरअणो, बहुसो जाचिदेणावि ण समप्पिदोत्ति ता जइ अमच्चरक्खसस्स घरअणं समप्पेदि, तदो अत्थि से मोक्खो, अण्णघा प्पाणहरो से दण्डो' त्ति भणिअ वज्झट्ठाणं आणीदो चन्दणदासो। तदो 'जाव प्पिअवअस्सस्स चन्दणदासस्स असुणिदव्वं ण सुणेमि, ताबज्जेव अत्ताणं बावादेमि' त्ति जलणे प्पविसिदुकामो सेट्ठी जिण्णुदासो णअरादो णिग्गदो। अहं वि जाव प्पिअवअस्सस्स जिण्णुदासस्स असुणिदव्वं ण सुणेमि, ताव उब्बन्धिअ अत्ताणं व्वावादेमित्ति इमं जिण्णुज्जाणं आगदो ह्मि)

राक्षसः—न खलु व्यापादितश्चन्दनदासः?

हुई! किन्तु इसलिये कि अमात्यराक्षस का परिवार इसने अपने यहां छिपा रखा और बहुत कहे-सुने जाने पर भी सौंपने को तैयार न हुआ। इसके छुटकारे का एक ही उपाय रहा और वह रहा अमात्यराक्षस के कुटुम्ब का सौंप देना। यदि ऐसा नहीं होता तो इसके लिये जो दंड निश्चित है वह है इसकी मृत्यु। उधर इतना कहना था कि चन्दनदास तो वध्यभूमि पर ले जाये गये और इधर सेठ जिष्णुदास नगर छोड़कर निकल पड़े-अपने प्रियवयस्य चन्दनदास की मृत्यु के समाचार के सुनने से पहले ही अपनी आत्महत्या के लिये आग में जल मरने पर तैयार! अब मैं क्या करता, मुझे भी इस जीर्णोद्यान में इसीलिये आना पड़ा जिस में अपने प्रियमित्र जिष्णुदास की दुःखद मृत्यु के सुनने के पहले ही से मैं फांसी पर लटक मरूं!

राक्षस—क्या चन्दनदास मार तो न डाले गये!

पुरुषः—आर्य ! न तावत् व्यापाद्यते । स खलु साम्प्रतं पुनः पुनरमात्यराक्षसस्य गृहजनं याच्यते । न स मित्रवत्सलतया याच्यमानोऽपि तं समर्पयति, तदेतेन कारणेन भवत्यस्य मरणस्य कालहरणम् (अज्ज ! ण दाव वावादीअदि । सो क्खु संपदं पुणो पुणो अमच्चरक्खसस्स घरजणं जाचीअदि । ण सो मित्तवच्छलदाए जाचीअन्तो वि तं समप्पेदि । ता एदिणा कालणेण होदि से मरणस्स कालहलणं)

राक्षसः (सहर्षमात्मगतम्) साधु वयस्य चन्दनदास ! साधु साधु !—

> **शिबेरिव समुद्भूतं शरणागतरक्षया ।**
> **विचीयते त्वया साधो ! यशोऽपि सुहृदा विना ॥ १८ ॥**

(प्रकाशम्) भद्र ! भद्र !! गच्छ शीघ्रमिदानीं जिष्णुदासं ज्वलनप्रवेशान्निवारय । अहमपि चन्दनदासं मरणान्मोचयामि ।

शिवेश्शिते—चन्दनदासं प्रियमित्रं चिन्तयन् स्मरंश्च तस्य लोकोत्तराणां गुणानां वक्ति राक्षसः—अयि साधो ! मत्परमोपकारिन् ! शरणागतरक्षया शरणमागतस्य मद्गृहजनस्य परित्राणेन शिवेः महाराजस्य, शरणागतस्य कपोतरूपधारिणो वह्नेः श्येन रूपधारिण इन्द्रान् त्राणे संजातं यश इव किमपि यशः मित्रेण मया तवोपकाराणां साक्षिणा विनाऽपि विचीयते सुतरामर्ज्यत इति भावः ॥ १८ ॥

पुरुष—महाराज ! अभी तक तो नहीं क्योंकि अभी तो वारंवार उनसे अमात्यराक्षस के कुटुम्ब के सौंपने के लिये ही कहा-सुना जारहा है किन्तु वे मित्र-वत्सल भला क्यों कर सौंपने लगे ! बस इसीलिये उनकी मृत्यु में कुछ विलम्ब हो पड़ा ।

राक्षस—(प्रसन्नता के साथ-स्वगत) धन्य चन्दनदास ! धन्य, धन्य हो मेरे मित्र ! धन्य हो !

'अपने शरणागत को बचाने के कारण तुम तो महाशरण्य महाराज शिवि के यश के समान एक महान् यश पा चुके और मैं तुम्हारा शरणागत तुम्हें देखने से भी वंचित रह गया !' ॥ १८ ॥

(सुनाकर) अरे भाई ! जाओ, दौड़कर जाओ और जैसे हो सके जिष्णुदास को आग में जल मरने से मना करो । मैं भी चला चन्दनदास को मौत से बचाने ।

पुरुषः—अथ केन पुनरुपायेनार्यश्चन्दनदासं मरणान्मोचयति ?
(अध केण उण उबाएण अज्जो चन्दणदासं मरणादो मोचेदि ?)

राक्षसः—(खड्गमाकृष्य) नन्वनेन व्यवसायमहासुहृदा निस्त्रिंशेन। ननु पश्य—

निस्त्रिंशोऽयं विगतजलदव्योमसङ्काशमूर्त्ति-
र्युद्धश्रद्धापुलकित इव प्राप्तसख्यः करेण।
सत्त्वोत्कर्षात् समरनिकषे दृष्टसारः परैर्मे
मित्रस्नेहाद् विवशमधुना साहसे मां नियुङ्क्ते ॥ १९ ॥

निस्त्रिंश इति चन्दनदासमोक्षाय त्वरमाणमना वीरमदोन्मत्तः राक्षसस्स्वहस्तधृतं निस्त्रिंशमुपतिष्ठते—विगतजलदव्योमसङ्काशमूर्तिर्विगतजलदेन निर्मेघेण व्योम्नाऽकाशेन सङ्काशासदृशीमूर्तिस्स्वरूपशोभा यस्यैवंभूतो योऽयमसौ मे निस्त्रिंशः खड्गः यो हि करेण मद्धस्तेन युद्धश्रद्धापुलकित इव प्राप्तसख्यो युद्धविषयिणी या श्रद्धा निष्ठा तया सञ्जातपुलक इव सन् प्राप्तसख्यस्संजातानुरागः परैश्शत्रुभिस्समरनिकषे सङ्ग्रामरूपे कषपाषाणे सत्त्वोत्कर्षात् सत्त्वगुणस्य वीर्यस्योत्कर्षाद्बाहुल्याद् दृष्टसारस्समर्थितशक्तिः परीक्षितबलो वाऽधुना, यदा नास्ति कोऽपि निस्तारमार्गस्तदा, मित्रस्नेहात् सुहृदि चन्दनदासे यो ममानुरागस्तत्कारणाद्विवशं व्याकुलं मां साहसे साहसिकव्यापारे नियुक्ते प्रेरयन्निव दृश्यत इति भावः ॥ १९ ॥

टिप्पणी—किमपि पुरानुभूतं निस्त्रिंशविषयकं विचारयतोऽथ च करिष्यमाणं किमपि साहसकार्यं निश्चिन्वानस्य राक्षसस्य मनोदशां मन्दाक्रान्तावृत्तेन वर्णयन् कविरयं किमपि वृत्तौचित्यमत्र प्रकाशयति।

पुरुष—महाराज ! आप ! क्या चन्दनदास को बचायेंगे ! भला कैसे !

राक्षस—(तलवार खींचकर) ऐसे ! इस तलवार से ! अपने पुरुषार्थ के एकमात्र इस अभिन्नमित्र से ! क्या देखते नहीं कि—

'यह तलवार, यह मेघनिर्मुक्त आकाश की भांति चमकने वाली मेरी तलवार, यह मारने और मर-मिटने की उत्सुकता से आह्लादित, मेरे हाथ से अपना नाता जोड़ लेने वाली तलवार, यह संग्राम की कसौटी पर शत्रुओं द्वारा कसी गयी और अपने पराक्रम तथा गौरव से खरी निकलने वाली मेरी तलवार आज मित्रप्रेम से उऋण होने के लिये, मुझे जिस दुःसाहस की ओर भी विवश कर दे वही थोड़ा !' ॥ १९ ॥

पुरुषः—आर्य ! एवं श्रेष्ठिचन्दनदासजीवितं भवतीति श्रुतं, विषमदशाविभागपरिणामपतितो न शक्नोमि निश्चितपदं प्रतिपत्तुम् । (विलोक्य पादयोर्निपत्य) अथ सुगृहीतनामधेया अमात्यराक्षसपादा यूयमिति, तत् कुरु मे प्रसादं सन्देहनिर्णयेन (अज्ज ! एवं सेट्ठिचन्दणदासजीविदं होदि त्ति सुणिदं, विसमदसाविभाअपरिणामपड़िदो ण सक्कणोमि णिच्चिदपदं पडिवत्तुं । अघ सुगिहीदणामधेआ अमच्चरक्खसपादा तुझे त्ति, ता करेहि मे प्पसादं संदेहणिण्णएण)।

राक्षसः—भद्र ! सोऽहमनुभूतभर्त्तृवंशविनाशः सुहृद्विनाशहेतुरनार्यो दुर्गृहीतनामा यथार्थो राक्षसः ।

पुरुषः—(सहर्षं पुनः पादयोर्निपत्य) प्रसीदत, प्रसीदत । आश्चर्यम् ! दिष्ट्या कृतार्थोऽस्मि (प्पसीदध, प्पसीदध ! हीमाणहे ! दिट्ठिआ कदत्थोह्मि) ।

राक्षसः—भद्र ! उत्तिष्ठोत्तिष्ठ, कृतमिदानीं कालहरणेन, निवेद्यतां जिष्णुदासाय—'यथैष राक्षसः चन्दनदासं मरणान्मोचयति' । (इति 'निस्त्रिंशोऽयम्' इत्यादि पठन् आकृष्टखड्गः परिक्रामति)।

पुरुषः—(पादयोर्निपत्य) प्रसीदन्तु प्रसीदन्त्वमात्यराक्षसपादाः ।

पुरुष—महाराज ! सेठ चन्दनदास का कुछ ऐसा छुटकारा संभव है यह तो सुना रहा किन्तु इस दुर्दशाग्रस्त परिस्थिति में पड़े २ ठीक समझ नहीं पा रहा हूँ कि क्या महाराज ही तो वे प्रातः स्मरणीय अमात्यराक्षस नहीं ? कृपा करें महाराज ! सन्देह दूर करने की दया करें ।

राक्षस—हां भाई ! मुझे ही अपने आपको चरितार्थ करने वाला वह महानीच राक्षस समझो—अपने राजवंश के विनाश को खड़े २ देखने वाला और अपने प्रियमित्र के सर्वनाश का एकमात्र कारण !

पुरुष—(प्रसन्नता पूर्वक पैरों पर गिर कर) कृपा हो महाराज ! कृपा । कितना आश्चर्य ! कृतार्थ हो गया, मैं तो कृतकृत्य हो उठा !

राक्षस—उठो भाई ! उठो । एक क्षण का विलम्ब न होने पावे । जिष्णुदास से जाकर निवेदन कर दो कि राक्षस स्वयं चन्दनदास को मौत से छुड़ा रहा है । ('निस्त्रिंशोऽयम्' इत्यादि पढ़ते हुये, तलवार खींचे इधर-उधर घूमता है)

पुरुष—(पैरों पर गिरकर) महामात्य ! महामन्त्रिवर ! कृपा की जाय ।

अस्ति तावदत्र नगरे प्रथमं चन्द्रगुप्तहतकेनाऽऽर्यशकटदासस्य वध आज्ञप्तः। स च केनापि वध्यस्थानादपहृत्य देशान्तरमपवाहितः। अतश्च-न्द्रगुप्तहतकेन 'कस्मात् प्रमादः कृतः ?' इति आर्यशकटदासवधवञ्चनया समुज्ज्वलितो रोषाग्निर्घातकजनवधजलेन निर्वापितः। ततः प्रभृति घातका यं कमपि गृहीतशस्त्रम् अपूर्वं पुरुषमग्रतः पश्चाद्वा प्रेक्षन्ते, तदाऽर्द्धपथे एवात्मनो जीवितं परिरक्षन्तोऽप्रमत्ता एतेऽप्राप्तवध्यस्थानं वध्यं व्यापदयन्ति। तस्मादेवं गृहीतशस्त्रैरमात्यपादैस्तत्र गच्छद्भिः श्रेष्ठिचन्दनदासस्य वधस्त्वरायितो भवति (प्पसीदन्तु प्पसीदन्तु अमच्चरक्खसपादाः। अत्थि दाव एत्थ णअरे प्पढमं चन्दउत्तहदएण अज्जसअडदासस्स वधो आणत्तो। सो अ केणावि वज्झट्ठाणादो अवहरिअ देसान्तरं अवबाहिदो। तदो चन्दउत्तहदएण कीस प्पमादो किदो त्ति अज्जसअडदासबधवञ्चणाए समुज्जलिदो रोसग्गो घादअजणबधजलेण णिव्वाविदो। तदो पहुदि घादआ जं कं पि गहीदसत्थं अपुव्वं पुरुसं अग्गदो पच्चादो वा पेक्खन्ति, तदो अद्धपधे ज्जेव अत्तणो जीविदं परिरक्खन्तो अप्पमत्ता एदे अप्पात्तबज्झट्ठाणं बज्झं बाबादेन्ति। ता एव्वं गहीदसत्थेहि अमच्चपादेहिं तहिं गच्छन्तेहि सेट्ठिचन्दनदासस्स वहो तुबाराइदो होहि)।

(इति निष्क्रान्तः)

अभी कुछ ही दिन पहले की बात है—कि इस नगर में इस दुष्ट चन्द्रगुप्त के द्वारा आर्य शकटदास के वध की आज्ञा निकाली गयी। पता नहीं किसने वध्यभूमि से ही इसे हटा दिया और कहीं अन्यत्र पहुंचा दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि इस हत्यारे चन्द्रगुप्त ने आर्य शकटदास के वध में हुई अपनी वञ्चना से धधकती अपनी क्रोधाग्नि को, वधिकों की ही असावधानी देख, उन्हीं लोगों के रुधिर-जल से बुझा डाला। तभी से जैसे ही हाथ में हथियार लिये, आगे-पीछे चलते, फिरते, अजनबी व्यक्ति पर वधिक लोगों की दृष्टि पड़ जाय, वैसे ही, अपना प्राण बचाने के लिये, पूरी सावधानी दिखाते वधिकों के द्वारा बिना वध्यभूमि पर पहुंचाये हुये ही, चाहे कोई भी प्राणदण्ड से दण्डित हो, रास्ते में ही मार डाला जाया करता है। अब यदि महामात्य इस प्रकार शस्त्र धारण किये चलते फिरते दीख गये तब तो सेठ चन्दनदास का वध जो कभी बाद में हो अभी होता दिखाई देगा!

(बाहर चला जाता है)

राक्षसः—(स्वगतम्) अहो ! दुर्बोधश्चाणक्यवटोर्नीतिमार्गः । कुतः?—

यदि स शकटो नीतः शत्रोर्मतेन ममान्तिकं
किमिति निहतस्तेन क्रोधाद् वधाधिकृतो जनः ? ।
अथ न कृतकं तादृक्कष्टं कथं नु विभावये-
दिति मम मतिस्तर्कारूढा न पश्यति निश्चयम् ॥ २० ॥

(विचिन्त्य) तस्मात्—

नायं निस्त्रिंशकालः प्रथममिह कृते घातकानां विघाते

यदीति—**चाणक्यस्य कूटनयं ध्यायं ध्यायमप्यनिश्चिन्वानस्य राक्षसस्य चिन्तनमिदम्—यदि शत्रोश्चाणक्यस्य मतेनाऽनुज्ञानेन शकटश्शकटदासः ममान्तिकं मम समीपं नीतः प्रापितस्तदा तेन शत्रुणा चाणक्येन वधाधिकृतः वधाय नियुक्तो जनः वधिकसार्थः किमिति क्रोधान्निहतः कस्माद्धतोऽस्सकोपं व्यापादितः? अथैतत्सर्वं न कृतकं न कपटकार्यमपि तु यथार्थमेव पर्यवसन्नं तदात्वे तादृक् कष्टं तथाविधं स्वामिद्रोहरूपं पापकर्म कथं नु शकटदासो विभावयेत् कथं स्वकर्त्तव्येन निश्चिनुयात्? हन्त ! मम मतिः मद्बुद्धिरितीत्थं तर्कारूढा संशयदोलायां दोलायमाना सन्देहचक्रचङ्क्रमे वा भृशं पतिता निश्चयं निर्णयं न पश्यति नाभिजानातीति भावः ॥ २० ॥**

नायमिति—**स्वात्मसमर्पणमेव चन्दनदासमोक्षोपायं मन्वानस्य राक्षसस्योक्तिरियम्—हन्त ! चन्दनदासमोचनरूप आरम्भ प्रथममेव मत्तः क्रियमाणस्य करि-**

राक्षस—(स्वगत) अरे ! इस धूर्त चाणक्य की राजनीति की तो चालें कुछ समझ में ही नहीं आतीं ! क्योंकि—

'यदि यह शत्रु की ही चाल रही कि शकटदास मेरे पास पहुंचा दिया जाय, तो भला वधिक लोगों को क्रोधवश क्यों कर मार डाला गया ! और यदि यह सब शकटदास-सम्बन्धी बात बनावटी यहीं अपितु सच ही रही तब भला क्यों कर शकटदास ऐसी नीचता और ऐसी नृशंसता पर उतारू हो गया ! ओ ! एक के बाद एक संदेह उठते चल रहे हैं, कहीं भी तो मेरी बुद्धि इन पर चढ़ी ठिकाने नहीं लग पाती !' ॥ २० ॥

(कुछ सोच समझ कर)

इसलिये 'जब कि वधिक, मेरे हाथ में तलवार देखते ही, चन्दनदास का वध कर डालें तब भला तलवार चलाने का यह समय कैसा ! और जब कि नीति को

नीतिः कालान्तरेण प्रकटयति फलं किं तया कार्यमत्र ?।
औदासीन्यं न युक्तं प्रियसुहृदि गते मत्कृते चातिघोरां
व्यापत्तिं, ज्ञातमस्य स्वतनुमहमिमां निष्क्रयं कल्पयामि ।।२१।।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति मुद्राराक्षसे षष्ठोऽङ्कः ॥ ६ ॥

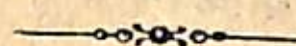


ष्यमाणस्य वा शत्रुबलसंचयस्य प्रागेव घातकानां वधिकजनैरिति भावः, चन्दनदासस्य विघाते मारणे कृते सम्पन्ने सति नैष्फल्यान्नायं निस्त्रिंशकालः खड्गधारणावसरो मम। नीतिश्च कालान्तरेण बहुकालानन्तरं फलं प्रकटयति साधयतीति हेतोरत्राऽस्मिन् सपदि कर्त्तुंयोग्ये कार्ये तया नीत्या किं कार्यं न किमपि प्रयोजनं सिध्यतीति भावः। किन्तु मत्कृते मदर्थं प्रियसुहृदि प्रियवयस्ये चन्दनदासेऽतिघोरां महादारुणां व्यापत्तिं विपदं गते प्राप्तवत्यौदासीन्यं नैरपेक्ष्यं चापि न युक्तं नैवोचितम्। आः ज्ञातम्! बुध्यते करणीयं यद्धि केवलमेवं रूपं यदहमिमां स्वतनुं स्वशरीरं यद्धारणादिभारभूतं तत्स्वशरीरमस्य चन्दनदासस्य निष्क्रयं मोचनशुल्कं कल्पयामि सम्पादयिष्यामीति भावः। भविष्यत्सामीप्ये लट्प्रयोगः।

टिप्पणी—(१) पञ्चमाङ्के 'किं' गच्छामि तपोवनमित्यादि चिन्तयतो राक्षसस्य हृदयान्निर्वेदकण उच्छलितोऽत्र तु वीर्यातिरेकिणस्तस्यान्तरात्मनो मतिरूपो भाव उल्लसति। वीरो रसोऽत्र व्यङ्ग्य एव स्थितः।

(२) निवहणस्योपक्रमस्सुनिपुणं वर्णितो नाटककविनाऽत्र। यस्योपसंहारायाग्रिमोऽङ्कोऽपेक्षित एवेति।

इति राक्षसनिर्वेदो नाम षष्ठोऽङ्कः।



चाल का कभी कालान्तर में ही कोई फल मिल सके तब इस से भी क्या प्रयोजन! किन्तु, जब कि मेरे ही लिये मेरे मित्र की ऐसी भयंकर दुर्दशा हो रही हो, तो मेरी निरपेक्षता भी तो सर्वथा अनुचित रही! बस अब तो एक ही उपाय बच रहा–कर दूं आत्म–समर्पण, दे दूं अपने इस शरीर को चन्दनदास के छुटकारे का मूल्य!' ॥ २१ ॥

(सभी पात्र रंगमंच से चले जाते हैं।)

षष्ठ अङ्क–समाप्त।



सप्तमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चण्डालः)

चण्डालः—

अपसरत आर्याः ! अपसरत, अपेत मान्याः ! अपेत—
यदि रक्षितुं मन्यध्वं प्राणं विभव, कुलं, कलत्रं च ।
परिहरत तस्मात् विषमिव राजापथ्यं प्रयत्नेन ॥ १ ॥

(ओसलध अज्जा ! ओसलध, अवेध माणहे ! अवेध—
जइ लक्खिदुं मणद्धं प्पाणे, बिहवे, कुले, कलत्ते अ ।
पलिहलध ता विसं बिअ लाआपत्थं प्पअत्तेण ॥ १ ॥)

धृतचण्डालभूमिकस्सिद्धार्थकस्तदन्यो वा वधिकवेषधारीचन्दनदासं वध्यभूमिं नयन् जनसम्मर्दं तद्दर्शनागतं समुत्सारयन्नाह—अपसरतेति ।

यदिति—अपसरत आर्याः ! अपसरत ! यदि प्राणं प्रियाप्रियतरमात्मानं, विभवं काम्यमानं धनादि, कुलं सौभाग्यभूतमभिजनमथ च कलत्रं स्वस्य दारान् रक्षितुं परित्रातुं मन्यध्वम् यूयमिच्छत तस्मात् ततो हेतोः प्रयत्नेन सर्वदा सर्वथा च प्रयासपूर्वकमपि विषमिव राजापथ्यं हलाहलमिव राजानिष्टचिन्तनं राजविद्रोहं वा परिहरत दूरे त्यजत ॥ १ ॥

टिप्पणी—(१) षष्ठेऽङ्के प्रस्तावितस्यार्थस्यैवावतरणं कविना क्रियतेऽत्र सप्तमेऽङ्के । यद्यपि राक्षसवशीकारस्सम्पन्नकल्पस्तथाऽपि राक्षसस्य मौर्यामात्यत्वस्वीकरणरूपं यत्परमं प्रयोजनं तन्निर्वहणरूपोऽयमन्तिमोऽङ्कोऽपेक्षित एव नानपेक्षित इति ।

(२) 'विषमिव राजपथ्यं परिहरते'त्यत्र योऽयं धर्मलुप्तोपमालङ्कारः स तु कामपिच्छायां बिभर्ति । साधारणधर्मस्य प्राणहरणत्वादेरत्र लोपः । किं कृत इति चेत् ? सर्वविदितोऽयं विषस्य प्राणहरणरूपस्स्वभावो धर्मो वा । विष इति बुध्यमान एवोपमानभूतेऽर्थे तद्धर्माणां प्राणहरणत्वादीनां स्वत एव हृदयङ्गमत्वात् । यथाऽत्रोपमाने तथैवोपमेयेऽपि राजापथ्ये प्राणहरणरूपधर्मस्य सर्वप्रतीतिसिद्धत्वात्तल्लोप एव वाच्यविच्छित्तिकर इति नोपात्तः । उपमैव चाऽत्र कवेरभिप्रेततरा तयैव हि सध-

---

(चण्डाल-वधिक-वेषधारी एक पुरुष का प्रवेश)

चण्डाल—हटो, हटो लोगों ! हटो,

'राज विद्रोह से दूर हटो, यदि अपने प्राण, अपनी धन-सम्पत्ति, अपने कुल-कुटुम्ब से कोई मोह हो तो विष के समान राज-द्रोह से बचते-बचाते रहो' ॥१॥

अपि च—

भवति पुरुषस्य व्याधिर्मरणं वा सेविते अपथ्येऽपि।
राजापथ्ये पुनः सेविते हि सकलमपि कुलं म्रियते ॥ २ ॥

अवि अ—

(होदि पुलिसस्स व्वाही मलणं बा सेबिदे अपत्थेबि।
लाआपत्थे उण सेविदे सअलं वि कुलं मलदि ॥ २ ॥)

तद्यदि न प्रत्ययध्वं, तदा प्रेक्षध्वमेनं राजापथ्यकारिणं श्रेष्ठिचन्दन-दासं वध्यस्थानमानीयमानं सपुत्रकलत्रम्। (आकाशे , आर्याः ! किं भणथ ? अस्ति किं चन्दनदासस्य मोक्षोपाय' इति ? कुतोऽस्याधन्यस्य मोक्षोपायः ? एतत्तु पुनरस्ति-स यद्यमात्यराक्षसस्य गृहजनं समर्पयति।

मर्णोर्द्वयोर्विषराजद्रोहयोः प्रातिस्विकं स्वरूपं प्रतीतिपथमानयन्त्या परिस्फुटं पारस्परिकं साधर्म्यं प्रकाशीक्रियते। सेयमुपमाऽत्र व्यतिरेकालङ्कारमभिव्यनक्ति। कवेर्विवक्षितोऽयं व्यतिरेकध्वनिः। प्राणनाशनं विषं राजापथ्यं तु सर्वनाशनमिति प्रतीतेरेवाऽत्र सुतरामभिप्रेततमत्वादिति।

पुनरपि भङ्ग्यन्तरेण पूर्वोक्तमेव प्रस्तौति—भवतीति। अपथ्ये अहितकरे कस्मिंश्चिद्विषादौ सेविते सति पुरुषस्य जनस्य व्याधिश्शरीरपीडामरणं प्राणपीडा वा भवति। राजापथ्ये राजानिष्टकरे राजविद्रोहरूपे वस्तुनि पुनस्सेविते हि सकलमपि कुलं म्रियते नैकस्य विनाशोऽपि तु सपुत्रकलत्रस्य कुटुम्बस्यैव विनाशो निश्चित इति परिहरत राजद्रोहमिति शेषः ॥ २ ॥

और भी सुनो,

'और कोई अकार्य यदि कर लो तो केवल रोग पकड़े या अधिक से अधिक मौत हो जाय, किन्तु यह राज-द्रोह! अरे इसके फेर में कहीं पड़ गये तो सारा वंश ही सर्वनाश में मिल जायगा!' ॥ २ ॥

अरे! क्या तुम्हें इसका विश्वास नहीं! देखलो, देखलो इस राज-विद्रोही को, इस सेठ चन्दनदास को इस बाल-बच्चों समेत बध्य-भूमि पर घसीटे ले जाते हुये को! (शून्य की ओर देखकर) अरे! क्या तुमने कहा-चन्दनदास का छुटकारा कैसे हो? अरे भला इस अभागे का छुटकारा कहां! इसका तो बस एक ही उपाय रहा-यदि अमात्य राक्षस का परिवार किसी प्रकार सौंप दे! (पुनः

(पुनराकाशे) किं भणथ ? 'एष शरणागतवत्सल आत्मनो जीवितस्य कारणेनेदृशमकार्यं न करिष्यती'ति । आर्याः । यद्येवं, तेन ह्यवधत्तास्य शुभगतिम् । किमिदानीं युष्माकं प्रतीकारविचारेण ? (ता जइ ण प्पत्तिआअध, तदा पेक्खध एणं लाआपत्थकालिणं सेट्ठिचन्दणदासं वज्झट्ठाण आणीअमाणं सपुत्तकलकत्त । अज्जा ! किं भणध ? अत्थि किं चन्दणदासस्स मोक्खोबाओ त्ति ? कुदो से अधणस्स मोक्खोबाओ ? एद उण अत्थि-सो जइ अमच्चरक्खसस्स घरअणं समप्पेदि किं भणध ? एसो सलणागदबच्छलो अत्तणो जीबिदस्स कालणेण ईरिसं अकज्जं ण कलिस्सदित्ति ? अज्जा ! जइ एब्वं त्तेण हि अवधाणेध से सुभगदिं । किं दाणीं तुह्माणे प्पडीआलविआरेण)

(ततः प्रविशति द्वितीयचण्डालानुगतो वध्यवेषधारी शूलं स्कन्धेनादाय कुटुम्बिन्या पुत्रेण चानुगम्यमानश्चन्दनदासः)

चन्दनदासः—हा धिक्, हा धिक् ! अस्मादृशानामपि कथं नित्यचारित्रभङ्गभीरूणां चौरजनोचितं मरणं प्राप्तमिति नमः कृतान्तस्य । अथवा न नृशंसानामुदासीनेष्वितरेषु वा विशेषोऽस्ति । तथा हि—

मुक्त्वा आमिषाणि मरणभयेन तृणैर्जीवन्तम् ।

चन्दनदासस्स्वात्मानं निरपराधमपि प्राणदण्डेन दण्ड्यमानमनुशोचति—मरणभयेन कश्चित् प्राणी म्रियेतेति । भीत्या आमिषाणि मांसादीनि मुक्त्वा त्यक्त्वा तृणैर्घासादिभिर्जीवन्तं वृत्तिं कल्पयन्तं मुग्धहरिणं सरलस्वभावं मृगादिकं हन्तुं व्याधा-

---

शून्य की ओर देखते) अब क्या पूछते हो ? क्या यह कि भला ऐसा शरणागत परित्राता अपने प्राणों के लिये ऐसा कुकर्म करे ? अरे भाइयों ! तब तो मनाओ, इसकी सद्गति मनाओ, छुटकारे के उपाय पूछने से क्या ?

(दूसरे चण्डाल के साथ, बाल-चच्चों समेत, वध्यवेष धारी कंधे पर शूल उठाये चन्दनदास का प्रवेश)

चन्दनदास—अनर्थ ! इतना बड़ा अनर्थ !! भला हम सरीखे निरन्तर चरित्र-दोष से डरते रहने वाले की एक चोर की भांति मौत ! प्रणाम धर्मराज ! प्रणाम स्वीकार हो । किन्तु भला इससे क्या होगा ! नृशंसों के लिये अपराधी और निरपराध में क्या भेद !

'भला जीव हिंसा के भय से मांस खाना छोड़ कर, केवल प्राण-रक्षा के लिये

व्याधानां मुग्धहरिणं हन्तुं को नाम निर्बन्धः ? ॥ ३ ॥

(हद्धी ! हद्धी !! अह्मारिसाणं वि कधं णित्तचारित्तभङ्गभीरुणं चोरजणोचिदं मलण पत्तं त्ति णमो किदन्तस्स । अहवा ण णिससाणं उदासीणेसु वा विसेसो अत्थि ? तधा हि—

(मौत्तूण आमिसाइं मलणभएण तिणेहिं जीवन्तम् ।

बाहाणं मुद्धरिणं हन्तुं को णाम णिब्बन्धो ? ॥ ३ ॥)

(समन्तादवलोक्य) भो प्रियवयस्य जिष्णुदास ! कथं प्रतिवचनमपि मे न प्रतिपद्यसे इति । अथवा, दुर्लभाः खल्वेते पुरुषाः, येऽस्मिन् काले दृष्टिपथेऽपि तिष्ठन्ति । (सवाष्पम्) एतेऽस्मत्प्रियवयस्या अश्रुपातमात्रेण कृतप्रतीकारा निवर्त्तमानाः परिवर्द्धमानशोकदीनवदना वाष्पगुर्व्या दृष्ट्या मामनुगच्छन्ति । (इति परिक्रमति) (भो प्पिअवअस्स जिण्णुदास ! कधं प्पडिअवणं वि मे ण प्पडिवज्जसि त्ति । अधवा दुल्लहा क्खु पुरिसा, जे इमस्सि काले दिट्ठिपधे वि चिट्टन्ति । एदे अह प्पिअवअस्सा अस्सुवादमेत्तकेण किदप्पदीआरा कहं विणिवत्तमाणा परिवढ्ढमाणसोअदीणवदणा वाप्फगरुआए दिट्ठीए मं अणुगच्छन्दि)

नां मृगयाजीवानां को नाम निबन्धः कीदृशो दुराग्रह इति नावधारयितुं शक्यते । क्रौर्यमेव केवलमत्र कारणमिति भावः ॥ ३ ॥

टिप्पणी— अत्राऽप्रस्तुतस्य व्याधादेः मृगमारणाध्यवसायस्योक्त्याप्रस्तुतस्य चाणक्यकर्तृकचन्दनदासवधनिर्बन्धस्याऽवगमादप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः ।

घास-फूस पर जीवन बिताने वाले हिरणों को भी मारने को जब व्याध इतने तत्पर हो उठते हैं तब क्या कहा जाय और क्या न कहा जाय !' ॥ ३ ॥

(चारों ओर देखते हुये)

क्यों भाई जिष्णुदास ! क्यों क्या तुम भी हमें नहीं पूछते ! अरे ! भला ऐसे मौके पर तो विरले ही लोग न होते होंगे जो दिखाई भी दे सकें ! (आंखों में आंसू भर कर) अरे ! ये रहे हमारे प्रियमित्र बने-बनाये लोग ! अपने आंसू बहा कर हमारा छुटकारा चाहने वाले ! उमड़ते हुये शोक से म्लान-मुख दीख पड़ने वाले ! आंसू भरी आंखों से घूर २ कर देख-दाख उलटे पांव लौट पड़ने वाले ! (चलता जाता है)

चण्डालौ—(परिक्रम्यावलोक्य च) आर्य चन्दनदास ! आगतोऽसि वध्यस्थानं, तत् विसर्ज्जय परिजनम् (अज्ज चन्दणदास ! आगदोसि बज्झट्ठाणं ता बिसज्जेहि पणिअणं)

चन्दनदासः—आर्ये । कुटुम्बिनि ! निवर्त्तस्व त्वं सपुत्रा । वध्यस्थानं खल्वेतत् , अतोऽपरमभूमिः खल्वनुगन्तुम् (अज्जे ! कुटुम्बिणि ! णिवत्तस्स तुमं सपुत्ता । वज्झट्ठाणं क्खु एदं, अदो अवरं अभूमि क्खु अणुगच्छिदुम्)

कुटुम्बिनी—(सबाष्पम्) परलोकं प्रस्थित आर्यो न पुनर्देशान्तरं तद-योग्यमिदानीं कुलजनस्य निवर्त्तितुम् (परलोअं प्पत्थिदो अज्जो, ण उण देसन्तरं, ता अज्जोग्गो दाणीं कुलजणस्स णिवत्तिदुं)

चन्दनदासः—'आर्ये ! सत्यं, मित्रकार्येण मम विनाशो, न पुरुषदोषेण; तत् किं हर्षस्थानेऽपि रोदिषि' ? इति (अज्जे ! सच्चं; मित्तकज्जेण मम बिणासो ण पुरिसदोसेण । ता किं हरिसट्ठाणे वि रोइसि त्ति ?)

कुटुम्बिनी—आर्य ! यद्येवं, तदनुचितमिदानीं कुलजनेन निवर्त्तितुम् (अज्ज ! जइ एव्वं, ता अणुचिदं दाणीं कुलजणेण णिवत्तिदुं)

चन्दनदासः—अथ किं व्यवसितमार्यया ? (अध किं व्ववसिदं अज्जाए)

कुटुम्बिनी—(सबाष्पम्) भर्त्तुश्चरणमनुगच्छन्त्या—आत्माऽनुग्रहो भवति

दोनों चण्डाल—(चलते हुये देखकर) आर्य चन्दनदास ! अब पहुंच गये आप वध्य-स्थान पर, लौटाइये अपने जन-परिजनों को ?

चन्दनदास—अरी हमारी बाल-बच्चों वाली ! लौट जा ! हम तो अब वध्य-भूमि पर आ पहुंचे, अब कहां तक हमारा साथ दोगी !

कुटुम्बिनी—(आंखों में आंसू भरे ओह ! आप तो परदेश कहां, अब तो, परलोक चल पड़े ! मुझे न छोड़िये, साथ ही चलूंगी ।

चन्दनदास—अरी हंसने के मौके पर रो क्यों रही हो ! मैं तो मित्रता निभाने के नाते सदा के लिये चल पड़ा, किसी अपराध में तो नहीं !

कुटुम्बिनी—आर्य ! तभी तो चाहती हूं कि मुझे भी साथ ले चलें ।

चन्दनदास—अरी ! क्या कर रही हो ?

कुटुम्बिनी—(जल डबायी आंखों से) कुछ नहीं, आपके चरणों पर

इति (भत्तुणो चलणमणुगच्छन्तीए अप्पाणुग्गहो होदि त्ति)

चन्दनदासः—**आर्ये ! दुर्व्यवसितमिदन्ते, तदिदानीमार्ययाऽयमश्रुतलोकव्यवहारः कुमारोऽनुग्रहीतव्य इति** (अज्जे ! दुव्ववसिदं एदं दे, ता दाणीं अज्जाए अअं असुणिदलोअव्ववहारो कुमारो अणुगेह्णिदव्वो त्ति)

कुटुम्बिनी—**अनुगृह्णन्त्वेनं प्रसन्नाः कुलदेवताः। जात ! पुत्रक ! प्रणम अपश्चिमस्य पितुः पादयोः** (अणुगेह्णन्तु णं प्पसण्णाओ कुलदेवदाओ। जाद ! पुत्तअ ! प्पणम अपच्छिमस्स पिदुणो पाएसुं)

पुत्रः—(पादयोर्निपत्य) **तात ! मया तातविरहितेन किमनुष्ठातव्यम् ?** (ताद ! मए तादबिरहिदेण किं अणुचिट्ठिदव्वं ?)

चन्दनदासः—**पुत्र ! चाणक्यविरहिते देशे वस्तव्यम्** (पुत्त ! चाणक्कविरहिदे देसे वसिदव्वं)

चण्डालौ—**आर्य चन्दनदास ! निखातः शूलः, तदिदानीं सज्जो भव** (अज्ज ! चन्दणदास ! णिखादे शूले, ता दाणीं सज्जो होहि)

कुटुम्बिनी—**आर्याः ! परित्रायध्वं परित्रायध्वम्** (अज्जा ! पलित्ताअध पलित्ताअध)

चन्दनदासः—**भद्रमुख। मुहूर्त्तं तिष्ठ। अयि जीवितवत्सले ! किमत्रा-**

चलती तो कृतार्थ हो जाती !

चन्दनदास—अरी ! ऐसा अनर्थ न कर। कम से कम इस अबोध, भोले-भाले बच्चे पर तो दया कर।

कुटुम्बिनी—इस पर तो कुलदेवता कृपा करें। मेरे बच्चे ! प्रणाम कर ले, अब सदा के लिये बिदा लेने वाले अपने पिता के पैरों पर गिर जा।

पुत्र—(पिता के पैरों पर गिरते हुये) पिता जी ! आप तो मुझे छोड़ चले ! बताते जाइये-क्या करूं मैं ?

चन्दनदास—मेरे बच्चे ! वहां जाकर रह जहां चाणक्य न पहुंच पाय।

दोनों चण्डाल—आर्य चन्दनदास ! सूली गड़ चुकी, तैयार हो जाइये !

कुटुम्बिनी—बचाओ, अरे ! कोई बचाओ।

चन्दनदास—अरे भाई थोड़ी देर तो रुक जा। अरी प्राण प्यारी ! क्यों

क्रन्दसि ? स्वर्गं गताः खलु ते देवाः नन्दाः, ये दुःखितं स्त्रीजनं प्रतिदिनमनुकम्पन्ते (भद्दमुह ! मुहुत्तअं चिट्ठ । अइ जीविदवच्छले ! किं एत्थ आक्कंदसि ? सग्गं गदा क्खु ते देवा णन्दा, जे दुक्खिदं इत्थीजणं प्पइदिणं अणुकम्पन्ति)

प्रथमश्चण्डालः—अरे वेणुवेत्रक ! गृहाणेमं चन्दनदासम् । गृहजनः स्वयमेव गमिष्यति (अले वेणुवेत्तका ! गेह्ण इमं चन्दणदासं । घलजणो स्सअं ज्जेव गमिस्सदि) ।

द्वितीयश्चण्डालः—अरे वज्रलोमक ! एष गृह्णामि (अले वज्जलोमआ ! एसे गेह्णामि) ।

चन्दनदासः—भद्रमुख ! तिष्ठ मुहूर्त्तम् , यावत् पुत्रकं परिष्वजामि । (इति पुत्रं परिष्वज्य मूर्ध्नि समाघ्राय) जात ! पुत्रक ! अवश्यम्भवितव्येऽपि विनाशे मित्रकार्यं समुद्वहमानो विनाशमनुभवामि (भद्दमुह ! चिठ्ठ मुहूत्तअं, जाव पुत्तअं परिस्सआमि जाद ! पुत्तअ ! अवस्सं भविदव्वेवि विणासे मित्तकज्जं समुव्वहमाणो बिणासमणुभवामि) ।

पुत्रः—तात ! इदं खलु भणितव्यं किं कुलक्रमः खल्वेषोऽस्माकम् ? (इति पादयोः पतति) (ताद ! एदं क्खु भणिदव्वं, किं कुलक्कमो क्खु एसो अह्माणं ?) ।

रो रही हो ? अब भला हमारे महाराज नन्द कहां जो दुःख में पड़ी स्त्री को देखते ही पसीज उठते रहे ।

पहला चण्डाल—अरे वेणुवेत्रक ! पकड़ ले चन्दनदास को । भाग जायंगे सभी इसके लोग, अपने भाग खड़े होंगे ।

दूसरा चण्डाल—अरे बज्रलोमक ! देख, अभी पकड़ता हूँ ।

चन्दनदास—क्यों भाई ! क्या थोड़ी देर भी नहीं ठहर सकते ? कम से कम बच्चे से तो गले लग लेने दो ! (बच्चे से गले मिल उसका सिर सूंघते हुये) मेरे बच्चे मेरे ! लाल ! एक दिन तो मरना ही है किन्तु आज मैं अपने मित्र के लिये मर रहा हूँ ।

पुत्र—पिता जी ! तो क्या हमारे कुल की यही रीति रहती आयी है ? (पैरों पर गिर पड़ता है)

द्वितीयश्चण्डालः—**अरे गृहाण वज्रलोमक !** (अले गेह्न वज्जलोमआ !)

(चण्डालौ गृहीतश्चन्दनदासमारोपयितुं शूले)

कुटुम्बिनी—(सोरस्ताडम्) **आर्याः ! परित्रायध्वम् परित्रायध्वम्** (अज्जा ! पलित्ताअध पलित्ताअध)।

राक्षसः—(पटाक्षेपेण प्रविश्य) **भवति ! न भेतव्यं न भेतव्यम्। भो भो शूलायतनाः ! न खलु व्यापादनीयश्चन्दनदासः। कुतः ?—**

येन स्वामिकुलं रिपोरिव कुलं दृष्टं विनश्यत् पुरा
मित्राणां व्यसने महोत्सव इव स्वस्थेन येन स्थितम्।
आत्मा यस्य वधाय वः परिभवक्षेत्रीकृतोऽपि प्रियः
तस्यायं मम मृत्युलोकपदवी वध्यस्रगाबध्यताम् ॥ ४ ॥

राक्षसश्शूलमारोढुमुद्यतं चन्दनदासं ध्यायं ध्यायं विस्मृतस्वप्राणरक्षणचिन्तश्शूलाधिकारिणो वक्ति—येन स्वामिकुलमित्यादि। **अये शूलायतनाः ! न खलु न खलु व्यापादनीयोऽयं महात्माचन्दनदासः ! अये ! इयं भवद्धस्तपरिवर्तमाना मृत्युलोकपदवी मृत्योर्यमस्य लोक आवासस्तस्य पदवी वर्तनीव विभाव्यमाना वध्यस्रक् 'अयमसौ वधार्ह' इति सूचयन्ती करवीरकुरण्टकादिमाला तस्य महाधमस्य मम राक्षसहतकस्य वधाय राक्षसं हन्तुमित्यर्थं आवध्यताम् पिनह्यतां गल इति शेषः,**

चण्डाल—अरे वज्रलोमक ! पकड़ता क्यों नहीं इसे ?

(दोनों चण्डाल चन्दनदास को सूली पर चढ़ाने के लिये पकड़ लेते हैं)

कुटुम्बिनी—(छाती पीटती हुई) बचाओ, अरे कोई बचाओ !

(पर्दा हटाकर रंगमंच पर राक्षस प्रवेश कर) अरी ! डरो मत, डरो मत ! अरे सूली देने वाले लोगों ! मत मारो, चन्दनदास को मारो मत !

अरे मृत्यु लोक की पगडण्डी, यह वध्यजन के गले में डाली जाने वाली माला, इस मुर्ख राक्षस को मारने के लिये, इसे मेरे गले में डाल दो ! अरे ! मैं ही रहा वह पापी, जिसने अपने राजवंश को मिट्टी में ऐसे मिलते देखा जैसे कोई शत्रुवंश ही मिट्टी में मिल रहा हो ! अरे मैं ही रहा वह नीच जिसके, मित्रों पर पड़े संकट-काल में मन पर कुछ भी नहीं बीता मानो उत्सव मनाया जा रहा हो अरे मैं ही वह राक्षस हूँ ! जो तुम्हारे सरीखे लोगों के द्वारा अपमानित और लज्जित होने पर भी अपने प्राणों का मोह लिये भागता फिर रहा हूं !' ॥ ॥

चन्दनदासः—(विलोक्य सवाष्पम्) अमात्य ! किमिदं ते व्यवसितम् ? (अमच्च ! किं एदं दे व्ववसिदं ?) ।

राक्षसः—त्वदीयसुचरितैकदेशस्यानुकरणं किल ।

चन्दनदासः—अमात्य ! सर्वमपि मे निष्फलमिमं प्रयासं कुर्व्वता न मे प्रियमनुष्ठितममात्येन (अमच्च ! सव्वं वि मे णिप्फलं एदं प्पआसं करन्तेण ण मे प्पिअं अणुचिट्ठिदं अमच्चेण)

राक्षसः—सखे चन्दनदास ! कृतमुपालम्भेन, स्वार्थप्रधानो हि जीवलोकः । भद्रमुख ! अयमर्थो निवेद्यतां तावद्दुरात्मने चाणक्याय ।

चण्डालौ—अथ किमिति ? (अध किं त्ति ?)

येन पुरा पूर्वमेव स्वामिकुलं स्वस्वामिभूतोनन्दवंशः रिपोः कुलमिव शत्रुवंश इव विनश्यन्नष्टभ्रष्टोदृष्टं साक्षात्कृतस्सुस्थेनान्तरात्मनेति शेषः, येन च स्वस्थेन सुतरामक्षतशरीरेणसता मित्राणां प्रियसुहृदां व्यसने समापन्ने संकटकाले महोत्सव इव स्थितं महोत्सवारम्भ इवाचरितं विशोकोल्लासिचेतस्त्वादिति शेषः, अथ च वो युष्माकं विजयोत्सेकिनां मौर्याधिकारिणां परिभवक्षेत्रीकृतोऽपि तिरस्क्रियापात्रीकृतोऽपि यस्याहंतापरीतस्याधमशिरोमणेर्ममात्मा शरीरमिदं प्रियोऽस्यर्थं सर्वभावेन संरक्ष्यं संवृत्तमित्यभिप्राय इति ॥ ४ ॥

टिप्पणी—महावीरस्यामात्यराक्षसस्य निर्वेदोऽयं निपुणं निरूपितस्स्वदते सहृदयहृदयाय ।

चन्दनदास—(देखकर-डब डबायी आंखों से) अमात्य ! यह आपने क्या किया ?

राक्षस—अरे भाई ! क्या अपने महनीय चरित का एक अनुकरण भी न करने दोगे ?

चन्दनदास—अमात्य ! बुरा किया आपने, मेरा सारा किया-कराया मिट्टी में मिल गया, अमात्य !

राक्षस—मेरे मित्र चन्दन दास ? अब तो उलाहना मत दो ! सभी अपना ही स्वार्थ देखा करते हैं ! अरे भाई ? जाओ, जाकर यह सब कुछ कह आओ उस दुष्ट चाणक्य को ?

दोनों चण्डाल—क्या कह दिया जाय !

राक्षसः—

दुष्कालेऽपि कलावसज्जनरुचौ प्राणैः परं रक्षता
नीतं येन यशस्विनाऽतिलघुतामौशीनरीयं यशः ।
बुद्धानामपि चेष्टितं सुचरितैः क्लिष्टं विशुद्धात्मना
पूजार्होऽपि स यत्कृते तव गतो वध्यत्वमेषोऽस्मि सः ॥ ५ ॥

प्रथमः—अरे वेणुवेत्रक ! त्वं तावच्छ्रेष्ठिचन्दनदासं गृहीत्वाऽस्य श्मशानपादपस्यच्छायायां मुहूर्त्तन्तिष्ठ, यावदार्यचाणक्यस्य निवेदयामि, यथा 'गृहीतोऽमात्यराक्षस' इति (अले वेणुबेत्तआ। तुमं दाव सेट्ठिचन्दण-

---

राक्षसो निश्चितस्वात्मसमर्पणो घातकानामन्यतमं-चाणक्यनिवेदनाय संशास्ति-दुष्कालेऽपीति। अये वधाधिकृत ! निवेद्यतां दुरात्मने चाणक्याय-एषोऽस्मि सः अयमहमुपागत एव राक्षसाधमस्स्वात्मसमर्पणाय यत्कृते यत्सौहार्दनिर्वहणकारणात् चन्दनदासः, येन यशस्विना महाकीर्तिमता दुष्काले महापापेऽसज्जनरुचौ दुष्टजन-प्रीतिकरे कलौ कलियुगेऽपि परं कञ्चन सुहृदं दुर्हृदं वा वस्तुतः मादृशं प्राणैः प्रियतमैरपि स्वीयैरसुभिः रक्षता परित्रातुकामेन परित्रातवतावौशीनरीयं औशीनरस्य महाराजस्य शिवेरिदमित्यौशीनरीयं शिविसम्बन्धियशश्शरणागतरक्षणार्जनजन्मापदानमतिलघुतां नीतं नितरामेव कदर्थितम्, येन च विशुद्धात्मना निरस्ताहङ्कार-ममकारेण महात्मना सुचरितैर्यथा मत्कुटुम्बप्राणरक्षणपरिपालनादिभिरेव सुकृत्यैस्स्वकृतैर्बुद्धानां जगदभयदानदीक्षितानां महतां बोधिसत्त्वानामपि चेष्टितं चरितं क्लिष्टं तृणाय मतम्, तव महाहतकस्य चाणक्यवटोर्वध्यत्वं गतस्त्वया हन्तव्यत्वेन शूलारोहणाय समाज्ञप्त इत्यर्थं इति ॥ ५ ॥

राक्षस—यही कि—

'मैं वह राक्षस आ पहुंचा जिसके लिये ये पूजा के योग्य, ये उन दुष्टों के मन भाये पाप मय कलिकाल में भी अपने प्राणों से दूसरे के प्राण बचाने वाले, ये अपने शरणागत रक्षण के सुयश से महाशरण्य महाराज शिवि के भी यश को नीचा दिखा देने वाले और अपने विशुद्धाचरण के बल पर बोधिसत्वों के भी सुकर्मों से बढ़े-चढ़े सुकर्मों के कर डालनें वाले विशुद्धात्मा चन्दनदास इस प्रकार मारे जा रहे थे !' ॥ ५ ॥

पहला चण्डाल—अरे वेणुवेत्रक ! जा तू इस सेठ चन्दनदास को पकड़े इस श्मशान वृक्ष की छांह में थोड़ी देर के लिये ठहर जा जब तक कि मैं आर्य

दासं गेह्णिअ इमस्स मसाणपादवस्स छाआए मुहुत्तअं चिट्ठ, जाव अहं अज्जचाणक्कस णिवेदेमि जधा-'गहीदो अमच्चलक्खसो त्ति)

द्वितीयः—अरे वज्रलोमक ! एवं भवतु (अले बज्जलोमआ ! एव्वं होदु)

(इति सपुत्रदारेण चन्दनदासेन सह निष्क्रान्तः)

प्रथमः—(राक्षसेन सह परिक्रम्य) कः कोऽत्र दौवारिकाणाम् ? निवेदयत तावत् नन्दकुलसैन्यसञ्चयचूर्णनकुलिशस्य मौर्यकुलप्रतिष्ठापितधर्मसञ्चयस्यार्यचाणक्यस्य (के के एत्थ दुआलिआणं ? णिवेदेध दाव णन्दकुलसेण्णसञ्चअचुण्णणकुलिसस्स मौलिअकुलपदिट्ठाविदधम्मसञ्चअस्स अज्जचाणक्कस्स)

राक्षसः—(स्वगतम्) एतदपि नाम राक्षसेन श्रोतव्यम् ?।

चण्डालः—'एष खल्वार्यनीतिसंयमितबुद्धिपरिसरो गृहीतोऽमात्यराक्षस' इति ('एसो क्खु अज्जणीदिसंजमिदबुद्धिपलिसले गहीदे अमच्चलक्खसे'त्ति)

(ततः प्रविशति जवनिकावृतशरीरो मुखमात्रदृश्यः सहर्षश्चाणक्यः)

चाणक्यः—भद्र ! कथय कथय—

चाणक्य से निवेदन कर आऊं कि अमात्यराक्षस पकड़ में आ चुके।

दूसरा चण्डाल—बहुत ठीक बज्रलोमक ! बहुत ठीक।

(बाल-बच्चे समेत चन्दनदास के साथ बाहर चला जाता है)

पहला चण्डाल—(राक्षस के साथ घूमते-फिरते) अरे कोई है द्वार पालों में से ! अरे जाओ, नन्द कुल के सैन्य-संचय के महासंहारक महाबज्र से निवेदन करो, निवेदन करो मौर्य वंश के रूप में धर्म के महाप्रतिष्ठापक आर्य चाणक्य से निवेदन करो !

राक्षस—(स्वगत) राक्षस को यह सब भी सुनना पड़ा !

चण्डाल—ये रहे, आर्य की नीति से जकड़ कर बांधी गई नीति वाले अमात्य राक्षस !

(पर्दे की ओट में, केवल मुंह बाहर किये प्रसन्न वदन चाणक्य का रंगमंच पर प्रवेश)

चाणक्य—क्यों ! बोलो, बोलते क्यों नहीं !

केनोत्तुङ्गशिखाकलापकपिलो बद्धः पटान्ते शिखी ?
पाशैः केन सदागतेरगतिता सद्यः समासादिता ? ।
केनानेकपदानवासितसटः सिंहोऽर्पितः पञ्जरे ?
भीमः केन चलैकनक्रमकरो दोर्भ्यां प्रतीर्णोऽर्णवः ? ॥ ६ ॥

चाणक्यश्श्रावितराक्षसग्रहणः परां मनःप्रसत्तिं प्राप्तश्चाण्डालं निवेदितैतद् वृत्तान्तं गर्भितस्वात्मश्लाघं वक्ति—केनोत्तुङ्गेत्यादि । अये ! केन गृहीतोऽमात्यराक्षसः केन लोकोत्तरबुद्धिवैभवोपेतेन महानिपुणेनेति शेषः । उत्तुङ्गशिखाकलापकपिल उत्तुङ्गैरूर्ध्वज्वलनैरूर्ध्वगामिभिर्वा शिखाकलापैर्ज्वालाभारैः कपिलः पिङ्गाम ऊर्ध्वगज्वालाजटालशिखी महावह्निः पटान्ते स्वधृतवस्त्राञ्चले बद्धस्संयम्य शान्तीकृतः ? राक्षसग्रहणं खलु महाज्वालज्वलनसंयमनिव किमपि दुष्करं नैपणकृत्यं येन महानीतिज्ञेन कृतं सोऽस्मि महामतिरिति गूढोऽभिप्राय इति । केन स्वहस्तीकृतः विपुलनीतिबलेनेति शेषः सद्य अकस्मादेव पाशैस्संयमनरज्जुभिस्सदागतेर्महाबलस्य मातरिश्वनो वायोर्वाऽगतितागत्यभावस्थितिर्वेगशिथिलता वा समासादिता विहिता ? राक्षसग्रहणं किल वेगेन वहतो वायोः पाशबन्धनमिवजनैरसंभाव्यं किमपि महाकर्म येन कृतं सोऽहमस्मीति भाव इति । केनालौकिकमतिमतेति शेषः, अनेकपदानवासितसटोऽनेकपानां द्विपानां महागजानां दानैर्मदजलैर्वासिता परिमलनमवाप्ता सौरभिता वा सटा केसरकलापो यस्यैवंभूतो मारितमहागजसिंहः, पञ्जरेऽर्पितपञ्जरे बद्ध्वा निश्चेष्टीकृतः ? राक्षसग्रहणं हि दुर्दान्तस्य वनराजस्य सिंहस्य पिञ्जरग्रहणमिव महासाहसकर्म येन कृतं स एवाहमिति निपुणोऽर्थ इति । केन महाबलिष्ठेनेति शेषः, दोर्भ्यां हस्ताभ्यामेव भीमो भयावहश्चलैकनक्रमकरः चलास्सर्वत्र भ्रममाणा एके महान्तो नक्राः मकराश्च यत्रैवंभूतो चञ्चलनक्रमकरबहुलोऽर्णवो महासागरस्तीर्णः पारं गत ? राक्षसग्रहणं तु भीषणपारावारतरणमिव येन नीतिहस्तेन संपादितं सोऽहमस्मीति निगूढं रहस्यमिति ॥ ६ ॥

टिप्पणी—अत्र समीचय विनियोजितो योऽयमप्रस्तुतवह्निग्रहणादिना प्रस्तुतराक्ष-

---

'बताओ कौन है कौन है वह जो कपड़े की छोर में, ऊंची धधकती लपटों से लाल-लाल आग को ही बांध बैठा ! बताओ, कौन है, वह जिसने सहसा, रस्सी के जाल से उठते अंधड़ का भी दम तोड़ दिया ! बताओ, बताते क्यों नहीं—कौन है, कौन है वह जिसने मदोन्मत्त गजराजों के मद-जल से भीनी सटाओं वाले सिंह को भी पिंजड़े में बंद कर दिया ! अरे ! बोलो भला कौन है, कौन है वह जो नक्रों और मकरों से निरन्तर विलोडित भयंकर महासागर को ही हाथों से तैर गया !' ॥ ६ ॥

चण्डालः—ननु नीति निपुणबुद्धिनाऽऽर्येणैव (णं णीदिणिउणबुड्ढिणा अज्जेण ज्जेव)

चाणक्यः—भद्र ! मा मैवम् । नन्दकुलद्वेषिणा दैवेनेति ब्रूहि ।

राक्षसः—(विलोक्य स्वगतम्) अये ! अयं स दुरात्मा, अथवा अयं स महात्मा कौटिल्यः । यतः—

आकरः सर्वशास्त्राणां रत्नानामिव सागरः ।
गुणैर्न परितुष्यामो यस्य मत्सरिणो वयम् ॥ ७ ॥

सग्रहणाद्यवगमरूपोऽप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारस्तेन हि नीतिवीरस्य चाणक्यनायकस्य गर्व-भावः 'आत्मन्याधीक्यधीर्गर्वोविद्यादेरन्यरीक्ष्ये'ति रूपरूपितो घर्षणाद्यनुभावान् विभावांश्च स्वबलविनिश्चयादीन् समाक्षिपन् सहृदयहृदये वीररसात्मनाजिहान-स्समाक्रान्तान्यभावस्सर्वाङ्गीणामिवालिङ्गन् स्फुरति ।

राक्षसश्चाणक्यं पुरोवर्तिनं पश्यन् प्रीतमानसो महात्मदर्शनेन स्वगतं वक्ति—आकर इत्यादि । अये ! नायं दुरात्माऽपि तु महात्मा खलु कौटिल्यो यो हि रत्नानां महार्घाणां मणीनामाकर उत्पत्तिभूमिस्सागरस्समुद्र इव सर्वशास्त्राणां सर्वशास्त्रसंग्रहै-करूपाणां राजनयानामाकरः काप्युत्पादक्षेत्रमिव मत्पुरतस्तिष्ठति । अद्यावधिम-त्सरिणो वयं यस्य बुद्धिविभवमनतिशयनीयं मन्वानाः मत्सराक्रान्तमानसा अस्मा-दृशा हन्त ! यस्य महात्मनो गुणैर्न परितुष्यामो नैव प्रीतिमवाप्ता इत्यभिप्राय इति ॥ ७ ॥

टिप्पणी—अत्र योऽयं कौटिल्यार्थशास्त्रगः—

'प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायस्सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयस्सर्वधर्माणां शश्वदान्विक्षिकी मता ॥ इति ।

श्लोकस्तमेव कदाचित् स्मारं स्मारं समुपनिबध्नाति नाटककविरयमाकरः सर्व-

---

चण्डाल—महाराज ! भला महानीतिज्ञ आपके अतिरिक्त और दूसरा ऐसा कौन होगा !

चाणक्य—अरे भाई ! ऐसा न कहो यह कहो कि यह सब तो नन्द वंश से बिगड़े दैव का किया-कराया हुआ !

राक्षस—(देखते हुये-मन ही मन) अरे ! तो क्या यही वह दुष्ट, नहीं नहीं-महापुरुष चाणक्य ठहरे !

ओह ! 'ये रत्नाकर समुद्र के साथ समस्त ज्ञान-विज्ञान के रत्नाकर ! अरे ! मेरा भी मात्सर्य कैसा जो अब तक इनके गुणों पर मैं रीझ न सका !' ॥ ७ ॥

चाणक्यः—(विलोक्य सहर्षम्) अये ! अयममात्यराक्षसः, येन-महात्मना—

गुरुभिः कल्पनाक्लेशैर्दीर्घजागरहेतुभिः ।
चिरमायासिता सेना वृषलस्य, मतिश्च मे ॥ ८ ॥

(जवनिकामपनीयोपसृत्य च) भो भो अमात्यराक्षस ! विष्णुगुप्तोऽभिवादयते ।

राक्षसः—(स्वगतम्) 'अमात्य' इति लज्जाकरमिदानीं विशेषणपदम् ।

शास्त्राणामित्यादिश्लोकमिति । सर्वथा चाणक्य एव राजनयं सर्वथाऽन्वीक्षमाणोऽवतीर्ण एवान्विक्षिकीजानिरिति ।

चाणक्योऽमात्यराक्षसं पुरः पश्यन् संप्रहृष्टचेतास्तमेव श्लाघमानो वक्ति—गुरुभिरित्यादि । अये ! अयमयममात्यराक्षसो येन महात्मना वृषलस्य सम्राजो महाबलस्य मौर्यस्य सेना चतुरङ्गवाहिनी मे मम राजनयमहाशक्तेश्चाणक्यस्य मतिर्बुद्धिश्च चिरं बहुकालमभिव्याप्य दीर्घजागरहेतुभिर्दीर्घः बहुकालात्प्रवर्त्तमानो यो जागरो निद्राभावस्तस्य हेतुभिः कारणतयाऽवस्थितैर्गुरुभिरतिप्रवृद्धैः कल्पनाक्लेशैर्वृषलसेनापक्षे पत्तीनामश्वबलानां हस्तिसेनानां वा याः कल्पनास्तत्तत्सन्नाहविशेषा एव क्लेशा महायासास्तैश्चाणक्यमतिपक्षे चोपायचतुष्टयस्य संधिविग्रहादिषाड्गुण्यस्य वा याः कल्पना अन्योन्यसञ्चारं बहुविधाः प्रयोगविधा एव क्लेशा महायासास्तैश्चायासिता भृशं कदर्थीकृतेति भाव इति ॥ ८ ॥

टिप्पणी—अत्र चाणक्यनायकगत उत्साहभावो धृत्याख्येन राक्षसग्रहणरूपेष्टलाभादिजन्मना व्यभिचारिभावेन समुपचितो गताननुशोचनादिभिरनुभावैरनुभाव्यमानस्सामाजिकहृदयवर्तिनोत्साहेनैकरूपो रसीभवतीति वेदितव्यं सुधीभिरिति ।

चाणक्य—(देखकर-प्रसन्नता पूर्वक) ओह ! तो ये हैं महामात्य राक्षस ! अरे ! ये रहे वे महापुरुष जिनके कारण ।

'मौर्य सम्राट् की चतुरंग वाहिनी और साथ ही साथ मेरी महाकूट नीति दिन-रात जगाने वाली, बड़ी बड़ी तैयारियों और बड़ी बड़ी चिन्ताओं से अब तक, इतने दिनों तक, इस प्रकार संकट काटती रहीं !' ॥ ८ ॥

(पर्दा हटाते हुये-पास पहुंच कर) महामात्य राक्षस ! विष्णुगुप्त का प्रणाम स्वीकार हो !

राक्षस—(मन ही मन) अब भला इस लज्जास्पद 'अमात्य'-पदवी

(प्रकाशम्) भो भो विष्णुगुप्त ! न मां श्वपाकस्पर्शदूषितं स्प्रष्टुमर्हसि ।

चाणक्यः—अमात्यराक्षस ! नायं श्वपाकः । अयं खलु दृष्टपूर्व एव भवता सिद्धार्थकनामा राजपुरुषः, योऽयमसौ द्वितीयः, सोऽपि सुसिद्धार्थकनामा राजपुरुष एव । ताभ्यामेव सह सौहार्दमुत्पाद्य शकटदासोऽपि तपस्वी तं तादृशमजानन्नेव कपटलेखं मयैव लेखितः ।

राक्षसः—(आत्मगतम्) दिष्ट्या शकटदासं प्रत्यपनीतो विकल्पः ।

चाणक्यः—किं बहुना, सङ्क्षेपतः कथयामि—

भृत्या भद्रभटादयः, स च तथा लेखः, स सिद्धार्थकः,

चाणक्योऽमात्यराक्षसं प्रति स्वकृतं सर्वं स्पष्टयन्नाह—भृत्या इत्यादि । अये वीर ! महाशूर ! महामात्यराक्षस ! सर्वं समस्तमेवेदं, तथाहि—भद्रभटादयोमौर्यराजपुरुषा भृत्याः भवतां गजाश्वाध्यक्षयाद्यधिकारेषु प्राप्तप्रतिष्ठाः यदिति शेषः, स च तथा लेखो मन्नीतिप्रयोगभूतो भवदभिन्नेन शकटदासेन मया लेखितो भवन्मुद्रालाञ्छितः कपटलेखो यत्, स मद्गूढप्रणिधिर्भवत्स्नेहपात्रं सिद्धार्थकश्चरितार्थीकृताभिधान एतन्नामा भवद्वशीकारमहानिदानभूतः मौर्यराजपुरुषो यत्, तच्च पर्वतेश्वरधृतपूर्वं भवता वणिग्भ्यो विक्रयेणाधिगत भवल्लेखभूतस्य मत्कपटलेखस्या-

---

से क्या ! (सुनाकर) विष्णुगुप्त ! मेरा स्पर्श न करें—चण्डाल के स्पर्श से मैं अशुद्ध हो रहा हूं !

चाणक्य—महामात्य राक्षस ! इसे चण्डाल मत समझिये । यह तो वही आपका पूर्व परिचित सिद्धार्थक नाम का राजपुरुष रहा ! और वह दूसरा ! वह भी तो राजपुरुष ही सुसिद्धार्थक ! नाम से है और सच तो यह है कि इन्हीं दोनों के द्वारा, इनसे मित्रता करवाये गये, आपके उस बेचारे शकटदास से, बिना उसके कुछ भी जाने-बूझे, मैंने ही तो वह कूट पत्र लिखवाया !

राक्षस—(मन ही मन) ओह ! शकटदास के प्रति तो अब अपना संदेह दूर हो गया !

चाणक्य—अधिक कहने की क्या आवश्यकता, संक्षेपतः बात यह रही कि—

'आप जैसे महाप्रतापी महापुरुष से मौर्य चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध स्थापित करने की ही इच्छा से यह सब मेरी (कुछ लज्जा का भाव दिखाते) चाल रही, जैसे कि भद्रभट इत्यादि का आपका भृत्य बनना, वह उस प्रकार का मानो (आप के

तच्चालङ्करणत्रयं, स भवतो मित्रं भदन्तः किल।
जीर्णोद्यानगतः स चार्त्तपुरुषः, क्लेशः स च श्रेष्ठिनः,
सर्वं मे—(इत्यर्द्धोक्ते लज्जां नाटयति)
—वृषलस्य वीर ! भवता संयोगमिच्छोर्नयः ॥ ९ ॥

शून्यीकरणप्रयोजनकमलङ्करणत्रयं यत्, स किलाऽस्मत्सुहृज्जीवसिद्धिनाम्ना क्षपणकीभूतो गूढप्रणिधिर्भदन्तः भवतो मित्रं भवद्विश्वासपात्रं यत्, स च मच्चर जीर्णोद्यानगत आर्तपुरुषो भवता स्वव्यसनसब्रह्मचारीति विभाव्यमानो यत् तथा चान्ते स च श्रेष्ठिनः मणिकारश्रेष्ठिनश्चन्दनदासस्य क्लेशः कारानिक्षेपशूलव्यापादनादिरूपो यत्, केवलं भवता प्रज्ञा-विक्रमभक्तिमता महामात्येन परीक्षिततत्तत्सर्वगुणप्रकरविभवेन वृषलस्य सम्राजश्चन्द्रगुप्तमौर्यस्य संयोगमिच्छोस्सम्बन्धमभिलष्यतः मौर्यप्रभुशक्तेर्भवन्मन्त्रशक्त्या प्रागुण्यं विधातुकामस्य मे मम चाणक्यस्य विष्णुशर्मणो नयः नीतिप्रकार एवेति भाव इति ॥ ९ ॥

टिप्पणी—(१) अत्र राजनीतिविदा नाट्यनयनिपुणेन च नाटककविनाऽमुना निर्वहणसन्धेरुपक्रम उपनिबध्यते। निर्वहणसन्धावमुष्मिन् चाणक्यनायकस्य फलागमरूपाऽवस्था कायवाङ्मनोव्यावृतिः प्रकाशीभवतीति नाविदितं सामाजिकानां नातितिरोहितं सामाजिकानाम्। फलागमलक्षणं तु यथा नाट्यदर्पणे—

'साक्षादिष्टार्थसंभूतिर्नायकस्य फलागमः।' इति।

फलागम इति तु फलस्याऽभिप्रेतस्य प्रयोजनस्य यथाऽत्र राक्षसकृतचन्द्रगुप्तसाचिव्यस्वयंग्रहणस्यागम आगनारम्भो न पुनरागतत्वमिति। फलागमावस्थेयं फलस्योत्पादावेशरूपापञ्चम्यवस्था सेयमवस्था चाणक्यनयोत्साहबीजस्य प्रथमाङ्कसमुप्तस्याऽस्यांरसाप्यायितायां नाटकभुवि कियदुच्छूनतासम्यगङ्कुरोद्भेद-स्तम्बभवनपुष्पोद्गमक्रमंविभाव्यमाना फलोत्पादनरूपेति विचारणीयैतन्नाटकानुरागिभिरिति। अस्या अवस्थायाः कार्येणार्थप्रकृतीनामर्थोपायानाम्बाऽन्यतमेन कार्यनामकेन चाणक्यनायकप्रयुक्तभेदोपायादिपरिबृंहणरूपेण नाटकवर्णनाविषयीभूतेन यत्संयोग·

द्वारा भेजा गया चन्द्रगुप्त के पास गुप्त-संधि-याचना के लिये, आपकी मुद्रा से मुद्रित, आपके लेखक शकटदास के हाथ का लिखा) कपट-लेख, वह आपका परम विश्वास पात्र बना सिद्धार्थक, वे तीनों (पर्वतक के, आपके खरीद) आभूषण, वह (वस्तुतः हमारा मित्र, किन्तु) आपका परम स्नेह भाजन क्षपणक बना जीवसिद्धि, वह जीर्णोद्यान में आप से मिलने वाला दुःखित दीख पड़ता व्यक्ति और सबसे बड़ी बात तो सेठ चन्दनदास का यह सब दुःख भोगना !' ॥ ९ ॥

तदेष वृषलस्त्वां द्रष्टुमागच्छति । पश्यैनम् ।

राक्षसः—(स्वगतम्) का गतिः ? (प्रकाशम्) एष पश्यामि ।

(ततः प्रविशति राजा, विभवतश्च परिवारः)

राजा—(स्वगतम्) विनैव युद्धादार्येण पराजितं दुर्जयं रिपुकुलमिति लज्जित इवास्मि । मम हि—

स्तद्द्वारा निपुणं निर्व्यूढमिदं नाटकस्य निर्वहणमिति । निर्वहणसन्धिस्तु—

'सबीजविकृतावस्था नानाभावा मुखादयः
फलसंयोगिनो यस्मिन्नसौ निर्वहणं ध्रुवमिति ।'

लक्षितरूपः । लक्षणतात्पर्यन्त्विदम्—यथा खलु कस्यापि कार्यस्य प्रारम्भोनिर्वाहाविनाभावी तथा सर्वरूपकेषु मुखसन्धिरिव निर्वहणसन्धिरपि ध्रुवं निबन्धमर्हतीति । अस्मिन्हि सन्धावस्य नाटकस्य नाटकार्थराशेर्वा यद्बीजविकृतं फलोन्मुख्यरूपं या चावस्था फलावाप्तिरूपा चाणक्यनायकचरितस्य तयोस्सुतरां साङ्गत्यमेव दृश्यते । अत्रैव च नाना बीज-विन्दु-कार्याणि भावयन्ति फलं साधयन्ति निष्पादयन्तीति भावा उपायास्समुपसंहृता विभाव्यन्ते । अत्र खलु नानाभागस्तथा हि चाणक्यनायकस्योत्साहरूपः स्थायी, धृति-गर्वादिरूपो व्यभिचारी च तैस्तैर्विभावानुभावैस्सुखमभिव्यक्तिविषयीभवतः पर्यन्ते च रसात्मना स्वदते नीत्युत्साह एव सामाजिकेभ्य इति । अत्रैव खलु सर्वेऽपि मुख-प्रतिमुख-गर्भ-विमर्शरूपा श्चत्वारस्सन्धिभागाः बीजोद्घाटादितत्तद्विशेष विशिष्टा आरम्भादिरूपावस्थाभिव्यञ्जकास्तत्तत्स्थायिव्यभिचार्यादिभावसंपत्परिकर्मितास्सन्तः फलेन परमप्रयोजनेन चाणक्यनायकगतेन सम्यगौचित्येन सम्बध्यमानाः परिच्छिन्नमहाफला परिच्छिद्यन्ते साक्षात्क्रियन्ते च विमर्शकैरित्यलं बहुवितर्केणेति ।

(२) अत्र निर्वहणसन्धेर्निर्णयाख्यमङ्गनिबद्धम् । निर्णयलक्षणन्तु 'निर्णयोऽनुभवख्याति'रिति । अत्र चाणक्येन ज्ञेयेऽर्थे सन्दिहानमप्रतिपद्यमानं वाऽमात्यराक्षसं प्रति समस्तस्यानुभूतस्यार्थस्य निर्णयार्थं यत्कथनं तस्यैव स्वरूपं विचारितरमणीयं विभातीति ।

यह देखिये आपके दर्शनों के लिये मौर्य स्वयं आ पहुंचा !

राक्षस—(स्वगत) अब क्या हो ! (सुनाकर) हां, दीख पड़े !

(राजा का अपने अनुचर परिचरों के साथ रंगमंच पर प्रवेश)

राजा—(स्वगत) ओह ! मैं तो इस लज्जा के मारे मरा जा रहा हूं कि बिना लड़ाई-भिड़ाई के ही आर्य चाणक्य ने हमारे दुर्दान्त शत्रु-संघ को परास्त कर डाला !

फलयोगमवाप्य सायकानामनियोगेन विलक्षतां गतानाम् ।
न शुचेव भवत्यधोमुखानां निजतूणीशयनव्रतं प्रतुष्ट्यै ॥ १० ॥

अथवा—

विगुणीकृतकार्मुकोऽपि जेतुं भुवि जेतव्यमसौ समर्थ एव ।
स्वपतोऽपि ममेव यस्य तन्त्रे गुरवो जाग्रति कार्यजागरूकाः ॥११॥

राजाचन्द्रगुप्तश्चाणक्यनायकं नीतिजितराक्षसप्रतिनायकं विभावयन् वक्ति स्वगतं—फलयोगमित्यादि । अये ! विनैव युद्धं मत्पराजितमार्यचाणक्येन दुर्जयं रिपुकुलं तल्लज्जाकरमेव मम संवृत्तम् । तथा हि—मम सायकानां मद्बाणानां मत्सैन्यबलप्राग्भारस्य वा बाणसंहतीनां फलयोगमवाप्य फलैश्शल्यैर्योगस्सम्बन्धस्तं प्राप्याऽथवा स्वयमेवोपनम्यमानं विग्रहरूपं-फलमधिगम्याऽप्यनियोगेन शत्रुवधाख्ये कार्ये व्यापाराऽभावेन विलक्षतां गतानामनवाप्तशत्यतानामत एव च हेतोरधोमुखानां तूणीं एवावस्थितानामतिलज्जालुकानामिव यत् शुचेव निश्चेष्टावस्थितिरूपसंतापेनेव निजतूणीशयनव्रतं निजतूणीषु स्वस्वेषुधीषु यच्छयनं मूढावस्थानं तदेव व्रतं प्रायश्चित्ताचरणादिरूपं तत् प्रतुष्ट्यै प्रीत्यै प्रहर्षाय वा नेति कथमपि न संभवीत्यभिप्राय इति ॥ १० ॥

चन्द्रगुप्तो भृशं लज्जित्वाऽपि स्वगतं सर्वं समादधानो वदति—विगुणीकृतेत्यादि । मम इव मौर्यस्येव स्वपतोऽपि राज्यसुखनिद्रानिमग्नस्यापि यस्य प्रभोस्तन्त्रे राज्यतन्त्र इति भावस्स्वविषयपरविषयादिसमस्तयोगक्षेमसम्पादनात्मके कर्मणि कार्यजागरूका कर्त्तव्यपरायणाः प्रतिविहिततत्तत्समस्तव्यापाराः गुरवः आर्यचाणक्य सदृशा महान्त आचार्या जाग्रति सततमुद्युञ्जना एव वर्तन्ते, असौ विगुणीकृतकार्मुकोऽपि विगुणीकृतं कार्मुकं येन यस्य वा तथाभूतोऽपि राजा भुवि विश्वस्मिन्न-

---

'मेरे तो इन लौहकीलित अस्त्रों को कुछ काम न मिल पाने के कारण लज्जित बने, इन शस्त्रों की अकर्मण्यता के दुःख से मुंह नीचा किये बाणों की यह अपनी तूणी (तरकस) की गोद में गहरी नींद भला कैसे अच्छी लग सकेगी !' ॥१०॥

किन्तु दुःख भी क्यों हो मुझे !

'मेरे समाह राज-सुख की नींद लेने वाले जिस के राज्य-संचालन में महाकर्मठ आर्य चाणक्य सरीखे,, महापुरुष सतत जागरूक रहें उस राजा के लिये, चाहे उस के धनुष पर प्रत्यञ्चा कभी चढ़े या न चढ़े, भला संसार की ऐसी कौन सी विजय है जो अनायास न मिल जाय !' ॥ ११ ॥

(चाणक्यमुपसृत्य) आर्य ! चन्द्रगुप्तः प्रणमति ।

चाणक्यः—वृषल ! सम्पन्नास्ते सर्वाशिषः । तदभिवादयस्व तत्रभवन्तममात्यराक्षसम् ; पैतृकस्तवायममात्यमुख्यः ।

राक्षसः—(स्वगतम्) योजितोऽनेन सम्बन्धः ।

राजा—(राक्षसमुपसृत्य) आर्य ! चन्द्रगुप्तोऽहमभिवादये ।

राक्षसः—(विलोक्य स्वगतम्) अये ! अयं चन्द्रगुप्तः । ! य एषः—

बाल एव हि लोकेऽस्मिन् सम्भावितमहोदयः ।
क्रमेणारूढवान् राज्यं यूथैश्वर्यमिव द्विपः ॥ १२ ॥

स्मिन् जगति जेतव्यं यावद्विजयाकांक्षितं सर्वमपि बाह्याभ्यन्तरवर्तिशत्रुजातं जेतुं पराभवितुं समर्थः शक्त एवेति भाव इति ॥ ११ ॥

अमात्यराक्षसश्चन्द्रगुप्तं विभावयन्स्वगतं वक्ति—बाल एवेत्यादि । अये ! अयं स चन्द्रगुप्तो यो हि बाल एवाऽप्ररूढयौवन एव सन् लोकेऽस्मिन् सर्वस्मिन् संभावितमहोदयस्सवरेव संभाव्यमानविपुलाभ्युदयो द्विपो गजो यूथैश्वर्यमिव गजयूथाधिपत्यमिव क्रमेण क्रमशः राज्यं मगधसाम्राज्यमारूढवान् समारूढो विराजत इति शेष इति ॥ १२ ॥

टिप्पणी—अत्रामात्यराक्षस्य विस्मृतशत्रुभावस्य प्रतिनायकीभूतस्यापि किमपि महौदार्यमभिव्यनक्ति, वाचोयुक्तिरियम् ।

(चाणक्य के पास पहुंच कर) आर्य ! चन्द्रगुप्त का प्रणाम स्वीकार हो ।

चाणक्य—ओह ! वृषल ! हमारा समस्त आशीर्वाद तुम पर रहे ! महामात्य, पूज्यचरण राक्षस को प्रणाम करो । ये रहे तुम्हारे पितृपरम्परागत तुम्हारे प्रधानामात्य !

राक्षस—(स्वगत) अरे ! इन्होंने तो अब नाता भी जोड़ डाला !

राजा—(राक्षस के पास जाकर) चन्द्रगुप्त का प्रणाम स्वीकार हो, आर्य !

राक्षस—(देखते हुये-मन ही मन) अरे ! यही वह चन्द्रगुप्त है, जो कि—

'इस संसार में, अपने बाल-काल से ही, अपने महान् अभ्युदय की सब को आशा बंधवाता रहा ! अरे ! इसने तो क्रमशः वैसे ही साम्राज्य का सिंहासन पा लिया जैसे छोटेपन से ही होनहार कोई गजशावक अपने गज-यूथ का आधिपत्य पाले !' ॥ १२ ॥

(प्रकाशम्) राजन् ! विजयस्व ।

राजा—आर्य !—

जगतः किं न विजितं मयेति प्रविचिन्त्यताम् ।
गुरौ षाड्गुण्यचिन्तायामार्ये चार्ये च जाग्रति ॥ १३ ॥

राक्षसः—(स्वगतम्) स्पृशति मां कौटिल्यशिष्यो भृत्यभावेन, अथवा विनय एवैषः । चन्द्रगुप्तस्य मत्सरस्तु मे विपरीतं कलयति । सर्वथा स्थाने यशस्वी चाणक्यः । कुतः ?

द्रव्यं जिगीषुमधिगम्य जडात्मनोऽपि
नेतुर्यशस्विनि पदे नियता प्रतिष्ठा ।

राजा चन्द्रगुप्तोऽमात्यराक्षसं वितीर्णविजयाशीर्वादं संवद्धर्यन् वक्ति—जगत इत्यादि । आर्य ! महामात्य राक्षस ! षाड्गुण्यचिन्तायां षाड्गुण्यस्य मत्साम्राज्यस्य सन्धि-विग्रह-यानासन-संश्रय-द्वैधीभावरूपकार्यजातस्य चिन्तायां पर्येषणाप्रयोगादिरूपायामार्ये गुरावाचार्ये चाणक्ये महात्मनि, आर्ये च भवति प्रज्ञा-विक्रम-भक्तिमये महामात्ये जाग्रति सततं जागरूके सति मया संप्राप्तसमस्तराज्यसुखभोगेन जगतः किं न विजितं सकलमेव जगत् स्ववशीकृतमेवेति प्रविचिन्त्यताम् बुध्यतामिति भाव इति ॥ १३ ॥

अमात्यराक्षसश्चाणक्यं यशस्विनं निर्वर्णयन् वदति स्वगतं—द्रव्यमित्यादि । चाणक्यो यशस्वीति सर्वथा युक्तमेव । तथाहि यदि जडात्मनोऽपि मन्दबुद्धिविभव-

---

(सुनाकर) विजयी रहो, राजा चन्द्रगुप्त ! विजयी रहो ।

राजा—पूज्यचरण !

'भला आप ही सोचें—जब कि हमारे लिये, हमारे राज्य के सन्धि विग्रह-यान-आसन-संश्रय और द्वैधीभाव के समस्त कार्यकलाप में आप सरीखे और हमारे आचार्य चाणक्य सरीखे महापुरुष सतत प्रयत्नशील रहें तो संसार की वह कौन-सी विजय है जो मेरी न हो जाय !' ॥ १३ ॥

राक्षस—(स्वगत) अरे ! यह चाणक्य का चेला तो जैसे सचमुच मुझे अपना सेवक समझ बैठा ! अथवा यह तो वस्तुतः स्वभाव से ही ऐसा विनीत ठहरा ! केवल 'यह चन्द्रगुप्त है' यह द्वेष ही हमें इसे इसके उलटे दिखाता रहा है ! इसीलिये तो चाणक्य की इतनी कीर्ति ! इतनी प्रतिष्ठा ! क्योंकि—

'मूढ़ बुद्धि भी मन्त्री के लिये, यदि राजा उसे वस्तुतः विनीत और विजि

अद्रव्यमेत्य तु विविक्तनयोऽपि मन्त्री
शीर्णाशयः पतति कूलजवृक्षवृत्त्या ॥ १४ ॥

चाणक्यः--अमात्यराक्षस ! अपीष्यते चन्दनदासस्य जीवितम् ?

राक्षसः—भो विष्णुगुप्त ! कुतः सन्देहः ?

चाणक्यः—अमात्यराक्षस ! अगृहीतशस्त्रेण भवताऽनुगृह्यते वृषल इत्यतः सन्देहः । तद्यदि सत्यमेव चन्दनदासस्य जीवितमिष्यते, ततो गृह्यतामिदं शस्त्रम् ।

राक्षसः—भो विष्णुगुप्त ! मा मैवम् । अयोग्या वयमेतस्य ग्रहणे, विशेषतस्त्वया गृहीतस्य शस्त्रस्य ।

स्यापि नेतुर्नायकस्य मन्त्राधिकाराधिष्ठितस्य कस्यचनाऽमात्यादेजिगीषु विजीगीषासम्पदुपेतं द्रव्यं योग्यं कृतकस्वाभाविकविनयविनीतं राजानमधिगम्य संप्राप्य यशस्विनि पदे महायशोमये स्थाने प्रतिष्ठा महनीयस्थिरस्थितिर्नियंताऽवश्यंभाविनी तर्हि महाबुद्धेर्महानीतिज्ञस्य चाणक्याचार्यस्य तु सुतरामेव सा सिद्धेति शेषः । तु किन्तु विविक्तनयोऽपि विशुद्धतत्तद्राजनयमार्गोऽपि विशोधिताखिलतन्त्रावायोऽपि मन्त्री मन्त्राधिकारे नियुक्तः कश्चनाऽस्मादृशो यदि शीर्णाशयो जर्जरिताधारस्सन् कूलजवृक्षवृत्त्या नदीतटवर्त्तितरुदिशा पतति पर्यन्ते नश्यति तद्द्रव्यमेत्याऽयोग्यं दुर्विनीतं मलयकेतुमिव राजानं प्राप्यैवेति नाऽत्र मनो नितरां खेटयितव्यं स्वीकार्यमेव यद्भूतं तत्प्रहृष्टेनाऽनवसादितेन हृदयेनेति शेष इति भाव इति ॥ १४ ॥

गीषा–सम्पन्न मिल जाय मन्त्राधिकार का सुयश तो कहीं गया नहीं ! और नहीं तो महानीतिज्ञ मन्त्री भी तो अयोग्य राजा के चलते किनारे के कटते किनारे खड़े पेड़ की भांति, अन्त में गिर ही पड़ते हैं !' ॥ १४ ॥

चाणक्य—महामात्य राक्षस ! क्यों, चन्दनदास की प्राण-रक्षा तो करनी है न ?

राक्षस—अरे भाई विष्णुगुप्त ! इसमें क्या संदेह !

चाणक्य—अमात्य ! संदेह इसलिये कि मौर्य पर तो कृपा आपने कर दी किन्तु इसके साचिव्य-चिह्न इस शस्त्र को अपने हाथ में लेने की कृपा तो नहीं की ! यदि सचमुच चन्दनदास को बचाना है तो लीजिये हाथ में यह शस्त्र अपना महासचिव का चिह्न !

राक्षस—ऐसा न कहिये विष्णुगुप्त ! भला आपके द्वारा हाथ में धारण किये गये इस साचिव्य-चिह्न के धारण करने की हमारी कहां योग्यता !

चाणक्यः—अमात्यराक्षस ! योग्योऽहमयोग्यो भवान् इति कथमेतत् ? पश्य,—

अश्वैः सार्द्धमजस्रदत्तकविकाक्षामैरशून्यासनैः
स्नानाहारविहारपानशयनस्वेच्छासुखैर्वर्जितान् ।
माहात्म्यादतिपौरुषस्य भवतो दृप्तारिदर्पच्छिदः
पश्यैतान् परिकल्पनाव्यतिकरप्रोच्छूनवंशान् गजान् ॥ १५ ॥

चाणक्योऽमात्यराक्षसं मौर्यसाम्राज्यसञ्चालनधुरीणंमन्वानो भृशं समुपश्लोकयति—अश्वैरित्यादि । अये ! महाशूर ! महाबल ! महामात्य ! दृप्तारिदर्पच्छिदो दृप्तानां चतुरङ्गबलसंघेन प्रगल्भमानानामस्मादृशानामरीणामद्य यावत् भवच्छत्रुभूतानामथ चाद्यप्रभृतिमित्रीकृतानामिति शेषः, यो दर्पो बलाभिमानस्तं सर्वं छिनत्तिविनाशयतीति तथाभूतस्यातिपौरुषस्य महापुरुषकारोपेतस्यालौकिकपराक्रमशालिनो भवतो महापुरुषस्यैव माहात्म्यान्महाप्रभावादेतान् सर्वदा सन्नद्धतया समवस्थितान् समवस्थापितान् वाऽजस्रदत्तकविकाक्षामैरजस्रं निरन्तरं निर्व्यवधानं वा दत्ताः कविकाः खलीनादयो येषामत एव क्षामाः क्षीणक्षीणास्तैस्तथासंजातैरथचाशून्यासनैः कदापि स्वारोहिसैन्यैरशून्यानि रिक्तीकृतान्यासनानि पर्याणानि येषां नेति तथाभूता ये तैरश्वैरस्मदश्वबलैस्साद्धं सहैवैतान् पुरो दृश्यमानानवतीर्णरणक्षेत्रान् परिकल्पनाव्यतिकरप्रोच्छूनवंशान् परिकल्पनानां रणसज्जानां यो व्यतिकरो विशेषायोगसंयोगादिरूपस्ततः प्रोच्छूनाश्शोथमवाप्ताः वंशाः मेरुदण्डभागाः पृष्ठास्थिभागा वा येषां तथाभूतांस्तथा च स्नानाहारविहारपानशयनस्वेच्छासुखैर्वर्जितान् स्नानं जलासेकः, आहारः भोजनद्रव्याणि, विहारो जलक्रीडादिः, पानं यथेष्टजलादिपानम्, शयनं निद्रालाभश्च तेषां यस्स्वेच्छासुखं स्वमनोरथीकृतं समुप-

---

चाणक्य—अमात्य राक्षस ! आपने भी अच्छा कहा–मुझे योग्य और अपने को अयोग्य ! आप से बढ़ कर भला कौन योग्य होगा ! यह देखिये,

'अपने दुर्दान्त शत्रुओं के भी गर्व को चूर करने वाले, महापराक्रमी आप सरीखे महापुरुष का ही तो यह काम रहा कि हमारी अश्व-सेनाओं के इन सन्नद्ध, इन निरन्तर लगी-पड़ी लगामों के कारण सूख कर कांटे बने घोड़ों के साथ, हमारी हस्ति-सेनाओं के ये सदा हौदा-कसे, फूली हड्डी की पीठ लिये, बड़े २ गजराज इस प्रकार नहाने धोने, खाने-पीने, बैठने-सोने के सभी सुखों से वंचित सदा संनद्ध खड़े रहें !' ॥ १५ ॥

अथवा किमनेन ? न खलु भवतः शस्त्रग्रहणमन्तरेण चन्दनदासस्य जीवितमस्ति ।

राक्षसः—(स्वगतम्)—

नन्दस्नेहकणाः स्पृशन्ति हृदयं, भृत्योऽस्मि तद्विद्विषां
ये सिक्ताः स्वयमेव पाणिपयसा च्छेद्यास्त एव द्रुमाः ? ।

भोगजातं तैस्सर्वैरेव वर्जितान् विरहितान् गजानस्मद्राज्यसंरक्षणधुरीणान् सैन्यगजान् पश्य निभालय स्वमिति शेषः। सर्वं खलु चतुरङ्गबलमस्माकं भवत्पौरुषस्य प्रतिबलीकृततयैवाद्यावधि सज्जसज्जमिति भवानेवातिशेते सर्वानस्मानिति भाव इति ॥ १५ ॥

टिप्पणी—अत्र नाटककवेर्विशाखदत्तस्य यन्मौर्यस्य गजसैन्यवर्णनं तद्धि किमप्यैतिहासिकं सर्वसम्मतमौचित्यमेवाभिव्यनक्ति । मगधसाम्राज्यं हि चन्द्रगुप्तोपज्ञं गजबलमहाबलमश्वबलसाहायकं सुस्थिरमभूदित्यस्ति वाद ऐतिह्यविदामिति । अश्वकर्मभ्यो वीवधासारघातरक्षण–बलप्रसारवृद्धि–बाहूत्सार–पूर्वप्रहारादिभ्यस्समुपबृंहितं गजबलं हि मौर्यमहाराजाधिराजस्य पुरोयान–तोयसंतरण–विषमसंबन्ध–भिन्नसंधानाभिन्नभेदनविभीषिकात्रासन–सालाट्टालकद्वारादिभञ्जनप्रमुखाणि रणकर्माणि कुर्वत्किमप्यप्रधृष्यं परेषामिति विचाररमणीयेयं वचः पद्धतिः कवेरत्रेति ।

अमात्यराक्षसः सर्वमचिन्तितमेवोपनतं ध्यायं ध्यायं स्वगतं वक्ति—नन्दस्नेहकणा इत्यादि । अये ! विधेर्भाग्यस्य कार्याणां व्यापाराणां विलसितानाञ्वा गतयः प्रकारा अस्मत्कृतचन्द्रगुप्तसाचिव्यस्वयंग्रहणादयो यथा आलोचनागोचरमपि न यान्ति कथमपीदमित्थमिति विवेक्तुमपि न पार्यन्ते तथाहि—हृदयं ममान्तरमेकतो नन्दस्नेहकणाः नन्दानुरागावशेषास्स्पृशन्ति, किन्त्वपरतस्तद्विद्विषां तच्छत्रुभूतानां चन्द्रगुप्तादीनां भृत्योऽस्मि साचिव्यरूपदासभावमपि स्वीकरोमि ? यदिदं ममेदृशं कर्म तद्ध्येवंरूपमेव यत् ये द्रुमाः वृक्षास्स्वयमेव पाणिपयसा करधृतसलिलसेकेन सिक्तास्सिक्तपूर्वास्त एवाधुना निजविषमदशाविवर्तकाले छेद्याः कुठारादिभिर्नि-

---

अधिक तो मुझे कुछ नहीं कहना है, किन्तु इतना निश्चित समझिये कि यदि आप इस शस्त्र-चिह्न को अपने हाथ नहीं लगाते, तो चन्दनदास भी नहीं बच सकता !

राक्षस—(स्वगत)

'यह सोचना भी असम्भव है कि कब भाग्य क्या कर देगा ! ओह ! इधर तो मेरे हृदय में अभी भी नन्दवंश के लिये यह प्रेम बचा पड़ा है और उधर मैं

शस्त्रं मित्रशरीररक्षणकृते व्यापारणीयं मया
कार्याणां गतयो विधेरपि न यान्त्यालोचनागोचरम् ॥ १६ ॥

(प्रकाशम्) भो विष्णुगुप्त ! उपानय खड्गम् । नमः सर्वकार्यप्रतिपत्तिहेतवे सुहृत्स्नेहाय । का गतिः ? एष सज्जोऽस्मि ।

चाणक्यः—(सहर्षं शस्त्रमर्पयित्वा) वृषल ! वृषल !! अमात्यराक्षसेनेदानीं गृहीतशस्त्रेणानुगृहीतः, दिष्ट्या वर्द्धते भवान् !

राजा—आर्यप्रसाद एष चन्द्रगुप्तेनाऽनुभूयते । (प्रविश्य पुरुषः) जयतु जयत्वार्यः । आर्य ! एष खलु भद्रभटभागुरायणप्रमुखैः संयमितकरचरणो मलयकेतुः प्रतीहारभूमावुपस्थापितः, तदिदं श्रुत्वाऽत्रार्यः प्रमाणमिति (जेदु जेदु अज्जो । अज्ज ! वेसो क्खु भद्दभटभाउराअणप्पमुहेहिं संजमिअकलचलणो मलअकेदू प्पडिहारभूमिए अवत्थापिदो, ता एव्वं सुणिअ एत्थ अज्जो प्पमाणं त्ति)

पास्या इति । अये !~किमधिकमतोऽचिन्तनीयोपनतं यन्मया शस्त्रं चन्द्रगुप्तसाचिव्यस्वीकारचिह्नभूतं मौर्यशस्त्रं व्यापारणीयं स्वयं ग्राह्यम् । भवतु नाम भवतु सर्वमिदं मित्रशरीररक्षणकृते मित्रस्य स्वप्राणप्रियसुहृदश्चन्दनदासस्य शरीररक्षणं प्राणरक्षणं तत्कृते तत्कारणाय भवतु, न शोच्योऽस्मीत्यभिप्राय इति ॥ १६ ॥

होने चला इसी के शत्रुओं का सेवक ! अरे क्या जिन पौधों को हाथ से सींच-सींच इतना बड़ा किया, अब उन्हीं को काट दूं ! इस साचिव्य-चिह्न को मुझे ही लेना पड़ा । अब जो भी हो, मित्र की प्राण-रक्षा तो करनी ही पड़ेगी !' ॥ १६ ॥

(सुनाकर) लाइये, विष्णुगुप्त ! लाइये अपना खड्ग ! मित्रता का निभाना जो कुछ भी न करवा दे ! मैं मित्रता के आगे नत मस्तक हूँ ! मैं खड्ग लेने को तैयार हूँ ।

चाणक्य—(प्रसन्नतापूर्वक, शस्त्र सौंप कर) मौर्य ! चन्द्रगुप्त !! बढ़ती होती रहे, तुम्हारी दिन-दूनी रात-चौगुनी वढ़ती होती रहे ! अरे ! अब क्या है अब तो महासाचिव्य का शस्त्र-चिह्न धारण किये महामात्य राक्षस की तुम पर कृपा है !

राजा—आर्य ! यह सब तो आप ही की दया रही ! (एक पुरुष आते हुये) जय हो, आर्य की जय हो । आर्य ! निवेदन है कि भद्रभट, भागुरायण इत्यादि के द्वारा हाथ-पैर बंधा मलयकेतु प्रतीहार भूमि पर उपस्थित किया गया है, अब आगे, आर्य की जो आज्ञा हो !

चाणक्यः—आं श्रुतम्। भद्र ! निवेद्यताममात्यराक्षसाय, अयमिदानीं राजकार्यं करिष्यति।

राक्षसः—(स्वगतम्) कथं दासीकृत्येदानीं विज्ञापनाय मां मुखरीकरोति कौटिल्यः ! का गतिः ? (प्रकाशम्) राजन् चन्द्रगुप्त ! विदितमेव यथा वयं मलयकेतौ किञ्चित् कालान्तरमुषिताः, तत् परिरक्ष्यन्तामस्य प्राणाः।

राजा—(चाणक्यमुखमवलोकयति)

चाणक्यः—वृषल ! प्रतिमानयितव्योऽयममात्यराक्षसस्य प्रथमः प्रणयः। (पुरुषमवलोक्य) भद्र ! अस्मद्वचनादुच्यन्तां भद्रभटप्रभृतयः अमात्यराक्षसविज्ञापितो देवश्चन्द्रगुप्तः प्रयच्छति मलयकेतवे पित्र्यमेव विषयम्; अतो गच्छन्तु भवन्तः सहानेन, प्रतिष्ठिते चास्मिन् पुनरागन्तव्यम्।

पुरुषः—यदार्य आज्ञापयतीति (जं अज्जो आणवेदित्ति)

चाणक्य—हां सुन चुका। किन्तु देखो, मुझ से नहीं, अपने, महामात्य राक्षस से निवेदन करो, जिनके हाथ में अब सारा राज्य-संचालन आ चुका है।

राक्षस—(स्वगत) अरे अभी तो मुझे भृत्य बनने को विवश किया और अब इसलिये विवश करने की इच्छा है कि अपनी विवशता मैं प्रत्येक से सुनाता रहूं। क्या करूं ? (सुनाकर) महाराज चन्द्रगुप्त ! यह तो आपको विदित ही होगा कि हम मलयकेतु के साथ कुछ समय रह चुके हैं ! इसलिये इसके प्राण न लिये जांय !

राजा—(चाणक्य का मुंह देखता है)

चाणक्य—वृषल ! अब यह तो अमात्य राक्षस की पहली लांग हुई, इसे तो मानना ही पड़ेगा। (पुरुष को देख कर) अरे सुन ! जा और मेरी ओर से भद्रभट इत्यादि को जाकर कह दे कि अमात्य राक्षस की विज्ञप्ति पर, सम्राट चन्द्रगुप्त की यह आज्ञा है कि मलयकेतु का पैतृक राज्य उसे वापस कर दें और मलयकेतु के साथ, उसके राज्य में जाकर उसे सिंहासनारूढ़ कर वापस लौट आवें।

पुरुष—जो आज्ञा आर्य !

चाणक्यः—तिष्ठ तावत्, भद्र! भद्र!! एवमपरमुच्यतां विजयपालो दुर्गपालश्च—अमात्यराक्षसस्य गृहीतशस्त्रस्य प्रीत्या देवश्चन्द्रगुप्तः समाज्ञापयति 'एष तावच्छ्रेष्ठी चन्दनदासः पृथिव्यां सर्वेषु नगरेषु श्रेष्ठिपदमारोप्यता'मिति।

पुरुषः—यदार्य आज्ञापयति (जं अज्जो आणवेदि)

(इति निष्क्रान्तः)

चाणक्यः—भो राजन् चन्द्रगुप्त! किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि?

राजा—किमतः परं प्रियमस्ति?—

राक्षसेन समं मैत्री राज्ये चारोपिता वयम्।
नन्दाश्चोन्मूलिताः सर्वे किं कर्त्तव्यमतः परम्? ॥ १७ ॥

राजा चन्द्रगुप्तस्संप्राप्तचाणक्यचिन्तितोपस्थापिततत्तदर्थजातः प्रहृष्टान्तरात्मा वदति—राक्षसेनेत्यादि। आर्य! राक्षसेन प्रज्ञा-पुरुषकार-भक्तिमयेन महामन्त्रिणा समं मैत्री मम मित्रता संपादिता भवतेति शेषः, वयञ्च भवता पूर्वमेवेति शेषः, राज्य आरोपिताः नन्दसाम्राज्ये प्रतिष्ठां प्रापिता अथ च सर्वे नन्दाः नन्दवंशीयास्मन्याः ये केऽपि चोन्मूलिताः विनष्टा एवेत्यतोऽस्मादपि सर्वस्मात् किं परमधिकं कर्तव्यं करणीयं फलं वा सम्पादनीयं न किमपीति भाव इति ॥ १७ ॥

चाणक्य—रुक जा थोड़ी देर। जा, विजयपाल और दुर्गपाल से जाकर कह कि अमात्य राक्षस के शस्त्र-धारण करने के महान् उपलक्ष्य में महाराज चन्द्रगुप्त की आज्ञा है कि सेठ चन्दनदास को संसार के जितने भी नगर हैं उन सब का नगर-सेठ बना दिया जाय।

पुरुष—आर्य की जैसी आज्ञा।

(बाहर चला जाता है)

चाणक्य—महाराज चन्द्रगुप्त! अब और तुम्हारे लिये क्या किया जाय?

राजा—अब, कुछ नहीं, आर्य।

'अब जब हमें राज्य में आप प्रतिष्ठित कर चुके, राक्षस जैसे महापुरुष से आपने मित्रता करवा दी और साथ ही साथ बचे-खुचे नन्द लोग भी मर ही मिटे, तो और क्या चाहिये!' ॥ १७ ॥

चाणक्यः—विजये ! उच्यतां दुर्गपालो विजयपालश्च, अमात्यराक्षसपरिग्रहेण प्रीतो देवश्चन्द्रगुप्तः समाज्ञापयति—विना हस्त्यश्वं क्रियतां सर्वबन्धमोक्ष इति अथवा, अमात्यराक्षसे नेतरि किं हस्त्यश्वेन प्रयोजनम् ? तदिदानीम्—

सह वाहनहस्तिभ्यां मुच्यतां सर्वबन्धनम् ।
मया पूर्णप्रतिज्ञेन केवलं बध्यते शिखा ॥ १८ ॥

प्रतीहारी—यदार्य आज्ञापयति (जं अज्जो आणवेदि) (इति निष्क्रान्ता)

चाणक्यः—अमात्यराक्षस ! तदुच्यतां, किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ?

राक्षसः—किमतः परमपि प्रियमस्ति ? यदि न परितोषस्तदिदमस्तु—

(भरतवाक्यम्)

चाणक्यस्सम्प्राप्तसमस्ताभिलाषोऽमात्यराक्षसं संवर्द्धयन्नाह—सह वाहनेत्यादि । राजन् चन्द्रगुप्त ! समाज्ञापय वाहनहस्तिभ्यामश्वैर्गजैश्च सह साकं सर्वबन्धनं सर्वेषामेव बन्धनदण्डेन दण्डितपूर्वाणां प्रजाजनानां बन्धनं संयमनादि मुच्यताम् सत्वरमेवेति शेषः । केवलं पूर्णप्रतिज्ञेन सम्पूर्णराक्षसवशीकारकृत्येन साधिततद्विषयकसर्वसन्धेन कौटिल्येनैव मया शिखा बध्यते नन्दकुलकालभुजगी कोपानलबहलधूमलतेयं शिखा संयतीक्रियते नानयाऽधुना मुक्तया किमपि कार्यमित्यभिप्राय इति ॥

चाणक्य—विजये ! दुर्गपाल और विजयपाल से जाकर कह दे कि अमत्य राक्षस के मिल जाने की उन्हें बड़ी पसन्नता है और इसलिये उनकी आज्ञा है कि हाथियों और घोडों को छोड़ कर सब के बंधन खोल दिये जांय । किन्तु अब अमात्य राक्षस के हाथ में राजकाज है तब हाथी-घोड़े का भी क्या काम ! इसलिये, अब

'हाथियों और घोड़ों के साथ सब का बंधन खोल दिया जाय । अब केवल मेरी शिखा का ही बंधन हो क्योंकि अपना संकल्प तो अब पूर्ण हो चुका ! शिखा बांधता है ।' ॥ १८ ॥

प्रतीहारी—आर्य की जो आज्ञा ! (प्रतीहारी का बाहर चला जाना)

चाणक्य—अमात्य राक्षस ! अब कहो, अब क्या आज्ञा है ?

राक्षस—अब तो सब हो चुका, बस, यही एक अभिलाषा है कि—

(भरत वाक्य)

वाराहीमात्मयोनेस्तनुमतनुबलामास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री ।

भरतवाक्यं निबध्नन्नाह नाटककविः—वाराहीमित्यादि । स पार्थिवो महाराजाधिराजश्रीमद्बन्धुभृत्यः श्रीमन्तस्संप्राप्तसर्वैषणाः महैश्वर्यवन्तो बन्धवस्सगोत्रास्सम्बन्धिनो भृत्यास्सेवकादयश्च यस्यैवं भूतस्साधितसमस्तप्रजाजनयोगक्षेमादिकृत्यस्सन् तां महीं महतीं वसुन्धरामिमां चिरं बहुकालमवतु परिपालयतु या हि भूतधात्री भूतानां सर्वेषां चराचराणां जीवानां मातृभूता प्रलयपरिगता कल्पक्षयविसंस्थुला सती प्राक्पुरा कदाचित् कालेऽतनुबलां विपुलबलवतीमनुरूपां जलाप्लावनतः संरक्षणे सर्वथा समर्थां वाराहीं वराहावताररूपेणावतीर्णां तनुं दिव्यमङ्गलविग्रहविभूतिमास्थितस्य स्वीकुर्वत आत्मयोनेस्स्वयमजस्य सर्वस्य च जन्मादिकारणस्य महाविष्णोर्यस्याऽचिन्त्यज्ञान–शक्तिकल्याणगुणगणस्य दन्तकोटिं दन्ताग्रभागं शिश्रिये समाश्रिता या चाधुना सम्प्रति म्लेच्छैरुद्वीज्यमानाशकयवनादिभिर्बाह्यशत्रुभिर्धर्मविध्वंसकैर्महालुण्टाकैरुपपीड्यमाना सती राजमूर्तेर्मौर्यचन्द्रगुप्तरूपेणावतीर्णस्य यस्यैव महाविष्णोः पीवरं महाशक्तिशालि सर्वलोकसंरक्षणसमर्थं वा भुजयुगं बाहुयुगलं श्रयते समवलम्बते इति शिश्रिय इत्यस्य लकारविपरिणामादिति भाव इति ॥ १९ ॥

टिप्पणी—अत्राङ्के निर्वहणसन्धिमुपसंहृतवता नाटककृता यदिदं भारतवाक्यं विरच्यते तद्धि निर्वहणस्य प्रशस्तिनामकमवश्यनिबन्धनीयमङ्गम् । 'प्रशस्तिः शुभ्रशंसने'ति लक्ष्यते नाट्यविद्भिरङ्गमिदम् । जगतः कल्याणशंसना प्रशस्तिरियम् । अन्यानि चाङ्गानि तत्र तत्रोह्यानि, यथा–द्युतिः प्रातिकूल्यशमनरूपा 'अमात्यराक्षस ! अपीष्यते चन्दनदासस्य जीवितमित्यत आरभ्य 'नमः सर्वकार्यप्रतिपत्तिहेतवे सुहृत्स्नेहायेत्यन्ते संदर्भे, यथा वा काव्यसंहारो वरेच्छारूपो 'राजा किमतः परं प्रियमस्ति ? राक्षसेन समं मैत्रीत्या'दिवाचोयुक्तौ यथाऽपि पूर्वभावरूपमङ्गं 'प्राग्भावो कृत्यदर्शनमि'ति नाट्यविद्भिः परिभाषितं 'चाणक्यः—विजये ! उच्यतां दुर्गपाल' इत्यादिवाक्ये, यथा खलु ग्रथनं कार्यदर्शनस्वरूपं चाणक्यः–वृषल ! वृषल !! अमात्यराक्षसेनेदानीं गृहीतशस्त्रेणानुगृहीत' इत्यादिवाग्विकल्प इति ।

'ये सम्राट् अपने सुखी किंवा समृद्ध बन्धु–बान्धवों और अनुचर–परिचरों के साथ सदा फूलते–फलते महाराज चन्द्रगुप्त सदा इस पृथिवी पर राज करें जो चराचर जगत की माता होने के कारण, प्रलय में अपने पुत्रों की प्राण–रक्षा के लिये या तो पहले महाशक्तिशाली, रक्षासमर्थ, शूकररूप में अवतीर्ण स्वयंभु भगवान्

म्लेच्छैरुद्वीज्यमाना भुजयुगमधुना पीवरं राजमूर्त्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः ॥ १९ ॥

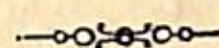
(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति 'मुद्राराक्षसे' सप्तमोऽङ्कः ॥ ७ ॥



इदं रूपकं रूपितैतिह्यवृत्तम् , इदं रूपकं चित्रितोदारचित्रम् ।
इदं रूपकं सद्रसेद्धं समृद्धं, सदाभावये मानसोल्लासिरङ्गे ॥
कविः कालिदासः कविः कालिदासः
प्रणिन्ये विशाखोऽपि नाट्यं महीयः ।
कविं कालिदासं सदा संस्मरामो
विशाखं भजामो मुदा नाट्यकारम् ॥

इति राक्षसनिग्रहो नाम सप्तमोऽङ्कः ।



इति शुभम्



विष्णु की दन्त-कोटि का अवलम्ब लेती रही या अब विदेशी वर्वर आक्रान्ताओं से उत्पन्न संकट में भगवान् नारायण के ही राज रूप में अवतार महाराज चन्द्रगुप्त के प्रबल भुजदण्ड का आश्रय लिये खड़ी है' ॥ १९ ॥

(सभी पात्र रङ्गमंच से चले जाते हैं)

सप्तम-अङ्क समाप्त

समाप्तमिदं नाटकम्





विशेष विवरण

नोट्स-(NOTES)

(१) नान्दी—

देव-भूप-सभा-भर्तृमुख्यानां मङ्गलाभिधा।
निस्यारूपमुखे नान्दी पदैः षड्भिरथाष्टभिः॥ (नाट्यदर्पण)

नान्दी-संगीत संस्कृत नाटकों का एक आवश्यक अंग है। महाकवि माघ ने अपने शिशुपालवध में इसीलिये ऐसा उल्लेख किया है—**'पूर्वरङ्गः प्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुनः'**। (२।८) नाट्यशाला को 'रंग' कहते हैं क्योंकि सामाजिकों की रंजना अथवा मनोरञ्जन का यह सर्वसुलभ साधन है। किसी नाटक के अभिनय के पूर्व जो संगीत का आयोजन अपेक्षित है वह 'पूर्वरंग' कहा जाता है। इस पूर्वरंग के प्रत्याहार आदि अङ्गोपाङ्ग भारतीय अभिनय के प्राचीन युग में व्यवहार में आते रहे हैं किन्तु क्रमशः इनका लोप होता गया और इनके प्रतिनिधिरूप में नान्दी-पाठ ही बच रहा है। उपलब्ध संस्कृत के नाटकों में दो प्रकार का नान्दी-पाठ दिखाई देता है—पहला जो नाटककार का ही रचित हो और दूसरा जो नाटक के अभिनय करने वालों द्वारा निर्धारित हो।

मुद्राराक्षस नाटक की नान्दी-रचना इसके नाटककार की है और इसीलिये इसका उद्देश्य केवल सामाजिकों का मनोरञ्जन नहीं अपितु नाटक के वृत्त-चरित-भावादि की सूक्ष्म सूचना भी है।

(२) सूत्रधार—

'सूत्रं नाट्यसूत्रं धारयतीति सूत्रधारः।
नाट्यप्रयोगनिपुणो नानाशिल्पकलान्वितः॥
छन्दोविधानतत्त्वज्ञः सर्वशास्त्रविचक्षणः।
तत्तद्गीतानुगलयकलातालावधारणः॥
अवधाय प्रयोक्ता च योक्तॄणामुपदेशकः।
एवं गुणगणोपेतस्सूत्रधारोऽभिधीयते॥'

मातृगुप्ताचार्य (चौखम्बा पुस्तकालय से प्रकाशित अभिज्ञान शाकुन्तल-टीका से उद्धृत)

(३) नटी—

सूत्रधार की पत्नी भी हो सकती है अथवा नाट्यमण्डली से सम्बद्ध कोई स्त्री-पात्र।

(४) परिषत्—

'अभिरूपभूयिष्ठापरिषदियम्' (अभिज्ञानशाकुन्तल)-संस्कृतनाटकों के अभिनय-दर्शन के लिये उपस्थित दर्शक-मण्डली को 'परिषद्' 'सभ्य' इत्यादि शब्दों से सूचित

किया गया है। 'पारिषद्' 'पारिषद्य' 'सभ्य' इत्यादि शब्द का अभिप्राय नाटक के दर्शक-समाजिक का है। कहा भी है—**'सभ्यास्तु विबुधैर्ज्ञेया ये विद्वान्विता जनाः।'**

(५) नाटक—

'नाटयति विचित्रं रञ्जनाप्रवेशेन सभ्यानां हृदयं नर्तयतीति नाटकम्।'

'यद्यपि कथादयोऽपि श्रोतृहृदयं नाटयन्ति तथाप्यङ्कोपायादीनां वैचित्र्यहेतूनाम-भावात् न तथा रञ्जकत्वमिति न ते नाटकम्।' (नाट्यदर्पण)

संस्कृत में 'रूपक' और 'नाटक' दोनों शब्दों का पृथक् पृथक् अर्थ है। 'रूपक' तो व्यापक अर्थ रखता है—**'रूप्यन्तेऽभिनीयन्ते इति रूपाणि नाटकादीनि'** और इसके नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी तथा प्रहसन ये प्रमुख १० प्रकार हैं। किन्तु 'नाटक' इन्हीं दस प्रकार के रूपकों में सर्वप्रथम तथा सर्वोत्कृष्ट प्रकार है।

नाटक की परिभाषा

प्रख्यातवस्तुविषयं धीरोदात्तादिनायकम्।
राजर्षिवंशचरितं तथादिव्याश्रयान्वितम्॥
शृङ्गारवीरान्यतरप्रधानरससंश्रयम्। प्रकृत्यवस्थासंध्यङ्गसन्ध्यन्तरविभूषितम्॥
सुखदुःखोत्पत्तिकृतं चरितं यच्च भूभृताम्।
इतिवृत्तं कथोद्भूतं किञ्चिदुत्पाद्यवस्तु च॥
नाटकं नाम तज्ज्ञेयं रूपकं नाट्यवेदिभिः। (मातृगुप्ताचार्य)

अर्थात् नाटक में जिस विशेषताओं का होना आवश्यक है वे ये हैं—

१—वस्तु-रचना-'वस्तु' 'वृत्त' 'कथा' 'कथानक' इत्यादि शब्द संस्कृत नाटकों में 'प्लाट' का अभिप्राय रखते हैं। जिस किसी भी कथा अथवा कथानक को संस्कृत का नाटककार नाटक के रूप में रंगमंच पर अभिनय के लिये प्रस्तुत करे उस में एक घटना-भाग को तो वह ऐसा संभारता है जो नाटक के प्रमुख चरित के चित्रण के लिये आवश्यक माध्यम का कार्य कर सके। इस प्रकार के घटना-भाग को 'आधिकारिक वृत्त' कहते हैं। मूल-घटना अपने आप में जिस प्रकार घटी हो, नाटककार इस घटना को जब 'इतिवृत्त' के रूप में नाटक में उतारता है तो उसका उद्देश्य यह होता है कि उसके नाटक में यह घटना नाटक के प्रमुख चरित के व्यक्तित्व को झलकाती रहे और ऐसी प्रतीत हो जैसे उसी के व्यक्तित्व की शक्ति से यह प्रेरित हुई है। आवश्यकतानुसार अन्य अवान्तर घटनायें भी यदि किसी नाटक में आवें तो उनका भी उद्देश्य 'आधिकारिक वृत्त' को ही पुष्ट करना हुआ करता है। ऐसी घटनाओं को 'प्रासङ्गिक वृत्त' कहा गया है। प्रासङ्गिक वृत्त भी अधिक और कम व्यापक होने के कारण 'पताका' और 'प्रकरी' भेद से दो प्रकार का हुआ करता है।

संस्कृत का नाटककार अपने नाटक की वस्तु-रचना अपने मुख्य रस-भाव की अभिव्यक्ति की दृष्टि से किया करता है और इसी दृष्टि से उसे यह भी स्वतन्त्रता प्राप्त है कि किसी मूल-घटना में वह अपनी कल्पना-शक्ति से परिवर्त्तन भी थोड़ा बहुत कर सके।

२. **चरित-चित्रण**—संस्कृत की नाट्य-कला केवल कला के लिये नहीं अपितु मानव-जीवन और उसके आदर्शों को प्रस्तुत करने के लिये है इसलिये संस्कृत नाटकों में चरित्त चित्रण इस दृष्टि से किया जाता है जो **'रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्'** की अन्तःप्रेरणा लिये हो। अर्थात् नाटक के चरित का पुरुषार्थपर्यवसायी होना आवश्यक है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का व्यस्तरूप से अथवा समस्तरूप से, नाटक के चरित के द्वारा अभिव्यञ्जन होना ही चाहिये। जब कि चरित-चित्रण का यह दृष्टि-कोण है तब पाश्चात्य नाटकों की भांति संस्कृत के नाटकों में **'मैकबेथ'** अथवा **'हैमलेट'** के समान चरित-चित्रण अनावश्यक तथा साथ ही साथ निषिद्ध भी है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप प्रयोजन के उद्देश्य से ऐसा भ्रम न हो जाना चाहिये कि संस्कृत के नाटक **'आगम'** हो गये। आगमों अथवा धर्मादि प्रतिपादक शास्त्रों में तो पुरुषार्थों का भावी फल के रूप में प्रवचन किया रहता है किन्तु नाटकों में व्यक्ति-विशेष के द्वारा प्राप्त पुरुषार्थों का अभिव्यञ्जन होता है और इसीलिये इनका साक्षात् नहीं अपितु नाटक के चरितों के द्वारा चित्रण किया जाता है।

संस्कृत के नाटकों में इसीलिये वैयक्तिक चरित-चित्रण की अपेक्षा—वैयक्तिक अन्तर्द्वन्द्व के प्रदर्शन के बदले-ऐसा चरित-चित्रण हुआ करता है जिसे **'सामान्य'** कह सकते हैं। इसलिये चार प्रकार के ही नायकों में से संस्कृत के नाटककार, चरित-चित्रण के लिये, किसी एक प्रकार का नायक चुना करते हैं। नायक के चार प्रकार ये हैं:— १ धीरोदात्त, २-धीरोद्धत, ३-धीरललित और ४-धीरप्रशान्त। इन चारों प्रकार के नायकों में एक विशेषता तो ऐसी है जो सब में अन्तर्व्याप्त है। अर्थात् 'धीर' होना अथवा संकट में भी कातर न होना, धैर्य न छोड़ना सभी नायकों के लिये नितान्त आवश्यक है। मनुष्य मात्र को उदात्त, उद्धत, ललित और शान्त इन चार कोटियों में विभाजित किया जा सकता है किन्तु जो नाटक का नायक हो उसके लिये, चाहे वह इन कोटियों में किसी भी कोटि में क्यों न आ सके, **'धीर'** होना अपेक्षित ही है। यद्यपि एक व्यक्ति में ही देश-काल-अवस्थाभेद से ये चारों स्वभाव संभव हैं किन्तु नाटक में चरित-चित्रण के लिये संकुलस्वभाव की अपेक्षा किसी एक प्रकार के स्वभाव का विशद वर्णन किया जाता है।

नाटक के नायक में ये स्वाभाविक गुण आवश्यक हैं:—

'तेजो विलासो माधुर्यं शोभा स्थैर्यं गभीरता।
औदार्यं ललितं चाष्टौ गुणा नेतरि सत्त्वजाः॥'

३. रसभावाभिव्यक्ति—श्रव्य-काव्य के समान दृश्य-काव्य में भी रस भावाभिव्यक्ति को ही अन्तिम कलात्मक सृष्टि माना गया है। वस्तुतः रस-स्वरूप का प्रथम निरूपण तो नाट्यानुभव के विश्लेषण में ही हुआ था। आलिङ्कारिकों में रस-ध्वनिवाद के प्रवर्तक नाट्यमर्मज्ञ लोग **'नाट्य'** और **'रस'** को एकरूप-एकरस ही मानते हैं—**नाट्यं रसः** (श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य)। पाश्चात्य नाटकों में नाट्य-सृष्टि चरित-चित्रण के चमत्कार में देखी जाती है, किन्तु संस्कृत नाटक अपनी कला की इतिश्री **'रसनिष्पत्ति'** में करते हैं। दशरूपककार का कथन है:—

'आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादपराङ्मुखाय॥

संस्कृत नाटकों में इस रसभावाभिव्यक्ति की जो प्रक्रिया है वह यह है:—

'स्वल्पपद्यं लघुगद्यं श्लिष्टावान्तरवस्तुकम्।
सिन्धु-सूर्येन्दु-कालादिवर्णनाधिक्यवर्जितम्॥
एकाङ्गिरसमन्याङ्गमद्भुतान्तं रसोर्मिभिः।
अलङ्कितमलङ्कार-कथाङ्गैरगलद्रसम्॥' (नाट्यदर्पण)

तात्पर्य यह है कि नायक के चरित के अनुरूप ही रस-भाव की अभिव्यक्ति किसी नाटक में उपेक्षित है। नायक का व्यक्तित्व बहुमुखी होता है इसलिये एक रस को प्रधान बनाकर अन्य रसों की अङ्गरूप से योजना नाटक की सुन्दरता बढ़ाने के लिये अपेक्षित है रसों में भी शृंगार, वीर, करुण और शान्त इन चारों में से किसी एक को प्रधानरस मान कर संस्कृत की नाट्यकला अधिकाधिक सफलता से रसाभिव्यक्ति कर चुकी है।

रस तिरोहित न हो (छिप न जाय) इसके लिये नाटककार को सचेष्ट होना आवश्यक है। वस्तुओं का काव्यमय वर्णनाधिक्य भी नाटक में रसाभिव्यक्ति का बाधक है। इसलिये संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार यथाशक्ति **'काव्यकण्डूविनोद'**—कविता करने की खुजलाहट-से बचने का ही प्रयत्न करते हैं। मुद्राराक्षस का नाटककार इस दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ नाटककार है। क्योंकि यदि कोई नाटककार रसभाव में बह जाय तो उसका नाटक बाहर से नाटक दिखाई देने पर भी एक प्रकार का श्रव्य-काव्य ही रह जायगा। नाटक में तो रसाभिव्यक्ति चरित-चित्रण के माध्यम से और चरित-चित्रण इतिवृत्त के प्रेरक के रूप में ही होने से सुन्दर प्रतीत होते हैं।

(६) नेपथ्य—

'नेपथ्य' शब्द संस्कृत नाटकों में यथास्थान तीन अर्थों का वाचक है—नट की वेषभूषा (**रामादिव्यञ्जको वेषो नटे नेपथ्यमुच्यते।**) दूसरा जवनिकापर्दा (**नेपथ्यं स्याज्जवनिका**) और तीसरा रंगभूमि।

(७) प्रस्तावना—

प्रत्येक संस्कृत नाटक में 'प्रस्तावना' अथवा 'आमुख' आवश्यक रूप से अवस्थित है। 'प्रस्तावना को' अथवा 'आमुख' के द्वारा नाटककार नाटक का रंगावतरण किया करता है। 'प्रस्तावना' नाट्याचार्यों ने, नाटकों में जो भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी नामक चार वृत्तियां होती हैं उनमें भारती वृत्ति का अंग माना है भारती वृत्ति का लक्षण यह है:-

सर्वरूपकगामिन्यामुख-प्ररोचनोत्थिता।
प्रायः संस्कृतनिःशेशरसाढ्या वाचि भारती॥

भारती वृत्ति का अभिप्राय है वाग्व्यापार का। वस्तुतः बात तो यह है कि मनुष्य का कोई भी व्यापार ऐसा नहीं होता जो एकान्ततः कायिक ही हो अथवा वाचिक ही हो अथवा मानसिक ही हो। और नाटक में तो नाटककार जिस प्रकार के व्यापार का निबन्ध करता है वह रस-भावाभिनयसंभिन्न ही हुआ करता है। हमारे कायिक व्यापार मानसिक अथवा वाचिक व्यापारों से संभिन्न हुआ करते हैं, मानसिक व्यापार वाचिक और कायिक व्यापारों से और इसी प्रकार वाचिक व्यापार मानसिक और शारीरिक व्यापारों से। इस प्रकार यद्यपि मानव-व्यापार अन्ततोगत्वा शरीर, वाणी तथा मन के व्यापारों से सर्वथा संभिन्न रहा करते हैं किन्तु नाटककार अभिनय की दृष्टि से एक को प्रधान तथा दूसरे को गौण बना कर चार प्रकार के व्यापारों का वर्णन किया करता है। अस्तु, भारती वृत्ति वाणी के व्यापार को कहते हैं। 'प्रस्तावना' अथवा 'आमुख' में जो अभिनय संभव है वह वस्तुतः मुख्यरूप से वाचिकाभिनय के ही रूप में। इसलिये प्रस्तावना को भारती वृत्ति का अंग कहा गया है। प्रस्तावना अथवा आमुख की परिभाषा यह है:—

'विदूषक-नटी-मार्षैः प्रस्तुताक्षेपि भाषणम्।
सूत्रधारस्य वक्रोक्त-स्पष्टोक्तैर्यत्तदामुखम्॥

अर्थात् नाटक की सूक्ष्म सूचना देने के लिये सूत्रधार का नटी अथवा मार्ष अर्थात् पारिपार्श्विक के साथ यथावसर जो आलाप-संलाप है उसे 'आमुख'-'प्रस्तावना' कहा जाता है दो प्रकार से नाटक की सूचना दी जा सकती है-स्पष्ट रूप से अथवा किसी विचित्रता के साथ। नाटकान्तर्गत पात्र के प्रवेश से पहले का जो नाटक भाग है वह तो 'प्रस्तावना' अथवा 'आमुख' है और बाद का 'नाट्य' अथवा 'नाटक'।

'प्रस्तावना' में ही 'प्ररोचना' भी अन्तर्भूत है। प्ररोचना की परिभाषा है:—

'पूर्वरङ्गे गुणस्तुत्या सभ्यौन्मुख्यं प्ररोचना।' अर्थात् रंगमंच पर अवतरित किये जाने वाले नाटक की प्रशंसा-नटों की अभिनय कला की प्रशंसा, या नाटक के रचयिता की प्रशंसा या नाटके सामाजिकों को प्रशंसा या इन सब की प्रशंसा-को 'प्ररोचना' कहा जाता है। **'प्रकृतोऽर्थः** (नाट्यरूपः) **रोच्यते उपादेयतया ध्रियतेऽनयेति प्ररोचना'।**

(८) 'आत्मगत' अथवा 'स्वगत'

संस्कृत के नाटकों में 'आत्मगतम्' अथवा 'स्वगतम्' यह संकेत प्रायः दिया गया होता है। इस स्वगत भाषण के अनेकों प्रयोजन हैं। जो बात नाटक के चरितों के हृदय की बात है उसे नाटककार 'आत्मगत' अथवा 'स्वगत' संकेत के साथ प्रकट किया करता है। इसीलिये कहा गया है—**'स्वगतं स्वहृदि स्थितम्।'**

(९) प्रकाशम्—

नाटकीय चरितों में किसी चरित की कोई बात उसके अतिरिक्त यदि और लोगों के सुनने के लिये भी हो तो उसे 'प्रकाशम्' इस संकेत के द्वारा संकेतित कर दिया जाता है। **'प्रकाशं श्राव्यमन्येषाम्।'**

(१०) अङ्क

संस्कृत के नाटकों का वस्तु-चरित-रस की अभिव्यक्ति की दृष्टि से, जो आन्तरिक विभाजन अपेक्षित है उसे 'अङ्क' कहते हैं। दशरूपककार ने 'अङ्क' की यह परिभाषा दी है:—

यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्त्तते।
आदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः॥
प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः।
अङ्को नानाप्रकारार्थं संविधानरसाश्रयः॥

अर्थात् यदि नाटककार इस प्रकार अपना नाटक प्रारम्भ करे जिसमें वस्तु-रचना और चरित-चित्रण सरस हों तो प्रस्तावना के बाद ही सीधे 'अङ्क' का प्रारम्भ हो जाता है। 'अङ्क' इसलिये संस्कृत नाटकों के अन्तर्विभाग को कहा जाता है क्योंकि इसका उद्देश्य नाटकों के इतिवृत्त तथा चरित चित्रण को, सामाजिकों के हृदय-क्षेत्र पर रसभाव के वीज के रूप में जमाया हुआ रहता है। इसीलिये ऐसा कहा गया है—**अङ्क इति रूढि-शब्दो भावैश्च रसैश्च रोहयत्यर्थान्।**

संस्कृत के नाटकों का अन्तर्विभाग 'दृश्यों' में न होकर 'अङ्कों' में ही हुआ करता है। पाश्चात्य नाटकों में 'दृश्य' के रूप में विभाग स्वभावतः सिद्ध है क्योंकि उनका उद्देश्य नाटकीय चरितों की वैयक्तिक विशेषताओं का प्रदर्शन है। किन्तु संस्कृत नाटकों का उद्देश्य नाटकीय चरितों का प्रदर्शन नहीं अपितु उनके हृदय के उन भावों की अभिव्यक्ति है जो मनुष्य मात्र के भाव कहे जाते हैं और मानव जीवन के आदर्शों के अनुकूल पड़ा करते हैं। संस्कृत का नाटककार तो अपने सामाजिकों के हृदय-फलक पर भावों का अङ्कन किया करता है। इसलिये संस्कृत का नाटक 'अङ्क' में विभक्त रहा करता है।

संस्कृत का नाटककार इतिवृत्त को चरित चित्रण का माध्यम माना करता है इसलिये उसे नाटक के प्रमुख चरित की मनोदशा की अभिव्यञ्जना जितनी अपेक्षित है उतनी

घटना-चक्र की चर्चा नहीं। मानवमात्र का कर्त्तव्य पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति है। जो नाटक का नायक होता है उसमें यह कर्त्तव्य-भावना असाधारणरूप में प्रबल और सक्रिय रहा करती है। इस दृष्टि से नाटक के नायक के शक्तिमान् और सक्रिय व्यक्तित्व को ध्यान में रखते हुये संस्कृत का नाटककार उसकी पंचविध अवस्थाओं, जो कि स्वभावतः मनुष्यमात्र के सक्रिय व्यक्तित्व की अवस्थायें है, का निरूपण और चित्रण किया करता है—ये पंचविध अवस्थायें ये हैं:—

पहली आरम्भ, दूसरी यत्न, तीसरी प्राप्त्याशा, चौथी नियताप्ति और पांचवीं फलागम। अङ्क का आरम्भ और अवसान इन अवस्थाओं के चित्रण के आरम्भ और अवसान पर निर्भर है। यदि एक २ अवस्था के लिये एक २ अङ्क मान लिये जांय तो एक नाटक में कम से कम पांच अङ्क होने चाहिये। किन्तु किसी एक अवस्था में उपक्रम और उपसंहार का भेद कर लेने पर अङ्क संख्या ६,७,८,९ और अधिक से अधिक दस तक संभव है।

अङ्क की एक और विशेषता है और वह है उसकी ऐसी समाप्ति जो आगे आने वाले अङ्क की रूप-रेखा की सूक्ष्म सूचना दे जाय। किसी अङ्क में अग्रिम अङ्क की सूचना की यह विशेषता नाट्यशास्त्रकारों की परिभाषा में 'बिन्दु' नाम से कही जाती है।

(११) आकाशे—

संस्कृत नाटकों में 'आकाशोक्ति' भी नाटकीय वृत्त का एक प्रकार है। इसका लक्षण नाट्यशास्त्रकारों ने यह किया है:—

'आकाशोक्तिः स्वयं प्रश्न-प्रत्युत्तरमपात्रकम्।

अर्थात् रंगमंच पर अकेला कोई पात्र, अपने आप, विना किसी दूसरे पात्र के कुछ पूछ-ताछे, प्रश्न और उत्तर की प्रक्रिया से किसी बात को प्रकट करे तो उसका ऐसा करना 'आकाशे' इस संकेत के द्वारा सूचित किया जाता है और उसकी बात **'आकाशोक्ति'** **'आकाशभाषित'** इत्यादि कही जाती है।

(१२) जनान्तिकम्—

इसकी परिभाषा है:—

'त्रिपताकान्तरोऽन्येन जल्पोयस्तज्जनान्तिकम्।

'त्रिपताक' कहते हैं हाथ की एक मुद्रा को—

'ऊर्ध्वसर्वाङ्गुलिर्वक्रानामिकः करस्त्रिपताकः'—

अर्थात् और अनामिका अंगुली को कुछ टेढ़ा रखते हुये एक हाथ की और अंगुलिओं को ऊपर उठाये रखना। इस मुद्रा का अभिप्राय है रंगमंच पर उपस्थित पात्रों में से किसी एक पात्र का किसी दूसरे पात्र को अपनी कोई बात न सुनाने का अभिनय करते हुये अन्य पात्रों को सुनाना। **'जननामेकस्यैव गोप्यत्वात् बहूनामन्तिकं भाष्यतया निकटं जनान्तिकम्।'** यह भी नाटकीय वृत्त के प्रपञ्च का एक प्रकार है।

(१३) कार्यावस्था—

संस्कृत नाटकों में नायक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-इन चारों पुरुषार्थों में से किसी एक पुरुषार्थ की प्राप्ति में सतत प्रयत्नशील तथा सफल चित्रित किया जाया करता है। नायक के इस रूप से चित्रण में, नाटककार उसकी मनोदशा का पांच क्रमिक अवस्थाओं में विश्लेषण किया करता है। ये अवस्थायें कार्य की अथवा उद्देश्य-प्राप्ति की अवस्थायें होती हैं जैसे कि पहली आरम्भावस्था, दूसरी प्रयत्नावस्था, तीसरी प्राप्त्याशावस्था, चौथी नियताप्ति की अवस्था और पांचवीं फलागम की अवस्था। इन्हीं को 'अवस्थापञ्चक' कहा करते हैं। 'मुद्राराक्षस' के नाटककार को नाटक में चरितचित्रण की इस व्यवस्था का शास्त्रीय तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार का परिचय और अनुभव है। 'कार्योपक्षेपमादौ (मुद्राराक्षस चतुर्थ अङ्क, तृतीय श्लोक) इत्यादि श्लोक में इसका सूक्ष्म संकेत नाटककार ने स्वयं किया है।

पहली अवस्था, जो 'आरम्भ' कही जाती है नाट्यशास्त्रकारों की परिभाषा में इस प्रकार की है—**'फलायौत्सुक्यमारम्भः'**। अर्थात् नायक के हृदय में अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये उपाय के प्रति उत्सुकता और इस उत्सुकता के अनुकूल कार्यशीलता का होना 'आरम्भ' है। उदाहरण के लिये 'मुद्राराक्षस' में इसके नायक चाणक्य के हृदय में, अपने उद्देश्य अर्थात् मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की स्थिरमूलता तथा सुखसमृद्धि की स्थापना के लिये राजनीति की पेचीदगी में आत्मोत्सर्ग करने की उत्कण्ठा और इस उत्कण्ठा के अनुसार भिन्न २ प्रकार की कूटचालों में भिन्न २ व्यक्तियों की नियुक्ति का जो वर्णन प्रारम्भ में ही हुआ है उसे 'आरम्भावस्था' का अभिव्यञ्जन कहेंगे।

दूसरी अवस्था 'यत्न' अथवा 'प्रयत्न' की अवस्था है। इसकी परिभाषा है—**'प्रयत्नो व्यापृतो त्वरा'** अर्थात् 'आरम्भ' में जो उत्सुकता है उसका उत्कट हो उठना 'प्रयत्न' को अवस्था है। 'आरम्भ' की अवस्था में तो नायक अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये अनेकों उपायों का संकल्प-विकल्प किया करता है किन्तु 'प्रयत्न' की अवस्था तब प्रारम्भ होती है जब किसी निश्चित उपाय को कार्यकर बनाने का दृढ़ संकल्प कर लेता है। उदाहरण के लिये मुद्राराक्षस का नायक चाणक्य पहले तो नाना प्रकार की उपाय-चिन्ता में ग्रस्त दिखाया गया है किन्तु बाद में एकमात्र अपने प्रतिस्पर्द्धी राक्षस को वश में करने के ही उपाय अर्थात् कूट-लेख) के प्रयोग का निश्चय कर लेता है। यह उसकी प्रयत्नावस्था का चित्रण है जो कि नाटककार ने 'दुरात्मन् राक्षस ! **क्वेदानीं यास्यसि ?**' इत्यादि वाक्यों द्वारा कर दिखाया है।

तीसरी अवस्था **'प्राप्त्याशा'** की अवस्था है। इसका लक्षण यह है:—

'फलसंभावना किञ्चित् प्राप्त्याशा हेतुमात्रतः ?

इसका अभिप्राय यह है कि नाटक के नायक के कार्यसिद्धि के प्रतिउत्सुक किंवा प्रयत्नशील-हृदय में, जीवन की विषमपरिस्थितियों की मुठभेड़ में, जो उथल पुथल मचा करती है

और स्वभावतः मचनी भी चाहिये, उसे दमन करने की प्रवृत्ति और शक्ति का होना और इस आशा को कभी भी न छोड़ना कि विजय उसी की होगी। प्राप्ति अथवा प्रधान फल की आशा को इस प्रकार **'प्राप्त्याशा'** कहेंगे।

यदि हम संस्कृत के नाटकों में चरित-चित्रण की **'प्राप्त्याशा'** की अवस्था का मर्म समझ लें तो संस्कृत के नाटक क्यों **'सुखान्त'** होते हैं और प्राश्चात्य नाटक क्यों **'दुःखान्त'** अथवा ट्रेजेडी के रूप में रचे गये हैं, इसका रहस्य स्पष्ट समझ जायेंगे। संस्कृत के नाटककार नायक की **'प्राप्त्याशा'** को इस रूप में चित्रित करते हैं कि वह विषम परिस्थितियों की मुठभेड़ में भी विजयी होता दिखाई देता है इसका कारण जो कुछ भी हो, चाहे भाग्य की अनुकूलता में विश्वास हो, चाहे भाग्य को भी पौरुष से दबाते रहने का सामर्थ्य का उद्देश्य हो, चाहे ईश्वर को भी कर्मठ व्यक्तित्व के सहायक होने का सिद्धान्त हो, चाहे ऐसा प्रदर्शित करने में मानव आदर्श का प्रदर्शन हो या और जो कुछ हो, संस्कृत का नाटककार अपने नायक के चरित चित्रण को इसी प्रकार निभाया करता है। जब संस्कृत के नाटककारों को राम अथवा कृष्ण सरीखे महनीय व्यक्तित्वों का चरित-चित्रण अभिप्रेत है तब तो संस्कृत नाटकों का मङ्गलान्त अथवा मङ्गलमय होना स्वाभाविक ही है।

पाश्चात्य नाटककारों की यथार्थदृष्टि नाटक के नायक को सर्वथा विजयी नहीं देख सकती। पाश्चात्य नाटक नाटक के लिये रचे गये हैं, अभिनय कला के लिये निर्मित हुये हैं, इसलिये इनमें पुरुषार्थ की प्राप्ति का प्रदर्शन आवश्यक नहीं। इनमें तो नाटक के नायक की महत्त्वाकांक्षा, चाहे वह संहारात्मक हो, अतात्त्विक हो, अहितकर हो, अपुरुषार्थ-प्रचुर हो, का ही प्रदर्शन अपेक्षित है। संस्कृत के नाटकों में **'प्राप्त्याशा'** की अवस्था पाश्चात्य नाटकों में प्रदर्शित Conflict (द्वन्द्व-वाह्यद्वन्द्व तथा अन्तर्द्वन्द्व) के समानान्तर चला करती है। संस्कृत के नाटकों में द्वन्द्व का महत्त्व नहीं, द्वन्द्व की शान्ति का महत्त्व है; कुरुक्षेत्र का दृश्य उतना दर्शनीय नहीं जितना धर्म-विजय का। पाश्चात्य आलोचकों को यह बात खटका करती है। एक पाश्चात्य नाट्या-लोचकों का कहना है—'And the orientals have no vital drama because they are fatalists, because they do nat believe in that free will without the drama can not exist.' अर्थात् पौरस्त्य-भारतीय लोगों-के पास कोई शक्तिशाली नाटक नहीं क्योंकि वे दैववादी हैं, और उनका मनुष्य की उस स्वतन्त्र इच्छाशक्ति-उस पौरुष-पर विश्वास नहीं जिसके बिना नाटक का कोई अस्तित्व ही नहीं।' किन्तु वस्तुतः बात यह है कि संस्कृत के नाटककार, अपने समाज के आदर्शों के अनुसार, वा किंवा अन्तर्विद्रोह में पड़े मानव को उतना महत्त्व नहीं दिया करते जितना उस मानव को, जो वाह्य किंवा अन्तः कोप पर चाहे भाग्यवश हो अथवा पौरुष के द्वारा ही हो, विजयी हुआ करता है।

'मुद्राराक्षस' में 'प्राप्त्याशा' की यह अवस्था द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ-इन तीनों अङ्कों में बड़ी सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त हुई है। नाटक के नायक चाणक्य का प्रतिद्वन्द्वी राक्षस अपनी अमोघ राजनीतिक चालों को चल चुका है और पग पग पर चाणक्य के पराजित होने का भय है। चाणक्य की कूटनीति अपने प्रतिद्वन्द्वी की प्रत्येक चाल का मुंहतोड़ जवाब देती चल रही है। राक्षस चुप नहीं किन्तु उत्तरोत्तर हारते हुये भी अपनी हार स्वीकार नहीं करता और चाणक्य-चन्द्रगुप्त में फूट उत्पन्न करने की चाल चल डालता है जिसकी संभावना को पहले ही ताड़ कर चाणक्य उसका प्रतीकारोपाय भी सोच लेता है और अपनी चाल-बनावटी फूट-में बदल देता है जिसका सफल परिणाम निश्चिन्त होकर देखना ही उसका काम रह जाता है। इस प्रकार चाणक्य की 'प्राप्त्याशा' का चित्रण नाटककार ने बड़ी सतर्कता से किया है और स्वयं भी अपनी इस कला पर स्पष्ट संकेत किया है—

'बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च।' (मुद्राराक्ष ४-३)

चौथी अवस्था 'नियताप्ति' कही जाती है। नाट्यशास्त्रकारों ने इसकी यह परिभाषा की है—**'नियताप्तिरुपायानां साकल्यात् कार्यनिर्णयः।'** अर्थात् अपने पौरुष अथवा भाग्य की साहाय्य-सम्पत्ति के द्वारा नायक के हृदय में अपनी सफलता की अवश्यं भाविता का जो निर्णय है उसे **'नियताप्ति'** कहते हैं। संस्कृत के नाटकों में **'प्राप्त्याशा'** की अवस्था का **'नियताप्ति'** में परिणत होना आवश्यक है और इसलिये आवश्यक है कि अन्त में सत्य की विजय आवश्यक है और धर्म की ही विजय अवश्यंभावी है।

पांचवी अवस्था का नाम 'फलागम' है। इसका लक्षण है—

'साक्षाद्विष्टार्थसंभूतिर्नायकस्य फलागमः।' फलागम का अभिप्राय है फल का आगम अथवा फल का पहुंचने लगना, उद्देश्य का पूर्ण होते अनुभव होना न कि फल का पहुंच जाना अथवा उद्देश्य का पूर्ण हो चुकना। ऐसा इसलिये क्योंकि नायक का फल भोग अथवा धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष की प्राप्ति का आनन्द तो नाटक-प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य हुआ करता है जिसकी दृष्टि से नायक की आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति-फलागम की पञ्चावस्था का नाटककार चित्रण किया करता है।

(१४) अर्थ प्रकृति

संस्कृत के नाटकों का वृत्त अथवा कथावस्तु के प्रपञ्च की दृष्टि से एक और प्रकार का विश्लेषण किया जाता है जिसे 'अर्थ प्रकृति' का विश्लेषण कहते हैं। अर्थ प्रकृति का अभिप्राय, ऐसा प्रतीत होता है, लोग ठीक २ नहीं समझते-समझाते। नाट्यशास्त्र सम्बन्धी साहित्य भी इस सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट नहीं है। जैसे कि यदि दश रूपककार का अर्थ प्रकृति के सम्बन्ध में यह विचार है—

तस्येतिवृत्तस्य किं फलमित्याह—

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च।

धर्मार्थकामाः फलं तच्च शुद्धमेकैकमेकानुबन्धं द्व्यनुबन्धं वा।

तत्साधनं व्युत्पादयति—

स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा।
अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्॥
(सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकारी च प्रदेशभाक्।)
बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः॥'

तो नाट्यदर्पणकार का यह—

'बीजं पताका प्रकरी बिन्दुः कार्यं यथारुचि।
फलस्य हेतवः पञ्च चेतनाचेतनात्मकाः॥'

'उपायस्वरूपापरिज्ञाने तद्विषयाणामारम्भादीनां स्वरूपपरिज्ञानासंभव इति उपायस्वरूपं व्युत्पाद्यते। यथारुचीति नैषामौद्देशिको निबन्धक्रमः सर्वेषामवश्यम्भावित्वं वा। फलस्य मुख्यसाध्यस्य हेतव उपायाः। इह हेतुर्द्विधा–अचेतनश्चेतनश्च। अचेतनोऽपि मुख्यामुख्यभेदाद्–द्विधा। मुख्यो बीजं तन्मूलत्वादितरेषाम्। अमुख्यस्तु कार्यम्। चेतनोऽपि द्विधा मुख्य उपकरणभूतश्च। मुख्यो बिन्दुः कार्यानुसन्धानरूपत्वात्। उपकरणभूतो द्विधा स्वार्थसिद्धियुतः पदार्थसिद्धिपरश्च। परार्थसिद्धिपरश्च पूर्वः पताका, अन्यः प्रकरीति। अत्र चाऽचेतनचेतनानां मध्ये बीजबिन्द्वोर्मुख्यत्वं सर्वव्यापित्वादिति।'

दोनों उपर्युक्त विचार-बिन्दुओं में बड़ा अन्तर है। दश रूपककार तो 'अर्थ प्रकृति'-पञ्चक और अवस्था-'पञ्चक' का परस्पर समन्वय मानने वाले हैं क्योंकि इनके अनुसार इस समन्वय में 'सन्धि-पञ्चक' रहा करता है जैसा कि उनका कथन है—

'अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्था समन्विताः।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्चसन्धयः॥'

किन्तु नाट्यदर्पणकार के अनुसार 'अवस्था-पञ्चक' के साथ 'अर्थ प्रकृति-पञ्चक' का क्रमिक निबन्ध आवश्यक नहीं और न इस पर 'सन्धि पञ्चक' ही आधारित है। दश रूपककार ने अर्थ प्रकृति के कार 'कार्य' को धर्म-अर्थ और मोक्ष इस त्रिवर्ग के रूप में समझा है किन्तु नाट्यदर्पणकार के अभिप्राय से 'कार्य' नाटककार के मुख्य उद्देश्य अथवा नायक के प्रमुख प्रयोजन (क्योंकि यह एकान्ततः नाट्यदर्पण में भी स्पष्ट नहीं किया गया) का एक उपाय मात्र है और ऐसा उपाय है जो 'अचेतन-रूप' है दश रूपककार नाटक में पाचों अर्थ प्रकृतियों का सद्भाव अवश्यभावी मानते हैं किन्तु नाट्यदर्पणकार

दो ही अर्थ प्रकृतिओं अर्थात् बीज और बिन्दु का क्योंकि औरों का होना किसी नाटक-विशेष के लिये संभव है नाटक-मात्र के लिये नहीं।

मुद्राराक्षस का नाटककार नाट्यशास्त्र के इस 'अवस्था तक 'अर्थ प्रकृति'-विश्लेषण से परिचित है क्योंकि उसका यह कथन—

'कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छन्
बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च।
कुर्वन् बुद्धयाविमर्शं प्रसृतमपि पुनः संहरन् कार्यजातं
कर्त्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा॥'

(मुद्राराक्षस ४-३)

स्पष्ट रूप से इसका प्रमाण है। वस्तुतः अवस्था-पञ्चक तथा अर्थ प्रकृति-पञ्चक के सम्बन्ध में जो अत्यन्त स्पष्ट तथा पर्याप्तरूपेण महत्त्व पूर्ण बात मुद्राराक्षस के उपर्युक्त कथन से प्रतीत होती है वह अन्य किसी भी नाट्यशास्त्रसम्बन्धी साहित्य के निर्देश से नहीं। 'मुद्राराक्षस' के अनुसार यह पता चलता है कि नाटककार का सम्बन्ध अवस्था पञ्चक तथा अर्थ प्रकृति-पञ्चक से है न कि नाटक के नायकका। नाटककार का उद्देश्य नाटक में रहा करता है न कि नायक का। नाटककार ही नायक का चरित उससे सम्बद्ध इतिवृत्त के निर्माण द्वारा प्रदर्शित करता है और वही अवस्था-पञ्चक तथा अर्थ प्रकृति पञ्चक का भी सूक्ष्म-विश्लेषण करते चलता है और इस विश्लेषण के प्रदर्शन और अभिव्यञ्जन में ही नाटक की सफलता रहा करती है।

पांच अर्थ प्रकृतियों में पहली अर्थ प्रकृति है 'बीज'। 'बीज' की परिभाषा यह है—

'स्तोकोद्दिष्टः फलप्रान्तो हेतुर्बीजं प्ररोहणात्।'

अभिप्राय यह है कि का नाटककार का नाटक-निर्माण एक रसाल-वृक्ष के आरोपण के समान है। जिस प्रकार किसी माली को भूमि तैयार करके बीज बोना, पानी-पटाना, पौधे के सीधे पनपने के लिये किसी बांस अथवा लकड़ी की सहायता का उपाय करना, साधारण रक्षण के लिये घेरा करना और अन्यान्य उपायों का उपयोग करना आवश्यक है उसी प्रकार नाटककार के लिये भी नाटक-वृक्ष का बीज बोना, बीज के पनपाने का प्रयत्न करना, अंकुर अथवा स्तंब रूप में आने पर उसे बढ़ते रहने के लिये कोई सहायक ढूँढ़ना, उसके लिये छोटी मोटी अन्य सहायताओं का पहुंचाना तथा पोषणोपयोगी अन्यान्य उपायों का प्रयोग करना अपेक्षित है। बीज तो सदा छोटा ही होता है किन्तु फल बहुत बड़ा। बिना बीज बोये तो फल निकल नहीं सकता। संस्कृत के नाटककार नायक-प्रतिनायक और उनके अन्यान्य सहायकों के शारीरिक अथवा मानसिक अथवा वाचिक कार्य-व्यापार के प्रदर्शन के रूप में विचित्र प्रकार का बीजन्यास किया करते हैं। उदाहरण के लिये मुद्राराक्षस के नाटककार ने, अपने नाटक-रुप वृक्ष का बीज,

प्रतिनायक राक्षस द्वारा उत्थापित राज-संकटों और राज्य-संकटों का सामना करने में सतत उत्साह-शील और प्रयत्न-शील नाटक के नायक चाणक्य के **'आः क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति बलात्। नन्दकुल-कालभुजगीं कोपानलबहल-लोलधूमलताम्। अद्यापि बध्यमानां वध्यः को नेच्छति शिखां मे॥'** इत्यादि उक्तियों में अभिव्यक्त व्यक्तित्व के प्रदर्शन के रूप में बोया है, बीज तो नाटकादि के इतिवृत्त का जो मुख्य-प्रयोजन है अर्थात् चरित-चित्रण जिसका प्रमुख उद्देश्य रसभावाभिव्यक्ति है, उसके प्रदर्शन का उपाय है। बीज नाना प्रकार का हो सकता है। कहीं तो नायक अथवा उसके सहायकों के व्यापार के रूप में, कहीं नायक पर आने वाले संकट के रूप में, कहीं नायक के अभ्युदय के उपक्षेप रूप में, कहीं, जैसे कि मुद्राराक्षस में ही, नायक के द्वारा अपने पर आने वाले संकट के निवारण के रूप में अथवा अन्य अनेक विचित्र रूप में संस्कृत नाटकों के इतिवृत्त के परम प्रयोजन का उपाय-यह बीज बोया जाया करता है। आमुख अथवा प्रस्तावना के बाद ही, नाटक-वृक्ष का यह बीज, जिसका अन्तिम फल नाटक-रस है, बोया हुआ रहता है।

'बीज' के बाद नाटक के इतिवृत्त के मुख्योद्देश्य के लिये 'बिन्दु' का निक्षेप परमावश्यक है। 'बिन्दु' का लक्षण यह है—

हेतोश्छेदेऽनुसन्धानं बहूनां बिन्दुराफलात्।'

यह लक्षण नाट्यदर्पणकार का है। किन्तु नाट्यदर्पणकार की इस लक्षण-वाक्य की यह व्याख्या—

'उपायानुष्ठानस्यावश्यकर्त्तव्यादिना व्यवधाने सति नायक-प्रतिनायकामात्यादीनां यदनुसन्धानं ज्ञानमसौ ज्ञानविचारणफललाभोपायत्वाद्बिन्दुः। सर्वव्यापित्वाद्वा जले तलबिन्दुरिव बिन्दुः। आफलादिति बीजवद् समस्तेतिवृत्तव्यापकत्वमाह। केवलं बीजं मुखसन्धेरेव प्रभृति निबध्यते, बिन्दुस्तु तदनन्तरमिति। इह तावन्नायक-सहायोभयेभ्यस्त्रिधाफलसिद्धिः। तत्र सर्वेषामपि स्व-स्वव्यापारविच्छित्तावनुसन्धानात्मा बिन्दुर्निबध्यते। यथा च नायकेन प्रतिपक्षेतिवृत्तमनुसन्धीयते, तथा प्रतिपक्षेणापि नायकस्येतिवृत्तमनुसन्धीयते। अत एव बहूनामित्युपात्तम्।'

इस बात को स्पष्ट नहीं कर पाती, क्योंकि प्राचीन परम्परा से ही इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता, कि 'बिन्दु' का निक्षेप नाटककार की नाट्य-कला से किस प्रकार सम्बद्ध है। बीज, बिन्दु इत्यादि पारिभाषिक शब्द भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के संभवतः पहले के ही शब्द हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उद्यान-कला के ही आधार पर नाट्य-कला की कल्पना की गयी होगी और बीज, बिन्दु इत्यादि शब्द नाट्य-कला के पारिभाषिक शब्द निश्चित कर लिये होंगे। बीज का अभिप्राय, जैसा कि हम पहले

बता चुके हैं, नायक की अपने उद्देश्य की सिद्धि में कार्यारम्भ की उत्सुकता और तत्सम्बन्धी व्यापार से है जिसे नाटककार अपने नाटक के इतिवृत्त के रूप में भिन्न २ ढंग से बोया करता है और इस दृष्टि से 'बिन्दु' का अभिप्राय होगा नाटककार का अपने नाटक के विविध वृत्त को इस रूप से प्रस्तुत करना जिसमें 'बीज' के रूप में पूर्व-निक्षिप्त इतिवृत्त सामाजिक के मानस-पटल पर केवल सुरक्षित ही न रहे अपितु उत्तरोत्तर अन्य वृत्तों से परिपुष्ट होते हुये नायक के फलागम के वृत्त के रूप में प्रकट हो जाय। 'बीज' को मुख्य अचेतन हेतु और 'बिन्दु' को चेतन तथा मुख्य हेतु मानलेने से, जैसा कि नाट्यदर्पणकार और उनकी प्राचीन-परम्परा के विश्लेषण में प्रतीत होता है, यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि नाटककार की इतिवृत्त-रचना तथा चरित-चित्रण की कला के विश्लेषण के ये तत्त्व हैं या नाटक के नायक की कार्यसिद्धि के उपाय। यहां बात यही समझ में आती है कि जिस प्रकार किसी क्ष के बीज को बोने के बाद पानी पटाना अत्यन्त आवश्यक है जिससे उत्तरोत्तर उसकी वृद्धि का अनुसंधान होता रहे उसी प्रकार नाटक में इतिवृत्त-रचना के विचित्र आरम्भ को आगे आने वाले घटना-चक्र की इस प्रकार की रचना से सम्बद्ध करना जिससे उसका विच्छेद न हो सके और साथ ही साथ उत्तरोत्तर उसकी प्रगति भी होती रहे। मुद्राराक्षसनाटक में 'कपट-लेख' की घटना योजना नाटककार की बिन्दु-निक्षेप कला का एक सुन्दर उदाहरण है। इस घटना की योजना से चाणक्य नायक की आगामी संकटों के निवारण से सम्बन्ध रखने वाली बीज-भूत घटना सर्वथा परिपुष्ट हो गयी है।

तीसरी अर्थप्रकृति का नाम 'कार्य' है। दशरूपककार ने तो "कार्यं त्रिवर्गः" की अपनी परिभाषा से कुछ ऐसा कर दिया है कि इसे 'अर्थ प्रकृति' कहना भी असंगत ही लगता है। 'कार्य' को यदि हम अर्थ प्रकृति-पञ्चक का एक प्रकार मानें क्योंकि और कुछ तो यह है नहीं, तब, इसका अभिप्राय नाट्यदर्पणकार की परिभाषा में ही ठीक ठीक समझ में आसकता है। नाट्यदर्पणकार की परिभाषा यह है—

'साध्ये बीजसहकारी कार्यम्।'

जिसका अभिप्राय इन शब्दों में नाट्यदर्पणकार ने स्वयं प्रकट किया है—

'प्रधान-नायक-पताकानायक-प्रकरीनायकैः साध्ये प्रधानफलत्वेनाभिप्रेते बीजस्य प्रारम्भावस्थोपक्षिप्तस्य प्रधानोपायस्य सहकारी सम्पूर्णतादायी सैन्य-कोश-दुर्ग-सामाद्युपायलक्षणो द्रव्य-गुण-क्रियाप्रभृतिः सर्वोऽर्थश्चेतनैः कार्यते फलमिति कार्यम्। अयमत्रोपायानां निबन्धसंक्षेपः—सहायानपेक्षाणां नायकानां वृत्ते बीज-बिन्दु-कार्याणि त्रय एवोपायाः, सहायापेक्षाणां तु पताकाप्रकरीभ्यामन्यतरया वा सह पञ्च चत्वारो वेति।'

यद्यपि इस अभिप्राय-प्रकाशन में भी यह संदेह बना ही हुआ है कि नायक के द्वारा प्रयुक्त सैन्यादि विविध उपायों को 'कार्य' कहते हैं अथवा नाटककार के द्वारा इनसे

सम्बद्ध घटना की रचना को। वस्तुतः 'कार्य' भी नाटककार की नाटकनिर्माण-कला से ही सम्बन्ध रखता प्रतीत होता है और इसकी योजना में नाटककार का जो अभिप्राय होता है वह है नाटक के चरितों का नाटक के घटना-चक्र को प्रभावित करते प्रतीत होना। मुद्राराक्षस की प्रमुख बीजभूत घटना इस प्रकार की अनेकों घटनाओं को प्रभावित करती है तथा इनके द्वारा भी प्रभावित होती चलती है जिन्हें 'कार्य' कह सकते हैं। उदाहरण के लिये अमात्य राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त को उत्तजित करने की घटना प्रतिनायक का 'कार्य' हुआ और चाणक्य द्वारा इस घटना की संभावना देख 'बनावटी झगड़ा खड़ा करने की घटना नायक का 'कार्य' हुआ। किन्तु वस्तुतः इन घटनाओं को नाटक के मुख्य इतिवृत्त से सम्बद्ध कर देना नाटककार की नाट्य-रचना का ही 'कार्य' कहना चाहिये। जिस प्रकार केवल बीज बो देने और पानी पटाते रहने से ही फल की आशा नहीं हो सकती उसी प्रकार केवल बीजभूत वृत्त और विन्दुभूत वृत्तों की संघटना से ही नाटक की वस्तु-रचना का उद्देश्य नहीं सिद्ध हो सकता। नाटक की वस्तु-रचना, जिसमें नायक का चरित उत्तरोत्तर अभिव्यक्त होता रहे और इसके साथ सामाजिकों के हृदय सम्बाद से रसास्वाद भी उत्तरोत्तर सुलभ होता रहा, तब तक सुसंश्लिष्ट नहीं हो सकती जब तक नाटककार वाह्य किं वा आभ्यन्तर अन्यान्य परिस्थितियों के प्रभाव और तत्सम्बन्धी घटना-का भी गुम्फन न किया करे। इतिवृत्त के प्रपञ्च अथवा विस्तार का इस प्रकार 'कार्य' भी एक अत्यन्त आवश्यक उपाय है।

अब इन तीनों अर्थप्रकृतियों के बाद दो अर्थ प्रकृतियां बच रहीं जिन्हें क्रमशः 'पताका' और 'प्रकरी' कहा गया है। 'पताका' की परिभाषा दशरूपककार ने ऐसी की हैः—

'सानुबन्धं पताकाख्यम्'

अर्थात् पताका नाटकों में इस प्रकार का प्रासंगिक वृत्त है जो मुख्य अथवा आधिकारिक वृत्त से दूर तक सम्बन्ध रखता प्रतीत होता है। दशरूपककार ने इसीलिये कहा है--**'दूरं यदनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका सुग्रीवादिवृत्तान्तवत् पताके वाऽसाधारणनायकचिह्नवत्तदुपकारित्वात्।'** किन्तु इसके सम्बन्ध में नाट्यदर्पणकार का ऐसा कथन है :—

'आविमर्शं पताका चेच्चेतनः स परार्थकृत्।'

जिसका व्याख्यान उन्होंने ऐसा किया है:--

'स्वार्थाय प्रवृत्तो यो हेतुश्चेतनः परस्य प्रधानस्य प्रयोजनं सम्पादयति स प्रसिद्धिप्राशस्त्यहेतुत्वात् पताकेव पताका। सुग्रीव विभीषणादिर्हि रामादिनोपक्रियमाणो रामादेरात्मनश्चोपकाराय भवन् रामादेः प्रसिद्धिं प्राशस्त्यं च सम्पादयति। चेदिति यदि फलसाधने साहाय्यापेक्षाणां नायकानां वृत्तं निबध्यते तदा पताका भवति, न तु स्वपराक्रमबहुमानिनामिति। एवं प्रकर्यपि।'

अब यहां दो प्रकार के विचार स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं। दशरूपककार ने तो 'पताका' तथा 'प्रकरी' को प्रासङ्गिक-वृत्त का ही दो प्रकार माना है किन्तु नाट्यदर्पणकार ने नायक के सहायक (यदि सहायक आवश्यक हो)को तथा उससे सम्बद्ध वृत्त को पताका कहा है क्योंकि बिना ऐसा कहे पताका को 'अर्थप्रकृति' का प्रकार नहीं माना जा सकता। नाट्य-दर्पणकार तथा अभिनवगुप्त पादाचार्य की विचार-धारा के अनुसार प्रत्येक नाटक में 'पताका' और 'प्रकरी' का होना आवश्यक नहीं, किन्तु दशरूपककार ने प्रत्येक नाटक में इनकी स्थिति मान रखी है। इन दोनों विचार-धाराओं में अभिनवगुप्तपादाचार्य तथा इस सम्बन्ध में उनके अनुयायी नाट्यदर्पणकार की विचार-धारा अधिक युक्तियुक्त तथा औचित्यपूर्ण लगती है।

मुद्राराक्षस का नायक एक ऐसा अलौकिक व्यक्ति है जो अपनी राजनीतिक प्रतिभा को **'सेनाशतेभ्योऽधिका'** मानकर कुछ करता है। भला ऐसे नायक के ऊपर निर्मित नाटक में 'पताका' का कहां स्थान ? और 'प्रकरी' का कहां अवसर ? किन्तु मुद्राराक्षस के प्राचीन टीकाकार श्रीढुण्ढिराज ने तथा उनके अनुसरण किंवा अनुकरण के आधार पर लिखी गयीं मुद्राराक्षस की संस्कृत-व्याख्याओं तथा अंग्रेजी-व्याख्याओं के लिखने वालों ने इस नाटक में 'पताका' और 'प्रकरी' की रचना भी देख ली है। यह केवल एक भ्रम है और दशरूपककार के सिद्धान्त का अनुचित अनुसरण है। दशरूपककार का सिद्धान्त यदि 'रत्नावली' में लागू है तो मुद्राराक्षस में भी अवश्य ही लागू हो-युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता।

प्रकरी भी 'अर्थ प्रकृति-पञ्चक' का ही पांचवा अंग है। प्रकरी कहते हैं—'प्रकरी च प्रदेशभाक् (वृत्तम्) दशरूपक' अर्थात् नाटक में आये हुये उस प्रासंगिक वृत्त को जो आधिकारिकवृत्त के साथ थोड़ी दूर तक ही सम्बद्ध हो। दशरूपककार इसी लिये कहते हैं:-

'यदल्पं सा प्रकरी श्रमणादिवृत्तान्तवत्।'

अर्थात् राम सम्बन्धी इतिवृत्त वाले नाटक में शबरी का वृत्तान्त 'प्रकरी' हुआ क्योंकि सुग्रीव वृत्तान्त के समान यह लम्बा नहीं हैं और दूर तक राम वृत्तान्त से सम्बद्ध भी नहीं है। नाट्यदर्पणकार ने 'प्रकरी' की जो परिभाषा की है वह यह है:—

'प्रकरी चेत् क्वचिद्भावी चेतनोऽन्य प्रयोजनः।'

जिसका अभिप्राय है—

'क्वचिद्भावी वृत्तैकदेशव्यापी, अन्यस्य मुख्यनायकस्यैव प्रयोजनं यस्य स चेतनः सहकारी प्रकर्षेण स्वार्थानपेक्षया करोतीति प्रकरी। औणादिके इ प्रत्यये संज्ञाशब्दत्वेन स्त्रीत्वम्। यथा रामप्रबन्धेषु जटायुः। चेदित्यनेन पताकावदन-वश्यम्भावित्वमाह। क्वचिद्भावित्वात् स्वार्थनिरपेक्षत्वाच्च पताकातो भेद इति।'

अब नाट्यदर्पणकार की दृष्टि में 'प्रकरी' का अभिप्राय नाटक के मुख्यवृत्त से सम्बद्ध अल्प-वृत्त से नहीं अपि तु निरपेक्ष रूप से नायक के किसी परमसहायक से है। किन्तु

नाट्यदर्पणकार ने यह तो निस्संदिग्ध रूप से स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्येक नाटक में प्रकरी की आवश्यकता नहीं। दशरूपककार के अनुसार प्रत्येक नाटक में प्रकरी अपेक्षित है। रामकाव्य अथवा राम-नाटक में शबरी की घटना की योजना तो 'प्रकरी' होगी ही क्योंकि इसके द्वारा राम के चरित की उदात्तता और भी चमक उठती है किन्तु 'मुद्राराक्षस' में इसके अद्यावधि समस्त टीकाकारों, व्याख्याकारों अथवा आलोचनाकारों के द्वारा राक्षस और करभक के सम्वादवृत्तान्त को 'प्रकरी' मान लेना आश्चर्यजनक सा ही प्रतीत होता है। यदि टीकाकार चन्द्रगुप्त को ही मुद्राराक्षस का नायक मान लें क्योंकि ढुण्ढिराज से लेकर अब तक के प्रत्येक टीकाकार ऐसा ही करते चले जा रहे हैं तब भी अमात्यराक्षस और उसके गुप्तचर करभक के परस्पर सम्वादरूप छोटे कथानक को 'प्रकरी' कैसे माना जा सकता है क्योंकि 'शबरी' और 'जटायु' भले ही राम के सहायक हों और उनका वृत्त राम सम्बन्धी नाटकों में 'प्रकरी' रहा करे किन्तु राक्षस और गुप्तचर की सम्वाद-कथा किस प्रकार 'प्रकरी' हो सकती है जब कि राक्षस चन्द्रगुप्त का सहायक नहीं अपि तु विध्वंसक है। वस्तुतः बात तो यह है कि इस नाटक में अनावश्यक होने से 'प्रकरी' रूप अर्थप्रकृति है ही नहीं।

(१५) 'सन्धि' तथा सन्धि-पञ्चक

संस्कृत के नाटकों को 'पञ्च सन्धि समन्वित' कहा गया है। यहां प्रश्न उठता है कि सन्धि क्या है? इसका उत्तर दशरूपककार ने जो दिया है वह यह है—

'अन्तरैकार्थसंबन्धः सन्धिरेकान्वये सति।'

इसका अभिप्राय दशरूपक के व्याख्यान 'अवलोक' के रचयिता ने जो प्रकट किया है वह है—

'एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानमवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः संधिः'। अर्थात् नाटकके इतिवृत्त की विविध कथाओं का गौण किंवा मुख्य प्रयोजन-सम्बन्ध से परस्पर संबद्ध अथवा संश्लिष्ट होना। इस सम्बन्ध में नाट्यदर्पणकार की परिभाषा यह है—

'सन्धयो मुख्यवृत्तांशाः पञ्चावस्थानुगाः क्रमात्।'

जिसका अर्थ उन्होंने यह बताया है:—

'मुख्यस्य स्वतन्त्रस्य महावाक्यार्थस्यांशाः भागाः परस्परं स्वरूपेण चाङ्गैः सन्धीयन्त इति सन्धयः अवस्थाभिः प्रारम्भादिभिरनुगता अनुयाता अवस्थासमाप्तौ समाप्यन्त इत्यर्थः, अवस्थानां च ध्रुवभावित्वात् सन्धयोऽपि पञ्चावश्यं भाविनः। क्रमादिति मुख्याद्युद्देशक्रमेणाऽवस्थाक्रमेण च निबध्यन्ते। इह तावत् प्रबन्ध-निबन्धनीयोऽर्थोऽवस्थाभेदेन पञ्चभिर्भागैः परिकल्प्यते। एकैकश्च भागो द्वादश-त्रयोदशेत्यादिरूपयाऽङ्गसंख्यया विभज्यते।

तात्पर्य यह है कि नाटक में पांच संधिओं का होना इसलिये आवश्यक हैं क्योंकि

पांच अवस्थाओं होना आवश्यक है। 'सन्धि' का सीधा अर्थ है नायक निवद्ध अर्थराशि का परस्पर किंवा अपने अङ्गों से संघटित होना।

सन्धि के सम्बन्ध में भी एक विचार नाट्यशास्त्रकारों का नहीं है। दशरूपककार के अनुसार तो सन्धि-योजना की प्रक्रिया यह है:—

'अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्चसंधयः॥'

अर्थात् अर्थ प्रकृति-पञ्चक और अवस्था-पञ्चक का क्रमशः परस्पर अन्वित उपनिवन्ध सन्धि-पञ्चक के रूप में प्रकट होता है। किन्तु नाट्यदर्पणकार सन्धि-पञ्चक के लिये, पांचों अवस्थाओं का उपनिवन्ध आवश्यक मानते हैं पांचों अर्थप्रकृतियों का नहीं जैसे कि हम पहले ही दिखा चुके हैं।

सब से प्रथम जो सन्धि है उसे 'मुख सन्धि' कहा जाता है। 'मुख सन्धि का यह लक्षण है:—

'मुखं प्रधानवृत्तांशो बीजोत्पत्तिरसाश्रयः॥'

अर्थात् 'प्रारम्भावस्था भावित्वात् प्रधानवृत्तस्य भागो मुखमिव मुखम्। बीजोत्पत्तेर्मुख्योपायोपक्षेपस्य रसानां च शृङ्गारादीनामाश्रयोऽवतरणं यत्र। प्रारम्भोपयोगी यावानर्थराशिः प्रसक्तानुप्रसक्त्या विचित्ररससन्निवेशस्तावान् मुखसन्धिरित्यर्थः।'

तात्पर्य यह हुआ कि रसभावादि से रमणीय किवा प्रारम्भावस्थोपयुक्त नाटक की अर्थराशि जो नाटक के मुख के समान पहले झलके 'मुखसन्धि' है।

दूसरी सन्धि 'प्रतिमुख' सन्धि है। प्रतिमुख की परिभाषा यह है—

'प्रतिमुखं कियल्लक्ष्यबीजोद्घाटसमन्वितः।'

अर्थात् प्रतिमुख सन्धि वह सन्धि है जिसमें प्रयत्नावस्था के निरूपण के द्वारा मुख-सन्धि में निक्षिप्त बीज का उद्घाटन किया जाया करता है।

तीसरी सन्धि का नाम 'गर्भ सन्धि' है जिसका लक्षण है:—

'बीजस्यौन्मुख्यवान् गर्भो लाभालाभगवेषणैः।'

अभिप्राय यह है कि गर्भसन्धि में प्राप्त्याशा की अवस्था का प्रकाशन किया जाया करता है। इस में नायक फल की संभावना करते हुये दिखाई देता है न कि फल का निश्चय।

चौथी सन्धि 'विमर्श' अथवा 'अवमर्श' सन्धि है। विमर्श की परिभाषा यह है'—

'उद्भिन्न साध्यविघ्नात्मा विमर्शो व्यसनादिभिः।'

अर्थात् नियताप्ति की अवस्था से समन्वित नाटक का जो मुख्य वृत्तांश है वह 'विमर्श सन्धि' कहा जाता है। पांचवी सन्धि निर्वहण-सन्धि है। इसकी परिभाषा है—

'सबीजविकृतावस्था नानाभाग मुखादयः।
फलसंयोगिनो यस्मिन्नसौ निर्वहणं ध्रुवम्॥'

अर्थात् जिस सन्धि को निर्वहण सन्धि कहते हैं वह नाटक का ऐसा प्रधानवृत्तांश है जिसमें फलागम की अवस्था निरूपित हुई हो और जो कि रसभाव-रमणीय हो।

(१६) सन्ध्यङ्ग—

नाटकों में ६४ सन्ध्यङ्ग माने गये हैं। मुद्राराक्षस के टीकाकार श्री ढुण्ढिराज ने अपनी टीका में इन सब को ढूंढ़ कर दिखाने का व्यर्थ प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि नाटककार तो नाटक की रचना किया करता है न कि ६४ सन्ध्यङ्गों का क्रमशः निरूपण। इन सन्ध्यङ्गों का भी किसी नाटक में क्रमशः प्रयुक्त होना कोई आवश्यक नहीं और ऐसा भी आवश्यक नहीं कि सब के सब प्रयुक्त ही हों। एक ही किसी अंग को नाटककार, अपनी इच्छा से, अपने नाटक की आवश्यकता देखकर, एक से अधिकवार प्रयुक्त कर सकता है। सन्ध्यङ्ग की योजना के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त स्मरण रखना चाहिये—

'सर्वं सन्धीनां चाङ्गानीतिवृत्ताऽविच्छेदार्थमुपादीयन्ते। इतिवृत्तस्याविच्छेदश्च रसपुष्ट्यर्थः, विच्छेदे हि स्थायादेस्त्रुटितत्वात् कुतस्त्यो रसास्वादः? ततो रस-विधानैकतानचेतसः कवेः प्रयत्नान्तरानपेक्षं यदङ्गमुज्जृम्भते तदेवोपनिवद्धं सहृद-यानां हृदयमानन्दयति। अङ्गानि च स्थायि—विभावानुभाव—व्यभिचारिरूपाणि द्रष्टव्यानि। अमीषां च स्वसन्धौ सन्ध्यन्तरे च योग्यतया निबन्धः।'

अर्थात् संस्कृत के नाटककार की तो कला इतिवृत्त-रचना द्वारा चरित चित्रण और चरित चित्रण द्वारा रसभावाभिव्यक्ति है और इस दृष्टि से किसी नाटक में सन्धि-सन्ध्यङ्ग घटन स्वयं हुआ करता है। यदि नाटककार अपने नाटक पर ध्यान दे तो सन्धि-सन्ध्यङ्ग स्वयं बनते जायँगे किन्तु यदि वह सन्धि-सन्ध्यङ्ग-योजना पर ध्यान दे जैसा कि कतिपय असमाहित चित्त संस्कृत नाटककारों ने किया है, तो नाटक-निर्माण तो नहीं हो सकता, सन्धि-सन्ध्यङ्ग की उदाहरण-माला भले हो बन जाय।

(१७) प्रवेशक—

प्रवेशक की परिभाषा दश रूपककार ने ऐसी की है—

'वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यमात्रप्रयोजितः॥
तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः॥'

अभिप्राय यह है कि नाटक में 'दृश्य' और 'सूच्य' दो प्रकार के वस्तु-विचार होते हैं। 'दृश्य' तो वह है जो रसभाव-सान्द्र होने के कारण अभिनेय हो और 'सूच्य' वह जो रसभावरहित हो किन्तु आवश्यक हो। अब नाटक में जो वस्तु 'सूच्य' हो उसकी सूचना

के लिये जो उपाय है उसे 'अर्थोपक्षेपक' कहते हैं, यह 'अर्थोपक्षेपक पांच प्रकार का है—विष्कम्भक, चूलिका, अङ्कास्य, अङ्कावतार और प्रवेशक। विष्कम्भक और प्रवेशक दोनों का उद्देश्य एक ही है अर्थात् वृत्त अथवा अतीत और वर्तिष्यमाण अथवा भावी घटनाओं की संक्षिप्त सूचना देना। दोनों में अन्तर यह है कि विष्कंभक में तो मध्यम श्रेणी के पात्र आते हैं और प्रवेशक में अवर श्रेणी के। मुद्राराक्षस के चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ में जीवसिद्धि और क्षपणक का संवाद प्रवेशक है जिसके द्वारा अङ्क का अवतार किया गया है। इसी प्रकार पञ्चम अङ्क में भी सिद्धार्थक और सुसिद्धार्थक का संवाद प्रवेशक है जिसके द्वारा चतुर्थ तथा पंचम अङ्क का संधान और पञ्चम अङ्क का अवतरण हुआ है।

(१८) भरतवाक्य—

संस्कृत नाटकों का आरम्भ नान्दी संगीत से और अन्त भरतवाक्य-संगीत से हुआ करता है। ऐसी प्राचीन परम्परा चली आ रही है। नान्दी को तो मुखसन्धि का अंग नहीं माना जाता किन्तु भरतवाक्य को निर्वहणसन्धि का वह अंग माना जाता है जिसे 'प्रशस्ति' कहते हैं। 'प्रशस्ति' की परिभाषा है:—

प्रशस्तिः शुभशंसना'

अर्थात् जगत् के कल्याण की आशंसा अथवा सद्भावना का प्रकाशन। नाटक का नायक अथवा अन्य कोई पात्र इस 'भरतवाक्य' का संगीत के साथ पाठ करता है।



मुद्राराक्षस में प्रयुक्त प्राकृतिक भाषा के सम्बन्ध में

(१) नाट्यशास्त्र की प्राचीन परम्परा से यह सिद्ध है कि संस्कृत के नाटकों में प्राकृतभाषा का प्रयोग अपेक्षित है और मुख्यतया दो प्रकार की प्राकृत अर्थात् महाराष्ट्री और शौरसेनी का व्यवहार हुआ करता है। महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग तो पद्यभाग में तथा शौरसेनी का प्रयोग गद्यभाग में दिखाई देता है।

(२) 'संस्कृत' और प्राकृत' शब्द किसी भी भाषा के दो स्वरूपों का परिचय देते हैं। किसी भाषा का संस्कृत स्वरूप तो वह है जो उसके साहित्यकार प्रयोग में लाया करते हैं और प्राकृत वह जो सर्वसाधारण के व्यवहार में है। प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में यह धारणा कि संस्कृत भाषा की विकृति ही प्राकृत है ठीक नहीं। वस्तुतः बात इससे उलटी है क्योंकि प्राकृत भाषा का ही संस्कार उसे संस्कृत रूप दिया करता है। प्राकृत भाषा के कई रूप हमारी भाषा के इतिहास में दिखाई देते है। वेद-कालीन जनसमाज की भाषा, भगवान् बुद्ध तथा भगवान् महावीर की भाषा तथा समकालीन समाज की भाषा प्राकृत नहीं तो और क्या है। भारतीय भाषा के इतिहास में भारत की प्राकृत भाषा के इस प्रकार प्राचीन, माध्यमिक तथा नवीन ये तीन रूप-भेद किये गये हैं जो सर्वथा युक्तिसंगत हैं।

(३) प्राकृत भाषा के अनुशासन की भी परम्परा प्राचीन है। प्राकृत भाषा का सर्वप्रथम व्याकरण वररुचि का 'प्राकृत प्रकाश' है जिसका समय तीसरी-चौथी शताब्दी माना जाता है। 'प्राकृत प्रकाश' पर सर्वप्रथम टीका छटवीं-सातवीं शताब्दी में लिखी गई जिसके लेखक 'कात्यायन' कहे जाते हैं। इस पर सातवीं-आठवीं शताब्दी में भी व्याख्या हुई जिसके रचयिता भामह माने जाते हैं।

(४) प्राकृत भाषा के व्याकरण वस्तुतः संस्कृत भाषा के व्याकरण के आधारपर ही लिखे गये हैं। इसलिये संस्कृत व्याकरण की प्रक्रिया ही प्राकृत व्याकरण में लागू की गई है।

(५) संस्कृत भाषा और प्राकृत भाषा के स्वरों में भेदः—प्राकृत भाषा के स्वर वे ही हैं जो संकृत भाषा के हैं। केवल ये स्वर प्राकृत भाषा में नहीं हैं-ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ऐ और औ।

(क) 'ऋ' स्वर 'रि' अ, इ अथवा उ में परिवर्त्तित हो जाया करता है जैसे कि ऋण-रिण, कीदृश-केरिस, तृण-तण, दृष्टि-दिठ्ठि, पृथिवी-पुहवी।

(ख) 'ऐ' बहुधा ए, अइ, इ अथवा ई के रूप में बदल जाता है जैसे कि, कैलाश-केलास, दैत्य-दइच्च, सैन्धव-सिन्धव, धैर्य-धीर।

(ग) 'औ' के स्थान पर ओ, अउ और उ का व्यवहार दिखाई देता है जैसे कि कौमुदी कोमुई, पौर-पउर, सौन्दर्य-सुन्देर।

(घ) कहीं-कहीं 'उ' 'ओ' हो जाता है जैसे कि पुस्तकः—पोत्थओ और कहीं-कहीं 'ओ' के बदले 'उ' हो जाया करता है। जैसे कि शोणोत्तरे-सोणुत्तरे।

(ङ) कहीं-कहीं 'इ' तथा 'ई' 'ए' के रूप में बदल जाते हैं जैसे कि सिन्दूर-सेन्दूर, नीड-णेड्ड और कहीं 'ए' का परिवर्त्तन 'इ' में हो जाता है जैसे कि-एकैक-इकीक।

(च) दीर्घस्वर, यदि उसके आगे संयुक्ताक्षर हो तो, ह्रस्व हो जाता है जैसे कि मार्गः-मग्गो।

(छ) जब संयुक्ताक्षर एक व्यञ्जन के रूप में परिवर्त्तित होता है तो उसका पूर्ववर्त्ती स्वर दीर्घ हो जाता है जैसे कि जिह्वा-जीहा।

(ज) अनुस्वार के लुप्त होने पर पूर्वस्वर दीर्घ कर दिया जाता हैं-सिंह-सीह

(६) प्राकृत के असंयुक्त व्यञ्जन और उनके रूप—

(क) क, ग, च, ज, त, द, प, य और व इन व्यञ्जनों का प्रायः लोप हो जाया करता है जैसे कि—

मुकुल—	मउलो	मद—	मओ
सागर—	साअरो	कपि—	कई
वचन—	वअणं	नयन—	णअणं
रजत—	रअदं		
कुल—	कअं	दिवस—	दिअहो

इसके अपवाद भी हैं जैसे कि 'क' का 'ह' हो जाना—स्फटिक-फलि हो, अथवा 'भ' हो जाना-शीकर-सीमरो इत्यादि।

(ख) ख, घ, थ, ध तथा भ के बदले 'ह' का व्यवहार होता है जैसे कि—

मुख—	**मुहं**	**राधा—**	**राहा**
मेघ—	**मेहो**	**सभा—**	**सहा**
गाथा—	**गाहा**		

(ग) सर्वत्र 'न' का 'ण' हो जाया करता है जैसे कि—

नदी—	**णई**	**वचन—**	**वअण**
कनक—	**कणक**	**मानुष—**	**माणुसो**

(घ) सर्वत्र 'श' और 'ष' का 'स' के रूप में प्रयोग होता है जैसे कि—

शब्द—	**सद्दो**	**कषाय—**	**कसाअं**
षण्ड—	**सण्ढो**		

(७) प्राकृत के संयुक्ताक्षर और उनके रूप—

(क) यदि क, ग, ड, त, द, प, ष अथवा स व्यञ्जन संयुक्ताक्षर रूप में प्रथम स्थान के हों तो उनका लोप हो जाता है जैसे कि—

भक्त—	**भत्तं**	**उत्पल—**	**उप्पलं**
मुग्ध—	**मुद्धो**	**गोष्ठी—**	**गोठ्ठी**
खड्ग—	**खग्गो**		

(ख) म, न और य इन व्यञ्जनों का, संयुक्ताक्षर रूप में, अन्तस्थान पर होने पर, लोप हो जाया करता है जैसे कि—

रश्मि—	**रस्सी।**	**सौम्य—**	**सोम्मो।**

(ग) ल, ब और र ये व्यञ्जन संयुक्ताक्षर के रूप में चाहे आदि में या अन्त में लुप्त हो जाया करते हैं तथा अवशिष्ट व्यञ्जन का द्वित्व हो जाया करता है जैसे कि—

वल्कल—	**वक्कलं**	**लुब्धक—**	**लुद्धओ**
स्वयं—	**सयं**		

(घ) प्राकृतभाषा के संयुक्त व्यञ्जनों के सम्बन्ध में भाषाशास्त्र सम्बन्धी ये नियम लागू होते हैं:—

(१) Assimilation अथवा दो व्यञ्जनों का उच्चारण की सुविधा के लिये एकाकार कर दिया जाना जैसे कि **'धर्म'** के प्राकृत रूप **'धम्म'** में 'र' तथा 'म' को म के रूप में उच्चारण की सुविधा के लिये परिवर्तित कर दिया गया है।

२—Dissimilation अथवा दो व्यञ्जनों की ध्वनिसमानता हटाने के लिये एक में ध्वनि-वैषम्य कर देना जैसे कि **'पिपीलिका'** शब्द में 'प' व्यञ्जन के ध्वनिसाम्य को

उच्चारण साधारण जन समाज के लिये कष्टसाध्य हुआ और 'पिपीलिका' के वदले 'किपीलिका' प्रचलित हो गया।

३—Analogy अथवा सादृश्य के आधार पर शब्दों का निर्माण जैसे कि-'**सुवचः**' इस संस्कृत शब्द के सादृश्य से प्राकृत में '**सुव्वचो**' शब्द का निर्माण।

४—Compensation पूरण अर्थात् जब किसी शब्द में कोई व्यञ्जन लुप्त हो तब या तो स्वर को दीर्घ कर देना या किसी दूसरे व्यञ्जन का प्रयोग कर देना जैसे कि **प्रतिकूल-पटिक्कूल**।

५—Metathysis (वर्णपरिवृत्ति) कभी २ किसी शब्द के वर्णों के स्थान को बदल दिया जाना जैसे कि **मशक—मकश**

६—स्वरभक्ति—कभी २ किसी शब्द के दो संयुक्त व्यञ्जनों को बीच में स्वर डालकर पृथक् २ कर देना जैसे कि **भार्या-भरिआ, आर्य-अरिय** इत्यादि।

७—**प्राकृतभाषा के शब्द रूप की विशेषताः—**

(क) प्राकृत में द्विवचन का अभाव है। द्विवचन के बदले बहुवचन का प्रयोग हुआ करता है—**द्विवचनस्य बहुवचनम्**।

(ख) प्राकृत में चतुर्थी विभक्ति नहीं प्रयुक्त होती। चतुर्थी का अर्थ षष्ठी विभक्ति द्वारा प्रकट किया जाता है—चतुर्थ्याः षष्ठी

८—**प्राकृत भाषा के धातुरूप की विशेषताः—**

(क) प्राकृत में लट्, विधिलिङ्, लोट् और लृट का ही प्रयोग होता है अन्य लकारों का प्रयोग अपवाद है नियम नहीं।

(ख) प्राकृत में परस्मैपद और आत्मनेपद का भेद नहीं माना जाता।

(ग) प्राकृत में भ्वादिगण की धातु का ही प्रयोग प्रचुर मात्रा में है अन्य गणों की धातुओं का नहीं।

मुद्राराक्षसश्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका ।

+ एतच्चिह्निताः प्राकृतपद्यानां संस्कृतच्छायाश्लोकप्रतीका ज्ञेयाः ।

कादम्बरी

'चन्द्रकला' 'विद्योतिनी' संस्कृत-हिन्दी टीका, विस्तृत प्रस्तावना-महाकवि की जीवनी, कादम्बरी-समीक्षा, कथासार आदि आधुनिक विविध विषयों से सुसज्जित।

नवीन शिक्षा-पद्धति ने संस्कृत, हिन्दी, अंगरेजी सभी परीक्षाओं में कादम्बरी को प्रमुख स्थान दिया है। इस लिये प्रस्तुत संस्करण की टीका में प्रत्येक शब्द का पर्याय, समास, कोश, अलंकार आदि से मूल के पद-पदकी ग्रंथियां खोल दी गई हैं। इसकी हिन्दी टीका में भी मूलके अनुरूप ही प्रत्येक शब्द का सरल अनुवाद पदविच्छेद पूर्वक किया गया है जिससे हिन्दी, अंगरेजी के वियार्थी भी कादम्बरी का अध्ययन बिना गुरुके भी स्वयं कर सकेंगे। इसकी आधुनिक ढंग की नवीन संस्कृत-हिन्दी टीका तथा सुविस्तृत प्रस्तावना, समालोचना, कथासार आदि से मुग्ध होकर बनारस ग० संस्कृत कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बिहार-संस्कृत समिति आदि संस्थाओं के प्रमुख प्रमुख विद्वानों ने प्रशंसा पत्र दिये हैं, जो पुस्तक में प्रकाशित आपको मिलेंगे। आधुनिक जगत में तो कादम्बरी की ऐसी समालोचना और टीका प्रथम बार ही प्रकाशित हुई है। इस अभिनव संस्करण को देखकर आप भी इसकी प्रशंसा किये बिना न रहेंगे।

ग्रन्थ नवीन चमकते टाईप, ग्लेज कागज पर बहुत सुन्दर छपा है।

मूल्य 'जाबाल्याश्रमवर्णन पर्यन्त ३)' 'कथामुख पर्यन्त ३॥)'

तथा पूर्वार्द्ध का मूल्य १२॥) है

काव्यप्रकाशः

'नागेश्वरी' टीका सहितः

काव्यप्रकाश पर प्रदीप, उद्योत संकेत, सुधासागरी, वामनी, आदि अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन टीकायें हैं परन्तु सभी कठिन तथा सुविस्तृत होने के कारण छात्रों को काव्यप्रकाशका अध्ययन दुरुह हो गया था अतः उपर्युक्त सभी टीकाओं की सारभूत यह सरल अभिनव 'नागेश्वरी' टीका प्रकाशित की गयी है। इसमें ग्रंथके सभी दुरूहांशों को ननु-नच करके सरल तथा स्पष्ट कर दिया गया है। आधुनिक सरल शिक्षा पद्धति के अनुरूप संस्कृत, हिन्दी, अंगरेजी छात्रों के लिये काव्यप्रकाश की यह टीका सर्वोपरि उपादेय है। द्वितीय संस्करण मूल्य केवल ६) मात्र

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस-१

